ऐतिहासिक भौतिकवाद

व्यक्ति, व्यक्तित्व और इतिहास

१---इतिहास का निर्माता मनुष्य---मनुष्य स्वय अपने इतिहास का निर्माता है। किन्तु यह निर्माण का कार्य इस प्रकार से नही होता कि उसने किसी बात की उडान भर दी और वह हो गई, जैसे खुदा ने उन या ईश्वर ने स्यात् कहा था, और सारी सृष्टि की शून्य से रचना हो गई। सच बात तो यह है कि हम कल्पना की उड़ान भी वस्तुस्थिति से बिलकुल वियुक्त होकर नही भर सकते। आज के मनोविज्ञान का तो यह कहना है कि स्वप्न मे भी हम वस्तुस्थिति से सम्पूर्णरूप से विलग होकर उडान नही भरते तथा स्वप्न मे भी हमारे उड़ते हुए विचारो के पैर जमीन पर ही रहते हैं। मनुष्य स्वयं अपने इतिहास का निर्माण अवश्य करता है, किन्तु ऐसा करते समय उसे उपलब्ध साधनो का ही उपयोग करना पडता है। वह किसी भी हालत मे उन साधनो से परे होकर इतिहास का निर्माण नही कर सकता। इतिहास निर्माण-कार्य मे मनुष्य का भाग प्रधान तो है, किन्तु उसको अपरिहार्य रूप से उन सब राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक अवस्थाओ के दायरे मे काम करना पड़ता है, जो उसको पहले की पीढ़ियो से उत्तराधिकार सूत्र मे प्राप्त हुई हैं। उत्तराधिकार सूत्र मे प्राप्त इन वस्तुओ तथा अवस्थाओ मे उसका अपना मन तथा शरीर भी है। इन्ही प्राप्त अवस्थाओ तथा वस्तुओ को लेकर वह इतिहास का निर्माण करने चलता है। इन साधनो का वह प्रगति के हक मे भी उपयोग कर सकता है, और विरुद्ध भी। वह इतिहास की गति को बाधाग्रस्त करने का कारणीभूत भी हो सकता है, और उसका द्रुतीकरण भी कर सकता है। यही इस निर्माण-

कार्य मे मनुष्य के भाग की प्रधानता का परिचायक है। इस क्षेत्र मे मनुष्य या व्यक्ति की प्रधानता का वह अर्थ नही है जिस अर्थ को लेकर प्राचीन ग्रीकों मे हेराडोरस (४८४-४२५ ई० पू०), थूसिडिडीस (४७१-४०१ ई० पू०) आदि ने तथा अति आधुनिक लेखको मे फासिवादी लेखको ने तथा दूसरी तरफ गुन्थेर ऐसे फासिवाद विरोधी लेखक ने इतिहास लिखा है। हेराडोटस और थूसि-डिडीस इतिहास लेखकों के जनक समझे जाते है, किन्तु इनके इतिहास शुरू मे आखिर तक व्यक्तियो की महिमा के गीतमात्र है, और सो भी अधिकांश रूप मे काल्पनिक। रोमन इतिहास लेखको ने भी व्यक्तियो को जो अत्यधिक महत्त्व दिया था, वह भी इसी श्रेणी मे आ जाता है।

'मनुष्य अपनी कल्पना के द्वारा ऐतिहासिक विकास की मजिलो को कूद कर उसी प्रकार पार नही कर सकता, जैसे वह अपनी परछाई के ऊपर से कूद नही सकता है।'[१] मनुष्य प्राकृतिक वस्तुओ तथा उपलब्ध अवस्थाओ पर निर्भर अवश्य है, किन्तु वह इन वस्तुओ तथा अवस्थाओ को भी बदलता रहता है, और ऐसा करने के दौरान मे वह अपने को भी बदलता है। इस प्रकार मनुष्य न केवल अपनी चारो तरफ की प्रकृति को बदलता है, बल्कि वह स्वय अपने को भी बदलने मे समर्थ है। विचार धाराएँ किस प्रकार वस्तुस्थिति से सम्बद्ध होती है, इसका विशद् विवेचन हम बाद को करेगे। यहाँ केवल इतना बता देना यथेष्ट है कि मनुष्य अपनी परिस्थितियो को बदलने मे जिस प्रकार समर्थ है, उसी प्रकार परि-स्थितियो को बदलकर विचारो मे परिवर्तन के लिए अवस्थाएँ पैदा कर सकता है।

जैसे सूर्य या चन्द्रग्रहण होता है, चन्द्रकला का ह्रास तथा वृद्धि होती है, ऋतु मे परिवर्तन होते है, ठीक उसी ढग से मनुष्य की चारो तरफ की परि-स्थितियाँ स्वय आपसे आप बिगडती, बनती, होती नही रहती है। उदाहरणार्थ मनुष्य के सिर पर छाँह होगी या धूप, इसका निर्णय प्रकृति नही करती, बल्कि मनुष्य स्वय करता है। अपने सिर पर छत्र या छाता तानकर मनुष्य इच्छानु-रूप धूप या छाँह ले सकता है।

इतिहास के निर्माण मे मनुष्य का एक विशेष परिस्थिति मे क्या और कितना हाथ हो सकता है, इतिहास का क्या क्रम है, उसकी गति किस

---

[१] R L

ओर है, किस हद तक मनुष्य उसे द्रुतीकृत या विलम्बित कर सकता है, किसका स्वार्थ इस प्रक्रिया के द्रुतीकरण मे है तथा किसका इसके विपरीत है, कौन वर्ग किस समय इसकी गति के विपरीत अपनी ताकत लगायेगा, कौन किस समय इसकी अनुकूलता करेगा, किस प्रकार मोडने पर वह मनुष्य-जाति के सर्वतोमुखी कल्याण के लिए श्रेयस्कर हो सकता है, वैज्ञानिक समाज-शास्त्र का विचार्य विषय यही है। हमने इस प्राथमिक आलोचना मे ही देख लिया कि इस प्रकार का एक समाज-शास्त्र हो सकता है जो हमे बतलावे कि किसी विशेष परिस्थिति मे क्या कर्तव्य है। यहाँ हम कर्तव्य शब्द का किसी पारलौकिक अर्थ मे प्रयोग नहीं कर रहे है, हमारा मतलब केवल इतना ही है कि हम इस शास्त्र के द्वारा यह जान सकते है कि किस प्रकार एक व्यक्ति सामाजिक प्रगति को द्रुतीकृत कर सकता है, तथा उसे आगे बढा सकता है। यो तो समाज की गति का यह अध्ययन बहुत पुराना है। आदिम काल से ही इस पर कुछ न कुछ गलत सही उडाने भरी जाती रही है, किन्तु कार्लमार्क्स (१८१८-८३) को ही यह श्रेय प्राप्त हुआ कि उन्होने इन बातो के ज्ञान को, एक शब्द मे समाज विज्ञान को अटकलपच्चू पर नही, बल्कि एक दृढ चट्टानी वैज्ञानिक आधार पर स्थापित किया। कार्लमार्क्स ने इस ज्ञान का आविष्कार अपने मस्तिष्क के अन्दर से यो ही नही कर डाला, बल्कि जैसे किसी वैज्ञानिक नियम के आविष्कार के लिए जरूरी है, वर्षो तक समाज की परिचालिका शक्ति का परिशीलन करते रहे, और फिर वे समाज की गति के नियम को आविष्कार करने मे समर्थ हुए। जैसे न्यूटन द्वारा माध्याकर्षक सिद्धान्त या प्लैक द्वारा क्वान्टम सिद्धान्त के आविष्कार किये जाने के पहले भी ये सिद्धान्त प्रकृति मे अपना काम करते रहे, उसी प्रकार मार्क्स द्वारा सामाजिक गति के नियमो के आविष्कार किये जाने के पहले से ही मार्क्स के नाम से परिचित सामाजिक गति शास्त्र क्रियाशील थे। मार्क्स ने केवल उस प्रचलित नियम का आविष्कार मात्र किया। मार्क्स एगेल्स रचित कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो की भाषा मे "कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो के सैद्धान्तिक उपसहार उस सार्वदेशिक सुधारक के दिमाग से नही निकले है। वे उपसहार केवल हमारी ऑखो के सामने चलनेवाले ऐतिहासिक आन्दोलन तथा वर्तमान वर्गद्वन्द से उद्भूत वास्तविक सम्बन्धो को व्यक्त करते है।"

२—व्यक्ति के इतिहास निर्माण पर मार्क्स—कार्लमार्क्स ने '१८वां ब्रूमेयर' नामक अपनी पुस्तक मे इतिहास निर्माण कार्य मे मनुष्य का क्या भाग रहा है, इस पर रोशनी डालते हुए (यो तो यह सारी पुस्तक मार्क्सवादी साहित्य मे उस विषय का सुन्दरतम प्रतिपादन है) लिखा है—'मनुष्य अपने इतिहास का निर्माण करते है, किन्तु ऐसा वे खुशी से नही करते। वे अपनी परिस्थितियो का स्वय निर्वाचन नही करते, वल्कि जैसी परिस्थितियाँ उन्हे मिलती है, उसी पर उन्हे काम करना पडता है, तथा भूतकाल से प्राप्त उपादान को टालना पडता है।' मनुष्य का भूतकाल से प्राप्त परिस्थितियो के साथ एक सजीव सम्बन्ध है, तभी तो इतिहास हमारे निकट एक बेतरतीब, असामजस्यपूर्ण घटनाओ का समूहमात्र नही है। सारे इतिहास मे एक सिलसिला दृष्टिगोचर होता है, और हम इतिहास को एक विकासमान प्रक्रिया के रूप मे प्रत्यक्ष कर सकते है। यदि भूतकाल से प्राप्त परिस्थितियो तथा साधनो के साथ मनुष्य के इतिहास-निर्माण का यह सजीव तथा अपरिहार्य सम्बन्ध न होता, तो सारे इतिहास मे जिधर देखो उधर एक अराजकता दृष्टिगोचर होती, और इतिहास को परस्पर सम्बद्ध, अन्योन्याश्रित घटनावलियो के रूप मे समझने की कोई गुँजाइश नही होती। वैसी हालत मे हम किसी घटना की व्याख्या या तो ईश्वर की यदृच्छामयी लीला के रूप मे करते, या समय समय पर अवतीर्ण होनेवाले महापुरुषो की खामख्यालियो की क्रीडा के रूप मे देखते, या प्रत्येक घटना मे प्रकृति का कोप या प्रसन्नता इस प्रकार की कोई ऐसी ऊलजलूल वात देखते—जो किसी पद्धति मे नही आ सकती। सच बात तो यह है कि वैसी हालत मे इतिहास का स्पष्टीकरण न होकर, वह और भी धुँधला तथा जटिल हो जाता।

३—लुई बोनापार्ट का उदाहरण—मार्क्स अपनी उल्लिखित पुस्तक मे यह दिखलाते है कि इतिहास मे लुई बोनापार्ट का क्या भाग था। वे लिखते है, कि 'मेरी पुस्तक के साथ साथ लुई बोनापार्ट के Coup d'etat या एकाएक शक्ति आरुढ हो जाने के सम्बन्ध मे जो पुस्तके निकली है, उनमे से केवल दो उल्लेखनीय है। एक तो विक्टर ह्यूगो लिखित Nepoleon lepetet और दूसरी प्रुधो लिखित Coup d'etat। विक्टर ह्यूगो अपनी पुस्तक मे इस परिवर्तन के लिए व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार व्यक्तियो के विरुद्ध

एक सुन्दर शब्दावलीयुक्त आलोचनामात्र करने दृष्टिगोचर होते हैं। उनके लिए नेपोलियन का शक्तिआरूढ़ हो जाना निर्मेघ आकाश मे वज्रपात के तुल्य है। वे उसे व्यक्ति-विशेष का स्वेच्छाचारितापूर्ण कृत्यमात्र समझते हैं। वे यह हृदयगम नही कर पाते कि इस प्रकार वे इस व्यक्ति पर इतिहास के साथ मनमाना करने की सामर्थ का आरोप कर, उसे छोटा बनाने के बजाय बड़ा करके दिखलाते हैं। इसके विपरीत प्रुधो यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि यह राजनैतिक परिवर्तन इसके पहले के ऐतिहासिक विकास का परिणाम-मात्र था, किन्तु जिस प्रकार उन्होने अपने विषय का प्रतिपादन किया है, उसमे यह व्याख्या उस नायक का एक ऐतिहासिक समर्थनमात्र होकर रह जाती है। इस प्रकार प्रुधो कल्पित वस्तुतान्त्रिक इतिहास-लेखको की गलती के शिकार हो जाते हैं। जहा तक मेरा सम्बन्ध है मैंने यह प्रमाणित किया है कि फ्रांस मे वर्गयुद्ध ने ऐसी परिस्थितियो तथा सम्बन्धो की स्थापना की है, जिनके कारण एक अजीबोगरीब, मामूली योग्यतावाला व्यक्ति वीरता का मोरपंख लगाकर उछलकूद मचाने मे समर्थ हुआ।'

४—लुई वाली बात प्रत्येक व्यक्ति पर लागू—मार्क्स ने जो बात लुई के सम्बन्ध मे कही है, वही बात प्रत्येक व्यक्ति के सम्बन्ध मे कही जा सकती है, इतिहास मे किसी भी समय निर्मेघ आकाश मे वज्रपात नही हुआ करते। इति-हास मे एक ऐसी शृंखला है, जिसकी प्रत्येक कड़ी अगली कड़ी पर असर करती है, इसलिए निर्मेघ वज्रपात की बात कपोल कल्पना है। यदि हम किसी समय ऐसा ज्ञात होता है कि निर्मेघ आकाश से वज्रपात हो रहा है,

अपनी सज्ञान चेष्टा से उन परिस्थितियो मे परिवर्तन करता रहता है। हर युग का सबसे प्रगतिशील क्रान्तिकारी रूप से सोचनेवाला व्यक्ति भी बहुत अनुकूल परिस्थितियो मे भी अपनी सारी बातो को कराने मे समर्थ नहीं होता, किन्तु साथ ही वह कुछ भी नही करा पाता है, यह भी बात सही नही है। मार्क्स के उग्रसमाजवादी विचार उनके जीवनकाल मे कोई भी समाजवादी क्रान्ति कराने मे समर्थ नही हुए (पेरिसकम्यून जिस क्रान्ति के फलस्वरूप स्थापित हुआ था, उसमे मार्क्सवादियो का हाथ बहुत कम था), किन्तु इसलिए उनके विचार व्यर्थ गये ऐसा एक अहमक ही कह सकता है। समय से पूर्व आये हुए क्रान्तिकारी विचारो को तब तक प्रतीक्षा करनी पडती है, जब तक उनके लिए समय न आ जाय, अर्थात् जब तक ऐसी परिस्थितियाँ न आ जायँ, जिनमे उन विचारो का पनपना सम्भव हो। उस समय तक वे विचार पुस्तको मे या गाथाओ मे बन्द पडे रहते है, या बीज की तरह गुप्तरूप से लोगो की दृष्टि के अन्तराल मे पडे रहते है, और फिर अनुकूल जमीन और आबोहवा पाने पर पुस्तको से उनका पुनरुद्धार किया जाता है, तथा वे अकुररूप मे अनुकूल परिस्थिति पाकर पाताल-लोक से प्रकट हो जाते है। 'महान् पुरुष समाज पर तभी प्रभाव डाल पाते है, जब समाज उनके लिए तैयार है। यदि समाज उनके लिए तैयार नही है, तो वे महापुरुष नही कहलाते, बल्कि असफल क्रान्तिकारी या स्वप्नद्रष्टा कहलाते है।'

उपलब्ध साधन तथा सम्बन्ध, और मनुष्य की सज्ञानचेष्टा के पारस्परिक घात-प्रतिघात से ही इतिहास का पट हमारे समक्ष खुलता चला जाता है। तभी तो मार्क्स ने अपने '१८वॉ ब्रूमेयर' मे लुई बोनापार्ट को इतना महत्त्व नही दिया मानो उसी ने १८४८-५१ की घटनाओ को अपनी इच्छा पर ढाला हो, साथ ही उन्होने यह भी नही दिखलाया कि उसका कोई भाग ही नही था। फ्रास मे १८४८ मे जो रगमच तैयार है, उस पर लुई केवल एक ऐसे मामूली अभिनेता की भॉति नही है, जिसके लिए पहले से सब घटनाएँ तथा बातचीत तैयार है, बल्कि वह एक प्रधान अभिनेता की तरह है जो खेल के नियमो तथा सम्भावनाओ के दायरे मे रगमच पर अपना पार्ट एक हद तक तैयार करता जाता है, और खेलता जाता है। वह उस नाटककार की भॉति है जो अभिनेता भी है और खेलने के दौरान मे उसमे थोडा-बहुत परिवर्तन कर सकता है।

५—**व्यक्तित्व के हिस्से पर ट्राटस्की**—ऐतिहासिक प्रक्रिया मे व्यक्तित्व का क्या हिस्सा होता है, इसे ट्राटस्की ने बडे कवित्वपूर्ण शब्दो मे समझाया है। वे कहते है—'ऐतिहासिक प्रक्रिया मे व्यक्तित्वो के महत्त्व को हम इन्कार नही करते। न हम इस बात से इन्कार करते है कि व्यक्ति के मामले में आकस्मिकता अपनी जगह रखती है। (आकस्मिकता का यहाँ पर अर्थ कार्य-कारण सम्बन्ध से बहिर्भूतता नही है, बल्कि जैसा हमने निर्मेघ वज्रपात के उदाहरण मे दिखलाया है, इसका अर्थ केवल इतना है कि कारण अभी हमारी पकड मे नही आये है—ले०)। हमारी केवल माँग यह है कि सारी विचित्रताओ से सयुक्त ऐतिहासिक व्यक्तित्व को केवल मानसिक सम्वेदनो के एक समूह के रूप मे न लिया जाय, बल्कि उसे एक ऐसी सजीव वास्तविकता के रूप मे लिया जाय जिसकी उत्पत्ति निर्दिष्ट सामाजिक परिस्थितियो मे हुई है, और जो साथ ही उन परिस्थितियो पर प्रभाव डाल रही है। जैसे वैज्ञानिक के यह कहने से कि किस प्रकार की भूमि तथा किस प्रकार के वातावरण में गुलाब की उत्पत्ति होती है, उसकी सुगन्ध मे कोई बट्टा नही लगता, उसी प्रकार व्यक्तित्व के सामाजिक मूलोद्घाटन मे उस व्यक्तित्व की सुगन्ध मे फर्क नही आता है, और यदि दुर्गन्ध है, तो दुर्गन्ध मे भी कमी नही आती है।[१]

आगे इसी विषय मे ट्राटस्की और भी लिखते है कि 'मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के इतिहास-लेखक तथा जीवनी लेखक अकसर बहुत-सी बातो को विशुद्ध रूप से वैयक्तिक और आकस्मिक पाते है जब कि असली बात यो है कि एक व्यक्तित्व के जरिये से महान् ऐतिहासिक शक्तियाँ आत्म प्रतिफलन करती है।' इसी का स्पष्टीकरण करते हुए ट्राटस्की ने यह भी दिखलाया है कि किस प्रकार ऐतिहासिक शक्तियाँ बराबर कथित वैयक्तिक विचित्रताओ की पृष्ठभूमि से निकलकर उसी समय सामने आ जाती है, जिस समय उनका ऐसा करना ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से जरूरी हो जाता है। इतिहास मे इस कथन को पुष्ट

और मारी आतवानेत ने किये थे। दोनो रानियाँ अपने राजाओ के ऊपर मानो खडी है। दोनो से जनता घृणा करती है, दोनो बराबर अपने पतियो से दृढ रहने के लिए कहती है, और फिर डरती है कि कदाचित् राजा कुछ रियायत न कर बैठे। आतवानेत के इस रुख मे जरा घृणा है, ओर अलेक्जेड्रा के इस रुख मे दया है। यो तो कहने के लिए यह कहा जायेगा कि इस प्रकार जनता से घृणा करना और अपने पति से शकित रहना कि कही वह रियायत न कर बैठे, इन दो सम्राज्ञियो की वैयक्तिक विशेषता है, किंतु क्या इसी कथित वैयक्तिक विशेषता के ही जरिये से क्रान्ति का रथ आगे नही बढा? जब हम इन दोनो महान् क्रान्तियो के इतिहास को पढते है, तो हमे क्रान्ति की प्रारम्भिक घडी तक यह ख्याल आता है कि यदि इस समय राजशक्ति कुछ थोडा भी झुक जाय, और कुछ मामूली शासनसुधार दे दे, तो क्रान्ति न हो पावे। शायद फिर क्रान्ति आने मे बहुत साल लग जायँ, किन्तु ऐसे समय कथित वैयक्तिक विशेषता क्रान्ति के पहियो मे स्नेह-पदार्थ लगाकर उसकी गति बढा देती है। दोनो सम्राट् टस से मस नही होते। राजाओ के इस टस से मस न होने मे उनकी बीबियो का कथित चरित्र एक प्रमुख कारण होता है। ट्राटस्की ने केवल इन दो रानियो का उदाहरण दिया है, किन्तु ढूँढने मे इतिहास मे इस प्रकार की वैयक्तिक विशेषता के और भी दृष्टान्त मिल सकते है। उदाहरणार्थ, इँगलैड के राजा चार्ल्स प्रथम की स्त्री हेनरेयटा मारिया का चरित्र भी इसी प्रकार का था। यह कहा गया है कि इतिहास मे जितनी भी भली-बुरी स्त्रियो ने राष्ट्र के कार्य मे हस्तक्षेप करने की कोशिश की है,—क्लियोपेट्रा तथा शेवा की रानी से लेकर जितनी भी इस प्रकार की स्त्रियाँ हुई है, उन सब मे चार्ल्स की बीबी सबसे खराब थी। वह कैथोलिक धर्म को माननेवाली थी, इँगलैड प्रोटेस्टेट मुल्क था, इसलिए वह अपने धर्मवालो को रियायते दिलाने के लिए साजिशे किया करती थी। बराबर वह पति पर बहुत बुरा प्रभाव डालती थी। जनता उससे घृणा करती थी।[१] रानी की इन वैयक्तिक विशेषताएँ ने ही एक बडी हद तक राजा के सर्वनाश को (सच बात तो यह है कि १६४९ की ३० जनवरी को राजा का शिरच्छेद किया गया) द्रुतीकृत किया।

१ G B H P 355

व्यक्ति, व्यक्तित्व और इतिहास

लुई सोलहवां और निकोलस द्वितीय के बारे मे यह कहा गया है कि वे यदि राजा न होते तो बहुत अच्छे व्यक्ति होते—भारतीय पाठको को इस स्थान पर औरंगजेब की याद आयेगी—किन्तु ट्राटस्की ने ठीक ही लिखा है कि इस प्रकार की जल्पनाओ से न तो इतिहास के विषय मे हमारा ज्ञान ही बढता है, न मानवीय प्रकृति के सम्बन्ध मे कुछ जानकारी ही होती है। साम्राज्ञी अलेक्जेण्ड्रा जारशाही के पतन के दिन पहले कहती है "सब अच्छा ही होता जा रहा है। हमारे मित्र (रास पुटिन) के स्वप्न का बहुत भारी अर्थ है।" ट्राटस्की ने दिखलाया है कि इस प्रकार अलेक्जेण्ड्रा केवल मारी आतवानेत की बातो की पुनरावृत्ति भर कर रही थी। मारी ने फ्रैंच राज्य-शक्ति के पतन के एक महीना पहले लिखा था—"मेरे मन मे अजीब प्रफुल्लता हो रही है, और मुझसे कोई कह रहा है कि हम शीघ्र ही सुखी और निरापद होगी।" ये दोनो सम्राज्ञियाँ इस प्रकार डूबने के पहले इन्द्रधनुषवर्ण स्वप्न देखती है, और भविष्य-आनन्द की कल्पना मे इतनी विभोर रहती है कि जीवन की वास्तविकता को भूल जाती है।

लुई के सम्बन्ध मे एक फ्रेंच इतिहास-लेखक ने लिखा है कि वे जानते ही नही थे कि इच्छाशक्ति भी कोई बला है। उनमे इच्छाशक्ति थी ही नहीं। यही उनके चरित्र की विशेषता थी। यही बात निकोलस के सम्बन्ध मे भी लिखी जा सकती है। चार्ल्स प्रथम के सम्बन्ध मे भी यही बात एक बडी हद तक सही है। इन सदृशताओ को देखकर एक वैज्ञानिक की तरह ट्राटस्की उनसे कुछ नतीजे निकालने पर विवश होते है। वे दांतो तले उँगली दबाकर बैठे नही रह जाते कि यह क्या लीला है, भगवान्! वे जो नतीजे निकालते है, वे व्यक्ति और इतिहास के सम्बन्ध के स्पष्टीकरण मे विशेष सहायक हो सकते है। हम उनके मन्तव्यो को ज्यो का त्यो उद्धृत करेगे। वे लिखते है, 'सदृश अवस्थाओ मे सदृश परेशानियो का एक ही तरह का परिणाम होता है। यदि परेशानी की मात्रा कम है तो विभिन्न व्यक्तियो मे उसकी प्रतिक्रिया बहुत भिन्न भिन्न हो सकती है। यदि बहुत से लोगो में गुदगुदी पैदा की जाय, तो प्रत्येक व्यक्ति पर उसका प्रभाव भिन्न होता हुआ दृष्टिगोचर होता है, किन्तु यदि एक गरम लोहे का टुकड़ा लेकर इन्ही व्यक्तियों को छुआ दिया जाय, तो उनकी प्रतिक्रिया

एक-सी होगी। जिस प्रकार एक विराट् वाष्प परिचालित हथौड़े के नीचे एक गोल चीज और एक तिकोनी चीज दोनो पिटकर चद्दर मे परिणत हो जाती है, उसी प्रकार अति महान् तथा अपरिहार्य घटनाओ के दबाव मे सब तरह के प्रतिरोध टूट जाते है, और कथित व्यक्तिगत चरित्र नष्ट हो जाता है।'

इसी बात को और साफ करते हुए ट्राटस्की ने लिखा है कि यह जो आमतौर से कहा जाता है कि जूपिटर पहले उन लोगो को पागल बना देता है, जिन्हे वह खतम करना चाहता है, (तुलसीदास की भाषा मे 'जाको प्रभु दारुण दुख देही, ताकी मति पहले हर लेही') इसमे एक गम्भीर ऐतिहासिक सत्य कुसस्कार के जामे मे प्रस्तरीभूत है। ट्राटस्की ने लिखा है कि यह जो गेटे लिखते है कि बुद्धि निर्बुद्धिता हो जाती है, यह उसी विचार को ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद के निर्व्यक्तिक जूपिटर के लफ्जो मे व्यक्त करना है। व्यक्ति का चरित्र इतिहास के शतरंज के खेल मे एक मोहरे का काम देता है, किन्तु वह मोहरा निर्जीव नही है। किसी भी बुद्धिमान् नेता के सबध मे इतिहास मर्मज्ञ को इस पहलू को याद रखकर अपना काम करना पडेगा। ट्राटस्की ने यह जो लिखा है, कि भौतिकवादी मनोवैज्ञानिक को चाहिए कि वह ऐसे तथ्यो को इकट्ठा करे, जहाँ सदृश क्रियाओ या परेशानियो की सदृश प्रतिक्रियाएँ होती है, केवल एक सुलेखक की वागाडम्बरयुक्त उडान-मात्र नही है, यह एक बहुत अर्थपूर्ण सुझाव है। जिस समय कोई पद्धति नाशोन्मुख हो जाती है, उस समय वैयक्तिक विचित्रताएँ---जिनमे बहादुरी और कायरपन, प्रगतिशीलता और प्रतिक्रियावाद सभी आ जाते है---केवल उसको कुछ हद तक द्रुतीकृत या विलम्बित कर सकती है। उस समय उस पद्धति या उसके मूर्तरूप व्यक्ति-विशेष पर या व्यक्तियो पर केवल इसी बात का निर्वाचन करना भर रह जाता है कि वह विनाश के इस रास्ते को चुने या उस रास्ते को। यदि वह व्यक्ति ऐतिहासिक शक्तियो के विरुद्ध मार्ग को चुने तो उस हालत मे ऐतिहासिक शक्तियाँ उसके मस्तक को भूलुंठित कर आगे बढ जाती है, जैसे उसने चार्ल्स प्रथम, लुई सोलहवा, निकोलस द्वितीय या अति आधुनिक युग मे हिटलर और मुसोलिनी के मस्तक के साथ किया है।

६---**मार्क्स का व्यक्तित्व और इतिहास**---यह देखना बहुत दिलचस्प

होगा कि व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक समाज-शास्त्र का सिद्धान्त मार्क्स तथा लेनिन के व्यक्तित्वो पर भी लागू होता है या नही, और यदि लागू होता है, तो किस हद तक। हम पहले मार्क्स को ही लेगे। मार्क्स के पहले ही सारे यूरोप मे मजदूरवर्ग का उदय हो चुका था। इसी वर्ग के शोषण की नीव पर पूँजीवाद की बावन मजिलवाली अट्टालिका खडी हो रही थी। ऐसे समय मे मजदूरो की विचारधारा के रूप मे वैज्ञानिक समाजवाद का उदय होना स्वाभाविक था। वैज्ञानिक समाजवाद के पहले ही किस प्रकार स्वाप्निक समाजवाद के तरह तरह के सिद्धान्त निकल चुके थे। बाद को हम समाजवाद की उत्पत्ति के ब्यौरेवार इतिहास की आलोचना करते हुए उस समय की आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियो पर रोशनी डालकर दिखायेगे कि किस प्रकार उन विचारो की स्वाप्निकता मजदूरवर्ग के शैशव से अनिवार्यरूप से बँधी हुई थी। हम यहाँ पर केवल यह देखेगे कि मार्क्स के व्यक्तित्व का इतिहास का क्या सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध मे एँगेल्स से बढकर कौन अधिक विश्वसनीय तरीके से कह सकता है। एँगेल्स का कहना है—'और भौतिकवादी द्वन्द्ववाद जो वर्षो से हमारे हाथो मे सबसे अच्छा औजार और सबसे पैना हथियार रहा है, न केवल हम लोगो के द्वारा आविष्कृत हुआ, बल्कि यह बहुत मार्के की बात है कि हम लोगो से यहाँ तक कि हेगेल से भी स्वतत्ररूप से, एक जर्मन मजदूर सेफ डिटसगेन के द्वारा आविष्कृत हुआ था।'[१] एँगेल्स के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्सवाद के नाम से जो विचार-धारा प्रचलित है, वह स्वय की उपज थी। यदि मार्क्स पैदा नही होते तो कोई और व्यक्ति इसका वाहन होता। उस हालत मे सम्भव है कि यह विचार-धारा उतने जोरो के साथ नही आती, किन्तु वह आती, इसमे सन्देह नही। यदि इस विचार-धारा मे अन्तर्निहित शक्ति होती तो उस हालत मे वह मार्क्स की ही तरह किसी परम शक्तिशाली व्यक्ति को अपने वाहन के रूप मे ढूँढ लेती।

७—लेनिन का व्यक्तित्व और रूसी क्रान्ति—मार्क्स के व्यक्तित्व की उत्पत्ति पर उनके अनन्य हृदय मित्र तथा साथी, योद्धा एगेल्स का क्या कहना था, इसे हम देख चुके। अब हम देखेगे कि रूसी क्रान्ति के इतिहास लेखक ट्राटस्की का

१ R R P 55

लेनिन के व्यक्तित्व पर क्या कहना है। १९१७ की फरवरी में जब पूंजीवादी क्रान्ति हो गई, इसके बाद लेनिन रूस के अन्दर दाखिल हुए। अब तक वे अपने देश से बाहर भागे भागे फिर रहे थे, किन्तु एक ईगल पक्षी की तरह अभी दृष्टि रूस पर निबद्ध थी। यह तो इतिहास सम्मत बात है कि लेनिन के रूस में आने तक बाल्शेविक दल के अन्य नेता किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पाए थे कि आगे क्या करना है। लेनिन ने आते ही सारी बातों की काया-पलट कर दी। सच बात तो यह है कि उन्होंने देश में प्रवेश कर अपने सुप्रसिद्ध अप्रैल वक्तव्य के द्वारा दल के सामने जो दृष्टिकोण पेश किया वह इतना नवीन था कि दल के नेता उसे सुनकर चौंधिया गए, और उसे अस्वीकार कर दिया। फिर भी लेनिन अपनी आन पर डटे रहे और एक एक व्यक्ति करके सारे दल को अपने मत में ले आये और फिर उन्हीं के बताये हुए मार्ग से चलकर दल क्रान्ति का नेतृत्व कर सका। इसी पर ट्राटस्की लिखते हैं 'स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि यदि लेनिन १९१७ के अप्रैल में रूस न पहुँच पाते तो क्रान्ति का विकास क्योंकर होता? हमने रूसी क्रान्ति का जो विवरण दिया है उससे यदि कुछ प्रमाणित होता है तो यह कि लेनिन क्रान्तिकारी प्रक्रिया के उत्सस्थल (demiurge) नहीं थे, बल्कि वे केवल दृश्यगत ऐतिहासिक प्रक्रिया की कड़ी में अपना स्थान रखते थे। हाँ वे उस जंजीर की बहुत बड़ी कड़ी थे। सर्वहारावर्ग के अधिनायकत्व को, उस समय की मौजूदा परिस्थितियों से निकालना था किन्तु उसे निकालना अभी बाकी था। ऐसा दल के बगैर नहीं हो सकता था। दल ऐसा करने में तभी सफल हो सकता था जब वह परिस्थितियों को समझ लेता। इसके लिए लेनिन की जरूरत थी। उनके रूस पहुँचने के पहले एक भी बाल्शेविक नेता क्रान्ति का निदान करने का साहस नहीं करता था। कामनेव और स्टालिन का नेतृत्व घटनाओं के झकोरों से 'समाजवादी देशभक्तों' की ओर झुक चुका था। क्रान्ति ने लेनिन और मेनशेविकवाद के बीच कोई जगह नहीं छोड़ी थी। बाल्शेविक दल के अन्दर आन्तरिक कलह बिलकुल अनिवार्य थी। लेनिन के आ जाने से यह प्रक्रिया केवल द्रुतीकृत हुई। उनके व्यक्तिगत प्रभाव के कारण यह संकटकाल ह्रस्व हो गया। फिर भी क्या यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि लेनिन के बगैर ही

उस दर्जे तक नही पहुची। अभी तक तो ये वाहन जिनसे इतिहास अपने को उद्घटित करता है—सामाजिक प्रक्रिया के ये मचयाधार औपादानिक तरीके से ही पैदा होते है।" पोक्रोवस्की के इस मत के साथ जब हम वीर पूजा सिद्धान्त के प्रतिपादक कार्लाइल के उस मत की तुलना करते है जिसमे यह कहा जाता है कि इतिहास के निर्माता कुछ वीर पुरुष है, तो उसका थोथापन साबित हो जाता है। कार्लाइल फ्रेड्रिक महान् तथा क्रामवेल की तारीफो का जो पुल बॉध देते है, और आम जनता के लिए जिस घृणा का प्रदर्शन करते है, वह विजय से चूर मदमाते पूँजीपतिवर्ग (जिसका सारे यूरोप मे जय-जयकार हो रहा था, और जिसकी टोपी मे नित्य विजयसूचक एक न एक पख लगता जाता था) के प्रतिनिधि लेखक के उपयुक्त था, किन्तु यह सत्य मे कोसो दूर था। इसी प्रकार एक लेखक रिकर्ट हो गये है, जिनका कहना था कि 'ऐतिहासिक विद्वान् गेटे की आवाज मे आवाज मिलाकर सामान्यता के नारे देते है, हम उसका उपयोग करते है, किन्तु उससे प्रेम नही करते। हम केवल व्यक्ति के लिए ही परवाह करते है।' यह द्रष्टव्य है कि रिकर्ट के मत मे भी साधारण जनता के लिए घृणा है, हॉ वे उसका उपयोग करने के सम्बन्ध मे सचेत है।

व्यक्ति तथा व्यक्तित्व के प्रश्न को और स्पष्ट करते हुए बुखारिन ने लिखा है—"क्या व्यक्ति का कोई भाग होता है, या वह घटनाओ के प्रभाव मे एक शून्य-मात्र होता है? अवश्य समाज जब व्यक्तियो से बना है, तो सामाजिक घटनाओ पर प्रत्येक व्यक्ति की क्रिया का प्रभाव पडेगा ही। व्यक्ति का जरूर ही एक 'हिस्सा' होता है। उसके कार्य, अनुभूतियॉ तथा इच्छा सामाजिक घटना के बनानेवाले हिस्से के रूप मे कार्यशील होती है। मनुष्य ही इतिहास का निर्माण करते है। विभिन्न व्यक्तियो की शक्तियो की पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया से ही ऐतिहासिक घटनाओ का निर्माण होता है[1]।"

९—समाज में व्यक्तियो के स्वार्थ तथा इच्छाओ में सघर्ष से इतिहास— फ्रीड्रिख एगेल्स ने जे० ब्लाक नामक—एक मित्र को लन्दन से २१ सितम्बर, १८९० को एक पत्र लिखते हुए इस विषय पर अच्छी रोशनी डाली थी। उन्होने लिखा था—"हम अपने इतिहास का निर्माण करते है, किन्तु बहुत ही

१ M H P 97

निर्दिष्ट अवस्थाओं तथा पहले से स्वीकृत धारणाओं के दायरे में। इनमें आर्थिक कारण अन्तिम रूप से निर्णयात्मक हैं, किन्तु राजनैतिक आदि कारण हैं, यहाँ तक कि मनुष्य के मन पर प्रभाव रखनेवाली परम्पराओं का एक हिस्सा होता है, अवश्य ही इनका प्रभाव निर्णयात्मक नहीं होता । दूसरी बात यह है कि इतिहास इस प्रकार आत्म-निर्माण करता है कि अन्तिम निर्माण हमेशा बहुत सी वैयक्तिक इच्छाओं के बीच होनेवाले संघर्ष से उद्भूत होता है। फिर उन वैयक्तिक इच्छाओं को यदि देखा जाय तो यह ज्ञात होगा कि इनमें से प्रत्येक इच्छा की उत्पत्ति जीवन की विशेष परिस्थितियों से हुई है। इस प्रकार एक दूसरे को काटनेवाली अगणित शक्तियाँ हैं—शक्तियों के समानान्तर रेखायुक्त चतुर्भुजों का एक सिलसिला है जिनसे वह परिणाम निकलता है जिसे हम ऐतिहासिक घटना कहते हैं। फिर इसे भी यदि हम देखें तो ऐसी शक्ति की उपज के रूप में देख सकते हैं जो समग्ररूप से बिना इच्छा-शक्ति के चेतना-हीन रूप में काम करती है। प्रत्येक व्यक्ति जो चाहता है, बाकी सब लोग उससे कुछ दूसरा ही चाहते हैं, इस प्रकार उसके चाहने में बाधक स्वरूप होते हैं,

इसी पत्र पर टीका करते हुए सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी शहीद लेखक राल्फ फाक्स ने यह लिखा था कि 'मनुष्य का यह भाग्य है कि उसकी इच्छाएँ कभी जिस रूप मे वह इच्छा करता है, हू वहू उस रूप मे परिपूर्ण नही होती, किन्तु मनुष्य का यह गौरव भी है कि इन इच्छाओ की परिपूर्ति प्राप्त करने के दौरान मे मनुष्य चाहे कितना भी कम अश मे और चाहे कितनी ही सीमित मात्रा में कर पावे जीवन को परिवर्तित करता है। मनुष्य के भाग्य के लिए अज्ञात X=O नही है। इसके विपरीत प्रत्येक उस परिणाम को लाने मे अपना दाम देता है, और इस हद तक उसका इसमे हिस्सा रहता है।"[१]

उद्धृत अशो से व्यक्ति किस प्रकार और किस हद तक इतिहास-निर्माण करते है, यह स्पष्ट हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य प्राप्त साधनों का अपने ढग मे उपयोग करना चाहता है। सब लोग अपने, विशेष स्वार्थों के मुताबिक घटनाचक्र को ढालना चाहते है। जब तक समाज के सब सदस्य या अधिकाश सदस्य एक योजना के अनुसार चलना स्वीकार न करे तब तक समाज में व्यक्तियो का सघर्ष अनिवार्य है, और तब तक यह भी मालूम नही होता कि उन परस्पर विरुद्ध चेष्टाओ तथा इच्छाओ के सघात से क्या फल निकलेगा। जैसा कि हम देख चुके है ऐसा नही होता कि इन इच्छाओं तथा चेष्टाओ के सघर्ष के कारण वे एक दूसरे से कतई कट-पिट जायँ, और कुछ भी बाकी न रहे, बल्कि इतिहास का निर्माण होता है। बुखारिन ने तो इन्ही शब्दो मे समाज की व्याख्या कर डाली है। उनका कहना है कि 'पारस्परिक रूप से क्रिया-प्रतिक्रियाशील व्यक्तियो की विस्तृततम पद्धति को, जिसमे उनकी स्थायी पारस्परिक क्रिया प्रक्रिया आ जाती है, तथा जो उनके श्रम-सम्बन्धो पर आधारित है, समाज कहते है।'[२] केवल समाजवाद मे ही मनुष्य की इच्छाएँ सगठित होकर एक निर्दिष्ट दिशा की ओर जा सकती है। इसका अर्थ यह कदापि नही है जैसा कि बताने की चेष्टा की गई है। समाजवादी समाज मे materialistic determinism अर्थात् आर्थिक और सामाजिक अवस्थाओ से विचारो का निर्णय होनेवाला नियम रद्द हो जाता है और समाज मे शुष्क इच्छा का नियम ही चलने लगता है। सच बात तो यह है कि विकास के वे

१ R F M V P 191 २ H M P 90

ही नियम रहते है किन्तु मनुष्य सामाजिक नियमो को जान जाने के कारण तथा इस ज्ञान का फायदा उठाने मे समर्थ होने के कारण वह सामाजिक आर्थिक परिस्थितियो का और साथ ही साथ इच्छा को ठीक-ठीक सगठित कर सकता है। इस प्रकार समाजवादी समाज मे मनुष्य को जो यदृच्छ चलनेवाली सामाजिक, आर्थिक शक्तियो के हाथ से मुक्ति मिल जाती है, उसका अर्थ यह नही है कि वह वस्तुओं तथा घटनाओ से स्वतन्त्र हो गया, और इनसे बिलकुल स्वतन्त्र रूप से मनुष्य की इच्छा चलने लगेगी, बल्कि इसका अर्थ यह है कि मनुष्य ने वस्तुओ के तथा घटनाओ के नियम को जान लिया। उसके अन्तर्निहित द्वन्द्ववाद के नियम को समझ लिया, और ऐसा जानकर तथा समझकर इस ज्ञान के बूते पर वह समाज का नियमन करता है। साम्यवादी समाज मे इसी अर्थ मे समाज स्वतन्त्र हो जायेगा अर्थात् वह अपने अन्तर्गत मनुष्यो की सगठित इच्छा के अनुसार चल सकेगा।

१०—आकस्मिक घटना—जब तक हम इस प्रकार के समाजवादी समाज मे पहुँचकर (उसके पहुँचने के भी नियम है, कोई 'रामाश्रे' बैठने की बात की ओर इशारा नही है) अपनी इच्छाओ को एक सगठित, नियमित रूप नही दे पाते तब तक हम बराबर व्यक्तियो की असगठित इच्छा तथा अवर्गीकृत, अपरिज्ञात चेष्टाओ के परिणामों मे भटकते रहेगे, और जिसे हम आकस्मिक घटना कहते है, उसके अधिकाधिक शिकार रहेगे। आखिर ये आकस्मिक घटनाएँ कहाँ तक आकस्मिक है? वही तक जहाँ तक कि हम उनको देख नही पाते, वही तक जहाँ तक हमारे ज्ञान की परिधि की कमी के कारण हम उन्हे पहले से जान नही पाते। इच्छाएँ, घटनाएँ सब तभी तक हमारे लिए रहस्य की श्रेणी मे रहेगी। हमने देख लिया कि हम इच्छाओ को या घटनाओं को अस्वीकार नही करते, बल्कि हम उनको गहराई तक समझने की चेष्टा करते है, और यह देखना चाहते है कि उनका पारस्परिक सम्बन्ध क्या है। 'हम किसी घटना के सम्बन्ध मे ठीक ठीक भविष्यवाणी इसलिए नही कर पाते कि हम सामाजिक विकास के सारे नियमो के विषय मे अभी इतना पूर्ण रूप से नही जानते कि उनको आकड़ो मे लाकर रख सके। हम सामाजिक प्रतिक्रियाओं की गति के वेग को नही जानते फिर भी हम उसके सम्बन्ध मे निर्भ्रान्त रूप से यह जानते

है कि गति किस ओर है।'[१] हमारे ज्ञान की अपूर्णता ही आकस्मिक घटनाओ के लिए जिम्मेदार है। आकस्मिक घटनाओ मे जिन घटनाओ को हम समझते है, वे नियम वहिर्भूत नही है। उदाहरणार्थ रेलो के लडने को एक आकस्मिक विपत्ति कहा जाता है, किन्तु क्या इसमे कोई भी वात आकस्मिक या नियम वहिर्भूत है, वल्कि सच वात तो यह है कि नियमानुगता के कारण ही ये कथित आकस्मिक घटनाएँ घटित होती है। सिगनलमैन ने गलत सिगनल दिया, पटरी कमजोर हो गई या और किसी कारण से जव गाडी पटरी से उतर जाती है तो उसे हम केवल लौकिक अर्थ मे भले ही आकस्मिक कहे, किन्तु उसमे कही भी आकस्मिकता नही है, या है तो इतनी है कि ड्राइवर या मुसाफिर इन कारणो से परिचित नही थे। इस प्रकार किसी भी आकस्मिक घटना का यदि विश्लेषण किया जाय तो हम इसी प्रकार यह पायेगे कि आकस्मिक वात कोई भी नही है। हम इस सम्बन्ध मे आगे और आलोचना करेगे। इस प्रसग मे आकस्मिकता पर इतना ही विचार यथेष्ट है क्योकि हमे केवल इतना ही समझना है कि व्यक्तित्व कहाँ तक आकस्मिक है।

११—व्यक्ति परिस्थितियो पर निर्भर—इतिहास मे महान् व्यक्तियों की उत्पत्ति तथा अस्तित्व को आकस्मिक घटनाओ के रूप मे समझने की परिपाटी है। लोग कहते है कि अमुक महान् व्यति वहाँ मौजूद था, तभी ऐसा हो सका, नही तो ऐसा नही होता वैसा होता, किन्तु वे इस वात को भूल जाते है कि व्यक्ति की उत्पत्ति, विकास, सफलता या असफलता सव सामाजिक शक्तियो की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के ऊपर निर्भर है। क्या कारण है कि एक समय एक व्यक्ति पैदा होता है, और वह एक वात कहता है, किन्तु किसी के कानो पर जूँ तक नही रेगती, किन्तु कुछ दिनो वाद दूसरा व्यक्ति उसी वात को उससे निकृष्ट तरीके से पेश कर सकता है, और उससे समाज मे एक तूफान आ जाता है, आँधी-सी आ जाती है, और क्रान्ति की लपटे वादलो का मुँह चूमने लगती है? स्पष्ट है कि उस सफल व्यक्ति की वातो मे कोई जादू नही था, वल्कि जो परिस्थितियाँ थी, वर्गो के जो आपसी सम्बन्ध थे, समाज की उत्पादन शक्तियो की जो हालत थी, लोगो मे चेतना का जो परिमाण था, उसी

१ H M p 49

के कारण उसकी बातो को क्रान्तिरूपी विराट् परिणाम के रूप मे पल्लवित और पुष्पित होने का मौका मिला। इसका अर्थ यह भी न समझा जाय कि उस मौके पर उन बातो के कहने का कोई महत्त्व नही था, क्योकि ऐसा भी तो हो सकता है कि साधन और परिस्थितियाँ बहुत कुछ वही होती। किन्तु यदि उस बात को उस प्रकार कहनेवाला कोई न होता तो उसका परिणाम वैसा न हो सकता था, जैसा हुआ। इसी के साथ जैसा कि हम पहले देख चुके हैं परिस्थितियाँ ऐसा कहनेवालो को पैदा कर लेती हे, किन्तु परिस्थितियो की किस मात्रा तक परिपक्वता हो जाने पर ऐसा कहनेवाला या नेता पैदा हो जाता है, किस मात्रा मे नेता जबरदस्त होता है, और किस हालत मे कमजोर नेता होता है, उसकी ठीक-ठीक मात्रा अभी हमे ज्ञात नही है। किन्तु जैसा कि पोक्रवस्की के शब्दो मे हम देख चुके हैं, यह ज्ञान कोई असम्भव नही है।

१२—व्यक्ति एक कार्यक्रम तथा विचार-समूह—एक व्यक्ति तभी सफल होता है जब उसकी सफलता के लिए परिस्थितियाँ परिपक्व हो। अवश्य ही एक हद तक वह इन परिस्थितियो को बनाता भी है। १८४८ की फ्रेंच राज्यक्रान्ति के बाद जिस समय क्रान्तिकारी शक्तियो का जोर बढता गया, और दिसम्बर १०, १८४८ को राष्ट्रपतित्व के लिए वोट लिये गये, उस समय किसानों ने लुई नेपोलियन बोनापार्ट को वोट दिये। इसके कारणों का उद्घाटन करते हुए मार्क्स ने लिखा था कि नेपोलियन किसानो के लिए एक व्यक्ति नही बल्कि एक कार्यक्रम था।[१] किसानो के लिए लुई नेपोलियन के शक्ति आरूढ होने का अर्थ महाजन के ऊपर कर्जदार का राज्य स्थापित होना था। इसके अतिरिक्त प्रथम नेपोलियन के जमाने मे किसानो के बहुत से लड़के सामरिक नौकरियों के जरिये से जनरल के उच्च पद तक पहुँच गये थे। फलस्वरूप उनकी जो आर्थिक, सामाजिक तरक्की हुई थी, उसकी स्मृति के कारण भी किसानो ने इस नेपोलियन नामधारी व्यक्ति को वोट दिये थे। इस प्रकार लुई को जो राष्ट्रपति होने का मौका मिला है, उसके कारणस्वरूप साधारण तौर पर उसका जो व्यक्तित्व बतलाया जायेगा, उसका हमने विश्लेषण कर देख लिया कि वह केवल कुछ आशाओं, आकांक्षाओं को विशेष रूप से जागृत करने की सामाजिक

१ C S. F p 91

योग्यता मात्र थी, और इसके पीछे फ्रास का लगभग पचास साल का इतिहास तथा जनता का अनुभव था। दूसरे शब्दो मे परिस्थितियो के ही कारण लुई का कथित व्यक्तित्व बना।

१३—भगतसिंह और गाधी जी के व्यक्तित्व का विश्लेषण—जिस प्रकार हमने लुई के व्यक्तित्व की सामाजिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण किया, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्तित्व का किया जा सकता है। पडित जवाहरलाल जी नेहरू ने अपनी आत्मकथा मे सरदार भगतसिह के व्यक्तित्व का वहुत सुन्दर भौतिकवादी विश्लेषण किया हैं। उन्होने लिखा है किस प्रकार उस समय के राष्ट्रीय वातावरण के कारण सरदार का व्यक्तित्व वना और उनको अपने युग मे अभूतपूर्व ख्याति प्राप्त हुई। वे लिखते है, 'हिन्दुस्तान के मन मे इसी राष्ट्रीय अपमान (लाला लाजपतराय पर मार पडने) का ख्याल काम कर रहा था, और जव उसके कुछ दिनो वाद ही लाला जी की मृत्यु हो गई, तव लोगो ने लाजमी-तौर पर उसका ताल्लुक उन पर किये गये हमले से जोडा, और इस ख्याल से लोगो के दिलो मे जो गुस्सा और रोप आया, वह खुद-व-खुद एक प्रकार के अभिमान के रूप मे वदल गया। इस वात को समझ लेना जरूरी है क्योकि इस बात को समझकर ही हम वाद को होनेवाली वातो को, भगतसिह की कहानी को तथा उत्तर-भारत मे भगतसिह को एकाएक जो आश्चर्यजनक लोकप्रियता प्राप्त हुई, उसे समझ सकेगे। इससे पहले भगतसिंह को लोग भगतसिह के रूप मे नही जानते थे। उन्हे जो लोकप्रियता मिली, वह कोई हिसात्मक कार्य करने की वजह से नही मिली।[१] इस प्रकार नेहरू जी ने भगतसिह की पूरी लोकप्रियता का सुन्दर विश्लेषण किया है। उसके अनुसार जिन परिस्थितियो मे सरदार ने काम किये, उन्ही के कारण उन्हे लोकप्रियता मिली। वे एक राष्ट्रीय अपमान के वदला लेनेवाले के रूप मे आये, इसलिए उन्हे लोकप्रियता प्राप्त हुई। यह विश्लेपण वहुत ही ठीक है, किन्तु इसी प्रकार से सभी व्यक्तित्वो का विश्लेपण किया जा सकता है। यदि सरदार भगतसिह को लोकप्रियता इस कारण प्राप्त नही हुई कि उन्होने एक 'हिसात्मक' कार्य किया था, तो उसी प्रकार महात्मा गाधी या अन्य उनके इर्द-गिर्द के उपग्रहो को भी

१ A G N p 174

जो लोकप्रियता प्राप्त हुई, वह सत्य और अहिंसा अथवा उसके सम्बन्ध मे दावा करने के लिए नही मिली, बल्कि जिस सामाजिक-राजनैतिक पृष्ठभूमि मे गाधी जी ने जलियानवाला बाग के बाद भारतीय राजनीति मे पदार्पण किया था, जिस प्रकार वे डूबते हुए के लिए तिनके का साहरा साबित हुए थे, उसी कारण उनको लोकप्रियता प्राप्त हुई। फिर देश का पिछडापन, लोगो की कुसस्कार-ग्रस्तता, त्याग के सम्बन्ध मे लोगो की अद्भुत धारणा आदि ने भी अपना काम किया, और इन कारणो से महात्मा जी का महान् व्यक्तित्व बना। जिस सामाजिक पृष्ठभूमि मे महात्मा जी आये, उसके अतिरिक्त वे किसी भी अन्य पृष्ठभूमि मे सफल नही हो सकते थे। यदि गाधी जी अन्य किसी देश मे पैदा होते तो वे एक धार्मिक crank के रूप मे रह जाते या उन्हे दूसरी कार्यपद्धति अख्तियार करनी पडती, किसी भी हालत मे वे इस सफलता को प्राप्त नही कर सकते थे। पडित नेहरू की विश्लेषण-पद्धति मे इतनी गडबडी है कि वे एक क्रान्तिकारी की लोकप्रियता की व्याख्या करते समय तो भौतिकवादी पद्धति का अनुसरण करते है, और उस पद्धति को सफलतापूर्वक इस्तेमाल करते है, किन्तु गाधी जी आदि के व्यक्तित्व की इस प्रकार भौतिक व्याख्या नही करते। अस्तु।

१४—व्यक्ति परिस्थितियो से उत्पन्न—एगेल्स ने १८९४ मे स्टारकन बुर्ग नामक एक मित्र को एक पत्र मे लिखा था—'एक विशेष समय मे एक विशेष व्यक्ति का किसी देश मे पैदा होना बिलकुल आकस्मिक घटना है (आकस्मिक शब्द का यहाँ वही मतलब लिया जाय, जिसकी हम पहले परिभाषा कर चुके है—ले०), किन्तु उस व्यक्ति को काटकर अलग कर दीजिए तो उसके स्थल मे एक दूसरे व्यक्ति की जरूरत होती है। हो सकता है कि यह स्थानाभिषिक्त या एवजी व्यक्ति उससे घटिया हो, किन्तु अन्त तक वह मिल ही जायेगा। जिस समय फ्रेंच प्रजातन्त्र अपनी ही लडाइयो मे परिश्रान्त हो गया था, उस समय जो, नेपोलियन नामक एक कार्सिकरवासी के लिए सामरिक अधिनायक की जगह की जरूरत हुई, यह एक आकस्मिक घटना थी। किन्तु यदि एक नेपोलियन न मिलता, तो दूसरा उसके स्थान की पूर्ति कर लेता, इसमे सन्देह नही। यह इस बात से प्रमाणित होता है कि जिस समय भी नेपोलियन ऐसे व्यक्ति

जरूरत पडी, उस समय वह मिल गया, जैसे सीजर, अगस्टस, क्रामवेल इत्यादि'। मार्क्स ने फ्रास के वर्ग युद्ध नामक अपनी पुस्तक मे मानो इसी वक्तव्य को दूसरे शब्दो मे यो कहा था—'प्रत्येक सामाजिक युग को महापुरुषो की जरूरत रहती है, और यदि ये न मिले तो जैसा हेलवेसियस ने कहा है, यह उनका आविष्कार कर लेता है।'[१]

१९२३ मे लुवर चारस्की ने 'क्रान्तिकारी शब्द चित्र' (Revolutionary silhonettes) नाम से एक पुस्तक लिखी थी। उसमे उन्होने यह लिखा था कि 'जिस समय एक महान् क्रान्ति आती है, उस समय एक महान् जाति अपने प्रत्येक हिस्से के लिए एक उपयुक्त नेता उत्पन्न कर लेती है और हमारी क्रान्ति की महत्ता के चिह्नो मे एक यह भी है कि वाल्शेविक पार्टी ने जरूरत पडने पर या तो अपने से, या किसी दूसरे दल के अन्दर से एक ऐसे नेता को लाकर खडा कर दिया जो दल मे वहुत अच्छी तरह जमे हुए थे, और साथ ही ऐसे योग्य व्यक्ति थे कि सरकार के उस कार्यक्रम मे वखूवी हाथ वँटा सकते थे।' रूसी क्रान्ति का इतिहास, और उसके वाद का इतिहास पढने पर वरावर हमे यह ज्ञात होता है कि जिस समय जिस तरह के नेता की आवश्यकता हुई, उस समय समाजवादी रूस मे उसी प्रकार के नेताओ का उद्भव होता गया। हमे व्यौरे मे जाने की आवश्यकता नही है, किन्तु यह प्रकट है कि कल तक जो पददलित, अशिक्षित मजदूर या किसान-मात्र थे, उन्ही मे से क्रान्ति के वाद वहुत से वडे वडे उद्योग-धन्धो के नेता, राजनीतिज्ञ तथा सेनापति उत्पन्न हुए।

१५—स्पेन प्रतिक्रान्ति का उदाहरण—हिटलर, मुसोलिनी, मोसले— आधुनिक यूरोप के इतिहास मे परिस्थितियो के द्वारा व्यक्तित्व के उत्पन्न कर लिये जाने का एक वहुत अच्छा उदाहरण स्पेन के गृहयुद्ध से मिलता है। इस गृहयुद्ध के असली सामरिक नेता जनरल सान जुरजो और राजनैतिक नेता कालवो सेटलो थे। विद्रोह जिस समय भ्रूणावस्था मे था उसी समय सेनर कालवो सेटलो, जो प्रीमोड रिवेरा के अधीन अर्थसचिव थे, और जिनके विषय मे यह आशा की जाती थी कि वे सयुक्त दक्षिण पक्ष या प्रतिक्रियावादी पक्ष के नेता होगे, मार डाले गये। इस प्रकार स्पेन प्रतिक्रान्ति का राजनैतिक नेता

१ C S F p 124

रगमच से अलग हो गया। जनरल सान जुरजो की भी यही दशा हुई। गृहयुद्ध के प्रारम्भ होने के तीन दिन बाद ही वे एक हवाई जहाज की दुर्घटना से मर गये। इस प्रकार जब दोनो नेता आकस्मिक रूप से मर गये, तब जाकर फ्रेंको को नेतारूप मे सामने आने का मौका मिला। फ्रेंको उस समय केनरी द्वीप-पुँज के गवर्नर थे, और वे जर्मन तथा इटालियन हवाई जहाजो की सहायता से युद्धक्षेत्र मे पहुँच सके। यह घटना परम्परा इतनी स्पष्ट है तथा इसका ऐतिहासिक अर्थ इतना साफ है कि जान गुन्थर ऐसे उच्छवृत्तिवादी लेखक भी इस घटना परम्परा के अर्थ पर ध्यान दिये बगैर नही रह सके। उन्होने लिखा है कि, 'फ्रेंको ऐतिहासिक आकस्मिकता के सम्बन्ध मे एक अव्वल दरजे का दृष्टान्त है। जो योजना बनी थी, उसमे उनका कोई भी स्थान नही था, प्रधान नेता होने की बात तो दूर रही। असली नेता तो कालवो सेटलो थे, जो जुलाई में मार डाले गये थे, और सान जुरजो थे जो लडाई के शुरु होते ही मारे गये थे। फ्रेंको ने न केवल उनकी जगह ले ली, बल्कि वह दूसरो से योग्यतर साबित हुए। रणनैतिक दृष्टि से भी वे कुछ बुरे नही रहे। मूर और लिजियनेर सेना उनके अधीन थी, और लडाई के प्रारम्भिक दो महीनो के अन्दर ही वे निर्विवाद रूप से नेता हो गये।'[१] मजे की बात यह है कि गुन्थर को ऐसा अपने अपनाये हुए प्रिय सिद्धान्त के विरुद्ध मानना पडा। उन्होने अपनी पुस्तक को इस धारणा के वशवर्ती होकर लिखा है कि व्यक्तित्व ही इतिहास का निर्माता है, किन्तु उन्हे भी ऐसा मानना पडा। वे जिस धारणा को लेकर पुस्तक को लिखने चले थे, वह सक्षेप मे, उन्ही के शब्दो मे यो है—'व्यक्ति की आकस्मिकता इतिहास मे एक बहुत बडा हिस्सा अदा करती है। बर्टेन्ड रसेल कहते है कि लेनिन के बगैर रूसी क्रान्ति न होती, और बिस्मार्क यदि बचपन मे ही मर गये होते तो आधुनिक यूरोप का विकास कठिन होता। इसी प्रकार कार्ल मार्क्स के व्यक्तित्व ने इतिहास की आर्थिक व्याख्या के द्वारा इतिहास पर जबर्दस्त असर पैदा किया।' (पृष्ठ IX) फिर भी इसी गुन्थर साहब की ही पुस्तक मे फ्रेंको का उदाहरण हमे मिलता है। गुन्थर के अनुसार तो इस पुस्तक का प्रारम्भ हिटलर से तथा अन्त स्टालिन से होता है, अर्थात् उनके मतानुसार उस

१ I. E p 227

युग के इतिहास का निर्माण इन्ही दो व्यक्तियो ने किया; किन्तु वे यह भी मानते है कि हिटलर १९३९ के महायुद्ध मे फँस गया। उनके शब्द ये है—'हिटलर अपने से अधिक जबर्दस्त शक्तियो के हाथो मे कैदी हो गया। या तो उसे फैलना पडता था उसे फूट जाना पडता। घटनाओ ने अपने गतिशास्त्र का निर्माण किया। घटनाएँ हिटलर को वहा ले गई।' फिर व्यक्तित्व का वह हिस्सा कहाँ रहा जिसे मानकर गुन्थर ने अपने राजनैतिक महाकाव्य की रचना की है? जिन परिस्थितियो मे हिटलर का अभ्युत्थान हुआ, उन परिस्थितियो मे यदि हिटलर नाम का एक आस्ट्रियन कारपोरल उसका नेतृत्व करने के लिए जर्मनी मे नही मिलता, तो कोई न कोई और मिल जाता, शायद रेम (Rohm) मिलता, गोरिंग मिलता या कोई ऐसा व्यक्ति मिलता जिनका हमे पता नहीं है। क्या इटली मे अनुरूप परिस्थितियो मे फासिस्टवाद के नेतृत्व करने के लिए मुसोलिनी का व्यक्तित्व नही मिल गया था? सर आसवल्ड मोसले हमारी आँखो मे एक भाँड ज्ञात होते है। उनकी ट्रेजडी यह है कि इटली तथा जर्मनी मे जिन परिस्थितियो मे फासिस्टवाद का उदय हुआ, अर्थात् पार्लियामेंट्री तरीको से पूँजीवादी शासन को कायम रखने की असमर्थतावाली परिस्थिति के बगैर ही मोसले ने मुसोलिनी और हिटलर की रेक अपना ली। नतीजा यह हुआ कि वह हमे इतिहास के रगमच पर अकड कर चलता हुआ एक व्याघ्र-चर्मावृत्त गर्दभ की तरह प्रतीत होता है, नही तो मोसले के नैतिक, बौद्धिक ढाँचे मे कोई ऐसी हास्यास्पदता नही है, जैसी कि हमे ज्ञात होती है। यदि इँगलैंड मे या किसी देश मे फासिवाद कायम होने की परिस्थिति पैदा हो जाय तो मोसले के मर जाने पर भी कोई न कोई फ्यूहरर ढूँढ ही लिया जायेगा?

१६—फ्रेन्च राज्य क्रान्ति से एक उदाहरण—मारा की हत्या—फ्रेंच राज्य-क्रान्ति की घटनाओ मे शारलतकोर्दे द्वारा सुप्रसिद्ध नेता मारा की हत्या (१३ जुलाई १७९३) एक प्रमुख घटना है। शारलत ने मारा की हत्या इस लिए की थी कि मारा ने जिरोंद दल को दबा दिया था, और उसके बहुत से नेताओ को मृत्यु के घाट उतार दिया था, या उतारनेवाला था। इस पर लिखते हुए वर्था मेरीटोन गार्डिनर ने १८८३ मे ही लिखा था—'मारा उन परिस्थितियो का जनक नही था, जिनके कारण वह प्रभाव-विस्तार करने मे

समर्थ हुआ। उसके अतिरिक्त बहुत से ऐसे लोग थे जो उसी की तरह खूँखार मतान्ध तथा उसके मरने पर उसी की जगह लेने को तैयार थे।'[१] इस प्रकार वर्था ने माना है कि जो कार्य मारा के व्यक्तित्व ने किया उसी को दूसरे भी कर सकते थे। परिस्थितियाँ होने पर एक व्यक्ति की कमी या वेशी से कुछ विशेष अन्तर नही आता जाता।

१७—वैयक्तिक चरित्र और इतिहास—होर, लावाल, चेम्बरलेन, चर्चिल—कुछ मनोविश्लेषण विशेषज्ञो ने इस प्रकार का एक सिद्धात खडा किया कि नेताओ के चरित्र के द्वारा ही इतिहास का निर्माण होता है। ब्रिटिश मनोविश्लेषक डाक्टर ग्लोवर अपने लेख War, Saditsm and Pascfiism मे यह दिखाने की चेष्टा की है कि लडाइयो का कारण व्यक्तिगत अतिरिक्त भावनाएँ है। "वे समझते है कि प्रत्येक मनुष्य मे दमित और सम्पूर्ण रूप से अज्ञात आक्रमणात्मक भावनाओ का एक ऐसा भाण्डार होता है, जिसके विषय मे उसे पता नही होता। कुछ लोग तो इन दमित आक्रमणात्मक भावनाओ पर अच्छी तरह नियत्रण प्राप्त कर लेते है, किन्तु कुछ लोग ऐसे है जो अपनी हीनता या क्लीवता के अपरिज्ञात भय के कारण, यदि वे मौका पावे तो, आक्रमणशीलता को एक असाधारण तथा अयुक्तियुक्त मात्रा तक विकसित करते है। लडाई जिसे सही तौर पर 'कानूनी हत्या' कहा गया है, स्पप्ट रूप से उन लोगो को इस प्रकार दमन की हुई आक्रमणात्मक भावनाओ की मुक्ति के लिए मौका देती है। इसलिये डाक्टर ग्लोवर का कहना है कि इस प्रकार के चरित्रयुक्त लोगो मे लडाई के लिए अपरिज्ञात रूप से खास प्रेरणा होती है। उनके कथनानुसार जिस राष्ट्र के कर्णधार के रूप मे ऐसा एक व्यक्ति भी, जिसकी आक्रमणात्मक भावनाओ का सही ढग पर दमन नहीं हो पाया, रहता है वह राष्ट्र पहला मौका मिलते ही लडाई मे कूद पडेगा।"[२]

कहना न होगा इस प्रकार का मतवाद विलकुल वास्तविक घटनाओ के विरुद्ध है। दूर जाने की जरूरत नही हाल की ऐतिहासिक घटनाओ मे इस बात का विलकुल खण्डन हो जाता है। हो सकता है कि किसी प्रधान मत्री

१ F. R. B. p 165
२ T P. S p 263

या वैदेशिक मन्त्री का किसी विशेष जाति के प्रति कोई विशेष रुख हो, और वह बहुत गहराई तक बैठा हुआ हो। किन्तु इससे यह मतलब कभी नही निकाला जा सकता—और न व्यावहारिक रूप से ऐसा कभी होता है कि उसका वह मत शासकवर्ग की इच्छा और उस समय के वर्ग के दृश्यमान हित और नीति के विरुद्ध होते हुए भी उस व्यक्ति की चल जाय। १९३९ की लडाई के पहले जिन घटनाओ के ताने-बाने के द्वारा इस महायुद्ध के लिए रगमच का निर्माण हो रहा था, उनमे से इटली द्वारा अबीसीनिया-विजय एक प्रमुख घटना है। ब्रिटिश मन्त्री सर सेमुअल होर और फ्रेंच मन्त्री मोशिये लवाल ने इस अवसर पर अपने पार्लियामेटो के पीछे या अनजान मे मुसोलिनी के साथ एक पैक्ट कर लिया। कहा जा सकता है कि यह पैक्ट होर और लवाल के विशेष चरित्रो के कारण हुआ या डाक्टर ग्लोवर ने जिस भाषा का व्यवहार किया है उसके अनुसार इन लोगो की आक्रमणात्मक भावनाओ का अच्छी तरह दमन हो पाया था, इसलिए उन्होने पैक्ट कर लिया। किन्तु इसका परिणाम क्या हुआ? यह पैक्ट ब्रिटिश और फ्रेंच पार्लियामेटो को स्वीकार नही हुआ। इसके फलस्वरूप होर को पदत्याग करना पडा। इस पैक्ट की वास्तविकता तो यह थी कि असल मे शासक वर्ग का सबसे ऊँचा तबका इस पैक्ट को चाहता था, और उसी की स्वीकृति से यह पैक्ट हुआ होगा। किन्तु यह उच्च तबका पार्लियामेट को इस खास मौके पर अपने साथ नही ले जा सका। इसलिए ऊपर से इसे यह रूप दिया गया, मानो सर सेमुअल होर ने अपने मन से इस पैक्ट को कर लिया हो। इस दृष्टि से देखने पर होर को निकाल कर उच्च तबके ने विरुद्ध समालोचकों के हथियार छीन लिये। यदि ग्लोवर की तरह यह माना जाय कि इस पैक्ट का कारण होर का विशेष चरित्र था, तो उस चरित्र का चल कहाँ पाया? सामाजिक शक्तियो के सामने उसे पराजय स्वीकार करनी पडी, और सर होर दूध की मक्खी की तरह निकालकर अलग फेक दिये गये।

इसी प्रकार मिस्टर चेम्बरलेन के उदाहरण को देखने पर भी हम इसी नतीजे पर पहुँचते है। कहा जा सकता है कि मिस्टर चेम्बरलेन अपने व्यक्तिगत चरित्र के कारण फासिवादी जर्मनी को रियायते दे-देकर तुष्ट रखने की नीति का अनुसरण करते थे—अर्थात् डाक्टर ग्लोवर की भाषा मे उनकी

आक्रमणात्मक भावनाओ का अच्छी तरह दमन हुआ था, इसलिए वे हिटलर को तरह देते जाते थे। यहाँ तक कि उन्होने म्युनिच का पैक्ट कर लिया जिसके अनुसार चेकोस्लोवाकिया को बिना पूछे ही नात्सी जर्मनी की रक्ताक्त बलि-वेदी पर चढा दिया गया। किन्तु परिणाम क्या हुआ ? मिस्टर चेम्बरलेन को अपनी जगह खाली करनी पडी, उनकी जगह मिस्टर चर्चिल आये, और लडाई लडकर नात्सी जर्मनी को मिटा दिया गया। इससे हम देखते है कि व्यक्ति के व्यक्तिगत चरित्र का चाहे राजनैतिक क्षेत्र मे कुछ परिणाम होता हो, किन्तु जिस वर्ग की ओर से वह व्यक्ति नेता के रूप मे काम कर रहा है, यदि उस वर्ग को उस व्यक्ति की जरूरत न रही, या दूसरी तरह के चरित्रवाले व्यक्ति की उसे जरूरत हुई तो वह पहलेवाला व्यक्ति निकाल दिया जाता है, और उसकी जगह पर दूसरी तरह के व्यक्ति को बैठा दिया जाता है। राष्ट्रो के मामूली वैदेशिक सम्बन्धो की गतिविधि को यदि हम जरा भी ध्यान से देखे तो यह ज्ञात होगा कि जब एक राष्ट्र का किसी दूसरे राष्ट्र के प्रति रुख बदलता है, तो पहलेवाले राजदूत को हटाकर नवीन मत के परिपोषक किसी राजदूत को उस देश मे नियुक्त किया जाता है। इस प्रकार राजदूत के वैयक्तिक चरित्र से राष्ट्र परिचालित नही होता, बल्कि राष्ट्र उसके चरित्र को एक मोहरे के रूप मे इस्तेमाल करता है।

हम यदि फिर चेम्बरलेन पर लौटे तो देखेगे कि जिस समय वे अपने दल के सर्वेसर्वा नेता समझे जाते थे, उन दिनो मिस्टर चर्चिल को लोग एक ओर एक अत्यन्त कट्टर लडाका तथा दूसरी ओर दृढ चरित्र सुवक्ता और सुलेखक के रूप मे जानते थे। उस समय भी कई गुणो के कारण वे अपने दल मे एक प्रमुख व्यक्ति समझे जाते थे। उनके कुछ अनुयायी भी थे। किन्तु चाहे वे कितने भी सुवक्ता और सुलेखक समझे जायँ, १९३९ के महायुद्ध के पहले कोई भी राजनीति का छात्र यह नही समझता कि चर्चिल कभी इँगलैड के महामत्री होगे। लेकिन उनका एक विशेष चरित्र था, जिसकी सर्वप्रधान विशेषता अपरा-जेय आशावाद तथा निर्भीकता थी। जब लडाई को सुचारु रूप से चलाने के लिए इस प्रकार के चरित्रवाले एक व्यक्ति की ब्रिटिश शासकवर्ग को जरूरत हुई, तब चर्चिल महामत्री बनाये गये।

१८—फेसोडा घटना और सलिसवरी का चरित्र—एक दूसरे ब्रिटिश मनोविश्लेषक डाक्टर जोन्स ने भी डाक्टर ग्लोवर के मत का समर्थन किया है।[१] डाक्टर जोन्स ने अपनी एक वक्तृता मे फेसोडा घटना का उल्लेख कर अपने मत का समर्थन किया था। १८९८ की बात है—ब्रिटिश और फ्रेंच राष्ट्र दोनो जल्दी मे थे कि दुनिया का कोई ऐसा हिस्सा न बचे जहाँ उनका झण्डा न फहरावे। फेसोडा एक नखलिस्तान का नाम है। अभी तक यह साम्राज्यवाद के कोढ से बचा हुआ था, किन्तु बकरे की मा कब तक खैर मनाती ? एक ही साथ जनरल मारसा के अधीन टचूनीसिया ने एक फ्रेंच फौज उस तरफ बढी। साथ ही सुडान की ओर से एक ब्रिटिश फौज फेसोडा पर बढी। दोनो फौजो ने अपने अपने देश की ओर से इस भूखण्ड पर अपने कब्जा होने का दावा किया। यह मामला यहाँ तक बढा कि फ्रास और ब्रिटेन मे लडाई छिडने की नौबत आ गई। डाक्टर जोन्स का कहना है कि लडाई होने मे कोई कसर नही थी, किन्तु ब्रिटिश प्रधान मत्री लार्ड सलिसवरी के शान्तिप्रिय स्वभाव के कारण यह झगडा टल गया। डाक्टर जोन्स ने वैज्ञानिक भाषा मे इसको यो कहा है कि लार्ड सलिसवरी दमित, अपरिज्ञात, आक्रमणात्मक भावनाओ से मुक्त थे, उनको किसी प्रकार हीनता या क्लीवता का भय नही था। थोडे मे डाक्टर जोन्स का यह कहना है कि ब्रिटिश प्रधान मत्री के व्यक्तिगत चरित्र के कारण एक ऐसी लडाई टल गई जिसमे शायद लाखो की जाने जाती। असली तथ्य कुछ और ही था। बात यह थी कि १८९८ मे उडते-हुए साम्राज्यवादो के विस्तार के लिए अब भी कुछ दायरा बाकी था, इसलिए दोनो परराष्ट्र लोलुप साम्राज्यवादी राष्ट्रो ने इसी मे भलाई समझी कि लडाई टाल दी जाय। यदि ब्रिटिश शासक-वर्ग को उस समय इसी मे अपनी भलाई दीखती कि लडाई हो, तो वह बहुत आसानी से लार्ड सलिसवरी को कान पकडकर महामन्त्रित्व की गद्दी से निकाल बाहर कर सकता था। किन्तु अव्वल तो इस बात की शायद जरूरत ही नही होती क्योकि जब लार्ड सलिसवरी समझ जाते कि उनके असली आकाओ की (ब्रिटिश वोटर तो नकली आका है) क्या इच्छा है तो बहुत सम्भव है वे स्वय बदल जाते। शेषोक्त सम्भावना का तो सबसे बडा उदाहरण स्वय मिस्टर

---

१ T. P. S p 263

चेम्बरलेन है। वे रियायत दे-देकर फासिवादी राष्ट्रो को तुष्ट रखने की नीति के सबसे कट्टर प्रतिपादक थे, किन्तु उनको भी अन्त मे नात्सी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करनी पडी, और उनका वह कथित चरित्र जो शायद मनोविज्ञान को इस प्रकार इस्तेमाल करनेवालो की निगाह मे स्थायी विशेषता थी, बदल देना पडा। इस प्रकार अपने प्रभुओं के इशारे पर 'चरित्र' बदलने के बहुत से उदाहरण दिये जा सकते है।

अभी १९३९ मे जान डालर और येल विश्वविद्यालय के कुछ अन्य अध्यापको ने समाज-विज्ञान-सम्बन्धी कुछ व्यावहारिक तथ्य एकत्र कर उनके आधार पर एक Hypothesis पेश किया। उनके अध्ययनो का परिणाम Frustration and aggression नामक पुस्तक मे एकत्रित है। इस पुस्तक मे यह बताया गया है कि कभी कभी जीवन मे किसी मामले मे धक्का लगने पर या निराशा होने पर जो भावना उत्पन्न होती है, वह आक्रमणात्मक तरीके से फूट निकलती है। ये विद्वान् अध्यापक यह भी कहते है कि जब किसी व्यक्ति मे आक्रमणात्मक भावना दृष्टिगोचर हो तो उसकी पृष्ठभूमि मे इस प्रकार की किसी निराशा या धक्का की तलाश करनी चाहिए। सौभाग्य से ये अध्यापक यह नही कहते कि जहाँ भी आक्रमणात्मक भावना होगी, उसके पीछे इस प्रकार का धक्का या निराशा होगी ही, ऐसा नही कहा जा सकता।

कहना न होगा कि इन विद्वानो की यह धारणा पूर्ववर्णित मतो से भिन्न नही है। हम दिखला भी चुके है कि इस प्रकार की धारणा कितनी निराधार है। हो सकता है कि एक व्यक्ति की आक्रमणात्मक भावना के पीछे इस प्रकार का मानसिक धक्का या निराशा हो, किन्तु वह किस हालत मे सामाजिक शक्ति हो सकती है, यह उस समय की सामाजिक, आर्थिक शक्तियो पर निर्भर है।

फिर भी इस बात को यहाँ स्पष्ट कर देना चाहिए कि किसी खास पद पर किसी खास व्यक्ति के, किसी खास समय पर होने से उसका तात्कालिक रूप मे कुछ न कुछ असर पडता ही है। बात यह है कि सारी आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियो मे वह भी एक परिस्थिति है, किन्तु किसी भी हालत मे व्यक्ति का असर इतना अधिक नही हो सकता कि वह घटना को सामाजिक, आर्थिक शक्तियों की सम्पूर्ण विरुद्ध दिशा मे ले जाय। इन सब बातो से यह मतलब कदापि

नही है कि अधिकारारूढ व्यक्ति का इतिहास पर कोई असर ही नही होता। नेता को परिस्थितिया उत्पन्न करती है किन्तु एक वार उत्पन्न हो जाने पर नेता स्वय एक शक्ति हो जाता है और प्रगति को द्रुतीकृत या विलम्बित कर सकता है। हमारे विश्लेपण मे इतिहास मे व्यक्ति के चरित्र का स्थान विलकुल लुप्त नही हो जाता, वल्कि स्पष्ट होता है। लेनिन ने लिखा है 'ऐतिहासिक कार्य-कारण सम्वन्ध का विचार किसी भी तरह इतिहास मे व्यक्ति के हिस्से को खटाई मे नही डालता। सच वात तो यह है कि सारा इतिहास व्यक्तियो की क्रियाओ से वना है।'[१] हम इस विपय को आगे और स्पष्ट करेगे।

१९—महात्मा गाधी का वैयक्तिक चरित्र और इतिहास की शक्तियाँ— हम अपने वक्तव्य को भारतीय आधुनिकतम इतिहास से उदाहरण देकर और स्पष्ट करेगे। १९२० से लेकर महात्मा गाधी भारतवर्ष के सर्वप्रधान राजनैतिक नेता रहे है। उनके चरित्र की सवसे वडी विशेपता सत्य और अहिसा है। वे किसी भी हालत मे यह पसन्द नही करेगे कि हिसा हो। उनकी परिभापा के अनुसार आक्रमणकर्त्ता की हिसा भी हिसा है, और आक्रमण को वचाने के लिए जो आक्रमणकारी को मारता है, उसका वह मारना भी हिसा है। गाधी जी वरावर भारतीय काग्रेस के सर्वेसर्वा नेता रहे है। कहा जाता है उनकी सत्य और अहिसा विशेपकर अहिसात्मक राजनीति के कारण ही उनका नेतृत्व कायम है। इसमे सन्देह नही कि उनकी आन्दोलन पद्धति ने भारतवर्ष मे जन-जागृति उत्पन्न करने मे सहायता दी है। जिस समय १९३५ के शासन सुधार के वाद काग्रेस ने अपनी वहुसख्या के प्रान्तो मे मत्रिमडल वनाये, उस समय जव वम्वई और कानपुर मे मजदूरो पर गोलियाँ चलाई गई तो गाधी जी ने यह वयान दिया कि जिन मत्रिमडलो को अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए गोलियॉ चलानी पडती है, अच्छा है कि वे मत्रिमडल न रहे, और इस्तीफा दे दे। किन्तु इस वयान का नतीजा क्या हुआ ? कुछ भी नही। दूसरे काग्रेसी नेतागण गाधी जी की इस वात को यह कहकर टाल गये कि गाधी जी महात्मा है, हम मामूली लोग उनकी वातो पर अक्षरश नही चल सकते। मत्रिमडलो ने इस्तीफा नही दिया। इस प्रकार जो व्यक्ति काग्रेस का डिक्टेटर समझा जाता था, उसकी वात वात की

१ M D J p 137

के सिलसिले मे यह भी द्रष्टव्य है कि १९४५ के प्रारम्भ मे जब सीमाप्रान्त में फिर से काग्रेस मत्रीमडल बना, और उसका घोषित उद्देश्य लडाई मे, गाधी जी की भाषा मे, हिंसा मे मदद पहुँचाना हुआ, तब भी गाधी जी चुप्पी साधे रहे। इसी प्रकार इसके बाद जिस समय १९४५ के जुलाई महीने मे वेवेल योजना के अनुसार काग्रेस सरकार से सहयोग कर, गाधी जी की भाषा में, हिंसा मे मदद देने पर तुल गई थी, और केवल लीग के साथ मामला तय न होने के कारण यह योजना कार्यान्वित नही हो सकी, उस समय भी गाधी जी चुप रहे। उन्होने इस अवसर पर हिंसा अहिंसा का कोई सवाल नही उठाया। स्मरण रहे १९४० के जून तक महात्मा जी सम्पूर्णत हिंसा होने के डर से लडाई मे काग्रेस को अलग रखना चाहते थे। यह केवल एक शुभ इच्छा या धमकी मात्र नही थी, उन्होने उस समय अपने अनुयायियो से काग्रेस छोड देने की अपेक्षा की थी। निस्सन्देह १९४५ मे वे बदल चुके थे। इस प्रकार हमने निर्णयात्मक रूप मे देख लिया कि कथित वैयक्तिक चरित्र एक हद तक ही सामाजिक, आर्थिक शक्तियो का विरोध कर सकता है, उसके बाद या तो उस व्यक्ति को अपना चरित्र बदल देना पडता है या इतिहास उस व्यक्ति को शीर्षस्थान से उतारकर निम्न स्थान मे ले जाकर पटक देता है।

२०--व्यक्ति और इतिहास परस्पर का निर्माता--हमने अब तक जो कुछ लिखा है, उसका साराश यह जरूर है कि इतिहास व्यक्ति को बनाता है, किन्तु दूसरी तरफ उससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति उत्पन्न हो जाने के बाद इतिहास को एक हद तक बना या बिगाड सकता है। यह बात ठीक है कि व्यक्ति को सामाजिक आर्थिक शक्तियाँ पैदा करती है, बनाती है, या बिगाडती है, सफल बनाकर करोडो लोगो के भाग्यविधाता के रूप मे पेश करती है, अथवा उसको सडक पर भिखारियो के साथ टुकडे बाँटकर खाने मे या जेल की कोठरियो मे तिल-तिल कर अज्ञात अवस्था मे मरने के लिए बाध्य करती है, किन्तु व्यक्ति जब व्यक्तित्व हो जाता है, तो उस समय वह सामाजिक शक्तियो का विरोध भी कर सकता है। इस पर कोई यह पूछ सकता है कि यदि व्यक्ति को सामाजिक शक्तियाँ बनाती है, तो यह कैसे सम्भव है कि

वह उनका विरुद्धाचरण कर सके। किन्तु जो कुछ हमने कहा है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसा किस प्रकार सम्भव होता है। यही पर मनुष्य की स्वतत्रता का प्रश्न आता है। व्यक्ति विशेष चाहे तो किसी एक ऐतिहासिक धारा का विरोध या समर्थन कर सकता है। लेकिन इस कथन से यह न समझा जाय कि इस प्रकार विरोध और समर्थन का कोई नियम नही है। उसके भी नियम है। यहाँ केवल इतना ही जानना यथेष्ट है कि व्यक्ति ऐसा कर सकता है, और करता है। अक्सर ऐसा हुआ है कि जो कल के क्रान्तिकारी थे, वे आज के प्रतिक्रियावादी है। उसका कारण यह है कि व्यक्ति जब सामाजिक शक्तियो से सम्पूर्ण स्वतन्त्ररूप से बल्कि उसके विरोध में चलने लगता है, तभी ऐसी ट्रेजडी होती है। किन्तु इसी से यह भी प्रमाणित होता कि व्यक्ति केवल इतिहास का मोहरा मात्र नही है, और है तो उसमे इस बात की स्वतत्रता है कि वह विरोधी मोहरा हो या अनुकूल। यदि व्यक्ति का इतिहास के निर्माण मे कोई भाग न होता, और वह केवल घटनाचक्र के हाथो मे एक खिलौना मात्र होता, और परिस्थितियो की हवा जिधर चाहे

एक स्थान होता है, और अन्य इस प्रकार की आकस्मिक घटनाओ ने उनका प्रतिषेध भी होता रहता है, किन्तु फिर भी यह बात सत्य है कि बहुत कुछ हद तक इन आकस्मिक घटनाओ पर किसी घटना का विलम्बीकरण या द्रुतीकरण निर्भर रहता है। इन आकस्मिक घटनाओ मे ऐसी बाते भी आ जाती है, जैसे आन्दोलन के शीर्ष स्थान पर रहनेवाले व्यक्तियो का चरित्र।"[१] इसमे व्यक्ति का चरित्र अस्वीकृत नही हुआ बल्कि उसके भाग का स्पष्टीकरण हुआ।

हमने यह देख लिया कि व्यक्तियो के स्वार्थ भिन्न-भिन्न है। किन्तु मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे समाज मे रहने के दौरान मे कुछ चेष्टाएँ करनी पडती है जिनके बगैर वह जी ही नही सकता। इन चेष्टाओ के सिलसिले मे वह सगठित रूप से काम करता है, और एक सोपान मे पहुँचकर उसमे वर्ग विभाजन उत्पन्न हो जाते है। वर्गो की उत्पत्ति के बाद वर्गयुद्ध ही इतिहास की सबसे बडी नियामक शक्ति हो जाती है। अवश्य उसके पीछे उत्पादन पद्धति तथा उत्पादन सम्बन्ध रहते है। इसलिए समाज की अग्रगति को समझने के लिए वर्गो की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे कुछ जान लेना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा कितनी ही भिन्न हो लेकिन उत्पादन के सम्बन्धों के कारण ऐसा देखने मे आता है कि लाखो व्यक्तियो की इच्छा या स्वार्थ एक हो जाता है। वे एक तरीके से सोचते है, एक ध्येय के लिए लडते है—चाहे अज्ञानरूप से लडे या सज्ञानरूप से। इस प्रकार केवल व्यक्तियो के सम्बन्ध मे हमने जो कुछ कहा उससे इतिहास की अन्तर्निहित शक्तियो तथा उनके रहस्यो को एक बहुत छोटी हद तक ही समझा जा सकता है। इसके लिए हमे वर्गो को विशद रूप से समझना पडेगा।

---

१ M E C P. 311

वर्ग, वर्गसंघर्ष और राष्ट्र

१---**मनुष्य सामाजिक प्राणी के रूप में उत्पन्न**---मनुष्य जिस दिन से मनुष्य हुआ, उसी दिन से वह सामाजिक है। सच वात तो यह है कि आज मनुष्य का जीवन जितना सामूहिक है, आदिम युग मे मनुष्य का जीवन कई मानो मे इससे कही अधिक सामूहिक था। मनुष्य की उत्पत्ति किसी न किसी प्रकार के आदिम वन्दर से हुई है। यो तो मनुष्य का सम्बन्ध आदिम एक कोष अमीवा नामक प्राणी से है, और मनुष्य का शरीर तथा मन उसी का विकसित रूप है, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य की उत्पत्ति इन आदिम वन्दरो से हुई, इसमे कोई सन्देह नही। न केवल आदिम मनुष्य सामाजिक रूप मे सृष्टि के रगमच पर आया था, वल्कि उसके ये आदिम पूर्व-पुरुष भी सामूहिक रूप से रहने के आदी थे। इस प्रकार मनुष्य मनुष्य होने के क्षण से ही नही, वल्कि उसके पहले से ही सामूहिक प्राणी रहा है। जी० डी० एच० कोल ने यह ठीक ही कहा है कि 'मनुष्य समाज को नही वनाता, वल्कि मनुष्य समाज मे पैदा होता है, और उसी मे पलता है---जन्म मे ही मनुष्य सामाजिक परिस्थितियो मे डाल दिया जाता है।' जिस समय मनुष्य-जाति को हम विकसित रूप मे देखते है, उस समय मनुष्य अपनी चारो ओर के प्राणियो के मुकाविले मे इतना दुर्वल और अक्षम था कि सामाजिकता के वगैर वह जी ही नही सकता था। फिर मनुष्य-समाज प्रारम्भ से ही जानवरो के यूथ से गुणगत रूप से भिन्न इस अर्थ मे था कि किसी और प्राणी के वनिस्वत मनुष्य अर्थात सामाजिक मनुष्य प्रकृत्ति को वदलता रहा, और इस दौरान मे वह स्वय वदलता गया। मनुष्य शव्द का अर्थ ही सामाजिक मनुष्य है, उसी रूप मे हम उसे उसकी सृष्टि के आदिकाल मे पाते है, और उसी रूप मे उस पर हम आलोचना करते है। जो लोग मनुष्य की इस सामाजिकता को न समझकर यह पूछ वैठते है कि मनुष्य पहले का है या समाज, वे एक ऐसा प्रश्न करते है जिसका भले ही आध्यात्मिक तत्वज्ञान मे कोई स्थान हो, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह प्रश्न

बिल्कुल ऊलजलूल है, और उठता ही नही चाहिए। मनुष्य यदि सामाजिक न होता तो वह होता ही नही। अपनी सामाजिकता के कारण ही मनुष्य ने मैस्टोडोन, मैमथ, शेर आदि विपुल शक्तिशाली जन्तुओ के मुकाबिले मे अपनी प्राणि-जाति को कायम रखा है।

२—आदिम मनुष्य के जीवन का मूलमंत्र सामूहिकता—प्रारम्भ मे मनुष्य केवल इस अर्थ मे सामाजिक नही था कि वह झुण्डो मे रहता था, बल्कि इस अर्थ मे भी वह सामाजिक था कि उसका उत्पादन, वितरण यहाँ तक कि विवाह-पद्धति भी सामूहिक थी। वैयक्तिक सम्पत्ति का उस युग मे कोई अस्तित्व नही था। सभी सम्पत्ति सामाजिक थी। यूरोप, एशिया, अमेरिका, अफ्रीका जहाँ भी नवप्रस्तर युग के या उसके पहले के मनुष्य का पता मिला है, यह ज्ञात होता है कि मनुष्य सामाजिक रूप से रहता था। आदिम मनुष्य के लिए शिकार एक वहुत महत्वपूर्ण साधन था। जहाँ भी हमे प्राचीनतम शिकार के प्रमाण मिले है, वही हम उसे एक सामूहिक रूप मे पाते है। पूर्व और मध्य-यूरोप के प्रेडमोस्टियन तथा फ्रास के ओरगनेशियन और मेगडेलियनो मे हम शिकार को सामूहिक रूप मे ही पाते है। पहले पहल जब बर्तन बने तो उसके सम्बन्ध मे भी हमे यह ज्ञात होता है कि उसका बनाने का तरीका भी सामूहिक था। जितने भी शिल्प थे सब सामूहिक थे। समाज इन शिल्पो का मालिक होता था, तथा ये शिल्प सामूहिक रूप से किये जाते थे। नवप्रस्तर युग की आर्थिक पद्धति के सम्बन्ध मे जो कुछ मालूम है, उससे ज्ञात होता है कि सामूहिक सहयोग ही उस आर्थिक पद्धति का मूलमंत्र था। 'जगलो को साफ करने का या दलदल के पानी को उलीचकर उसे सुखाने का काम सामूहिक ही हो सकता था। नालियो का खोदना, बाढ और जगली जानवरो से रक्षा—ये सामाजिक जिम्मेदारियाँ ही हो सकती थी। मिस्र और पश्चिमीय यूरोप मे नव-प्रस्तर युग के जिन गाँवो का पता मिला है, उनके सम्बन्ध मे यह प्रमाणित हो चुका है कि वे व्यवस्थित तरीके से बसे हुए थे न कि विश्रृखल तरीके से।'[१] हमे मनुष्य के आदिमतम इतिहास के सम्बन्ध मे जितना ही अधिक ज्ञात होता जा रहा है, उतना ही हम दृढ रूप से इस नतीजे पर पहुँचते जाते है कि आदिम

१ M M H P 65

मनुष्य समाज मे रहता था, तथा उसकी उत्पादन और वितरण की पद्धतियाँ सामूहिक थी। भूगर्भ-विद्या, भाषा-विज्ञान तथा पुरातत्व के अतिरिक्त आधुनिक समय की मौजूद सभ्यता से भिन्न कुछ जातियो के निरीक्षण, अध्ययन तथा उनके रीति-रिवाजो के अनुशीलन से भी यही उपसंहार निकलता है कि मनुष्य अपनी आदिम अवस्था मे एक ऐसी पद्धति मे रहता था जिसमे उत्पादन और वितरण समाज का काम था। जितनी भी प्राचीन जातियाँ है, उन सबके इतिहास के अनुशीलन से भी यही बात पुष्ट होती है।

३——आदिम यौन सम्बन्ध——मातृगमन, भगिनीगमन——उन दिनो मनुष्य का यौन-सम्बन्ध आज की तरह बाधानिषेधो के दायरे मे नही चलता था। नेतृत्व से हमे ज्ञात होता है कि अति आदिम समाज मे जिसको हम आज विवाह कहते है अर्थात् पुरुष विशेष से स्त्री विशेष का या बहुत-सी स्त्रियो का एकाधिकार मृतक सम्बन्ध, उस समाज मे अपरिज्ञात था। प्रथम सोपान मे तो मातृगमन, मातृष्वसागमन, पितृष्वसागमन पर कोई रोक नहीं थी। यह केवल कपोलकल्पना मात्र नही है, सभी साहित्यो मे यहाँ तक कि पवित्र वैदिक साहित्य मे भी इस प्रकार की अनुश्रुतियाँ मिलती है जिससे ज्ञात होता है कि मातृगमन के युग का पता वैदिक ऋषियो को था। इसी प्रकार से ग्रीस से लेकर ईरान, स्कैडिनेविया जहाँ का भी प्राचीन गाथा, सागा या साहित्य हमे मिलता है मातृगमन के युग की प्रतिध्वनि सुनाई पडती है। इन अनुश्रुतियो के अतिरिक्त उन्नीसवी सदी तक की बहुत-सी जातियो मे मातृगमन एक जीवित पद्धति के रूप मे पाया गया है। दूसरे सोपान मे चलकर मातृगमन पर रोक लगती है, किन्तु बहुत दिनो तक भगिनीगमन की प्रथा रहती है। यम और यमी के वैदिक उपाख्यान से भगिनीगमन के युग की स्मृति का पता लगता है। केवल यम यमी की बात ही नही, हिन्दुओ के धार्मिक साहित्य मे भगिनीगमन के बहुत उदाहरण है। स्मरण रहे हम जिस मातृगमन या भगिनीगमन का यहाँ उल्लेख कर रहे है वह कोई अपराध के रूप मे नही होता था——अपराध के रूप में तो वह अब होता है। मातृगमन और भगिनीगमन से हमारा मतलब यह है कि ऐसा समाज की स्वीकृति से नहीं होता था बल्कि समाज का उस समय यही रिवाज था। इस आदिम प्रमिश्रण के युग मे यौन सम्बन्ध पर कोई रोक नही थी,

और मनुष्य इस सम्बन्ध मे पशुवत् थे, यह कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। मातृगमन के युग मे तो कोई भी पुरुष किसी भी स्त्री से यौन-सम्बन्ध स्थापित कर सकता था। यही वात स्त्री के लिए भी थी। भगिनीगमन के युग मे माँ या माँ के पुश्त की स्त्रियो के अतिरिक्त किसी भी स्त्री से वल्कि और भी निर्दिष्ट रूप से कहा जाय तो अपने पुश्त की किसी भी स्त्री से यौन-सम्वन्ध हो सकता था।

४—मातृगमन, भगिनीगमन का अन्त, क्यो ?—इसके वाद के युग मे जव एक एक समाज मे जिसे जेन्स या जन कहते थे, विभाजन शुरू होते है, तो विवाह-पद्धति मे यह फर्क आता है कि अव एक जेन्स की स्त्रियाँ दूसरे जेन्स के सव पुरुषो के पत्नियो के रूप मे होने लगी। इस प्रकार यह जो मातृगमन के युग का अन्त होकर अगला युग आया, उसके भौतिक कारण थे। वे भौतिक कारण यह थे कि एक पुश्त की स्त्रियो या पुरुषो के साथ अगली पुश्त की स्त्रियो तथा पुरुषो के साथ यौन-सम्वन्ध होते रहने से कई तरह की गडवडियाँ उत्पन्न होती थी। सवसे वडी गडवडी यह थी कि तैयार या नवीन पुश्त को अपनी पुश्त की स्त्रियाँ तथा पुरुष भी नही मिलते थे, इसके विपरीत पिछली पुश्त को दोनो पुश्तो याने अपनी तथा नवीन पुश्त की स्त्रियो तथा पुरुषो पर एकाधिकार था। इनसे जो स्त्रियाँ तथा पुरुष वच जायँ, वे ही अगली पुश्त को मिलते थे। इस प्रकार की गडवडी से उत्पादन मे भी गडवडी होती थी, और समाज मे एक तरह की शिथिलता आती थी। इसी को दूर करने के लिए प्राकृतिक निर्वाचन तथा विलोम की प्रक्रिया के अनुसार मातृगमन आदि का अन्त हुआ। हम अन्यत्र इस पर विस्तार से आलोचना कर चुके है, फिर भी यह वता देना आवश्यक है कि यह कदम एक वहुत वडी प्रगति का सूचक था। इससे उत्पादन पद्धति मे सहायता मिली। इसी प्रक्रिया से जव भगिनीगमन का भी निषेध हुआ, तो वह इस रुख मे और एक वहुत वडा कदम था। भाई और वहन मे किस प्रकार यौन-सम्वन्ध का निषेध उद्भूत हुआ होगा, इसके सम्वन्ध मे अनुमान यह है कि पहले किसी किसी छुटपुट क्षेत्र मे एक माता की सन्तानो मे पारस्परिक यौन-सम्वन्ध वन्द हो गया होगा तव धीरे धीरे इसका अनुकरण समाज मे व्याप्त हो गया होगा। मातृगमन और कन्यागमन के निषेध मे

पुश्तो का अपनी अपनी पुश्त के प्रति पक्षपात की मनोवृत्ति ने निर्णयात्मक रूप से काम किया होगा, किन्तु इस नये निषेध में कौन-सी ऐसी बात थी जिसने न केवल काम किया, बल्कि धीरे धीरे इस प्रथा को ही मिटा दिया। जब हम इस पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि इस प्रकार बाहर यौन-सम्बन्ध से कुछ विशेष फायदा था। वह यह था कि रिश्तेदारी की परिधि बढ़ जाती थी। जिस युग में किसी एक रिश्तेदारी या जेन्स का अन्तर्भुक्त होना ही एकमात्र बल या दुर्बलता थी, उस युग में इसकी महत्ता की हम कल्पना कर सकते हैं। धीरे-धीरे यह पद्धति उन्नति करते करते कबीले के बाहर विवाह में परिणत हो गई। एंगेल्स ने इस पर यह लिखा है, "इस विषय में कोई प्रश्न नहीं हो सकता कि जिन कबीलों में अपने अन्दर यौन-सम्बन्ध को इस प्रकार रोक दिया गया, वे दृढ़ता के साथ बढ़े, और जिन समाजों में भाई और बहन में यौन-सम्बन्ध अभी तक था, उनके मुकाबिले में दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति की। इस प्रगतिमूलक कदम का कितना जबरदस्त प्रभाव हुआ, यह हम उस संस्था में देख सकते हैं, जिसका विकास इन्हीं पद्धतियों से हुआ, याने जेन्स या जन में देख सकते हैं। जगत् के सभी समाजों में कम से कम अधिकांश समाजों में यही संस्था आधार के रूप में रही, इसका प्रमाण मिल चुका है।"[१] यह एंगेल्स की मनोकल्पना नहीं है,

ब्यौरे मे नही जाएगे, केवल इतना ही वता देना यथेष्ट होगा कि यह युग सैकडो वल्कि हजारो वर्षो तक रहा। जिस समय हम ग्रीको, ईरानियो, भारतीय आर्यो तथा अन्य सभ्य जातियो को इतिहास मे पदार्पण करते पाते है, तव उनमे हम यह तो देखते है कि यौथ समाज का अर्थात् यौथ उत्पादन तथा यौथ यौन-सबध का अन्त हो चुका है, किन्तु उनके धर्मो, अनुश्रुतियो, प्रथाओ, रीति-रिवाजो मे वहुत-सी ऐसी वाते प्रस्तरीभूत रूप से अब भी मौजूद है, जिनसे हम यह अनुमान कर सकते है कि वे अभी अभी यौथ समाज के गर्भ से निकले चले जा रहे है।

५—यौथ समाज में वैयक्तिक सम्पत्ति के विरुद्ध प्रथाएँ—यौथ समाज का किस प्रकार अन्त हुआ, यह इतिहास का एक वहुत वडा अध्याय है। जव वैयक्तिक सम्पत्ति का उदय हुआ, तभी यौथ समाज की दीवारो की मिट्टी खिसकने लगी, और कालक्रम से युगयुगान्तर से खडी इसकी अट्टालिका धूलिधूसरित हो गई। प्रश्न यह है कि वैयक्तिक सम्पत्ति का कैसे उदय हुआ। यहाँ पर वैयक्तिक सम्पत्ति का अर्थ उपभोग के साधनो से नही है, यहाँ उसका मतलव उत्पादन के साधनो से है। पहले तो उत्पादन के सव साधन सामाजिक थे। किन्तु उस आदिम युग मे भी कुछ उपभोग के साधनो मे कही कही वैयक्तिक सम्पत्ति का परिचय प्राप्त होता है। उत्पादन के ऐसे साधन जैसे तीर धनुष भी व्यक्ति के जीवनकाल मे एक हद तक वैयक्तिक सम्पत्ति समझी जाती थी, एक हद तक हमने इसलिए कहा कि उस विशेष धनुष का उपयोग व्यक्ति-विशेष करता था, किन्तु वह व्यक्ति-विशेष उसका उपयोग अपने लिए नही, वल्कि समाज के लिए करता था, अर्थात् जव उसके धनुष के तीर से कोई शिकार मारा जाता था तो वह शिकार-लब्ध मास सारे समाज का होता था। न कि उस व्यक्ति का। इस हालत मे यही कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वह धनुष असल मे समाज का था, किन्तु इस्तेमाल के लिए व्यक्ति को जीवन काल के लिए दिया गया था। यौथ समाज मे इस वात की वडी कोशिश रहती थी कि वैयक्तिक सम्पत्ति का उदय न हो पावे। इसके लिए कई तरह की प्रथाएँ थी, जिनका ऊपरी रूप धार्मिक होने पर भी उनकी सामाजिक अन्तर्गत स्थिति स्पष्ट हो जाती है। कई जातियो मे उन्नीसवी सदी मे भी यह प्रथा पाई गई है

कि जब कोई भी बाहरी व्यक्ति उनमे से किसी व्यक्ति को एक चीज़ देता है, तो वह उसे तुरन्त आपस मे बॉट लेता है। डारविन ने अपनी यात्रा के दौरान मे इसी प्रकार एक जाति के एक व्यक्ति को एक वस्त्रखड दिया, उस व्यक्ति ने उसे ले लिया, किन्तु तुरन्त ही उसे आपस मे बॉट लिया। इस प्रकार बॉटने के बाद प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से मे दो अँगुल का एक चिट पडी। ऊपरी तौर पर देखने से यह प्रथा बहुत ही मूर्खतापूर्ण तथा हास्यास्पद ज्ञात होगी, किन्तु कुछ गहराई तक सोचने पर ज्ञात होगा कि इस प्रकार आदिम समाज ने अपने को वैयक्तिक सम्पत्ति से बचाने की चेष्टा की है। इसी प्रकार की एक प्रथा यह भी थी कि मुर्दे के साथ उसकी सारी सम्पत्ति याने ऐसी सम्पत्ति जो उसकी वैयक्तिक सम्पत्ति समझी जा सकती थी, गाड या जला दी जाती थी। इसका आशय स्पष्ट है। बाद को वैयक्तिक सम्पत्ति के युग मे इसी प्रथा का रूपान्तर हो गया, और बडे आदमियो, राजाओ, सरदारो के साथ उनकी पत्नियाँ तथा गुलाम भी गाडे या जलाये जाने लगे। इस युग मे वैयक्तिक सम्पत्ति ही समाज की केन्द्रीय धारणा थी, अतएव जिस प्रथा का अभिप्राय यह था कि वैयक्तिक सम्पत्ति यदि कुछ हो, तो उसे नष्ट कर दिया जाय, अब वह धारणा उसकी विपरीत धारणा मे परिवर्तित हो गई। साम्पत्तिक परिवर्तन के साथ साथ इसके सम्बन्ध मे विचार भी बदल दिये गये। अब इस प्रकार जो कुछ मुर्दों के साथ गाडा या जलाया जाने लगा, उसका यह अर्थ लगाया जाने लगा कि इस प्रकार मरने के बाद भी मनुष्य को अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति की जरूरत हो सकती है, इसलिए उसके साथ उसकी सम्पत्ति का एक अग गाडा या जलाया जाता है। धीरे धीरे इस प्रथा के साथ किस प्रकार और धारणाएँ जुडती गई, किस प्रकार परलोक, स्वर्ग की सृष्टि हुई, किस प्रकार मरे हुए व्यक्ति को समय समय पर रसद पहुँचाने के ख्याल मे श्राद्ध, तर्पण आदि प्रथाएँ उत्पन्न हुई, किस प्रकार पति के साथ जलकर मर जाने की धारणा के अन्दर भी यही उपादान है—ये सब बहुत ही दिलचस्प प्रश्न है। किन्तु यहाँ पर हम इतना इंगित करके ही आगे बढ जाने के लिए बाध्य है कि बाद को जो प्रथाएँ इस प्रथा से उत्पन्न या विकसित हुई, उनके मूल मे केवल यही बात थी कि वैयक्तिक सम्पत्ति का उदय न हो जाय। उस समय के समाज-शास्त्रीगण इन प्रथाओ को प्रोत्साहन

देते थे—वे लोग लिखना-पढना नही जानते थे तो क्या—अपने समाज के हित को बहुत अच्छी तरह समझते थे। गिनाई हुई प्रथाओ के अतिरिक्त और भी प्रथाएँ इस सम्बन्ध मे थी, किन्तु उन्हे गिनाने की आवश्यकता नही है।

६—मर्दुमखोरी की सामाजिक पृष्ठभूमि—यौथ समाज के समाज-शास्त्रियो की सारी सावधानियो के बावजूद वैयक्तिक सम्पत्ति का उदय हुआ। वैयक्तिक सम्पत्ति का विकास मनुष्य-जाति के इतिहास की एक बहुत बडी घटना है। यह कैसे हुआ, इसे भी हम थोडे मे देखले। अत्यन्त आदिम युग मे मनुष्य-जाति की उत्पादन पद्धति बहुत अनुन्नत थी। जीवन-सग्राम बहुत तीव्र था। प्रकृति पर अभी किसी अर्थ मे भी मनुष्य विजय प्राप्त न कर सका था। वह प्राकृतिक शक्तियो के हाथो मे क्रीडनक मात्र था। उसका सारा समय पेट भरने मे ही लग जाता था। उत्पादन पद्धति कितनी अन्नुनत थी, इसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि उस आदिम समाज मे वृद्ध या अपाहिज के लिए कोई स्थान नही था। जब कोई व्यक्ति उत्पादन पद्धति मे सहयोग करने मे असमर्थ हो जाता था, तो उसे लोग मारकर खा जाते थे। यह न समझा जाय कि इस मारकर खा जाने मे कोई असम्मान की भावना थी। सच बात तो यह है कि उत्पादन पद्धति की मजबूरी से उत्पन्न इस प्रथा को विचार-धारा के क्षेत्र मे बहुत उदात्त रूप दिया गया था। मनुष्य की भौतिक अवस्था जैसी होती है, मनुष्य उसी के मुताबिक किस प्रकार अपनी धारणाओ को ढाल लेता है, इसका एक प्रकृष्ट उदाहरण हम इस बात मे पा सकते है कि इस युग मे यह समझा जाने लगा कि इस प्रकार जिस व्यक्ति को मारकर खाया जाता है, उसकी वीरता खानेवालो मे आ जाती है। इसके अतिरिक्त एक सम्माननीय व्यक्ति के मास को यो कौवे आदि को कैसे खिलाया जाय? यह तो असम्मान ही होता। इस प्रकार भक्तिभाव से बूढो का मास खाया जाता था। ऊपर से इस प्रथा को इस तरह एक बहुत प्रभावोत्पादक रूप मिलने पर भी उसके अन्दर असल मे क्या शक्ति थी, इसे हम देख सकते है।

७—मर्दुमखोरी समाप्त, इसके कारण और नई प्रथा—जिस समय की बात हमने बताई उस समय तो उत्पादन पद्धति बहुत ही अनुन्नत थी, किन्तु बाद को जब उत्पादन पद्धति मे कुछ उन्नति हुई और मुर्दे के मास की कोई आवश्यकता

न रही, उस समय मुर्दा खाने की प्रथा खतम हो गई। अब मुर्दो का दूसरे तरीको से सत्कार होने लगा। फिर एक बार इस प्रकार मुर्दे के सत्कार की नई प्रथा को नया अर्थ दिया गया। इस युग मे मुख्यत मुर्दे को कही न कही रख देते थे.। कई अफ्रीकी जातियो मे उन्नीसवी सदी मे भी यह प्रथा पाई गई है कि वे अपने मुर्दो को अपने कुल या संयुक्त परिवार के निवासस्थान के पास ही कही रखते है। ऐसे लोग यह सोचते है कि इस प्रकार मुर्दा अपने पहले के प्रियजनो की भलाई-बुराई पर निगरानी करता है। इस प्रकार मुर्दे के लिए एक विशेष स्थान बनाने की प्रथा से तथा इसके साथ सबद्ध इस धारणा से कि वह वही से प्रियजनो की भलाई करता रहता है, आत्मा तथा मन्दिर-निर्माण की सृष्टि हुई। इस गुत्थी मे हम यहाँ न पडेगे, किन्तु इनका सम्बन्ध बिलकुल स्पष्ट है।

८—**आदिम समाज की सुव्यवस्था**—यह न समझा जाय कि आदिम समाज मे किसी प्रकार की व्यवस्था ही नही थी। राजतंत्र तथा राजशक्ति के समर्थकों ने यह कल्पना की है कि राजशक्ति या राष्ट्र के उद्भव के पहले मनुष्य-समाज मात्स्यन्यायमूलक अव्यवस्था मे पडा हुआ था, जिसकी लाठी उसकी भैंस थी, जो चाहे सो करता था लेकिन इतिहास की गवाही इसके बिलकुल विपरीत है। यौथ समाज मे भी नियम थे, व्यवस्था थी, और वह व्यवस्था उस समय के समाज को देखते हुए कुछ हीन नही थी। जन या जेन्स के अन्दर बहुत सुन्दर व्यवस्था थी। सभी काम सामाजिक अनुशासन मे चलते थे। उस समाज मे सभी स्वतंत्र थे, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि वे स्वेच्छाचारी थे। उस समाज मे गुलामो के लिए स्थान नही था। अवश्य यह समझना गलत होगा कि यौथ समाज मे गुलामो के लिए जो स्थान नही था, उसका कारण यह था कि लोगो मे कोई बहुत उदात्त भावनाये नही थीं, बल्कि तथ्य तो यह था कि उत्पादन पद्धति इतनी अनुन्नत थी कि इसके लिए कोई गुंजाइश ही नही थी। जब एक व्यक्ति मुश्किल से अपने लायक खाद्य-पदार्थ उत्पन्न कर सकता था तो उस हालत मे उसे—गुलाम बनानेवाले को क्या फायदा हो सकता था। उस हालत मे तो उसे रखना समाज के शिकारगाहो, मछली की जगहो आदि पर एक बोझा-मात्र बढाना होता। इसलिए यौथ समाज के उस युग

मे जिसमे अपने अन्दर के वृद्ध और अपाहिजो को भक्तिभाव से मारकर खा जाने की प्रथा थी, लडाई के कैदियो को भी मारकर खा जाने की प्रथा थी। इसके बाद के युग मे जब वुड्ढो को मार डाला जाता था, उस युग मे गुलामो को भी मार डालने की प्रथा उत्पन्न हुई होगी। किन्तु गुलामो के क्षेत्र मे मर्दुम-खोरी से मार डालने की प्रथा मे आने मे कुछ अधिक दिन लगे होगे ऐसा अनुमान किया जा सकता है। स्मरण रहे कि उत्पादन के पिछडेपन के कारण समाज के सब शिशु जीवित नही रखे जाते थे। कुछ थोडे से ही शिशु जीवित रखे जाते थे, वह भी मार डाले जाते थे। अण्डमन टापू मे नृतत्वपिटो ने १९वी सदी तक इस प्रकार शिशुहत्या करने का पता पाया है। यह शिशुहत्या किसी प्रकार की निर्दयता के कारण नही वल्कि एक सामाजिक आवश्यकता—आज-कल की भाषा मे वर्थकन्ट्रोल अर्थात् जन्म-नियत्रण की जरुरत के कारण की जाती थी।

९—**वैयक्तिक सम्पत्ति का उदय**—उत्पादन पद्धति मे अच्छी खासी उन्नति तभी हुई, जब उत्पादन के औजारो मे उन्नति हुई। औजारो मे उन्नति के साथ साथ औजारो का यह तकाजा हुआ कि जो लोग उन्नत औजारो को वनाते है, तथा जिन्होने उसका आविष्कार किया है, उनको अन्य लोगो के बनिस्वत कुछ अधिक सुविधाये प्राप्त हुई। मुख्यत इन उन्नत औजारो के आविष्कर्ता तथा प्रयोक्ता पुरुप ही थे, इसलिए अव इतिहास की सवसे वडी क्रान्ति होती है। अव पुरुप स्त्री से प्रबल हो जाता है, मातृकुल मूलक समाज का अन्त होकर अव समाज की गाडी पितृ-प्रधान समाज की ओर चल पडती है। यौथ सम्पत्ति-प्रथा के टूटने के साथ साथ यौथ विवाह का सामाजिक आधार नष्ट हो जाता है, अव समाज मे पहले की सामूहिक एकता दूर होकर वर्गो की सृष्टि होती है। पहले सारे समाज का हित एक था, किन्तु अब समाज मे मुख्यत दो हित, दो वर्ग और दो तरह की धारणाये उत्पन्न हो जाती है। जो वर्ग सम्पत्ति का मालिक है, उत्पादन के साधनो पर काविज है, उनकी सगठित सस्था के रूप मे राष्ट्र का उदय होता है, जो सम्पत्तिशाली वर्ग को दूसरे वर्ग से वचाता है। इसके लिए वह जेल, पुलिस, अदालत और धीरे धीरे न मालूम किन किन सस्थाओ को उत्पन्न करता है। पहले सारा समाज ही एक पुलिस या फौज के

रूप मे था, किन्तु अब सम्पत्तिशाली वर्ग अपने 'हको' की रक्षा के लिए अपनी फौज, और पुलिस बनाती है जो समाज के दूसरे अश का जबरदस्ती दमन करती है। यह एक अकथ कहानी है, हम यहाँ केवल उसका दिग्दर्शन भर कराकर आगे बढ जाने के लिए बाध्य है।

१०—उत्पादन में विकास से सामाजिक विकास—समाज के विकास के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उत्पादन के तरीको का अध्ययन जरूरी है। उत्पादन के विकास से ही समाज का विकास हुआ है, अर्थात् ज्यो ज्यो उत्पादन के साधनो मे परिवर्तन हुआ है, त्यो त्यो मनुष्यो के श्रम-सम्बन्धो मे परिवर्तन हुए है, और समाज का रूप बदलता गया है। उत्पादन के साधनो तथा उसके फलस्वरूप श्रम-सम्बन्धो मे परिवर्तन के कारण ही आदिम वर्गहीन समाज का अन्त होकर वर्गसमाज का उदय हुआ। उत्पादन के सम्बन्धो पर कई तरह से रोशनी पडती है। हम पहले ही बता चुके है कि किस प्रकार वर्गसमाज की एक विशेषता के रूप मे वर्गसेना की उत्पत्ति हुई। सेना के सम्बन्ध मे जो ब्यौरे प्राप्त है, उनसे आदिम श्रम-सम्बन्धो पर अच्छी रोशनी पडती है। मार्क्स ने २५ सितम्बर १८५७ मे एक पत्र मे लिखा था—'प्राचीन लोगो ने सेना मे ही पहले-पहल मजदूरी की पद्धति को विकसित किया। रोमनो मे Peculium Castience (याने शिविर मे रोमन सिपाही को पारिवारिक सम्पत्ति के अलावा जिस सम्पत्ति को रखने का हक था) का रिवाज था, और यही पहला कानूनी रूप था, जिसमे परिवार के पिता के अलावा भी लोगो का चलसम्पत्ति पर अधिकार माना गया। इसी प्रकार सेना मे ही पहले-पहल बड़े पैमाने पर यत्रो का आविष्कार हुआ। इसी प्रकार एक शाखा के अन्दर श्रम का विभाजन भी पहले-पहल सेना मे ही हुआ।' यो तो आदिम समाज मे ही प्रथम श्रम का विभाजन स्त्री और पुरुष के बीच हुआ था, किन्तु उस विभाजन का आधार या ध्येय शोषण नही था। उत्पादन के साधनो मे उन्नति के साथ साथ जब वर्गो की सृष्टि हुई, तभी श्रम के विभाजन ने भी शोषणमूलक रूप धारण किया। अवश्य यहाँ यह भी स्मरण रहे कि इसी समय से श्रम का विभाजन सगठित रूप मे हो गया।

११—उत्पादन पद्धति और श्रम-सम्बन्ध में असंगति से क्रान्ति, किन्तु

कई क्षेत्र में क्रान्ति नही—उत्पादन की शक्तियो मे परिवर्तन के साथ साथ श्रम-सम्बन्धो मे परिवर्तन अनिवार्य है। यह हो सकता है कि कुछ दिनो तक उत्पादन की शक्तियाँ प्रचलित श्रम-सम्बन्धो से आगे रहे, किन्तु इसी असगति के कारण समाज को या तो आगे बढना पडता है, या उसका ह्रास हो जाता है। यह आगे बढने का रूप क्रान्ति हो सकती है। क्रान्ति हो सकती है, इसलिए बताया गया कि सभी अवस्था मे क्रान्ति की आवश्यकता नही है। उदाहरणार्थ जिस समय समाज आदिम साम्यवाद से वर्गसमाज मे, और भी स्पष्ट रूप से कहा जाय, तो वर्गसमाज के प्रथम रूप गुलाममूलक समाज पद्धति मे आया (कही कही यह सोपान लुप्त रहा है, और समाज एकदम से सामतवाद मे आ गया), तो ऐसा क्रान्ति के द्वारा नही हुआ। क्रान्ति का अर्थ ही यह है कि एक वर्ग के हाथो से शक्ति आकर दूसरे वर्ग के हाथो मे शक्ति जावे, किन्तु जब पहले कोई वर्ग ही नही था तो यह कैसे कहा जा सकता है कि किसी वर्ग के हाथो से शक्ति गई। इसलिए आदिम साम्यवाद से समाज जब वर्गसमाज मे आया तो वह परिवर्तन बहुत महान् होने पर भी उसकी प्रक्रिया को क्रान्ति नही कह सकते, और न यह परिवर्तन किसी विस्फोटक तरीके से ही अया। सब अवस्थाये आ चुकी थी, केवल राष्ट्र के रूप मे वर्गसमाज की केन्द्रीय शक्ति का उदय हुआ, और यह महान् परिवर्तन व्यवहारिक रूप मे आ गया। वर्ग-समाज के अन्दर जब जब इस प्रकार के महान् युगान्तरकारी परिवर्तन आये है, तब तक वे क्रान्ति के जरिये से आये है। इन मौको पर प्रश्न यह है कि एक वर्ग के हाथो से शक्ति छिनकर दूसरे नये वर्ग के हाथो मे आवे। जब गुलाम के मालिको के हाथ से छिनकर सामन्तवादी वर्ग के हाथो मे शक्ति आती है, तब वह क्रान्ति के ही द्वारा आती है। इसी प्रकार सामन्तवादी वर्ग के हाथो से शक्ति पूँजीवादीवर्ग के हाथो मे जब जाती है तो वह भी क्रान्ति की प्रक्रिया से जाती है। इसके आगे जब पूँजीवादीवर्ग के हाथों से शक्ति छिनकर सर्वहारावर्ग के हाथो मे आती है, तो ऐसा क्रान्ति के ही द्वारा होता है। इसके आगे फिर क्रान्ति नही हो सकती, क्योकि सर्वहारावर्ग के हाथो मे राष्ट्र आते ही पहले के परोपजीवी वर्गो को विलुप्त कर देता है, और तब वर्गहीन समाज की स्थापना होती है। इसलिए अब क्रान्ति का प्रश्न नही उठता, यद्यपि

उत्पादन मे अब भी बराबर उन्नति होती रहती है, किन्तु इस उन्नति मे न तो श्रम सम्बन्ध बदलते है, और न उत्पादन का तरीका और न श्रम-सम्बन्ध मे ही कोई असगति पैदा होती है। इसके अतिरिक्त उस असगति के तकाजे के कारण क्रान्ति की आवश्यकता भी नही होती है। सर्वहारा राष्ट्र मे उन्नति और प्रगति जारी रहेगी, किन्तु उस उन्नति का आधार यान्त्रिक तथा वैज्ञानिक ज्ञान मे वृद्धि होगी न कि किसी प्रकार का शोषण।

१२—इतिहास में श्रम-सम्बन्ध की प्रगति तथा उसकी सख्या—वृद्धिशील समाज मे उत्पादन की शक्तियो तथा मनुष्यो के श्रम-सम्बन्धो मे दृश्यमान और कामचलाऊ सामञ्जस्य रहता है (पूर्ण सामञ्जस्य तो समाजवादी समाज मे ही हो सकता है)। किन्तु कुछ दिनो बाद जब यही उत्पादन की शक्तियाँ बढ जाती है तो श्रम-सम्बन्धो के साथ उनकी असगति पैदा हो जाती है। इसके कारण पुराने श्रम-सम्बन्ध टूटने लगते है, और समाज का रथ आगे बढ निकलता है। अब तक के इतिहास मे पाँच तरह की समाज पद्धति रही है, किन्तु श्रम-सम्बन्ध चार तरह के रहे है—

(१) आदिम साम्यवादी समाज—इसमे श्रम का सम्बन्ध यो था कि सब अपनी शक्ति के मुताबिक सामाजिक कार्यों मे भाग लेते थे, और सबको, जितनी जिसको जरूरत है, उतनी चीजे मिलती थी।

(२) गुलाममूलक समाज—इसमे गुलाम मुख्य उत्पादक था, और गुलाम का मालिक उसके श्रम का सम्पूर्ण रूप से उपभोक्ता था। गुलाम शारीरिक रूप से भी मालिक के अधीन होता था, उसकी जानोमाल पर मालिक का अधिकार होता था। जिस प्रकार उत्पादन पद्धति मे उन्नति होने के कारण लडाई के कैदियो को जीवित रखकर, उनसे काम करवाकर, उनके अपने खर्च से कुछ अधिक उत्पन्न करवा कर गुलामी-प्रथा का उदय हुआ, वह हम पहले ही बता चुके है। गुलाम पद्धति पहले के भूनकर खा जाने या मार डालने की पद्धति के मुकाबिले मे एक बहुत बडी उन्नति थी।

एक बृहत् हिस्से पर ही माँग कर सकता था, इस प्रकार यह पद्धति भी पिछली पद्धति के मुकाबिले मे अगला कदम था। उत्पादन पद्धति मे उन्नति के कारण ही इस बात की जरूरत हुई थी कि गुलामो से काम न लेकर अर्द्धगुलामो से काम लिया जाय, क्योकि वे गुलामो के मुकाबिले मे काम मे अधिक दिलचस्पी लेते थे।

(४) **पूजीवादी समाज**—इसमे मजदूर मुख्य उत्पादक है, और पूँजीपति उसके श्रम का उपभोक्ता है। मजदूर के शरीर या गतिविधि पर पूँजीपति को उस प्रकार का नियन्त्रण कानूनी रूप से प्राप्त नही है जैसा पिछली समाज-पद्धति के शोषणो को प्राप्त था। वह कानूनी रूप मे स्वतन्त्र है। देखने मे वह स्वतन्त्र ठहराव पर काम करता है। इस प्रकार यह पद्धति पिछली पद्धतियो के मुकाबिले मे अधिक उन्नत है। अवश्य इसकी उन्नति का सबसे बडा प्रमाण यह है कि इस पद्धति मे उत्पादन की शक्तियाँ पहले सब पद्धतियो से कही बढकर उन्नत हुई है। सच बात तो यह है कि इसी उन्नति के तकाजे के कारण पहले की पद्धति को जगह छोड देनी पडी जहाँ तक कि उसका उच्छेद हुआ और उसकी जगह पर इस उन्नति की स्थापना हुई।

(५) **समाजवादी समाज**—फिर एक बार इस पद्धति मे आकर उत्पादक ही अपने श्रम के फल का भोक्ता हो जाता है। इस अर्थ मे हमारी बनाई हुई प्रथम अर्थात् आदिम साम्यवाद की समाज-पद्धति मे जो श्रम-सम्बन्ध था, वही फिर से आता है, किन्तु वह एक उन्नततर, उच्छ्रिततर रूप मे आता है। अब यत्र और विज्ञान की बहुत उन्नति हो चुकी है। इस प्रभेद तथा पिछले सामाजिक तजुर्बो के कारण यह पद्धति आदिम साम्यवादी पद्धति के मुकाबिले मे कही अधिक उन्नत है।

१३—आर्थिक आधार, श्रम-सम्बन्ध और ऊपरी ढाँचा—जीवन धारण के साधनो या उत्पादन के साधनो को समझना इतिहास को अच्छी तरह समझने के लिए कितना जरूरी है, इसे मार्क्स ने अपनी 'अर्थशास्त्र की आलोचना' की भूमिका मे स्पष्ट किया है। इस सम्बन्ध मे मार्क्स की यह रचना सबसे अधिक महत्त्व की है। (पहले वे एक बडी पुस्तक लिखना चाहते थे, जिसमे वे पूँजी, भू-सम्पत्ति, मजदूरी, राष्ट्र, विदेशी व्यापार, विश्व-बाजार आदि कितने ही विषयो

पर लिखना चाहते थे। वाद को यह बृहद् विचार 'डास कैपिटल' या पूँजी के लेखन मे परिणत हो गया)। यह पुस्तक पहले-पहल १८५९ मे याने भारतीय गदर के दो साल वाद जर्मन भाषा मे प्रकाशित हुई थी। मार्क्स इसमे लिखते है—'जीवन धारण के साधनो के सामाजिक उत्पादन के दौरान मे मनुष्य एक दूसरे के साथ कुछ निर्दिष्ट तथा जरूरी सम्वन्ध मे आ जाता है। ये सम्वन्ध उनकी इच्छा से स्वतन्त्र होते है। उत्पादन के ये सम्वन्ध भौतिक उत्पादन की शक्तियो के विकास की उस निर्दिष्ट मजिल के साथ सामजस्यपूर्ण होते है। इन उत्पादन के सम्वन्धो के योगफल से समाज का आर्थिक ढॉचा वनता है। यह वह वास्तविक आधार है, जिस पर कानूनी तथा राजनैतिक, ऊपरी ढाँचा खडा होता है, और इसी के साथ सामाजिक चेतना के निर्दिष्ट स्वरूप भी दृष्टिगोचर होते है। जीवन धारण के भौतिक साधनो के उत्पादन का तरीका ही सम्पूर्ण सामाजिक, राजनैतिक, वौद्धिक प्रक्रिया का निर्णय करता है। मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व का निर्णय नही करती, वल्कि उसका सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतना का निर्णय करता है। विकास की एक खास मजिल मे पहुँचकर समाज की उत्पादन शक्तियॉ वर्तमान उत्पादन के सम्वन्धो के साथ असगति-ग्रस्त हो जाती है याने यदि कानूनी भाषा मे कहा जाय तो वे जिन साम्पत्तिक सम्वन्धो के साथ अव तक चल रही थी, अव उनके साथ उनकी असगति उत्पन्न हो जाती है। उत्पादन की शक्तियो के विकास के स्वरूपो से ये सम्वन्ध उनकी वेडियो मे परिणत हो जाते है। तव तो सामाजिक क्रान्ति का एक युग ही आ जाता है। आर्थिक नीव के परिवर्तन के साथ ही साथ ऊपर का विशाल ढॉचा कम या अधिक तेजी से वदल जाता है। ऐसी क्रान्ति को समझने के लिए यह जरूरी है कि उत्पादन की आर्थिक अवस्थाओ मे होनेवाली भौतिक क्रान्ति मे, जिसका पता वैज्ञानिक निश्चयता के साथ लगाया जा सकता है, तथा कानूनी, राजनैतिक, धार्मिक सौन्दर्य-सम्वन्धी तथा दार्शनिक—याने एक शव्द मे उन विचार-धारागत स्वरूपो मे जहाँ, मनुष्य इस सघर्ष के सम्वन्ध मे सचेत हो जाता है, और इससे लड भी लेता है, प्रभेद करना पडेगा। जैसे एक व्यक्ति अपने सम्वन्ध मे क्या मत रखता है, इसके आधार पर उसके चरित्र का निर्णय नही हो सकता, उसी प्रकार ऐसे क्रान्तिकारी युग को हम उसकी निजी चेतना से नही

समझ सकते। किन्तु इसके विपरीत इस चेतना की भौतिक जीवन की असगतियो, सामाजिक उत्पादन शक्तियो तथा मौजूदा उत्पादन-सम्बन्धो से व्याख्या करनी पड़ेगी। एक सामाजिक पद्धति तब तक नष्ट नही होती, जब तक उनका दायरा उत्पादन शक्तियो को विस्तृत होने की गुंजाइश देता है, और नये तथा उच्चतर उत्पादन-सम्बन्ध तब तक उत्पन्न नही होते, जब तक उनके अस्तित्व की भौतिक अवस्थाये पूर्वतन समाज के ही गर्भ मे परिपक्व न हो चुकी हो। इस प्रकार मनुष्य-जाति हमेशा अपने सामने उन्ही समस्याओ को रखती है, जिनका वह समाधान कर सकती है क्योकि जब हम और भी गहराई के साथ देखते है तो हमेशा हम यह पाते है कि समस्या तभी उत्पन्न होती है जब उसके समाधान के लिए या तो वे मौजूद है या उनका जन्म होने ही वाला है। मोटे तौर पर समाज की आर्थिक पद्धति के प्रगतिशील युगो के रूप मे हम एशियाई, प्राचीन सामन्तवादी तथा आधुनिक पूँजीवादी पद्धति को गिना सकते है।"[१]

१४—ऐतिहासिक भौतिकवाद सबसे पहले कब?—कही यह गलतफहमी न हो कि मार्क्स ने पहले-पहल इस विचार का प्रतिपादन (सक्षेप मे यही ऐतिहासिक भौतिकवाद है) १८५९ मे किया था, इसलिए यह बता दिया जाय कि १८४८ मे प्रकाशित कम्युनिस्ट—मेनिफेस्टो मे ही मार्क्स और एगेल्स ने इस विचार का प्रतिपादन किया था। जब हम इससे भी पीछे जाते है तो देखते है कि १८४४ मे ही मार्क्स ने Deutosch Frauzosısche Jahrbucher मे तथा एगेल्स ने उनसे स्वतन्त्र रूप से उसी साल Working calss ın England नामक पुस्तक मे इस विचार का प्रतिपादन किया था। जिस समय एगेल्स १८४४ की ग्रीष्म-ऋतु मे पेरिस मे मार्क्स से मिले, उसी समय यह स्पष्ट हो गया कि उनके विचार एक है, और वही से उस आमरण मित्रता की नीव पडी जिसकी फल-प्रदता की दृष्टि से मनुष्य जाति के इतिहास मे कोई तुलना नही है।

१५—पशु की तुलना में मनुष्य की विशेषता के कारण उन्नततर-श्रम—यो तो पशुओ की तुलना मे मनुष्य की न मालूम क्या-क्या विशेषताये बताई गई है। कहा गया है कि आहार, निद्रा, भय, मैथुन ये तो मनुष्य तथा पशु मे सामान्य है, किन्तु मनुष्य की विशेषता यह है कि उसमे धर्म है, इत्यादि। किन्तु मनुष्य की जो

१. C. P. E.—भूमिका

असली विशेषता है और जहाँ से वह पशु से अलग हो गया है, वह यह है कि मनुष्य जीवन धारण के साधनो को उत्पादन करने लगा।[1] जिस समय मनुष्य पहले-पहल अपने भद्दे हथियार या औजार से अपने जीवन धारण के साधनो मे वृद्धि करने लगा, उसी समय से वह अशरफुल-मखलुकात या सृष्टि का मध्यमणि हो गया। यही से उसकी विशेषता या मनुष्यता चल निकलती है। धर्म, कला, साहित्य आदि इसी के फलस्वरूप बाद मे उत्पन्न हुए है।

जीवन धारण के लिए मनुष्य को कुछ न कुछ प्रयत्न करना पडता है। यही प्रयत्न श्रम का रूप लेता है। श्रम वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य प्रकृति पर कार्य करता है, और इस प्रकार उसे अपने अनुकूल बनाता है, अर्थात् उसे परिवर्तित करता है। यो तो उन्नत किस्म के पशु भी एक माने मे श्रम करते है, प्रकृति को अपने अनुकूल बनाते है, किन्तु उसकी मात्रा बहुत कम होती है, और उसमे यह प्रतिभा नही होती कि वह गतानुगतिकता से कुछ आगे बढे। दस पुश्त पहले एक भालू जिस प्रकार से शिकार करता था, उससे अब उसकी शिकार-पद्धति मे कोई उन्नति नही हुई, यही पर मनुष्य की विशेषता है। इस समय जो मनुष्य मौजूद है, वे होमो सैपियन्स मनुष्य कहे जाते है, किन्तु इसके पहले जो मनुष्य थे, जो प्रत्यक्ष रूप से हमारे पूर्वज नही है, वे कई अर्थ मे जीवन-सग्राम मे हमसे अधिक उपयोगी थे। Eo-authropus या पिल्टडाउन मनुष्य के जो कुत्ते की तरह दाँत थे, वे लडने के लिए अच्छे साधन थे। इस प्रकार छोटे-मोटे फर्क एक-आध भले ही मिल जायँ लेकिन सभी तरह के मनुष्य प्रारम्भ से ही पशुओ के मुकाबिले मे शारीरिक दृष्टि से जीवन-सग्राम मे कम योग्य रहे। उदाहरणार्थ मनुष्य के नख, दत आदि पशुओ से कमजोर है। बाघ, चीता या सिंह की तुलना मे वह एक मिनट भी ठहर नही सकता। दौडने-धपने मे भी वह अन्य जन्तुओ जैसे खरगोश और हिरण के मुकाबिले मे बहुत ही कमजोर पडेगा। गिद्ध की तरह उसके पख नही है, जिनके सहारे उड़-कर वह दूर दूर की खबर ला सके, न वह हाथो से पजो की तरह कोई काम ही ले सकता है। फिर भी आज अन्य सब जानवर मनुष्य के सामने फीके पड गये

है और उसका कारण मनुष्य का दिमाग है। इसी दिमाग के विकास के कारण मनुष्य सच्चे अर्थ मे प्राणियो का राजा हो गया है। इस दिमाग की भी उत्पत्ति दीर्घ विकास के दौरान मे हुई है। ऐसा समझने का कोई कारण नहीं है कि मनुष्य के मस्तिष्क का विकास प्रकृति मे मौजूद अन्य वस्तुओ के विकास से अलग तरीके से हुआ है, या उसमे कोई रहस्य है, जिसका भेद नही खुलता। इस दिमाग के ही कारण मनुष्य पशुओ के मुकाबिले मे शारीरिक दृष्टि से जीवन-सग्राम मे हर तरीके से निकृष्ट होने पर भी उत्कृष्टतम प्राणी हो गया। दिमाग के साथ ही मनुष्य-शरीर मे और भी कई अश है, जिनका कार्य पशुओ के अनुरूप अश से पृथक् तथा उत्कृष्टतर है। मनुष्य की एक विशेषता यह भी बताई गई है कि वह दो आँखो से एक ही तसवीर देखता है, जब कि दूसरे स्तनपायी जानवर दो आँखो से दो चित्र देखते है।[१] कहा गया है कि यदि इस प्रकार मनुष्य दोनो आँखो से एक चित्र न देख सकता तो उसके लिए दूरी का अच्छी तरह पता लगाना या चीजो को फैली हुई (Flat) के बजाय ठोस देखना सम्भव न होता। यदि मनुष्य की आँखो का कार्य इस प्रकार न होता तो उसके हाथ विकसित होकर चाहे कितने भी नाजुक और क्षिप्र हो जाते, वह सूक्ष्म औजार तैयार न कर पाता। इसके अतिरिक्त मनुष्य की स्वाभाविक पद्धति भी मस्तिष्क के साथ पूर्ण सहयोग मे काम करती है। मनुष्य का कठ भी बहुत विकसित है, और वह इतने तरह की आवाज कर सकता है, जितना कोई भी दूसरा जानवर नही कर सकता। यह भी बताया गया है कि इस प्रकार मनुष्य की आँखे, कान, पेशियाँ आदि एक साथ सामजस्यपूर्ण रूप से काम करती है। इसका बहुत कुछ श्रेय मनुष्य के दिमाग को है, किन्तु साथ ही यह भी पता लगा है कि जन्म के बाद ही धीरे धीरे इस प्रकार सब अगों का सहयोग शुरू होता है। इस दृष्टि से शिक्षा का महत्व बहुत अधिक हो जाता है। बचपन मे मनुष्य के दिमाग का आवरण नरम रहता है, और उसमे अन्य पशुओं के बनिस्बत बढने की गुंजाइश रहती है। इस प्रकार मनुष्य के शरीर तथा अवयवो मे जो विशेषताये है, उन सबका सम्मिलित और कार्यकारी

---

१ M M. H p. 29

परिणाम यह है कि मनुष्य पशुओ के मुकाविले मे मात्रागत तथा गुणगत रूप से अधिक श्रम कर सकता है।

१६—मनुष्य बाहरी अवस्थाओ को बदलने के दौरान में खुद बदलता है— हमने यह जो कहा कि मनुष्य श्रम के द्वारा प्रकृति को परिवर्तित करता है तथा उस परिवर्तन के साथ साथ खुद भी परिवर्तित होता रहता है, इसके और स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। मनुष्य खेती करता है, तो उसके फलस्वरूप जमीन का जल खिच कर पौधो मे आ जाता है, और जमीन सूख जाती है। इस प्रकार जमीन परिवर्तित हो गई। अव इस परिवर्तन के कारण मनुष्य को जमीन को गिली वनाकर अनाज उत्पन्न करने के लिए सिचाई का काम करना पडता है। खेती करने के कारण मनुष्य के स्वभाव मे क्या परिवर्तन होता है, वह भी प्रष्टव्य है। जब मनुष्य मुख्यत शिकारी अवस्था मे था, तव वह व्रात्य या बद्दू हालत मे रहता था। जगल मे ज्यो ज्यो पशु खतम हो जाते थे, या मौसम के कारण ज्यो ज्यो पशु जल तथा अपने खाद्य की तलाश मे इधर-उधर भटकते थे, त्यो त्यो मनुष्य को भी उसकी तलाश मे भटकना पडता था। जव मनुष्य पशु-पालन भी करने लगा तब भी उसे नये नये चरागाहो की तलाश मे इधर-उधर भटकना पडता था, किन्तु खेती के शुरू करते ही उसका यह अस्थिर स्वभाव दूर हो जाता है, और अव वह शालीन या सभ्य हो जाता है। अवश्य हर हालत मे खेती करने से ही मनुष्य का वद्दूपन दूर हो गया हो ऐसी वात नही है। हम इन अपवादो का वर्णन वाद को करेगे। श्रम के द्वारा वाहरी अवस्थाओ को वदलने के दौरान मे मनुष्य के वदलाने का एक और उदाहरण लिया जाय। पूँजीवाद के जमाने मे माँग तथा पूर्ति के नियम के दवाव के कारण पूँजीपति मजदूरी घटाने की जो अनवरत चेष्टा करते है, मुख्यत उसी पर रोक-थाम करने के लिए मजदूर सभाये वनती है। इसके विपरीत मालिकगण यह कोशिश करते है कि जितने श्रम की खपत है, उससे कही अधिक मजदूर वाजार मे हो, और इस प्रकार वे मनमाने तरीके से जितनी चाहे उतनी मजदूरी दे। इस प्रकार थोडे ही दिनो मे मजदूर सभाओ को यह मालूम हो जाता है कि यदि केवल आर्थिक माँगो तक ही अपने कार्य-क्रम को सीमित रखा जाय तो काम नही चलने का। इसलिए वे वदलती है,

और एक नया रूप धारण कर क्रान्तिकारी सस्थाओ के रूप मे हो जाती हैं, या खतम हो जाती है।[१] इस प्रकार मजदूर सभाये पूँजीवादियो का चरित्र वदलकर उन्हे सगठित होने के लिए मजबूर करती हैं, फिर उस सगठन के फलस्वरूप मजदूरो पर जो दवाव पडता है, उसके कारण वे स्वय क्रान्तिकारी हिम्सा अदा करने के लिए मजबूर हो जाती हैं।

१७—खेती के साथ स्थायी बस्ती का कोई आवश्यक सम्बन्ध नही—हमने ऊपर यह बतलाया है कि खेती शुरू करने के साथ ही साथ मनुष्य स्थायी वस्तियो मे बसते गये और उसके पहले वद्दू थे किन्तु इसके कई अपवाद हैं। चाइल्ड के अनुसार 'गत शताब्दी मे कनाडा के प्रशान्त महासागर की ओर के उपकूलो की कुछ शिकारी तथा मछली मारकर जीनेवाली जातियो के सम्वन्ध मे यह ज्ञात हुआ है कि यद्यपि ये लोग खेती नही करते थे, फिर भी इनके स्थायी, सुन्दर लकडी के मकानो के गॉव वसे हुए थे। इसी प्रकार वर्फ-युग मे फ्रास के मैगडेले-नियन गण कई पुश्त तक एक ही गुफा मे रहते थे, इसमे सन्देह नही। दूसरी तरफ कुछ खेती के तरीके ऐसे हैं, जिन्हे करनेवालो को इधर-उधर भटकते रहना पडता है। एशिया, अफ्रिका विशेषकर दक्षिण अफ्रिका के कुछ किसानो के लिए अव भी (लेखक ने इन वातो को १९३६ मे लिखा था) खेती का अर्थ केवल यह है कि जगल के एक टुकडे को या कुछ भाडियो को साफ कर लिया, फिर उसे एक हो (Hoe) या कीलनुमा चीज से अथवा डडानुमा चीज से चला दिया, फिर उसमे बीज बिखरा दिये, और जब फसल तैयार हो गई तो उसे काट लिया। वे इस जमीन को न तो कभी परती छोडते हैं, और न उसमे किसी प्रकार की खाद डालते हैं। अगली फसल के समय फिर उसमे बीज डाले जाते हैं। स्वाभाविक रूप से ऐसी अवस्था मे दो एक बोआई या कटाई के बाद जमीन की उत्पादक शक्ति विलुप्त हो जाती है या घट जाती है, तव जगल का एक दूसरा टुकडा साफ किया जाता है, और इस प्रकार उसमे भी दो-तीन बार बोआई-कटाई के बाद उस जमीन को भी छोड दिया जाता है। इस प्रकार बस्ती के पास की सारी जमीन जब बेकार हो जाती है, तब वहाँ से कबीला कूच कर जाता है, और वह दूसरी जगह फिर उसी प्रकार की खेती शुरू करता है। इनके

१ D. M. S.

घरो मे सामान इतना थोडा होता है कि उन्हे आसानी से इधर से उधर ले जाया जा सकता है, फिर मकान भी इतने मामूली होते है कि उनके बदलने मे कोई दिक्कत नही होती। इसके अतिरिक्त ये मकान भी इस बीच मे काफी पुराने हो चुकते है, और उनको छोड देना अच्छा ही होता है. . । इस प्रकार की खेती प्रागैतिहासिक युग मे आल्पस के उत्तर मे सारे यूरोप मे प्रचलित थी। ईसवी सन् के प्रारम्भ तक कुछ जर्मन कबीले मे इसका प्रचलन था, क्योकि स्ट्रावो ने लिखा है कि ये हमेशा अपनी बस्तियो को छोडकर नई बस्ती बसाने के लिए तैयार रहते थे। आज भी इस तरीके की खेती होती है, उदाहरणार्थ आसाम के चावल-उत्पादक नागाओ मे, एमजन उपकूल की वोरो जाति मे तथा सूडान के खेतिहरो मे यह तरीका प्रचलित है।"[१] वेरियर एल्विन ने यह लिखा है कि दक्षिण की मैकालपहाडियों के पास रहनेवाली कुछ आदिम निवासी जातियो मे अब भी चलती-फिरती खेती होती है।[२] मिर्जापूर के दुधी नामक स्थान के सम्बन्ध मे बताया जाता है कि पहले इसका अधिकाश हिस्सा घने जगलो से ढका हुआ था। यहाँ जो कुछ खेती होती थी, उसका तरीका यह था कि आदिम निवासीगण जगलो को जलाकर राख से ढकी हुई जमीन मे बीज बो देते थे, फिर जिस समय जमीन मे उपज घट जाती थी, तब फिर नये जगल मे आग लगाई जाती थी।[३]

१८—प्रकृति को बदलने के जरिये से मनुष्य की प्रगति—यह जो दिखलाया गया कि खेती के साथ बस्ती मे रहने का कोई अनिवार्य सम्बन्ध नही है, क्या इससे हमारे बतलाये हुए इस नियम मे कि मनुष्य प्रकृति को या बाहरी अवस्थाओ को बदलता है और उस बदलने के दौरान मे, खुद बदलता है, कुछ व्यतिक्रम हो गया? ऊपर से देखने से ऐसा ही ज्ञात होगा कि व्यतिक्रम हो गया, किन्तु ऐसी बात नही है। यदि हम देखे कि चलती-फिरती खेती किस अवस्था मे होती थी या हो सकती है, तो हमे ज्ञात होगा कि इस प्रकार की खेती उस युग मे तथा उसी भूभाग मे सम्भव है जहाँ जमीन की कमी नही है। फिर भी यह द्रष्टव्य है कि इस प्रकार की खेतिहर जातियाँ कितनी भी

---

१ M. M. H. p. 81-2
२ J. R. A. S. B Volume IX 1943 no I p 99
३ F P. T.

बद्दू हो किन्तु बोआई से लेकर कटाई तक उन्हे खेत के आस-पास बसना पडता था। यहाँ तक तो खेती के साथ बस्ती के सम्बन्ध वाला नियम बिलकुल लागू है। आगे वह किस विन्दु से लागू नही होता, इसे यदि हम देखे तो मालूम होगा कि खेतो की अधिकता के कारण इस प्रकार बस्ती बदल देना सम्भव होता था या होता हैं। जब जनसख्या बढ गई और खेतो के लिए भगदड मची उस युग मे यह सम्भव नही था कि आगे इस प्रकार की खेती चले। यह द्रष्टव्य है कि इस अवस्था पर भी प्रकृति को बदलने के कारण खुद मनुष्य के बदलने का नियम स्पष्ट रूप से कार्यशील दृष्टिगोचर होता है। मनुष्य ने जगल काटा, या उसमे आग लगा दी, और खेती के लिए जमीन निकाली। वह बिना खाद के खेती करता है, उसने जगल को बदल दिया, इस नाते वह जगली से खेतिहर हो गया, किन्तु बिना खाद के खेती करता है, इसलिए उसकी यह खेती अधिक दिन तक नही चलती और उसे वहाँ से बदलकर आगे बढना पडता है। इस प्रकार उसे जो पूर्व स्थान छोडकर नये स्थान के लिए यात्रा करनी पडती है, यह अपनी ही करनी या यो कहिये कि अपनी अपेक्षाकृत अविकसित वैज्ञानिक बुद्धि के कारण है। जब एक खेत की उत्पादिका शक्ति खतम हो जाती है, तो उसके सामने दो चारे है (स्मरण रहे यह बात आज हमे मालूम है, किन्तु इस प्रकार के खेतिहरो को यह बात मालूम नही है, अर्थात् उन्हे केवल एक ही चारा ज्ञात है), एक तो यह है कि वह नया खेत ढूँढे और दूसरा यह कि वह उस पुराने खेत को ही खाद डालकर फिर से खेती के लिए समर्थ बनावे। उसे दूसरा तरीका अभी ज्ञात नही है, इसलिए उसे स्थान बदल देना पडता है, किन्तु जब नाना प्रकार के दबाव से उसे दूसरा तरीका ज्ञात हो जाता है, अर्थात् वह एक बार प्रकृति को बदलकर उसके फलस्वरूप जो परिवर्तन हुआ, उसे दूसरी बार बदलने मे समर्थ हो जाता है, तब वह वही पर बैठकर फिर से खेती करने के योग्य हो जाता है। इस सम्बन्ध मे हम यह भी देख ले कि इस प्रकार जब वह खाद, हल-बैल आदि का प्रयोग करना सीख लेता है, तो उसके मकान बनाने की पद्धति मे भी परिवर्तन हो जाता है। अब वह साल दो साल के लिए मकान नही बनाता, बल्कि अधिक से अधिक स्थायी मकान बनाता है। अब उसके पास सामान भी अधिक हो जाते है, अब उसे यह फिक्र नही है कि यह तो

रैनबसेरा है, साल छ महीने मे छोडकर चल देना पडेगा। इसलिए अब वह तरह-तरह के सामान बटोरता है। इस प्रकार बदलते-बदलते एक तरफ तो प्रकृति बहुत कुछ बदल जाती है, जहाँ जगल थे वहाँ गगनचुम्बी अट्टालिकाये दृष्टिगोचर होती है, जहाँ अलघनीय वाधा के रूप मे पर्वतमालाये एक की गोद मे एक खडी थी, वहाँ से होकर मानो उनकी अवज्ञा करते हुए और उनको मुँह चिढाते हुए गरजती हुई रेले निकल जाती है; दूसरी ओर मनुष्य अब वह आदिम करीव-करीव निरस्त्र प्राणी से वर्तमान युग का कोट-बूटधारी रेडियो और राकेट का इस्तेमाल करनेवाला अति आधुनिक मनुष्य हो जाता है।

१९--समाज-पद्धति के अनुसार श्रम की मर्यादा मे वृद्धि या कमी--इस प्रकार मनुष्य प्रकृति को परिवर्तित करता है या उसके श्रम के ही द्वारा प्रगति या विकास होता है। श्रम कोई रहस्यपूर्ण प्रक्रिया नही है, इसके सब पहलुओ को हम दिव्य दृष्टि के विना ही समझ सकते है। श्रम ही से सभ्यता है, श्रम ही के कारण पगु गिरियो का लघन कर सकता है, मूक वाचाल हो सकता है, सच बात तो यह है कि सारी प्रगति की नीव श्रम ही पर है। इसलिए जिस भी मतवाद मे श्रम को महत्त्व न दिया गया हो, पलायनवाद, कर्मसचास, भाग्यवाद या अकर्मण्य अवस्था को तरजीह दी गई हो, वह मतवाद न तो वैज्ञानिक हो सकता है, और न हमारे कर्त्तव्य के निर्णय मे कोई सहायता ह। दे सकता है। इसलिए श्रम की मर्यादा की स्वीकृति व्यावहारिक, ऐतिहासिक दृष्टिकोण का सर्वप्रथम तकाजा है। यदि हम आदिम साम्यवाद के युग पर दृष्टिपात करे तो हमे ज्ञात होगा कि उस युग मे श्रम की वहुत वडी मर्यादा थी। श्रम के ही दौरान मे तथा श्रम के ही लिए साहित्य, सगीत, कला की सृष्टि या यो कहिये कि विकास हुआ है। जिस समय से वर्ग समाज की सृष्टि हुई है, और एक वर्ग तो वैठकर चैन की बाँसुरी वजाता है, और दूसरे वर्ग को सारा उत्पादक श्रम करना पडता है, उस समय से श्रम की मर्यादा घट गई है, और तब से उसे निम्नकोटि का समझा जाने लगा है। शोषको का इस प्रकार समाज पर दोहरा वार हुआ, एक तरफ तो वे स्वय कुछ उत्पादकश्रम नही करते थे, और दूसरी तरफ वे उसे को घृणा की दृष्टि से देखते थे। केवल यही नही कि वे ही श्रम को निम्नकोटि का कार्य समझते थे, बल्कि शासक वर्ग की विचारधारा होने के नाते यही विचार

समाज की आम विचारधारा हो गई। स्वय श्रम करनेवाले श्रम को बुरी निगाह से देखने लगे। वे भी मन ही मन यह चाहने लगे कि उन्हे श्रम न करना पडे तो अच्छा है, इस प्रकार वर्ग समाज के अन्य गुण अवगुणो के साथ अब ऐसे लोगो की उत्पत्ति हो गई जो श्रम से जी चुराते थे। आदिम साम्यवादी समाज से काम से जी चुरानेवाले लोगो की किस्म बिलकुल अपरिज्ञात रही होगी। अवश्य यह कहना पूर्ण सत्य न होगा कि शासक वर्ग के विचारो के ही कारण श्रम करनेवालो की आँखो मे श्रम की मर्यादा घट गई। सबसे बडी बात तो इस सम्बन्ध मे यह थी कि श्रम करनेवालो को गुलामी की हालत मे श्रम मे दिलचस्पी ही क्या हो सकती थी। स्वाभाविक रूप मे श्रम के प्रति एक घृणा-भाव समाज मे आम हो गया। चीन मे स्त्रियो का बहुत छोटा पैर होना---इतना छोटा कि वह चल न सके, शराफत की निशानी समझी गई, यह उसी अकर्मण्य विचारधारा का एक रूप है। वर्ग समाज मे स्त्रियाँ धीरे-धीरे पुरुष की क्रीडा तथा काम प्रवृत्ति को चरितार्थ करने की वस्तु मे परिणत हो गई, उसी का एक नग्न रूप चीनी शरीफ औरतो को पहनाये जानेवाले लोहे के जूते थे। आदिम साम्यवाद मे स्त्रियों के सम्बन्ध मे न इस प्रकार की शराफतवाली धारणा ही सम्भव थी, और न इस प्रकार की अकर्मण्य स्त्रियाँ शरीफ ही समझी जा सकती थी। उस समाज मे तो स्त्रियाँ अधिक से अधिक काम करती थी, ऋग्वेद तक मे तो युद्ध करनेवाली जैसे इन्द्रसेना मुदगलानी का पता मिलता है। कहाँ यह चलने-फिरने मे असमर्थ लोहे का जूता पहननेवाली स्त्रियाँ और कहा इन्द्रसेना मुदगलानी जो दुश्मनो से लडने के लिए जाया करती थी? 'शरीफ' स्त्रियो की ऊँची ऐडी इस चीनी लोहे के जूते से बहुत दूर नही है। जो कुछ भी हो श्रम की यह अमर्यादा वर्ग समाज की उपज है, और सभी भाववादी विचारधाराओ मे---जैसे अध्यात्मवाद, मायावाद, सन्देहवाद, पलायनवाद मे श्रम को नीची निगाह से देखा गया है। इन मतो के अनुसार काम न करनेवाले योगीराज, स्टोइक, परमहस समाज के आदर्श व्यक्ति है। सोवियट रूस मे समाजवाद की स्थापना के साथ-साथ श्रम को फिर से अपनी अपहृत मर्यादा प्राप्त हुई है। सच बात तो यह है कि सफल समाजवादी क्रान्ति के बाद से वहाँ स्टाखनाव किस्म के लोग ही---जो अधिक से अधिक उत्पादक श्रम कर सकते है---समाज के वीर समझे जाने लगे

है, इन्ही के फोटो अखबारो मे छपते है, अखवारवाले इनसे इन्टरव्यू करते है, और इनका हर तरह से सार्वजिनक सम्मान होता है। समाजवादी क्रान्ति के पहले जो सम्मान पेशेदार क्रान्तिकारी को प्राप्त होता था, वही अव स्टाखानोववादियों को और और जिस समय नात्सी हमला हुआ, उस समय रूस की लाल सेना के सदस्यो को मिलता है। यह उचित ही है। समाजवादी समाज मे श्रम की मर्यादा मे अधिक से अधिक वृद्धि होना बिलकुल स्वाभाविक तथा अनिवार्य है।

२०——श्रम मनुष्य का निर्माता——श्रम केवल मनुष्य को परिवर्तित अर्थात् उन्नत ही नही करता रहा है, वल्कि एगेल्स ने तो अपनी रचना The 1ole of labou1 in the p1ocess of humanising the apes मे लिखा है कि श्रम ने ही मनुष्य की सृष्टि की। वे इस रचना के प्रारम्भ मे लिखते है कि डार्विन ने हमारे जिन वानरवत् पूर्वपुरुषो के सम्वन्ध मे लिखा है, जो झुंडो मे पेड पर रहते थे, उन पर एगेल्स ने विज्ञान की गवाही के अनुसार यो लिखा है, 'उनके जीवन के तरीके से अर्थात् पेड पर चढने की आदत से जिसमे हाथ और पैर विभिन्न काम करते थे, और पेड पर चढने मे विभिन्न रूप से उपयोगी होते थे, इसका पहला परिणाम यह हुआ कि इन वानरवत् जन्तुओ ने धीरे-धीरे अपने हाथो का उस समय इस्तेमाल छोड दिया जिस समय वे जमीन पर चलते-फिरते थे, और वे सीधा खडे होकर चलने लगे। इस प्रकार वानरावस्था से मनुष्यावस्था मे वढने की ओर एक निर्णयात्मक कदम उठा।' एगेल्स के इन वचनो पर टीका करते हुए वी० एल० कोफोरोफ लिखते है——'इस प्रकार इन अत्यन्त अर्थपूर्ण पंक्तियो मे हमे उस प्रश्न का उत्तर मिल जाता है, जिसने जीव वैज्ञानिको को बहुत परेशान किया है, और वह प्रश्न यह है कि स्वरूप श्रम का निर्णय करता है, या श्रम स्वरूप का निर्णय करता है।

की अनुकूलता करता है कि दोनो का ही इस विकास मे हाथ है।"[१] जब दूसरे वैज्ञानिको ने केवल स्वरूप पर ज़ोर दिया था, उस हालत मे इस क्षेत्र मे एगेल्स की द्वन्द्वात्मक आलोचना का महत्त्व बहुत बढ जाता है, क्योकि इसमे यह बतलाया गया है, कि अवयवो के शरीर के स्वरूप आसमान मे नही टपके, किसी लीलामय की लीलामयी इच्छा के कारण नही बने, बल्कि भौतिक कारणो से ही बने, और वह भौतिक कारण श्रम तथा रहन-महन था।

एगेल्स इसी लेख मे यह भी बताते है कि मनुष्य और पशु मे एक मात्र प्रभेद श्रम है। वे लिखते है "सभी प्राणी एक हद तक अपने खाद्य द्रव्य मे खर्चीलेपन से काम लेते है और अक्सर तो बीजावस्था मे ही खाद्रव्य को नष्ट कर देते है। भेडिया भी बकरे को मारता है, ओर मनुष्य भी, किन्तु भेडिया अगले साल बियाने वाली बकरी को भी मार डालता है, जब कि मनुष्य उसे छोड देता है। ग्रीस मे बकरे सब काँटो तथा भाडियो को खा डालते है, इसका नतीजा यह है कि वे इसे बढने का कोई मौका ही नही देते, और इस प्रकार सब पहाड बिल्कुल हरियाली से वचित हो गये है। जानवरो मे जो 'लूट-खसोट वाली आर्थिक पद्धति' प्रचलित है, वह उनकी क़िस्मो को धीरे धीरे बदलने की प्रक्रिया मे बहुत बडा हिस्सा अदा करती है, क्योकि अपनी इस आदत के कारण वे बराबर नई किस्म के खाद्यो को खाने के लिए बाध्य हो जाते है, जिसके कारण उनके रक्त की बनावट भिन्न होती जाती है, और सारी शारीरिक बनावट भी धीरे धीरे बदल जाती है। इस प्रकार वह पहले से प्रचलित किस्म (Species) मर जाती है।" मनुष्य मे खाद्य का सम्बन्ध चूँकि श्रम से है, और खाद्य रक्त मे परिवर्तन करने मे समर्थ हे, इसलिए श्रम का प्रभाव मनुष्य के शरीर पर बहुत ही महत्व पूर्ण होगा। एंगेल्स ने इस सम्बन्ध मे यह भी बात लिखी हे कि मनुष्य धीरे धीरे निरामिष खाद्य से हटता गया, यह भी उसकी उन्नति का एक कदम था, क्योकि आमिष खाद्य पाचन की प्रक्रियाओ को सरलतर बना देता है, और इस प्रकार कर्म शक्ति की बचत होने लगी। हम इस प्रसग मे भी यह देखते कि किस प्रकार मनुष्य प्रकृति को बदल कर अपने को बदलता रहता है।

---

१ M M T p 200

मनुष्य शारीरिक रूप से पशुओं के मुकाबिले में कई मानें में निकृष्ट होने पर भी वह किस प्रकार अपने श्रम से उनसे शारीरिक रूप में भी कहीं अधिक जीवन-संग्राम के लिए अधिक योग्य हो गया है यह द्रष्टव्य है। गार्डेन चाइल्ड ने बहुत ही मार्मिक शब्दों में लिखा है—'भेड एक बहुत ही ठंडे पहाड़ी देश में अपने घने ऊन के कारण जी सकता है, मनुष्य भी उसी परिस्थिति में जी सकता है, किन्तु ऐसा करने के लिए उसे भेड के ऊन या चमडे का कोट बनवाना पड़ेगा। इसी प्रकार खरगोश अपने नाखूनों तथा दांतों के द्वारा जमीन के नीचे गड्ढे खोदकर ठंड से तथा शत्रुओं से रक्षा कर सकता है, मनुष्य भी इसी प्रकार कुदार और फावडे के सहारे से जमीन के नीचे आश्रय बनाकर रह सकता है, केवल यही नहीं वह ईंट पत्थर और लकडी से इससे कहीं आरामदेह मकान बना सकता है। सिंह अपने नखों तथा दाँतों के द्वारा अपने लिए मांस प्राप्त कर सकता है, मनुष्य तीर और बर्छी से इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए शिकार करता है। जेली नामक जो अत्यन्त निम्न किस्म की मछली है वह अपनी अत्यन्त प्राथमिक किस्म की स्नायविक पद्धति के बावजूद अपनी पहुँच के अन्दर के शिकार को पकड़ सकती है, किन्तु मनुष्य इससे कहीं अच्छे उपाय काम में लाकर खाद्य पदार्थों का संग्रह कर सकता है, ऐसा करने में यह बडों के उपदेश तथा उदाहरण से सीखता है।'[१] इस प्रकार श्रम मनुष्यजाति की निरन्तर प्रगति के लिए ही नहीं बल्कि उसके अस्तित्व के लिए जिम्मेदार है।

विचरण करने मे समर्थ है। आगे चलकर कदाचित् वह श्रम के ही प्रसाद से दूसरे ग्रहो की भी यात्रा कर सके।

२१--**परिवर्तनशील श्रम-सम्बन्ध**--श्रम के दौरान मे मनुष्यो को आपस मे कुछ सम्बन्ध स्थापित करने पडते है, या ऐसे सम्बन्ध अपरिहार्य रूप से स्थापित हो जाते है। राबिनसन क्रूसो के द्वीप मे जब तक वह बिलकुल अकेला था, तब तक तो कोई बात ही नही थी, किन्तु ज्योही फ्राइडे से उसकी मुलाकात हुई, त्योही उसमे और फ्राइडे मे एक श्रम-सम्बन्ध स्थापित हुआ। यह श्रम-सम्बन्ध क्या था, इसके पचडे मे हम न पडेगे, किन्तु यह सामाजिक श्रम-सम्बन्ध था, इसमे कोई सन्देह नही। ये श्रम-सम्बन्ध चिरन्तन या पूर्व चिन्तित नही है, बल्कि उत्पादन के तकाजे के अनुसार ये बनते चले जाते है। कार्ल मार्क्स ने 'मजदूरी, श्रम और पूँजी' नामक पुस्तक मे लिखा है—'सामाजिक सम्बन्धो के दायरे मे व्यक्ति उत्पादन करते है, याने उत्पादन के सामाजिक सम्बन्ध उत्पादन की शक्तियो के तथा उत्पादन के भौतिक साधनो के विकास तथा उनमे परिवर्तन के साथ-साथ विकसित तथा परिवर्तित होते रहते है।' सच बात तो यह है कि यदि उत्पादन के साधन या उत्पादन के तरीके मे परिवर्तन हो जाय, और मनुष्य के श्रम-सम्बन्धो मे विकास या परिवर्तन न हो, तो उसका अनिवार्य परिणाम खिंच, क्रान्ति या विनाश होगा। मार्क्स के समसामयिक मोशियो प्रुधो की गलती यही थी कि वे श्रम-सम्बन्धो को चिरन्तन समझ बैठे थे, और वे उनकी बुराइयो को निकाल बाहर कर केवल भलाइयो को रखना चाहते थे। १८४६ के २८ दिसम्बर को ब्रुसेल्स के पी० वी० आनेन काफ नामक एक व्यक्ति को पत्र लिखते हुए मार्क्स ने लिखा था 'वे (प्रुधो) यह नही समझ पाये कि मनुष्य जैसे-जैसे उत्पादन की शक्तियो को विकसित करते है, त्यो-त्यो वे एक दूसरे के साथ कुछ सम्बन्धो को विकसित करते है। ये सम्बन्ध उत्पादन की शक्तियो के विकास के साथ-साथ विकसित तथा परिवर्तित होते रहते है।'

२२--**गतिशील श्रम-विभाजन**--श्रम सम्बन्धो मे श्रम का विभाजन भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। समाज जितना ही जटिल तथा उन्नत होगा, उतना ही उसके श्रम के विभाजन का तरीका भी उन्नत तथा विकसित होगा। सभी तरह के समाज मे एक ही श्रम का विभाजन नही लागू हो सकता, अर्थात्

'उत्पादन शक्तियो की अवस्था से ही इस बात का निर्णय होगा कि समाज का सगठन किस प्रकार हो। इन अवस्थाओ के बदल जाते ही देर मे या सवेरे मे समाज का सगठन भी अनिवार्य रूप से बदल जायगा। जहाँ पर उत्पादन की सामाजिक शक्तियाँ बढ रही है, वही प्रत्येक विन्दु पर सामाजिक सगठन स्थायी भार साम्य लिए हुए होगा'—(ग्लेखनाव)। विभिन्न सामाजिक सगठन मे श्रम के विभाजन विभिन्न प्रकार के थे, यह तो हम बता ही चुके है। मार्क्स ने उल्लिखित पत्र मे ही लिखा था—'मोशिये प्रुधो के निकट श्रम का विभाजन एक बहुत ही सरल वस्तु है, किन्तु क्या जातिभेद पद्धति या शासन एक विशेप श्रम का विभाजन नही था ? फिर गिल्डो का शासन क्या दूसरी तरह का श्रम—विभाजन नही था ? और क्या इगलैड मे जिस तरह का श्रम विभाजन १७वी सदी के बीच से लेकर १८वी सदी के बीच तक था, वह बडे पैमाने के आधुनिक उद्योग धन्धो के श्रम विभाजन से भिन्न नही था। मोशिये प्रुधो श्रम के विभाजन की बात को इतना कम समझते है कि इन्होने एक बार भी शहर या देहात के पृथक्-करण का, जो जर्मनी मे ९वी से लेकर १२वी सदी तक चल रहा था, कभी उल्लेख नही किया। योशिये प्रुथो के लिए जो न तो इसकी उत्पत्ति से और न इसके विकास से परिचित है, यह पृथक्करण एक चिरन्तन नियम का रूप धारण कर लेता है। ऊपरी पुस्तक 'दरिद्रता के दर्शन' मे उन्होने इस विशेप उत्पादन पद्धति का ऐसा वर्णन किया है, मानो वह चिरकाल तक रहेगा। सच बात तो यह है कि प्रत्येक तरह के श्रम-विभाजन के अपने विशेप औजार होते है। १७वी सदी के मध्य से १८वी सदी के मध्य तक प्रत्येक चीज हाथ से बनाई जाती हो, ऐसी बात नही, उस जमाने मे भी यत्र थे, और काफी जटिल यत्र थे, जैसे करघे, जहाज, लीवर (Lever) इत्यादि .। यह कहा जा सकता है कि १८२५ तक याने पूँजीवाद के प्रथम आर्थिक सकट तक उत्पादन के मुकाविले मे उपभोग की आम माँगे अधिक तेजी से बढती रही, और बाजार की जरूरतो के परिणामस्वरूप यत्रो का आविष्कार अनिवार्य हो गया। १८२५ मे यत्रो का आविष्कार तथा प्रयोग मजदूरो तथा मालिको की लडाई का परिणाम-मात्र था। यह बात केवल इंगलैड के लिए सत्य है। जहाँ तक दूसरी यूरोपीय जातियो का सम्बन्ध है, उनको तो

अपने घरो के बाजारो तथा बाहरी बाजरो मे इंगलैंड से लोहा लेने के लिए यत्रो को मजबूरन अपनाना पडा। अन्त मे उत्तरी अमेरिका मे यत्रों का प्रवर्तन दूसरे देशो के साथ प्रतियोगिता, साथ ही काम करनेवालो के अभाव—इन दो कारणो से हुआ, याने उत्तरी अमेरिका की जन-सख्या तथा उसके फलस्वरूप उसकी औद्योगिक माँगो के परिणामस्वरूप वहाँ यत्र का प्रवर्तन हुआ।'

२३—विकासमान उत्पादन शक्तियाँ—नई उत्पादन-शक्तियो के उत्पन्न होने से समाज-व्यवस्था मे भी परिवर्तन हो जाते है। 'हस्त-परिचालित यत्र के परिणामस्वरूप ऐसा समाज पैदा होता है जिसमे सामन्तवादी प्रभु का बोल-बाला होता है, किन्तु वाष्प-परिचालित यत्र के परिणामस्वरूप औद्योगिक पूँजीवादी समाज पैदा होता है।'[१] हम इस विषय पर थोडे मे विचार करेगे कि किस प्रकार उत्पादन के साधन मे परिवर्तन के साथ साथ राष्ट्र-व्यवस्था मे परिवर्तन होता है। यह तो हम देख ही चुके कि उत्पादन की प्रक्रिया कोई स्थायी प्रक्रिया नही है। इस सम्बन्ध मे यह द्रष्टव्य है कि नई उत्पादन-शक्तियाँ बिलकुल पुरानी उत्पादन-पद्धति के बाहर विकसित नही होती, बल्कि पुरानी पद्धति के गर्भ मे ही उनका जन्म होता है। यह जो नई शक्तियाँ इस प्रकार उत्पन्न होती है, वह भौतिक जरूरतो के कारण ही उत्पन्न होती जाती है। मनुष्य उत्पादन-पद्धति का केन्द्र है, किन्तु उसकी एक विशेष पुश्त अपनी उत्पादन-पद्धति का निर्वाचन नही करती कि हमारी उत्पादन-पद्धति ऐसी ही होगी, वैसी नही। पहले की पुश्तो से उसे जो उत्पादन-पद्धति मिली है, उसी पर वह नवनिर्माण करता है। मनुष्य सामाजिक उत्पादन करते समय भविष्य को नही देखता (केवल समाजवादी समाज ही दूर भविष्य तक देख लेता है), बल्कि अपने रोजमर्रे की जरूरत को देखकर ही चलता है। उत्पादन हमेशा हर जगह सामाजिक होता है। जो शिकारी घने जगलो मे मृगनाभि की तलाश मे अकेला मारा-मारा फिर रहा है, वह भी सामाजिक उत्पादक है। उसका भी समाज से सम्बन्ध है क्योकि उसे भी आकर अपनी उपज समाज को बेचनी है, और उसके बदले मे अपनी जरूरतो की चीजे प्राप्त करनी है। यदि कोई

---

१ P P K

व्यक्ति ऐसा प्रण कर ले कि वह जगल मे जाकर अकेला रहेगा, और कभी नही लौटेगा, तो भी स्मरण रहे कि जगल जाते समय वह समाज के उस समय तक के ज्ञान को अपने साथ ले गया है। भले ही उससे अब समाज को भविष्य मे लाभ न हो, किन्तु उसे समाज से अर्थात् समाज के रूप मे मनुष्य ने जो ज्ञान प्राप्त किया है, उससे बराबर लाभ है। ऐसे लोगो का विचार समाज-शास्त्र मे नही किया जाता, क्योकि वे तो चिकित्सा-शास्त्र के विपय हो चुके है।

२४——वर्ग की उत्पत्ति का आधार——उत्पादन-शक्तियाँ बदलती रहती है, और इसी बदलने के दौरान मे एक जगह पर जाकर वर्ग-विभाजन उत्पन्न हो जाता है। सामाजिक उत्पादन मे कौन से लोग उत्पादन के साधनो याने जमीन, जगल, पानी, खान, कच्चे माल, उत्पादन के औजार, इमारतो, आमदनी, रफ्तनी तथा यातायात के साधन पर कब्जा रखते है, कौन से लोग अन्य तरीको से उत्पादन-पद्धति को अपनी मुट्ठी मे रखते है, सारा समाज इन साधनो तथा तरीको का मालिक है या कुछ लोग है, कुछ लोग है तो वे कैसे लोग है, उत्पादन का तरीका किस मजिल पर है, यदि कुछ लोग उत्पादन के साधन के मालिक है, तो असली उत्पादको के साथ उनका क्या सम्बन्ध है, असली उत्पादक स्पष्टरूप से उनके गुलाम है, अथवा उनकी गुलामी छिपी है, यदि छिपी है तो कितनी छिपी है——इन सारी बातो का उत्तर मिलने पर ही यह ज्ञात हो सकता है कि समाज की क्या हालत है, और उसमे क्या-क्या वर्ग है, और उनके क्या सम्बन्ध है। 'श्रम-विभाजन का नियम ही समाज के वर्गों मे विभाजित होने की जड मे है।'[१] याने एक वर्ग तो उत्पादन के साधनो पर शासक और शोषक बनकर बैठ जाता है, और दूसरा वर्ग शासित और शोषित हो जाता है।

२५——वर्गसघर्ष के जरिये इतिहास की अग्रगति——मार्क्स एगेल्स ने कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो मे लिखा है——'अब तक वर्तमान सारे समाज का इतिहास वर्ग-सघर्ष का इतिहास रहा है (उस पर एगेल्स ने बाद को इतना और जोड दिया कि आदिम समाज को अपवाद मानकर ही यह कथन सत्य है)। मालिक और गुलाम, पेट्रि-

---

१. A D. E.

सियन और प्लेवियन,* गिल्ड मास्टर और जर्नीमन,† लार्ड और अर्द्ध-गुलाम‡ याने एक शब्द मे शोषक और शोषित हमेशा एक दूसरे के खिलाफ रहे है। उनमे बराबर कभी छिपकर कभी खुलकर सघर्ष जारी रहा है, और इस सघर्ष के परिणाम-स्वरूप या तो सारे समाज का क्रान्तिकारी पुर्ननिर्माण होता आया है, या युध्यमान वर्गो का आम विनाश हो गया। इतिहास के प्रारम्भिक युग मे हम सभी जगह के समाजो मे कई दस्तूरो की एक जटिल तरतीब पाते है, जिनमे सामाजिक दर्जो की कई सीढियाँ मौजूद थी। प्राचीन रोम मे पेट्रिसियन, सरदार, प्लेवियन तथा गुलाम थे, मध्ययुग मे हम सामन्तवादी लार्ड, रैवत, गिल्ड मास्टर, जर्नीमन, अपेरन्टिस, अर्द्धगुलाम पाते है, फिर इन वर्गो के अन्दर भी उपवर्ग थे। वर्तमान पूँजीवादी समाज मे जिसकी नीव सामन्तवादी समाज के खण्डहर पर से फूट निकली है, वर्ग-सघर्ष दूर हो गया हो, ऐसी वात नही, हाँ, यह जरूरी है कि अव इस नई पद्धति मे नये वर्गो की उत्पत्ति हुई है, तथा पुराने सघर्ष और शोषण की जगह पर सघर्ष और शोषण के नये रूपो की उत्पत्ति हुई है। हमारे युग को अर्थात् पूँजीवादी युग को फिर भी एक विशेपता प्राप्त है। वह यह कि अब वर्ग-सघर्ष का रूप पहले के मुकाविले मे कम जटिल रह गया है।

---

* प्राचीन रोम मे उच्च कुलवालो को पेट्रिसियन और जन-साधारण को प्लेवियन कहते थे। इन दोनो वर्गो के अधिकारो मे फर्क है, सच वात तो यह है कि पेट्रिसियनो ही के अविकार थे, वाकी लोगो के कोई अधिकार नही थे।

† पूँजीवाद के अभ्युदय के पहले उत्पादको के जो छोटे-छोटे सघ थे, वे गिल्ड कहलाते थे। भारतवर्ष मे उत्तर वैदिक काल से ही श्रेणियो या गिल्डो के होने का परिचय मिलता है। भारतवर्ष मे 'मुस्लिम शासन' के वाद इन श्रेणियो का पता नही लगता, ऐसा ज्ञात होता है वे जातियो मे प्रस्तरीभूत होकर रह गये। जर्नीमन घूम-घूमकर काम करता था, गिल्ड मास्टर इसमे शोपक था और जर्नीमन शोपिता।

‡ अर्द्धगुलाम की जगह मूल मे 'सर्फ' शब्द आया है। इस शब्द के अन्दर वे खेतिहर आते है जो जमीन के साथ वँधे है, और जमीन की बिक्री के साथ-साथ वे भी हस्तान्तरित हो जाते है। उनकी मृत्यु से लेकर विवाह तक सभी वातो पर मालिक का नियत्रण होता था। भारतवर्ष के देशी राज्यो मे तो करीव-करीव पूर्ण-रूप से और अन्यत्र आशिक रूप से सामन्तवाद अव भी मौजूद है।

समाज अब दो महान विरोधी शिवरो के रूप मे विभक्त होता जा रहा है, जिसमे दो बडे-बडे वर्ग है, जो एक दूसरे के सामने युद्ध करते हुए खडे है। वे दो वर्ग है पूँजीवादीवर्ग और सर्वहारावर्ग।'[1]

२६—उत्पादन में विकास से गुलामी के लिए गुंजाइस उत्पन्न—इस प्रकार आदिम साम्यवाद के बाद ही से, याने जब से उत्पादन की शक्तियो मे इतनी उन्नति हुई कि जीवन धारण के बाद भी कुछ बचत होने लगी तथा वैयक्तिक सम्पत्ति का उदय हुआ, बराबर मनुष्य जाति का इतिहास वर्गो के सघर्ष का इतिहास रहा है। हम पहले ही बतला चुके है कि जब उत्पादन-पद्धति मे इतनी गु जाइश नही थी कि कुछ बचत हो उस समय लोग गुलाम नही बनाये जाते थे। १९ वी सदी मे आदिम जातियो की रहन-सहन से इस सिद्धात की पुष्टि होती है। भूमध्य रेखा के इर्द-गिर्द, अफ्रिका के पूर्व भाग मे बसने-वाली मसाई जाति के सम्बन्ध मे रेटजेल ने लिखा है कि यह एक पशुपालक जाति है, इस जाति के लोग किसी शत्रु को जीता नही छोडते। वात यह है कि उनके यहाँ ऐसे लोगो को जीता छोडा जाय तो वे उत्पादन-पद्धति पर एक बोझा-मात्र हो जायँ। इसी मसाई जाति के पास ही मे एक वकम्मा जाति बसती थी। यह खेतिहरो की जाति थी, इसलिए इनमे गुलामों के श्रम की खपत थी। इनमे गुलाम रखना लाभजनक था, इसलिए ये लडाई मे पकडे हुए लोगों को गुलाम बनाकर रखते थे, मारते नही थे। आदिम साम्यवाद के युग मे भी कही कही बाहरी लोगो को समाज मे ले लिया जाता था, किन्तु वे गुलाम के रूप मे नही बल्कि समान मानकर ले लिये जाते थे।[2]

२७—वर्ग, वर्गसंघर्ष तथा वर्गो के अन्दर के संघर्षो का स्वरूप—वर्ग-सघर्ष प्राय ऐसे रूप मे चलता है कि आसानी से ज्ञात नही होता। न मालूम कौन-कौन से नारे तथा किन किन विचारो की आड मे यह वर्ग-सघर्ष चलता रहता है। हम वाद को इस विपय पर विस्तार के साथ आलोचना करेगे। जिस समय हम आर्थिक नीव के साथ विचार-धारा यानी कला, साहित्य, दर्शन आदि का सम्वन्ध स्थापित करेगे, उस समय यह वात स्वय स्पष्ट हो जायेगी, किन्तु ऐसा करने के पहले हम वर्ग की वैज्ञानिक परिभाषा क्या हे, इस पर प्रकाश

---

1 F P. M. p. 29

डालेगे। यो तो साधारण तौर पर किसी भी समूह को वर्ग कहने का रिवाज है, किन्तु जिस समय वैज्ञानिक रूप मे इस शब्द का प्रयोग करेगे, उस समय इसका अर्थ समाज के एक ऐसे तवके से होगा जो आर्थिक रूप से समाज के दूसरे लोगों के साथ एक ही तरह का सम्वन्ध रखता है। पहले ही वताया जा चुका है कि यह सम्वन्ध कोई चिरन्तन नही है। वे वरावर वदलते रहते है, और इन्ही सम्वन्धो के गर्भ मे नये सम्वन्धो का पोषण होता रहता है। जव पुराने सम्बन्धो के दायरे मे उत्पादन-शक्तियो का और आगे विकास सम्भव नही होता, उस समय अडे की तरह पुराने सम्बन्ध टूट जाते है, और उसके अन्दर से नया समाजरूपी शिशु भूमिष्ट होकर नये युग को वॉग देकर अभिनन्दित करता है। वुखारिन ने वर्ग की परिभाषा करते हुए कहा है 'सामाजिक वर्ग व्यक्तियो के उस समूह को कहा जायेगा जो उत्पादन की प्रक्रिया मे एक ही हिस्सा अदा करते है, और उत्पादन की प्रक्रिया मे लिप्त दूसरे व्यक्तियो के साथ एक ही सम्वन्ध रखते है। ये सम्वन्ध वस्तुओ मे भी (याने श्रम के औजारो मे भी) प्रकाशित होते है।[१]'

वुखारिन ने वर्ग की उल्लिखित परिभाषा से सुन्दरतर परिभाषा उत्पन्न की है। वे कहते है—'ऐसे लोगो का एक समूह जो उत्पादन मे और इस कारण वितरण मे एक ही तरह से अवस्थित है यानी दूसरे शब्दो मे जिनमे आमहित (वर्गहित) एक है, वह वर्ग कहलाता है।' किन्तु अगले ही वाक्य मे वुखारिन एक वात के सम्बन्ध मे पाठको को आगाह कर देते है—'किन्तु ऐसा समझना विलकुल ऊल-जलूल होगा कि प्रत्येक वर्ग सम्पूर्ण रूप से एकीभूत कोई समग्र है, जिसका हर एक हिस्सा वरावर महत्त्व का है।'[२] इसमे और एक वात जोडी जा सकती है कि वर्ग के अन्दर भी उपवर्ग होते है, और इन उपवर्गो का हित स्थायी रूप से तो नही सामयिक रूप से अक्सर अन्य उपवर्गो के हितो के साथ सघर्ष मे आता है। ऐसा भी हो सकता है कि उपवर्ग का हित सामयिक रूप से उस वर्ग के विरुद्ध हो जिसका वह उपवर्ग है, किन्तु फिर भी इन सारे उपवर्गो का एक साधारण हित होता है जो सर्वोपरि होता है।

१ H M p. 275
२ Ibid p 304

यदि किसी उपवर्ग का हित स्थायी रूप से अपने वर्ग के विरुद्ध हो जाय तो वह उपवर्ग उस वर्ग से निकल ही गया, उसका तो कुछ कहना ही नही है। बराबर एक वर्ग से लोग दूसरे वर्ग मे जाते रहते है, यह एक अपवादात्मक प्रक्रिया है, किन्तु फिर भी वर्ग के विश्लेषण मे इस पहलू को समझ लेना उचित है। सर्वहाराओ मे भी, वार्गिक रूप से एकहितता होने पर भी, उपवर्ग है। मजदूरो की हडतालो को तोडने के लिए मजदूर ही लाये जाते है। किसानो के लडके वर्दी पहन कर सेना के रूप मे किसानो पर गोली चलाते है। शोषितवर्ग के उपवर्गो के इस झगडे से शोपकवर्ग हमेशा फायदा उठाने के लिए तैयार रहते है, और तब तक उठाते रहेगे जब तक शोषितो मे वर्ग चेतना उत्पन्न न हो जाय। जिस प्रकार शोपितो के उपवर्गो के आपसी सघर्ष से शोषक फायदा उठाते है, उसी प्रकार शोषको के उपवर्गो के आपसी झगडो से शोपितो के बुद्धिमान नेता पर सही मार्ग पर चलनेवाला उनका दल फायदा उठा सकता है। सच बात तो यह है कि शोषक और शोषित वरावर इस प्रकार से फायदा उठाते रहते है। समाज के दो मुख्य हिस्से अर्थात् शोषक और शोषित के होते हुए भी दोनो के अन्दर के इन हितसघर्षो के कारण समाज शतरज के एक बोर्ड की तरह हो जाते है, किन्तु फर्क यह है कि शतरज के मोहरो की अलग अलग चाल होते हुए भी एक तरह के मोहरे अपनी किस्म के मोहरे से कभी लडते नही है, किन्तु सामाजिक शतरज के वोर्ड मे मोहरे अपनी तरह के मोहरो से लडते हुए भी सव मिलकर विरोधी मोहरो से लडते जाते है। कुछ लोग एक ही वर्ग के अन्दर चलनेवाली इर्ष्या या सघर्ष को देखकर वर्ग के अस्तित्व को ही अस्वीकार कर देते है, किन्तु यह बात नही है। इतिहास हमे यह बताता है कि छोटे-मोटे पारस्परिक सघर्षो के बावजूद भी एक वर्ग अन्तिम रूप मे अपने विरोधी वर्ग से ही लोहा लेता है।

२८—प्रत्येक वर्ग में अन्तर्विरोध भी है—फान्स वर्कनाऊ की तरह लेखको ने वहुत से तथ्य देकर यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि दुनिया के सर्वहारा वर्ग की एकता स्वप्न-मात्र है, कार्यक्षेत्र मे कही यह एकता दृष्टि गोचर नही होती। वर्कनाऊ का कहना है कि जिन देशो मे रहन-सहन का मानदण्ड तथा मजदूरी ऊँची है, उन देशो मे वाहर के मजदूर आने नहीं दिये

जाते। ऐसे देशो के पूँजीपति तो यह चाहते हैं कि बाहर से ऐसे मजदूर बुलाये जायँ जो कम मजदूरी पर काम करने के लिए तैयार हो, किन्तु इसके विरुद्ध कानून हो जाने के कारण वे ऐसा कर नही पाते। वर्कनाऊ का कहना है कि इस प्रकार के रोक-थाममूलक कानून बनवाने की ९० फी सदी जिम्मेदारी उस देश के मजदूर सगठनो पर है। 'दक्षिण अफ्रिका मे चीनी, क्वीन्सलैड मे कनक जाति के लोग, न्यूजीलेड मे सभी अब्रिटिश लोग मजदूरी नही कर सकने, और ऐसा नियम वहाँ के मजदूरो के प्रभाव के कारण ही है। इसी प्रकार १९२१ और १९२४ मे अमेरिका मे जो इमीग्रेशन कानून बने, वे सगठित मजदूरो के दबाव ही के कारण बने। १९१४-१८ के महायुद्ध के पहले जब अमेरिका मे मजदूरो का कोई भी राजनैतिक असर नही था, उस समय ऐसे कानून की कल्पना नही की जा सकती थी। फ्रास मे जहाँ इस सम्बन्ध मे कानून कुछ उदार है, उसका कारण यदि देखा जाय तो फ्रास के मजदूर-आन्दोलन की कमजोरी ही इसके लिए जिम्मेदार है । ऐसा कहना आक्षरिक रूप से सत्य होगा कि बाहर से मजदूर बुलाने की समस्या के सम्बन्ध मे देश के मजदूर ही सबसे अधिक जातीयतावादी तरीके से सोचते है। फिर भी यह कष्टकर रूप से स्पष्ट हो जाता है कि इस सम्बन्ध मे इस रुख को ग्रहण करने के कारण उस देश के मजदूरवर्ग न केवल अपने अन्तर्राष्ट्रीय आदर्शो के विरुद्ध आचरण करते है, बल्कि वे अपने व्यावहारिक हितो का भी विरोध करते है।"[१] व्यावहारिक हितो का विरोध कैसे होता है इसे समझाते हुए वर्कनाऊ ने दिखलाया है कि रहन-सहन के निम्न मानदण्डवाली जातियो के लोगो को उच्च मानदण्डवाली जातियो के मजदूरो मे आकर काम न करने देने से निम्न मानदण्डवाले देश के मजदूरो का मानदण्ड ऊँचा नही हो पाता, वे कम मजदूरी पर काम करने पर तैयार रहते है, नतीजा यह है कि पूँजीपतिगण धीरे-धीरे अपने कारखानो को हटाकर रहन-सहन के निम्न मानदण्डवाले देशो मे ले आते हैं। इस प्रकार इन्ही मजदूरो का अन्तिम रूप से नुकसान होता है।

२९—वर्गो के अन्तर्विरोध के बावजूद शोषक-शोषित का सघर्ष मुख्य सामाजिक शक्ति—इसमे सन्देह नही कि वर्कनाऊ ने कुछ ऐसे तथ्य लाकर खडे कर

---

१ S N I. p 16—17

दिये है, जिनके तथ्य होने के सम्बन्ध मे सन्देह नही किया जा सकता। हम पहले ही बता चुके है कि एक ही वर्ग के अन्दर इस प्रकार के हित-सम्बन्धी विरोध मौदजू है। उसे अस्वीकार करना हास्यास्पद होगा। फिर भी उन्होने इन तथ्यों से यह जो नतीजा निकालने की चेष्टा की है कि अन्तर्राष्ट्रीय वार्गिक एकता एक स्वाप्निक वस्तु है, यह गलत है। इस प्रकार का आपसी विरोध तो अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद मे भी है। फिर भी यह तथ्य है कि प्रत्येक देश का पूँजीवाद दूसरे देशो के पूँजीवाद मे बराबर लोहा लेता जा रहा है। जिसे साम्राज्यवादी युद्ध कहा जाता है वह पूँजीवाद के आपसी झगडे के अतिरिक्त और क्या है? ये आपसी युद्ध कितने भयकर हुए, यह एक इतिहास-विदित बात है। फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद मे किस प्रकार एकता है, तथा अपने सामन्य हितो के लिए कैसे प्रत्येक जाति के पूँजीवादी सम्मिलित रूप से लडने के लिए तैयार रहते है, इसके कई ऐतिहासिक उदाहरण है। जिस समय पहले-पहल सोवियट रूस का उदय हुआ, उस समय यूरोप और अमेरिका की पूँजीवादी शक्तियाँ पारस्परिक रक्तपात मे व्यस्त थी, किन्तु ज्यो ही उन्हे इसमे छुट्टी मिली, त्यो ही वे सब मिलकर समाजवादी रूस पर टूट पडे। यह तो एक बहुत ऊपरी बात हुई जिसे इतिहास का एक साधारण छात्र भी समझ सकता है, किन्तु जिस समय दो देश युद्ध मे व्यस्त हो, उस समय भी भीतर-भीतर अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल किस तरह क्रियाशील रहते है, तथा किस तरह एक देश के अस्त्रो के व्यापारी अपने देश के विरुद्ध लडनेवाले देश को अस्त्र पहुँचाते है, इसे सब लोग उतनी अच्छी तरह नही जानते। जब तक पूँजीवाद के मौलिक हितो पर चोट नही होती, तब तक ये पूँजीवादी भले ही आपस मे लडते-भिडते रहे, लेकिन किसी भयकर विपत्ति के समय वे सब एक दिखाई देते है। यदि समाजवादी रूस के साथ पूँजीवादी देशो की परराष्ट्र-सम्बन्धी नीति के इतिहास का अध्ययन किया जाय तो पग पग पर अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद की एकता का प्रमाण मिलेगा। १९३९ की लडाई मे जिस समय रूस के कन्धे से कन्धा मिलाकर दूसरे कई पूँजीवादी राष्ट्र अपने सामान्य शत्रु फासिवादी राष्ट्रो के विरुद्ध लड रहे थे, उस समय भी किस प्रकार वे पूँजीवादी राष्ट्र रूस के विरुद्ध दाँव-पेच किया करते थे, यह अभी कल के इतिहास की बात है। १९४५ मे जब ब्रिटेन मे आम चुनाव हुआ था, उस समय के प्रधान

ब्रिटिश नेता चर्चिल ने समाजवाद के विरुद्ध नारा देकर निर्वाचन युद्ध मे जयी होना चाहा था। उनके प्रथम व्याख्यान मे ही इस प्रकार के उल्लेख थे, जैसे हम इस लडाई के वाद यह नही चाहते कि यूरोप मे गेस्टापो का राज्य हो जाय, यह उल्लेख स्पष्ट रूप से रुस के विरुद्ध था।

हमारा यह कहने का मतलब कदापि नही है कि चूँकि अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद मे अन्तर्विरोध है, इसलिए सर्वहारावर्ग के अन्तर्विरोध पर ध्यान देने की आवश्यकता नही है, और हम यह नही चाहते कि उसको अस्वीकार कर दिया जाय। अवश्य हम यह कहना चाहते है कि दोनो वर्गो के अन्दर के अन्तर्विरोध एक दूसरे से बहुत कुछ कट जाते है। जैसा कि हम वता चुके है, सामाजिक शक्तियो के शतरज का बोर्ड कोई सरल ऋजु बोर्ड नही है, इसके विरोधी मोहरे अपने अन्दर आपस मे भी लडते जाते है। सर्वहारावर्ग मे वर्कनाऊ द्वारा उल्लिखित अन्तर्विरोध के वावजूद यह भी एक ज्ञात तथ्य है कि जिन दिनो सोवियट रूस के शिशु राष्ट्र पर चारो तरफ से पूँजीवादी पूतनाओ के हमले हुए, उन दिनो सोवियट राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर आन्दोलन की एकता के कारण ही जीवित रह सका। यदि उन दिनो अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-आन्दोलन सोवियट राष्ट्र के रक्षार्थ आगे नही बढता, तो अभिमन्यु की तरह चारो तरफ से घेरा जाकर वह मारा जाता, इसमे सन्देह नही।

केवल यही नही कि जव बहुत से महत्त्वपूर्ण सामान्य हित विपत्तिग्रस्त हो जाते है, तव सब देशो के पूँजीवादी एक सूत्र मे बँधकर काम करने लगते है, वल्कि हम इतिहास मे यह भी देखते है कि पूँजीवाद एक हद तक अपने प्राकृतिक शत्रु सामन्तवाद के—जिसके खण्डहर पर वह अपनी इमारत का निर्माण करता है—साथ मित्रता कर लेता है। इसका हम सबसे अच्छा उदाहरण भारतवर्ष मे ही पा सकते है जहाँ ब्रिटिश पूँजीवाद ने भारतीय सामन्तवाद को एक हद तक ही मारा, उसके वाद उसे—जव वह उसका मित्र हो गया—जिला रखा। यह कोई आश्चर्य की वात नही है क्योकि पूँजीवादीवर्ग और सामन्तवादीवर्ग दोनो शोषकवर्ग है, इसलिए यदि पूँजीवाद सामन्तवाद के विषदन्तो को तोडकर उसे अपना पिछलगुवा वनाकर रख सकता है तो उसमे उसका कुछ विगडता नही है। विशेष कर पूँजीवाद का यह भी तकाजा है कि अपने देश के अतिरिक्त

सभी देशो को—हिटलर का यही स्वप्न था—देहात मे अर्थात् कच्चे मालों के उत्पादक भू-खडो मे परिणत कर रखा जाय। ऐसी हालत मे औपनिवेशिक अथवा अर्द्ध-औपनिवेशिक देशो मे पूँजीवाद अर्थात् उसके साम्राज्यवादी रूप के यह हित मे है कि एक हद तक इन अधीन देशो मे अर्द्धगुलामी-प्रथा कायम रखी जाय। इस पृष्ठभूमि मे और भी शक्तियाँ काम करती है, किन्तु हमे उनके ब्यौरे मे जाने की आवश्यकता नही है। हमे तो केवल इतना ही स्पष्ट करना था कि न केवल सार्वदेशिक पूँजीवाद मे एक निविडयोगसूत्र है, बल्कि सभी शोपक वर्गो मे एक बहुत गहरा योगसूत्र है। फिर यह हर समय स्मरण रहे कि पद्ध-तियो को गिनते समय हम यह भूल न करे कि दुनिया मे कोई भी पद्धति विशुद्ध होती है। पूँजीवाद मे हमे सामन्तवाद के अवशेप मिलेगे, इसी का नतीजा यह है कि रूस की समाजवादी क्रान्ति को बहुत से ऐसे कर्त्तव्य सम्पन्न करने पडे जो यदि शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाय तो वे कर्त्तव्य समाजवादी क्रान्ति के नही थे, बल्कि पूँजीवादी क्रान्ति के ही कर्त्तव्य थे। इसी लिए किसी नियम को लागू करते समय यदि हम इस बात को स्मरण रखे तभी चीजो को अच्छी तरह समझ सकते है।

सक्षेप मे हम यह दिखा चुके कि जब से वर्ग-समाज का उदय हुआ तब से समाज मे वर्ग-सघर्ष निर्णयात्मिका शक्ति रही है, अवश्य इसके साथ हम यह भी देख चुके है कि प्रत्येक वर्ग के अन्दर बहुत गहरे अन्तर्विरोध भी होते है, किन्तु उससे हम यह नही भूल सकते कि वर्गशक्तियो का मुख्य लक्षण है—शोषक और शोषितो की लडाई।

३०—**होनहार वर्ग और ह्रासशीलवर्ग की विशेषताएँ**—जिस समय कोई वर्ग होनहार होता है, अर्थात् उदीयमान उत्पादन की शक्तियो का वाहन होता है, उस समय वह बहुत जल्दी-जल्दी अपनी विरोधी शक्तियो पर विजय प्राप्त करते हुए आगे बढता चला जाता है। वर्गो का हित भिन्न-भिन्न वाहन के जरिये अपने को व्यक्त कर सकता है। किसी भी शोषकवर्ग को लीजिए कभी उसका हित राजतत्र मे हो सकता है तो कभी उसके विपरीत। जिस समय राजतत्र के पीछे के वर्ग अभी ताजे है, और उनका ऐतिहासिक हिस्सा अभी अदा नही हुआ है, उस समय राजतत्र जोरो से डग भरता है, और उस समय उसके पैरो मे

किसी तरह की लडखडाहट दृष्टिगोचर नही होती। ट्राटस्की के अनुसार ऐसे समय उसके हाथो मे शक्ति के विश्वासयोग्य यत्र और तरह तरह के कार्य-कारिणियो का समूह रहता है वह जिसे चाहे ले, और एक के विफल हो जाने पर दूसरे को अपनावे। बात यह है कि अभी इस वर्ग को बुद्धिमान् लोगो ने नही छोडा है। ऐसे समय मे राज्य व्यक्तिगत रूप से एक महान् ऐतिहासिक कर्त्तव्य का सम्पादन कर सकता है, किन्तु जिस समय जिस वर्ग का वह प्रतिनिधि है, और वह अस्तगामी है तो उस समय राजतत्र लडखडाने लगता है, और वह वर्ग तथा राजतत्र एक दूसरे को अलग अलग करके देखने लगते है, राजवश अलग हो जाता है, उसके विश्वस्त अनुयायी भाग निकलते है दूसरी तरफ विपत्तियाँ बढती जाती है, राजतत्र खीचकर इधर-उधर ऐडा-बैडा हमला करने लगता है, कभी पीछे हटता है, कभी आगे बढता है। किन्तु जो कुछ भी वह करता है, वह वर्गशक्तियो की क्रिया-प्रतिक्रिया के दायरे मे आही जाता है। इसलिए इस प्रकार का विश्लेषण कि फलाने राजा का सर्वनाश उसकी स्त्री या अमुक मत्री के कारण हुआ, ऐतिहासिक रूप से सत्य का अश-मात्र है। वास्तव मे अमुक मत्री तथा अमुक साम्राज्ञी के पीछे वर्गशक्तियाँ ही काम करती थी। जब तक ये वर्ग-शक्तियाँ प्रगतिशील है, तब तक उनका मूर्तरूप चाहे वह राजतत्र हो, चाहे अन्य कोई तत्र, वह प्रगतिशील है, किन्तु ज्यो ही ये शक्तियाँ प्रतिक्रियाभिमुखी हुई, त्यो ही उस शासन नेत्र की तथा उस शासनतत्र की परिपोषक विचार-धारा प्रतिक्रियावादी होगी। प्रगति और प्रतिक्रिया के सम्बन्ध मे हम बाद को विस्तार के साथ आलोचना करेंगे, यहाँ के विवेचन के लिए इतना ही कहना यथेष्ट है कि जो शक्तियाँ उदीयमान बढती हुई उत्पादन की शक्तियो की अनुकूलता करती है, वे ही प्रगतिशील है, और जो शक्तियाँ इन्हे पीछे की ओर ले जाने की चेष्टा करती है, वे प्रतिक्रियावादी है।

३१—गुलाम पद्धति भी अपने समय में प्रगतिशील—इस दृष्टि से देखने पर गुलाममूलक समाज-पद्धति आदिम साम्यवाद के मुकाबिले मे प्रगतिशील थी। मनुष्य-जाति प्रारम्भ मे हजारो वर्षो तक शोषणहीन, वर्गहीन समाज की अवस्था मे रही, किन्तु इसलिए यह कहना कि यदि मनुष्य जाति उसी अवस्था मे पडी रहती जिसमे कोई वर्गसघर्ष न था तो अच्छा रहता और ये सब

टटे ही न होते, केवल व्यर्थ की कल्पना होगी। जिन उत्पादन-शक्तियो के कारण समाज मे वर्गो की उत्पत्ति हुई वे वर्गहीन आदिम साम्यवाद के युग में मौजूद थी, और प्रति पग पर उनका विकास हो रहा था, फिर भला वर्गो की उत्पत्ति क्यो न होती ? आदिम साम्यवाद के युग की ओर टकटकी बॉधकर कोई अकर्मण्य की भॉति उसकी प्रशसा मे शतमुख भले ही हो जाय, किन्तु सामाजिक विकास की दृष्टि से वह कोई स्वर्णयुग नही था। मनुष्य-जाति का जो अभूतपूर्व विकास हुआ है, और आगे जो उसके सामने वर्गहीन समाज का स्वप्न नही बल्कि क्षितिज दिखलाई देता है, वह कभी भी दिखलाई न देता, यदि वर्ग पैदा न होते, और युगो के दौरान मे वे निरन्तर बदलते हुए आगे की ओर न बढते। सामाजिक विकास के लिए यानी उत्पादन की शक्तियो के विकास के लिए वर्गो का पैदा होना अनिवार्य था, इसलिए यह भावुकता-पूर्ण क्रन्दन तथा आदिम साम्यवाद के युग की समाप्ति पर नौहगिरी कोई अर्थ नही रखती।

३२--गाधी जी का सर्वोदय, और उसकी जॉच--वर्गसघर्ष की सबसे ऊँची मजिल वह है जब उत्पादन की नई शक्तियो के साथ प्रचलित राज्य-व्यवस्था की ऐसी असगति हो जाती है कि वे दोनो एक साथ आगे चल ही नही सकती। ऐसे समय मे या तो समाज मे क्रान्ति होकर नया वर्ग शासनारूढ हो जाता है या समाज क्षिपमान हो जाता है। इस प्रकार एक समाज-पद्धति के बाद दूसरी समाज-पद्धति आती रहती है। प्रत्येक राजनैतिक उथल-पुथल वार्गिक सम्बन्ध मे किसी न किसी नये सतुलन की सूचना करती है--यह नया सतुलन चाहे पूर्वतन सतुलन से बहुत थोडा ही भिन्न क्यो न हो। वर्गो के रहते हुए वर्ग-सघर्ष का विलोप नही हो सकता है। जब वर्ग समाप्त हो जायँ तभी वर्ग-सघर्ष खतम हो सकता है। जो लोग वर्गो के रहते हुए वर्ग-सघर्ष के विलोप या वर्ग-समन्वय का नारा देते है, वे केवल मृगमरीचिका का अनुसरण करते है। जिस समय ऐसा मालूम भी होता है कि वर्ग-समाज मे वर्ग-सघर्ष खतम हो गया, उस समय असल मे वह खतम नही होता, बल्कि जैसा कि कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो मे कहा गया है, उस समय वर्ग-सघर्ष छिपे रूप मे चलता रहता है। इसी लिए सर्वोदय अर्थात् एक साथ सब वर्गो के उदय का नारा वर्ग-

समाज मे विलकुल गलत है, सर्वोदय तभी हो सकता है, जब वार्गिक प्रभेद ही विलुप्त हो जाय। वर्ग समाज के रहते हुए वल्कि उसको कायम रखते हुए, सर्वोदय नही हो सकता। वैज्ञानिक समाजवाद का भी ध्येय सर्वोदय है, किन्तु गाधी जी की तरह वह वर्ग समाज के रहते हुए सर्वोदय का स्वप्न नही देखता। समाज के कुछ नियम है, उन्ही नियमो को जानकर वरतने पर ही हम एक ध्येय को प्राप्त कर सकते है, केवल द्रष्टगत रूप से किसी अवस्था की कामना करने से ही वह अवस्था नही आ जाती है। समाज के गतिशास्त्र को तथा वर्ग-सघर्ष की अनिवार्यता और उसकी गति के रुख को जानकर ही हम ऐसे समाज मे पहुँच सकते है जिसमे सर्वोदय सम्भव हो। सामाजिक गति के नियम को न जानकर तथा उस नियम के द्वारा वतलाये हुए सोपानो को छलाँग मारकर, लाँघकर एकदम सर्वोदयमूलक समाज का नारा देने के कारण गाधी जी का सर्वोदयमूलक नारा अव्यावहारिक तथा गुमराहकुन हो जाता है। फिर यहाँ पर गलतफहमी न हो इसलिए यह साफ कर दिया जाय कि गाधी जी के द्वारा परिकल्पित सर्वोदय मूलक वर्गहीन समाज वही है, जिसमे वर्ग है, किन्तु उनके सघर्ष दूर हो गये है, तथा जिसमे शोषकवर्ग शोषितो का ट्रस्टी हो गया है। इस कारण गाधी जी वाली परिकल्पना विलकुल ऊल-जलूलता की श्रेणी मे पहुँच गई है। केवल यही नही कि यह नारा अव्यावहारिक, ऊलजलूल और गुमराहकुन है वल्कि शोषितो को यह आशा दिलाने के कारण कि पूँजीपतियो के रहते हुए तुम्हारा उदय हो सकता है, यह नारा—चाहे इसके प्रवर्तक व्यक्तिगत रूप से वहुत ही वडे सन्त या महात्मा क्यो न हो—प्रवचनामूलक हो जाता है।

३३—सामन्तवाद से पूँजीवाद—जव तक परिस्थिति विलकुल परिपक्व नही हो जाती, पुराने समाज के अन्दर ही नई आर्थिक पद्धति पुष्ट होती रहती है। उदाहरण के तौर पर महान् फ्रेंच-राज्यक्रान्ति (१७८९) के पहले के यूरोप की हालत को लिया जाय। उस समय सामन्तवादी राज्य-पद्धति के अन्दर ही पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली का विकास होता रहा, किन्तु सामन्तवाद के कारण अर्थात् विभिन्न भूभागो मे विभिन्न कानून तथा कर-पद्धति होने के कारण पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति को पग-पग पर वाधाग्रस्त होना पड रहा था। उस समय

भी शोषक और शोषितवर्ग थे यानी सामन्तवादी प्रभु तथा अर्द्धगुलाम थे, किन्तु इसके साथ ही जब पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति की जड जमी और वह उन्नति करने लगी, उस समय एक नया शोषक और शोषितवर्ग पैदा हो गया। यह नया शोषक पूँजीवादी था तथा नया शोषित मजदूर था। अर्द्धगुलाम और सामन्तवादी प्रभुओ के पारस्परिक सघर्ष तथा सामन्तवादी राज्य-व्यवस्था के साथ पूँजीवादी आर्थिक पद्धति के सघर्ष के कारण फ्रेच राज्यक्रान्ति तथा उसके बाद की अन्य क्रान्तियाँ हुई। इन क्रान्तियो के फलस्वरूप पूँजीवादी वर्ग अधिकारारूढ होता गया, और फिर एक बार इस नई पद्धति के अन्दर असगति पैदा होती गई।

३४—क्रान्तिकारीवर्ग कौन?—इस प्रकार जो नया वर्ग अधिकारारूढ होता है, 'वह नवीन सामाजिक तथा आर्थिक पद्धति का सगठनकर्त्ता तथा धारक होकर सामने आता है। कोई भी ऐसा वर्ग जो उन्नततर नई उत्पादन-पद्धति को लेकर नही आता, वह समाज मे क्रान्ति का वाहन नही हो सकता और न वह समाज को परिवर्तित कर सकता है। इसके विपरीत वह वर्ग-शक्ति जिसके अन्दर बढती हुई तथा क्रमोन्नतिशील उत्पादन की अवस्थाएँ है, ऐसी मूलगत शक्ति है जिससे सामाजिक परिवर्तन होता है।'[१] इसी से स्पष्ट हो जाता है कि जब तक पुरानी समाज पद्धति के दायरे मे उन्नति करना सम्भव है, यानी जब तक उसमे उत्पादन-शक्तियो के कुछ भी आगे बढने की थोडी भी गुजाइश रहती है, तब तक क्रान्ति की या पद्धति-परिवर्तन की आवश्यकता नही होती, जब बिलकुल ही उन्नति सम्भव न हो तभी समझना चाहिए कि क्रान्ति के लिए यानी एक तरह के समाज से दूसरी तरह के समाज मे जाने की अनिवार्य जरूरत है। उस समय तक विकास का क्रम जारी रहेगा, और क्रान्ति नही होगी।[२]

जो नया क्रान्तिकारीवर्ग शक्तिआरूढ हो जाता है, उसके हाथो मे समाज की सारी उत्पादन-शक्ति का एकाधिकार पहुँच जाता है। शुरू-शुरू मे यह एकाधिकार उत्पादन-शक्तियो के विकास के हक मे अच्छा रहता है, और

१ H. M. p. 247
२ Ibid p. 244

उत्पादन की शक्तियाँ उसके अधीन विकसित होती जाती है, किन्तु एक हद के बाद यह नई पद्धति भी उत्पादन-शक्तियो के पैरो मे वेडियो के रूप मे हो जाती है। जब ऐसा हो तब समझना चाहिए कि उस वर्ग का क्रान्तिकारी हिस्सा अदा हो चुका और उसकी लगाई हुई बेडियो को तोडकर फेक देने मे ही समाज का कल्याण है।

३५—दिये गये नगरो का स्वरूप देनेवाले वर्ग पर निर्भर—वर्ग-सघर्ष का रूप सभी क्षेत्रो मे एक ही-सा होता हो, ऐसी बात नही। जिस समय उदीयमान पूँजीवादी वर्ग सामन्तवादी वर्ग के शिकजे मे अपना गला छुडा रहा था, उस समय यद्यपि उसने समानता, मैत्री तथा स्वाधीनता का नारा दिया था—ऐसा नारा सभी वर्ग देते रहे है कि उसकी लडाई सारे समाज की लडाई है—किन्तु उसके अपने छुटकारे मे सारे समाज का छुटकारा नही हुआ। सब बात तो यह है कि जिस समय सामन्तवादी वर्ग के ऊपर पूँजीवादी वर्ग का उदय हुआ, उस समय उसने सर्वहारावर्ग को दबाने के लिए अर्थात् काबू मे रखकर अपना शोपण कायम रखने के लिए अपने कल के दुश्मन सामन्तवादी वर्ग से दोस्ती कर ली। इस प्रकार सारे समाज की स्वाधीनता के नारे की पोल खुल गई। लगे हाथो हम यह भी देखे कि नारे किस उद्देश्य से दिये जाते है, और असल मे उनकी अन्तर्गत वस्तु क्या होती है। नारा चाहे जितना भी क्रान्तिकारी हो, जो गुट, गिरोह या वर्ग उस नारे को बुलन्द कर शक्तिआरूढ होता है, वही बाद को नारे का प्रामाणिक व्याख्याकर्त्ता के रूप मे आता है। उसी की व्याख्या सही व्याख्या समझी जाती है, दूसरी तरह की व्याख्या देनेवाले लोग मूर्ख, बेईमान, पागल समझे जाते है, और यदि उनमे से किसी की बहुत ही भारी इज्जत की गई तो उसे महात्मा कहकर सिहासन पर बैठा दिया जाता है, किन्तु यह कहकर उसकी बात टाल दी जाती है कि इनकी बातो को तो पहुँचे हुए लोग ही जीवन मे कार्यकरी रूप दे सकते है।

इतिहास मे ऐसा बार बार हुआ है कि उदीयमान वर्ग ने कुछ नारे देकर विजय प्राप्त की, किन्तु बाद को उन नारो को भुला दिया। १७वी सदी के इँगलैंड की राज्य-क्रान्ति से लेकर १७८९ की महान् फ्रेंच राज्य-क्रान्ति तथा १८४८ के लगभग की यूरोपीय क्रान्तियो मे यही बात बारबार हुई, यानी

पूँजीवादीवर्ग की विजय के बाद उसके साथ जिस मजदूरवर्ग ने उसके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर सामन्तवाद के विरुद्ध लोहा लिया था, उसको धता वता दिया गया, उलटे सामन्तवादीवर्ग के साथ पूँजीवादीवर्ग की मित्रता हो गई। अब यह प्रश्न उठता है कि सर्वहारावर्ग भी तो सबकी स्वतत्रता का नारा देकर पूँजीवाद के विरुद्ध लड़ता है, वह भी कहता है कि सारे समाज को स्वतत्र कर ही वह स्वतन्त्र होगा, इस नारे मे कहाँ तक सत्यता है? इस नारे मे सत्यता इसलिए है कि वाकई इस वादे को पूरा किये बगैर सर्वहारा स्वतन्त्र नही हो सकता।[१] मजदूरवर्ग का युद्ध वर्गयुद्ध होते हुए भी उसका चरित्र दूसरे वर्गयुद्धो से बिलकुल भिन्न है। यदि दूसरे वर्गो की तरह सर्वहारावर्ग अपने साथ लेने के लिए सारे समाज की स्वतन्त्रता का नारा भरना चाहे, तो वह ऐस नही कर सकता। उसको तो यह नारा सच्चाई के साथ ही देना पडेगा, नही तो स्वय स्वतन्त्रता प्राप्त नही होगी।

३६—सर्वहारा सग्राम की विशेषता—फासिस्टवाद, पार्लियामेंट्री शासन का स्वरूप—मजदूरवर्ग की विजय के साथ ही वर्गयुद्ध के खात्मे का सूत्रपात हो जाता है। सर्वहारावर्ग के द्वारा चलाये हुए वर्गयुद्ध की एक और विशेषता यह है कि उसके पहले जितने भी वर्गयुद्ध हुए है, उन सब मे वर्तमान शासक तथा भविष्य शासक दोनो समाज की अल्पसख्या मात्र थे। सर्वहारावर्ग का ही युद्ध प्रथम युद्ध है जो एक अल्पसख्यावाले वर्ग को हराकर दूसरी अल्पसख्यावाले वर्ग को स्थापित नही करता, वल्कि वह मुट्ठी भर लोगो के शासन को हटा कर बहुसख्या के शासन को स्थापित करना है। सर्वहारावर्ग के शासन मे एक और विशेषता यह है कि वह दूसरे वर्गो की तरह यह दावा नही करता कि उसका शासन सवका शासन है। वह खुलकर अपने शासन को सर्वहारावर्ग का अधिनायकत्व बतलाता है। उसके पहले के सभी शासन इसी प्रकार एक न एक वर्ग का छिपा या खुला अधिनायकत्व था, किन्तु बराबर शासकवर्ग यह कोशिश करता था कि शासन या राष्ट्र उसका नही है, वल्कि राष्ट्र एक निष्पक्ष सस्था है। यह केवल कहने की वात भर है। जब तक पूँजीवादीवर्ग इस ढकोसले को कायम

१ R C. R. p. 126

रखते हुए भी, और उसके लिए कुछ मामूली दाम देते हुए भी अपना वर्ग स्वार्थ-सिद्ध करता जाता है, तथा कर पाता है, तब तक वह इस ढकोसले को कायम रखता है, किन्तु जब भी उसका कोई मौलिक हित खतरे मे पड जाता है, तब वह पार्लियामेन्ट सार्वजनिक वोट आदि के ढकोसले को हटाकर उस रुद्रवर्ग रूप मे प्रकट होता है, जिसे फासिवाद या नात्सीवाद का नाम दिया गया है। यद्यपि मार्क्स ने फासिवाद या नात्सीवाद के नाम का उपयोग नही किया है, तो भी वे उसकी अन्तर्गत वस्तु से परिचित थे, और वे यह लिख गये है कि किन परिस्थितियो मे पूँजीवाद पार्लियामेन्ट के ढकोसले को त्याग कर इस प्रकार अपने असली रूप मे प्रकट होता है। लिवक्नेख्त ने इसीलिए प्रजातत्र को वह गूलर का पत्ता बताया है जिसके द्वारा पूँजीवाद ने अपनी नग्नता को छिपा रखा है, किन्तु किसी भी मौलिक हित के खतरे मे पडने ही किस प्रकार पूँजीवाद फासिवाद का रूप धारण करता है, इसे हम जर्मनी, इटली के आधुनिकतम इतिहास मे प्रत्यक्ष कर चुके है।

३७—सर्वहारावर्ग के अधिनायत्व पर लेनिन और मार्क्स—जो कुछ भी हो सर्वहारावर्ग अपने अधिनायकत्व को अधिनायकत्व ही बतलाता है। यह एक बीच का सोपान है, और इसके बगैर हम वर्गहीन समाज मे नही पहुँच सकते। इस बात को समझना इतना आवश्यक है कि लेनिन ने यह स्पष्ट लिख दिया है कि जो व्यक्ति वर्गसमाज और वर्गहीन समाज के बीच के सोपान के रूप को, सर्वहारा के अधिनायकत्व को नही मानते, वे समाजवादी कहलाने के हकदार ही नही है। उनके शब्दो मे 'एक मार्क्सवादी (वैज्ञानिक समाजवादी) और मामूली बुर्जुआ के बीच मे यही तो फर्क है।'[१] इस सोपान की स्वीकृति इतने महत्व की है कि लेनिन ने बार बार इसको अनिवार्य बतलाया है। अन्यत्र भी उन्होने इस चीज को साफ किया है कि क्यो सर्वहारावर्ग को इस अधिनायकत्व की आवश्यकता है। बात यह है कि पुश्तो से शोपकवर्ग को शिक्षा, अनुशासन, समृद्धि की आदतो का फायदा मिलता रहा है, देश-देशान्तर मे उनका प्रभाव है, ज्ञान-विज्ञान मे वह आगे बढे हुए है, उनका सामरिक ज्ञान अधिक है, वे पत्रो के विशेषज्ञ है। शोपितो मे से एक बडा हिस्सा कुछ नही तो भावुकता मे

१ S R R p 38-9

आकर अब भी इनको बडा मानने के लिए तैयार है। ऐसी हालत मे जब तक इस वर्ग को—जरूरी नही है कि इसके प्रत्येक व्यक्ति को—दबा नही दिया जाता, जब तक उनके सिर उठाने की कोई गु जाइश रहती है, और तब तक उनको दबाकर खतम करने के लिए सर्वहारावर्ग के अधिनायकत्व की आवश्यकता है।[१] इसके अतिरिक्त बाहर के पूँजीवादी राष्ट्रो से लोहा लेने के लिए सर्वहारा-वर्ग के राष्ट्र की आवश्यकता है। यदि एक देश मे बहुत कुछ एकवर्गता हो भी गई हो, तो भी जब तक दुनिया के अधिकाश भाग मे पूँजीवादी-साम्राज्यवादी—फासिवादी शासन कायम है, तब तक सर्वहारा राष्ट्र को राष्ट्र-रूप मे कायम रहना पडेगा, नही तो किसी भी समय बाहर के पूँजीवादी राष्ट्र उस पर हमला कर उसे खतम कर सकते है।

कही ऐसी कुचेष्टा न की जाय कि लेनिन ने सर्वहारा के अधिनायकत्व-वाले सिद्धान्त को मार्क्स से अधिक महत्व दे दिया। मार्क्स इस सम्बन्ध मे इतना जोर नही देते थे, इसलिए यह बता दिया जाय कि मार्क्स ने ५ मार्च १८५२ मे एक पत्र मे लिखा था—'आधुनिक समाज मे वर्ग है, तथा उनमें सघर्प होता रहता है, इनमे से किसी बात के आविष्कार के लिए मुझे यश नही दिया जाना चाहिए। मेरे बहुत पहले ही पूँजीवादी इतिहास-लेखको ने वर्ग-सघर्ष के ऐतिहासिक विकास का वर्णन कर दिया था, और पूँजीवादी अर्थ-शास्त्रियो ने आर्थिक रूप से वर्गो की स्वतन्त्रता को नष्ट कर दिया था। मैंने इस सम्बन्ध मे जो कुछ किया था वह केवल इतना ही था कि (१) मैंने यह प्रमाणित कर दिया कि उत्पादन के विकास की खास ऐतिहासिक अवस्थाओ के साथ वर्गो का अस्तित्व बँधा हुआ है, (२) वर्ग-सघर्ष अनिवार्य रूप से सर्वहारा के अधिनायकत्व मे खतम होता है, (३) पर अधिनायकत्व सर्ववर्गो का उच्छेद होकर वर्गहीन समाज मे जाने के लिए एक बीच का सोपान-मात्र है।' इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैज्ञानिक समाजवाद मे सर्वहारा के अधिनायकत्व की स्वीकृति किस प्रकार अनिवार्य है।

सर्वहारावर्ग के अधिनायकत्व की अनिवार्यता तथा ऐतिहासिक आवश्य-कता की स्वीकृति के बगैर वर्गहीन समाज की कल्पना अराजकवादियो की विशे-

---

१ P. R K R.

षता है। हमारे विश्लेषण से यह स्पष्ट हो गया है कि किस प्रकार ऐसी कल्पना अर्थहीन है। हम गाधी जी के सर्वोदय की भी समालोचना कर चुके है। यहाँ पर इतना और बता दिया जाय कि गाधीवादी तथा अराजकवादी दोनो सर्वहारावर्ग के अधिनायकत्व को स्वीकार नही करने, किन्तु फिर भी दोनों का बहुत भारी प्रभेद है। अराजकवादी वर्ग-सघर्ष म विश्वास करते है, गाधीवादी इसको भी उडाकर वहाँ वर्ग-समन्वय की रगीन कल्पना करते है। इस दृष्टि से देखने पर इस विषय के गाधीवादी मतवाद की अन्तर्गत वस्तु अराजकवादियो के मतवाद से कही अधिक पिछडी हुई तथा प्रतिक्रियावादी है। भारत के तथा विदेश के पूँजीवादी दार्शनिकगण सर्वोदय तथा उसके आनुमगिक सत्य और अहिसा-सम्बन्धी विचार-धारा पर बाग बाग क्यो हो रहे है, यह समझना कुछ कठिन नही है।

३८––द्विवर्गशासन––रूस, इँगलैंड, फ्रास का उदाहरण––हमने जो कुछ बतलाया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्गो के उदय के बाद से एक समय मे एक ही वर्ग का शासन रहता है, उसी वर्ग का राष्ट्र पर तथा उत्पादन के साधनो पर एकाधिकार होता है, जेल, अदालत, पुलिस सब उसी की होती है, वही वर्ग कानून बनाता है, क्या सदाचार है, और क्या नही है इसका फैसला अन्तिम रूप से वही करता है, तथा कला और साहित्य उसी के इशारे पर चलते है। जो वर्ग उदीयमान है, किन्तु अभी उदित नही है, वह इसके विरुद्ध विद्रोह करता है, सगठित होता है, चुपके चुपके, अधखुले रूप से या जहाँ तक सम्भव है खुले रूप से अपने साहित्य और कला की नीव डालता है, किन्तु जब तक वर्तमान शासगवर्ग का प्रगतिशील हिस्सा अदा नही हो जाता और वह समाज के ऊपर एक जाल-मात्र नही हो जाता, यानी जब तक दृश्यगत परिस्थितियाँ परिपक्व नही हो जाती, स्वय शासक वर्ग के अन्दर द्विधाभाग उत्पन्न नही होता, तब तक उदीयमान वर्ग की चेष्टाये सफलता-मडित नही हो पाती। जैसा कि हम देख चुके है वैज्ञानिक समाजवाद इस अनवरत होनेवाले युद्ध को छिपाता नही है, बल्कि उसको समझने की कोशिश करता है और उसी की ढाल को देखकर दाँव पेच करता है यानी प्रगति को द्रुततर करने की चेष्टा करता है। एक समय या तो एक वर्ग ही शासक होगा, या कोई

वर्ग ही नही होगा, इसी नतीजे पर हम अब तक के विवेचन से पहुँच चुके है, किन्तु इसमे नाम-मात्र के लिए अपवाद भी है, उस अपवाद का हम स्पष्टीकरण करेगे।

ट्राटस्की ने अपनी 'रूसी राज्य-क्रान्ति' नामक पुस्तक मे द्विवर्ग शासन नाम से एक सिद्धान्त का प्रतिदादन किया है। मूल रूसी मे इसके लिए द्वैव्लास्तिय या द्विशक्ति है। इस सिद्धान्त का प्रतिपाद्य यह है कि सिद्धान्त रूप से तो एक समय मे एक ही वर्ग का शासन रहता है, किन्तु सक्रान्तिकाल मे ऐसा हो सकता है कि युद्धमान दोनो वर्गो का शासन अलग-अलग कायम रहे। उनके अनुसार इस प्रकार का द्विशक्तिशासन या द्विवर्गशासन केवल बिलकुल असमाधेय वर्ग-सघर्षो के परिणामस्वरूप उदित हो सकता है, और इसलिए केवल क्रान्तिकारी युग मे (और यहाँ क्रान्तिकारी से ट्राटस्की का मतलब विस्फोटन, आमूल परिवर्तन तथा छलाग के युग से है) ही द्विशक्ति शासन दिखाई पड़ सकता है। बात यह है कि जैसा हम बता चुके है। क्रान्ति का अर्थ एक वर्ग के हाथो से दूसरे वर्ग के हाथो मे शक्ति का चला जाना है। किन्तु इस प्रकार शक्ति का हस्तान्तरीकरण एक मुहूर्त मे नही होता, इसलिए कुछ ऐसे मुहूर्त, दिन, सप्ताह या महीने हो सकते है, जब दोनो शक्तियाँ खुलकर एक दूसरे के सामने अस्त्र धारण कर आ तो गई हो, किन्तु न तो अभी कहा जा सकता है कि यह खतम हुई, और न यही कहा जा सकता है कि वही खतम हुई। ट्राटस्की के अनुसार द्विवर्ग-शासन मे यह आवश्यक नही है कि दोनो भाग बराबर हो, या उनमे दिखावे के तौर पर भार-साम्य भी हो। यह कोई शासन-विधान-सम्बन्धी तथ्य नही, बल्कि एक क्रान्तिकारी तथ्य है। इसका अर्थ केवल इतना है कि पहलेवाला सामाजिक भार-साम्य नष्ट तो हो गया है, किन्तु राष्ट्र के रूप मे नये भार-साम्य का उदय नही हुआ, इसलिए राष्ट्र का ढाँचा द्विधाविभक्त हो गया। कहना न होगा कि यह स्थिति केवल परिवर्तनकालीन है, स्थायी नही हो सकती। अकसर ऐसी स्थिति दो ही एक दिन रहती है, किन्तु १९१७ की फरवरीवाली रूसी क्रान्ति के बाद द्विवर्गशासन दीर्घकाल तक स्थायी रहा। एक तरफ मजदूरो और किसानो के शक्ति के मूर्तरूप सोवियट रहे, और दूसरी तरफ कथित डूमा कमेटी द्वारा बनाई हुई अस्थायी सरकार सम्पत्तिशाली वर्ग की डावाँडोल-शक्ति के

प्रतीक के रूप मे रही। ट्राटस्की ने रूसी क्रान्ति के अतिरिक्त द्विवर्ग शासन के उदाहरण के रूप मे १७वी सदी की ब्रिटिश क्रान्ति का भी हवाला दिया है। वहाँ पहले राजशक्ति रियायत प्राप्त वर्गो या इन वर्गो के उच्चतर वृत्तो अर्थात् सामन्तवादी अभिजातो और विषयो पर अवलम्बित है, ओर इसका विरोध पूँजीवादीवर्ग और गाँव के वे स्कायरस् (squires) कर रहे है। पूँजीवादी-वर्ग की सरकारी प्रेस्विटेरीम पार्लियामेट है, और लन्दन शहर इसका समर्थन कर रहा है। अन्त तक इन शक्तियो का सघर्प खुले रूप मे होता है और गृहयुद्ध छिड जाता है। लन्दन पूँजीवादीवर्ग का केन्द्र और आक्सफोर्ड सामन्त व्यभिजातो ओर विषयो के केन्द्र के रूप मे है। इस प्रकार दो जगह दो सरकारों का प्रधान दफ्तर है। अन्त मे इनके झगडे का निवटारा लडाई से होता है, और पूँजीवादीवर्ग की विजय होती है और तब से इँगलैड पूँजीवादी स्वर्णयुग का मगल प्रभात होता है, यह सुपरिचित है, किन्तु इसके बाद इँगलैड मे पार्लियामेट मे अखण्ड रूप से रहा हो, ऐसी वात नही। इस बीच मे पार्लियामेटी सेना एक स्वतन्त्र राजनैतिक शक्ति मे परिणत हो जाती है, ओर वह केवल एक सेना के रूप मे नही, बल्कि समृद्धिशाली और धनी पूँजीवादीवर्ग के विरुद्ध एक नये राजनैतिक प्रतिनिधि के रूप मे मैदान मे आती है। इस प्रकार सेना एक ऐसे राष्ट्र की सृष्टि करती है जो सामरिक कमाण्ड से ऊपर उठ जाता है, यह सैनिकों तथा सैनिक-कर्मचारियो के प्रतिनिधियो की सभा है। इस प्रकार फिर एक वर्ग-द्विवर्ग-शासन चलता है। एक तरफ प्रेस्विटेरीम पार्लियामेट का शासन है, और दूसरी तरफ स्वतन्त्र लोगो की सेना है। फिर झगडा होता है इसका परिणाम यह होता है कि प्रेस्विटेरीम पार्लियामेट के शासन की जगह पर क्रामवेल का अधिनायकत्व स्थापित होता है, और एक नाममात्र का शासन रहता है। इसके वाद फिर क्रान्ति का सबसे उग्र हिस्सा (levellers) के नेतृत्व मे इस उच्चतर सामरिक सतह के विरुद्ध विद्रोह होता है, किन्तु यह नया द्विशक्ति शासन उद्भूत नहीं हो पाता। क्रामवेल जल्दी ही उसको निवटा देता है। अब एक शासन स्थापित होता है, किन्तु फिर भी कई सालो तक गडवडी रहती है।

ट्राटस्की ने इसी प्रकार प्रथम फ्रेंच राज्यक्रान्ति मे इस सिद्धान्त को प्रमाणित

करना चाहा है। वहाँ भी राष्ट्रीय असेम्बली मे पूजीवादीवर्ग का ज़ोर रहा, और प्राचीन राजतन्त्र, पुरोहित, नौकरशाही, सेना तथा विदेशी आक्रमण पर भरोसा किये रहा, यद्यपि वास्टाइल को जनता ने ही तोड डाला था। इस प्रकार वहाँ भी द्विशासन रहा। इसका निवटारा लडाई से ही हो सकता था। इस बीच मे पेरिस के मुहल्लो मे सवसे गरीब लोगो तथा मजदूरो ने कम्यून स्थापित किये। इस प्रकार खुल्लमखुल्ला द्विशक्तिशासन उद्भूत हुआ। इस द्विशासन का सूत्रपात १७९० मे ही हो चुका था। ट्राटस्की ने फ्रेच राज्यक्रान्ति का बहुत सुन्दर विश्लेषण कर द्विशासन दिखलाया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या यह सिद्धान्त किसी भी प्रकार राष्ट्र-सम्बन्धी सिद्धान्त के विरुद्ध पडता है? नही, यह केवल राष्ट्र-सम्वन्धी वार्गिक सिद्धान्त का स्पष्टीकरण मात्र है, और इससे राष्ट्र का वार्गिक सिद्धान्त और भी अच्छी तरह समझ मे आ जाता है।

इतिहास के सम्बन्ध में विभिन्न भ्रान्त सिद्धान्त

१--इतिहास का धार्मिक सिद्धान्त--लीलावाद, अवतारवाद--मार्क्स के पहले इतिहास लेखन मे कोई भी पद्धति नही थी। कोई तो इतिहास को ईश्वर की लीलामात्र समझता था, और उसमे जो उत्थान-पतन और तरह-तरह की विचित्र घटनाएँ दीख पडती थी, उनकी वे हरिइच्छा कहकर व्याख्या करते थे। धर्मवादियो मे से एक मतवाद मे इतिहास की यो व्याख्या की जाती है कि जव लोगो के पुण्य क्षीण हो जाते है, तो वे मनुष्य-लोक मे आते है। बार-बार देव-देवीगण किसी न किसी कारण से स्वर्गच्युत होकर भूतल मे आये है। ऐसे लोगो की इतिहास मे यानी मनुष्य के इतिहास मे कोई विशेष दिलचस्पी नही मालूम हो सकती थी। धार्मिक लोगो का यह भी कहना है कि ८४ लाख योनियो मे भ्रमण करते-करते जीव मनुष्य देह धारण करता है। अवश्य ऐसे लोग मनुष्य योनि को ८४ लाख योनियो मे से एक योनिमात्र समझने पर भी उसे उच्चतम योनि समझते है। कुछ लोग यह भी समझते है कि जब इस पृथ्वी पर पाप का वोझा वहुत भारी हो जाता है, उस समय साधुओ के परिणाम तथा दुष्कृतो के विनाश के लिए स्वय भगवान् मनुष्य रूप मे अवतरित हो भूभार को लघु कर देते है। यदि देखा जाय तो इस प्रकार के अवतारो के जरिए से इतिहास को समझने की चेष्टा करना प्रकारान्तर से महापुरुष या वीर सिद्धान्त को ही मानना हुआ। साथ ही अवतारवाद के सिद्धान्त से यह भी ध्वनि निकलती है कि स्वाभाविक रूप से मनुष्य की प्रवृत्ति पाप की ओर है, और ज्यो ही भगवान् उसमे कुछ दिन प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप नही करते, त्यो ही उसमे पाप का पल्ला भारी हो जाता है, और तव उसे हलका करने के लिए अवतार की जरूरत होती है। यद्यपि अवतारवाद विशेषकर हिन्दू जैनी तथा वौद्धो की विशेषता है, फिर भी किसी न किसी रूप मे यह सिद्धान्त अरब के उद्भूत धर्मो मे मौजूद है। वहाँ भी एक के बाद एक पैगम्बर (स्मरण रहे पैगम्बर का शाब्दिक अर्थ सन्देश-वाहक है) आते है, और समाज के विगडे हुए सतुलन को सँभालते है। अवश्य

पैगम्बर और अवतार मे एक भारी फर्क यह है कि अवतार स्वय भगवान् है, जब कि पैगम्बर केवल भगवान् का सन्देशवाहक है।

अवतारवाद-सम्बन्धी सिद्धान्त अवतारो के लिए चाहे कितना भी सम्मान-जनक हो, मनुष्य के लिए यह सिद्धान्त सिवाय इसके कोई चारा नही छोडता कि वह भगवान् से प्रार्थना करता रहे कि हे नाथ अब आकर हमे इस प्रपच से उबारो। इस प्रकार इतिहास मे मनुष्य का स्थान बहुत गौण हो गया। या तो इतिहास लिखा ही नही गया, और जब लिखा भी गया तो वह पुराण के रूप मे भगवान् की विचित्र लीला का बखान करने के लिए लिखा गया। जब ईसाई धर्म के प्रचार के बाद यूरोप मे इतिहास लेखन भिक्षुओ के हाथ चला गया था, उस समय इतिहास लेखन शैली धर्म की बॉदी हो गई। अब इतिहास से सत्य और सम्भावना का कोई वास्ता न रहा। इतिहास अब मुअज्जिजो का भाण्डार हो गया। इस प्रकार धर्म की बलिवेदी पर सम्पूर्ण रूप से इतिहास को चढा दिया गया। ऐसी धॉधली करीब एक हजार वर्ष तक चली। पन्द्रहवी सदी मे ह्यूमनिज्म की लहर ने इतिहास के क्षेत्र मे धर्म-याजको की इस मनमानी को खतम कर दिया और लियोनार्डो ब्रूनो (१३६९-१४४४), मैकियावेली (१४६९-१५२७) आदि लेखक इतिहास को पादरियो के स्वर्ग से उतार कर मर्त्यलोक पर ले आये, किन्तु यह मर्त्य बडे लोगो का मर्त्य था।

२—इतिहास ऊलजलूल गतियो का सग्रह—लीलावाद से ही बिलकुल मिलता हुआ वह सिद्धान्त है जिसमे इतिहास को ऊलजलूल गतियो का सग्रह-मात्र बतलाया जाता है, ये लोग इतिहास को समझने मे अपने को इतना असमर्थ पाते है कि वे उसे आदि से अन्त तक ऊलजलूल तथा नियमहीन समझकर सन्तोष कर लेते है। ये लोग इतिहास की अन्तर्निहित शक्ति को समझने की चेष्टा नही करेगे, यह तो साफ है, ऐसे लोग उपलब्ध साधन तथा सम्बन्धो को समझने की कोशिश न कर केवल घटनावलियो को देखते है, और इन घटनावलियो मे कोई योग सूत्र निकालने मे असमर्थ होकर ऊलजलूल का नारा देते है। यह ऊलजलूल बात = लीलावाद—ईश्वर है। सच कहा जाय तो यह कोई सिद्धान्त ही नही है।

३—इतिहास का आकस्मिक सिद्धान्त—इसी से मिलता-जुलता एक दूसरा दृष्टिकोण यह है कि सारा इतिहास केवल आकस्मिक घटनाओ का समूह-मात्र है। ऐसे लोग अकर्मण्य तरीके से केवल इस बात की उडान भरते रहते है कि एक अमुक घटना घटित हुई, इसलिए ऐसा हुआ, तथा एक अमुक घटना घटित न होती तो ऐसा न होता। यह दृष्टिकोण केवल उड़ानो तक ही सीमित नही है, कुछ लोगो ने ऐतिहासिक घटनाओ को लेकर इस बात को प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि मानो आकस्मिक घटनाये ही इतिहास की परिचालिका शक्ति है। आकस्मिक घटनाओ को इतिहास की परिचालिका शक्ति माननेवाले कम से कम उन्हे इतिहास की गति को मोड़ने मे समर्थन करनेवाले लोग एक-एक छोटी घटना को कितना महत्त्व देते है यह आगे दिये हुए उदाहरणो से ज्ञात हो जायगा। लोग आमतौर से यह कहते है कि यह जो रुपया उछाला गया, या टिकट निकाला गया, तथा इसके फलस्वरूप भाग्यो का निर्णय हो गया, किसी को लाटरी से हजारो या लाखो रुपये मिल गये इसमे कौन-सा नियम काम कर रहा है। क्या इस प्रकार की घटना सरासर आकस्मिक नही है? यदि गहराई के साथ सोचा जाय तो इसमे भी नियम ज्ञात होगे। यदि एक रुपये को ठीक उसी तरह से उतना ही दबाव देकर उतने ही जोर से उछाला जाय और हवा उतनी ही तेज न हो तो इसमे कोई सन्देह नही कि बराबर वे ही परिणाम होगे। इस बात को अस्वीकार करना एक साधारण दृश्यमान बात को अस्वीकार करना होगा। इसको मान लेने पर फिर आकस्मिकता कहाँ रही? रहा यह कि हम इस प्रकार अपने हाथो के दबाव को नियन्त्रित नही कर सकते या नही कर पाते, यह दूसरी बात है किन्तु इससे नियम मे कोई फर्क नही आता। पाँसा और कौड़ी आदि के गिरने मे भी इसी प्रकार के नियम है। यह भी अक्सर कहा जाता है कि सिर पर आकस्मिक रूप से छत गिर पडी, छत का यह गिरना अप्रत्याशित होने पर भी छत के नियमानुसार ही यह गिरना हुआ, इसमे कोई सन्देह नही। अब रहा यह कि जिस समय छत इस प्रकार अपने ही नियम के कारण गिरने ही वाली है, ठीक उसी समय उसके नीचे या उसके पतन के दायरे मे कौन-कौन व्यक्ति होगे, और इन व्यक्तियों मे से किसको कितनी चोट लगेगी या नही लगेगी, ये सब भी नियमानुसार घटित

होते है। इसमे कही भी कोई आकस्मिकता नही है। यदि कहा जाय कि छत का गिरना, और ठीक उसी समय उसके नीचे उपस्थित होने का सयोग ही आकस्मिकता है, तो यह केवल शाब्दिक बारीकीमात्र होगी क्योकि दोनो घटनाये अपने-अपने नियम से एक ही समय मे घटित हुई है। इसलिए जिसे हम आकस्मिक कहते है, वह केवल ज्ञात शक्तियो की अज्ञात क्रियाशीलता या अभी तक केवल आशिक रूप से ज्ञात शक्तियो की अज्ञात क्रियाशीलतामात्र है। इस प्रकार की आकस्मिकता (यदि वह बुरी है) से बचने और (यदि वह अच्छी है, तो) उसकी पुनरावृत्ति करवाने का उपाय यह है कि हम अधिकतर ज्ञान प्राप्त करे, न कि यह कि सिर पर हाथ धरकर बैठ जायँ कि जो मजूरेखुदा होगा, वही होगा। आकस्मिकता की हमारी परिभाषा हमे और क्रियाशीलता तथा अधिकतर ज्ञानहरण के लिए उद्बुद्ध करती है, न कि कुसरकार ग्रस्त बनाकर हमे पगु बनाकर बैठा देती है। आकस्मिक घटनाओ के सम्बन्ध मे आकडा-शास्त्र कुछ बहुत मजेदार बाते बताता है। उदाहरण स्वरूप कलकत्ता की सडको पर ट्राम और मोटर से जितने मनुष्य सालाना मरते है, उनका एक औसत है, और प्रति साल दुर्घटनाओ की सख्या इसी आकडे के इर्द-गिर्द रहती है। इस प्रकार डकैती तथा हत्या की भी बात है, अपराध वैज्ञानिक से पूछने पर ज्ञात होगा कि किसी एक साल मे जितनी डकैतियाँ और हत्याये होती है, उनकी सख्या कुछ नियमो से निर्णीत होती है। यदि सूखा पडा या किसी भी कारण से अन्न दुष्प्राप्य हुआ तो सम्पत्ति-सम्बन्धी अपराध अधिक होगे। पहले नदियो मे बाढ आना, एक आकस्मिक घटना समझी जाती थी, और सैकडो गाँव जब तब डूब जाते थे, किन्तु मनुष्य के ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ अब यह सम्भव है कि इस प्रकार खतरनाक परिस्थिति मे रहनेवाले गाँववालो को पहले से बाढ की खबर दे दी जाय, जिससे वे अपनी रक्षा कर सके। इस प्रकार ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ हम कम से कम बाढ को पहले से जान जाने मे समर्थ हो गये, अर्थात् उसकी आकस्मिकता बहुत कुछ घट गई। विज्ञान की अधिकतर उन्नति के साथ-साथ न केवल इन कथित आकस्मिक घटनाओ को पहले से जानना सम्भव होगा, बल्कि इन्हे रोका भी जा सकेगा। पहले हैजा चेचक आदि बीमारियाँ अपदेव-देवियो के कोप से उद्भूत अर्थात् दूसरे शब्दो मे आकस्मिक समझी जाती थी,

किन्तु अब विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ यह जान लिया गया है कि किन परिस्थितियो मे ये रोग होते है, इसलिए इनको या तो होने ही नही दिया जाता, या ज्योही प्रथम प्रकोप का लक्षण दिखाई पडता है, त्योही तरह-तरह के इन्जेक्शन, विष निवारक ओषधि तथा अन्य उपचारो से इनको नियन्त्रित कर दिया जाता है। विज्ञान के कारण इनकी आकस्मिकता वहुत कुछ खतम हो गई। कुछ अवान्तर होते हुए भी यहाँ गलतफहमी से वचने के लिए यह वतला दिया जाय कि भारतवर्ष मे जो आज भी हजारो व्यक्ति इन रोगो से मरते है, इसका कारण आकस्मिकता नही है, वल्कि यहाँ की सरकार की इन मृत्युओ के प्रति उदासीनता है। फौजो की छावनियाँ भी तो भारतवर्ष मे है, किन्तु उनमे ये रोग घुस तो जायँ, यदि कभी घुस भी जाते है तो फौरन रोग का गला दवा दिया जाता है।

४––दर्रेदानियाल का सिगनल, सिराजवो, आरियो का मतवालापन, क्लियोपेन्ट्रा की नाक––अव हम ऐसी घटनाओ पर आते है, जिनके सम्वन्ध मे यह कहा जाता है कि एक घटना ने इतिहास का चेहरा वदल दिया। 'ऐसा कहा जाता है कि १९१४-१८ के महायुद्ध के हमले के अवसर पर यदि दर्रेदानियाल पर एक विशेष सिगनल देनेवाला देख लिया जाता तो उसी वक्त व्रिटिश फौजों की विजय हो जाती, न केवल हजारो के जीवन बच जाते, और कुस्तुन्तुनिया पर रूसियो का कब्जा हो जाता, वल्कि १९१७ की रूसी क्रान्ति भी न हो पाती। उस हालत मे जो समाजवादी राष्ट्रो का सघ बना है, उसकी नौवत न आती, और दुनया के इतिहास की सारी गति ही वदल जाती।'[१] इसी प्रकार कहा जाता है कि यदि सिराजवो मे आर्क ड्यूक फर्डिनेण्ड की हत्या न होती तो १९१४-१८ का महायुद्ध न होता। फ्रेंच राज्यक्रान्ति के इतिहास से इसी प्रकार यह वतलाया जाता है कि यदि एक विशेष व्यक्ति शराव पीकर मतवाला न हो जाता, तथा एक विशेष समय पर पानी न वरसता तो रावसपियर मारे न जा सकते, तथा फ्रास के इतिहास की कुछ दूसरी ही शक्ल होती। पासकाल ने इसी किस्म का एक उदाहरण देते हुए लिखा है कि यदि किल्योपेट्रा की नासिका छोटी होती तो ससार का चेहरा वदल जाता।

१ P M. M.

५—रूस की हार का कारण—अब हम इनमे से एक एक घटना को लेकर देखेगे। पहली घटना को ही लेते है। 'हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि जिस समय रूस (स्मरण रहे उस समय जार रूस के शासक थे) १९१४-१८ के युद्ध मे शामिल हुआ था, उस समय वह एक अवैधानिक सामन्तवादी राष्ट्र था। जन, धन, सब तरह से वह कमजोर था, और उसे आधुनिक यंत्र समन्वित सेना से भिडना पड रहा था, ऐसी हालत मे रूस की हार करीब करीब निश्चित थी। रहा यह कि यह हार किस प्रकार होती, यह शायद इस मानी मे आकस्मिक घटना से निर्णीत हुई कि क्या परिस्थितियां थी। उनके सम्बन्ध मे हमे ब्यौरेवार ज्ञान नही है।'[१]

६—१९१४-१८ के युद्ध के पृष्ठभूमि—दूसरा जो सिराजवो वाला उदाहरण दिया गया है, वह भी अकेला किसी बात की व्याख्या नही करता। आर्कड्यूक फर्डिनेन्ड की तरह बहुत से बडे बडे ऐतिहासिक रूप से प्रसिद्ध व्यक्तियो, राजाओ की हत्या हो चुकी है, किन्तु उन सब की हत्याओं पर महायुद्ध नही छिडा। १९३४ के नवम्बर मे फ्रास मे यूगोस्लेविया के राजा अलेक्जेन्डर की हत्या करीब करीब उन्ही परिस्थितियो मे हुई, जिनमे आर्कड्यूक फर्डिनेन्ड की हत्या हुई थी। उनके साथ ही मोशिये वार्थ मारे गये। इस हत्याकाण्ड के पीछे अन्टनपवलिच था, जो हगरी तथा इटली और बाद को नात्सी जर्मनी का एजेन्ट बना। १९४० की नात्सी नव व्यवस्था मे यह व्यक्ति कठपुतली सरकार का प्रधान बनाया गया। संक्षेप मे एलेक्जेन्डर की हत्या राजनेतिक थी यह शक करने का कारण भी था कि इस हत्या के पीछे सरकारो के हाथ है, फिर भी उसके फलस्वरूप कोई युद्ध नही हुआ।[२] इसीलिए यह स्पष्ट है कि १९१४-१८ के युद्ध का कारण आर्कड्यूक फर्डिनेन्ड की हत्या नही है, बल्कि जिन परिस्थितियो मे वह घटना घटित हुई, या इससे अधिक अच्छा यह कहना होगा कि जिन परिस्थितियो मे हत्या भी एक परिस्थिति हो गई, उन परिस्थितियो के कारण युद्ध हुआ। जिन परिस्थितियो मे यह हत्या घटित हुई यदि उन परिस्थितियो मे यह हत्या घटित न होती तो वह युद्ध का कारण कदापि नही

---

१. Ibid
२. P. L. H. p. 129.

हो सकती थी। स्मरण रहे कि ऐसी आकस्मिक घटनाओ का मूल्य शून्य नही है, क्योंकि आखिर कथित आकस्मिक घटना भी तो एक घटना है। उसका अपना कुछ असर होगा ही, किन्तु उस घटना का असर एक घटना से अधिक इस अर्थ मे हो सकता है, और शायद इसी कारण वे ऐतिहासिक समझी जाती है कि उनके आइने के अन्दर उस समय के समाज मे जो असगतियाँ मौजूद है वे एकाएक ऐसी खाई के रूप मे प्रकट हो जाती है, जिसे पाटा नही जा सकता। इस प्रकार एक घटना होते हुए भी वे बारूद खाने मे डाली गई चिनगारी की तरह विस्फोट करने मे समर्थ दिखलाई देती है। यह इसलिए लिखा है कि असल मे बारूद ही असली कारण है, चिनगारी तो केवल एक द्रुतकारी तात्कालिक कारण मात्र है।

१९१४-१८ के युद्ध को गहराई के साथ अध्ययन करने पर यह ज्ञात हो जाता है कि यह महायुद्ध कोई आकस्मिक घटना नही थी। १९वी सदी के अन्त तक ही जर्मन और बृटिश साम्राज्यवाद के बीच का विरोध इतना तीव्र हो चुका था कि किसी भी समय लडाई छिड सकती थी। गत शताब्दी के अन्त मे ही पिछडे हुए जर्मन पूँजीवाद ने बढते बढते न केवल बृटिश पूँजीवाद को पकड लिया था, बल्कि वह भारी उद्योग धधो मे जिनमे लौह व्यवसाय मुख्य है तथा यान्त्रिक सगठन और कलाकौशल मे उसको पार कर गया था। बीसवी सदी तक यह होड बढते बढते इस दरजे तक पहुँच गई थी कि दोनो शक्तियो ने समझ लिया था कि अदूर भविष्य मे युद्ध क्षेत्र मे ही इस बात का निपटारा होगा कि विश्व बाजार पर किस शक्ति का दौर दौरा रहेगा। जर्मनी ने अपनी नौसेना को बढाना शुरू कर दिया था, और खुल्लम खुल्ला उपनिवेशो की माँग करता जाता था। बृटिश पूँजीवादी भी इस तैयारी के बात से बेखबर नही थे, और इस प्रकार लडाई के बादल क्रमश घिरते चले जा रहे थे। इन्ही दो शक्तियो की शत्रुता के इर्द गिर्द अन्य तमाम शक्तियाँ भी, कोई इस तरफ कोई उस तरफ एकत्रित होती जा रही थी। १९०२ मे पहली बार तथा १९११ मे दूसरी बार यह लडाई छिडते छिडते टल गई थी।[१] इससे यह स्पष्ट है कि १९१४-१८ के महायुद्ध की नीव आर्कड्यूक फार्डिनेन्ड

१ W. P P p 31

के जन्म के पहले से पड चुकी थी, इसलिए उनको, उनकी हत्या को या उनके हत्यारे को महायुद्ध कराने के लिए जिम्मेदार समझना केवल असली सामाजिक शक्तियो को न समझकर इधर उधर भटकना है।

७—रामायण, महाभारत, ट्राय के युद्ध का कारण स्त्री हरण नही— हमे युद्ध के असली कारणों को उस समय की सामाजिक आर्थिक अवस्थाओ मे ढूँढना चाहिए न कि घटना विशेष पर उसकी सारी जिम्मेदारी लाद देनी चाहिए। युद्ध के असली कारणो की खोज करने का साहस न कर कुछ बुर्जुआ लेखको ने यह अजीब सिद्धात भिडाया है कि यौन इच्छा के कारण युद्ध होते है। जब यह कहा गया था कि सीता के लिये राम-रावण का युद्ध हुआ या हेलेन के लिए ट्राय का ध्वंश हुआ, या द्रौपदी के कारण महाभारत हुआ तो वह कुछ हद तक देखने मे तो सत्य ही ज्ञात होता था, किन्तु युद्ध के लिए यौन सिद्धान्त तो नितान्त हास्यास्पद ज्ञात होता है। राम को हिन्दुओ ने जो अवतार करके माना है, वह एक साम्राज्य निर्माता के नाते है। यह भक्ति उसी प्रकार की है जिस प्रकार बृटिश जाति के लोग क्लाइव या वारेन हेस्टिग्स मे भक्ति रखते है। यदि एकाध स्त्री के हरण या यज्ञ मे विघ्न का बहाना न होता तो आर्य-गण अनार्यो के देशो पर कब्जा कैसे जमाते जाते। आर्यो ने सारे भारतवर्ष को जो जीना तो वह स्त्री हरण के बहाने मे नही जीता। भिन्न भिन्न समय मे भिन्न भिन्न कारण बतलाये गये; कभी यह बहाना लेकर अनार्यो पर हमला कर दिया गया कि वे ऋषियो पर अत्याचार करते है, या यज्ञ मे विघ्न पहुँचाते है, कभी यह बहाना लिया गया कि आर्य स्त्रियो के साथ अनार्यो ने ज्यादती की, किन्तु असली कारण साम्राज्य की इच्छा बल्कि नई जमीनो की भूख थी। इस सम्बन्ध मे द्रष्टव्य यह है कि यज्ञ मे विघ्नवाला बहाना चीन मे चीनियो द्वारा पादरियो पर होनेवाले कथित अत्याचार के बहाने से कोई अच्छा बहाना नही था, और न स्त्री हरणवाला बहाना उस बहाने से अच्छा था जिसकी आड लेकर अमेरिका के श्वेताग गण वहाँ के हब्शियो को लिच करते है। यदि महाभारत और रामयण के युद्ध हुए हो तो वे सामाजिक आर्थिक हितो मे गम्भीर सघर्षो के कारण हुए, सीताहरण या दुशासन द्वारा द्रोपदी का अपमान अधिक मे अधिक उत्तेजक कारण रहे होगे। इसी प्रकार ट्राय का ध्वंश दो

व्यापारी जातियो का युद्ध था। हेलेन ऐसी सुन्दरी स्त्रियो का हरण उन दिनो रोज की बात थी। हम जब भारतीय पुराण की ओर लौटते है तो इस बात के और भी स्पष्ट उदाहरण पाते है कि केवल स्त्री हरण के कारण भयकर युद्ध नही हुआ करते। स्त्री हरण या इस प्रकार का कोई भी तात्कालिक कारण सामाजिक विस्फोट करने मे तभी समर्थ होता है जब आर्थिक, सामाजिक शक्तियाँ पहले से परिपक्व हो चुकी हो, और उनमे केवल घोडा दबाने भर की जरूरत रह गई हो। नही तो एक घटना मे कभी यह शक्ति नही होती कि वह समाज मे इस प्रकार का आलोडन उत्पन्न कर दे कि वह एक महान युद्ध का रूप धारण करे। महाभारत मे ही हम देखते हैं कि कृष्ण की मृत्यु के बाद उनकी स्त्रियो को आभीरगण हरण कर ले गये, किन्तु इस घटना के कारण कोई भी महाभारत नही हुआ। ऐसा दिखाया गया है कि जिस कृष्ण को अपने जीवन काल मे ही स्वय भगवान् का पद मिल गया था, उनकी स्त्रियो को एक असभ्य जाति के लोग हरण कर ले गये, और किसी के कानो पर जूँ तक नही रेगी। रावण ने सीता को हर कर लका की अशोक वाटिका मे छिपा रखा था, वहाँ से तो उन्हे ढूँढ निकाला गया, किन्तु कृष्ण की स्त्रियो के लिए किसी ने अँगुली भी नही उठाई। इससे क्या सूचित होता है? इससे यही सूचित होता है कि स्वय स्त्री-हरण युद्ध कराने के लिए कारणो मे से एक होने पर भी एकमात्र कारण नही हो सकता।

८--युद्ध के सम्बन्ध मे यौन सिद्धान्त--बुर्जआ वैज्ञानिक लेखको ने दूसरी ही तरह से यौन आवेदन (sexual urge) को युद्ध का कारण माना है। इस मत के अनुसार सब खुराफातो के पीछे स्त्रियाँ ही है। अपराध विज्ञान मे भी एक ऐसा मतवाद है जो प्रत्येक अपराध की पृष्ठ भूमि मे एक स्त्री को ही देखता है, किन्तु उस विज्ञान मे भी यह प्रमाणित हो चुका है कि अपराधो का सामाजिक रूप मे अध्ययन सम्भव है। फिशर और दुबुआ ने यह लिखा है कि 'मामूली समयो मे व्यक्ति का यौन जीवन बहुत स्वादहीन होकर साप्ताहिक या प्रतिरात्रि के नियम मे परिवर्तित हो जाता है, किन्तु इस एकरसता से बचने की इच्छा मनुष्य के मन मे सर्वदा मौजूद रहती है। इसलिए बहुत से मनोवैज्ञानिको का यह मत है कि युद्ध कराने मे जो कारण होते है, उनमे एक प्रधान कारण

यह भी है कि प्रात्यहिक यौन मे कुछ परिवर्तन लाया जाय।' यह भी कहा गया है कि रक्त-पिपासा और कामपिपासा दोनो एक ही वृत्त के दो पहलू है। बतलाया गया है कि युद्ध के कारण कामपिपासा अधिक जागृत हो जाती है। नेपोलियन के सम्बन्ध मे यह कहा गया है कि आगस्वुर्ग के युद्ध के समय उनको इतना कामोद्रेक हुआ कि फौरन एक स्त्री मँगाई गई, और उन्होने उसके साथ सम्भोग किया। इसी प्रकार एक मेजर के सम्बन्ध मे यह कहा गया है कि जिस समय वह दुर्बीन के जरिये युद्ध के दृश्य देख रहा था, उस समय इतना जबर्दस्त तरीके से उसका कामोद्रेक हुआ कि उसने हस्त से अपने को स्खलित कर लिया। यह भी कहा गया है कि युद्धकाल मे स्त्रियो मे विशेष रूप से कामोद्रेक होता है, इसलिए वे युद्ध के दिनो मे जल्दी से जिस किसी को आत्मसमर्पण करती हुई पाई जाती है। जर्मन यौनतत्त्व विशारद इवान ब्लारव ने १९१४–१८ के युद्ध के दौरान मे यह सिद्धान्त पेश किया कि यह युद्ध-जर्मनी के शत्रुओ की सादवादी (Sadist)* प्रवृत्तियो के कारण हुआ है। यह भी कहा गया है कि युद्धकाल मे सब सामाजिक बन्धन ढीले हो जाते है, इसलिए लोग बन्धनो से छुटकारा पाने के लिए युद्ध चाहते है। इटालियन वैज्ञानिक अध्यापक गैलो तो यहाँ तक पहुँच गये है कि उनके अनुसार राजनैतिक और आर्थिक उद्देश्य महज बहाने है, असली उद्देश्य तो यौन होता है। अवश्य इसके विपरीत जर्मन लेखक फैलिण्डायर का कहना है कि युद्ध के कारण यौन सहजात अवदमित होता है। सुधीन्द्रलाल[१] राय नामक एक भारतीय लेखक इस मत पर टीका करते हुए यह कहते है कि कदाचित् सत्य इन दोनो सीमाओ के बीच मे है। सच बात तो यह है कि सत्य इन दोनो मतो से कोसो दूर है। यह दृष्टिकोण ही गलत है।

मनुष्य सामाजिक अवदमनो से (inhibitions) ऊब चुका है, इसलिए वह आदिम अवस्था मे लौट जाने की सुविधा प्राप्त करने के लिए

---

*यह शब्द काउट साद के नाम पर बना है। यह व्यक्ति बहुत ही निष्ठुर था, विशेषकर वह जिन स्त्रियो के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करता था उन्ही के साथ निष्ठुरता करता था। सादवादी शब्द का अर्थ इस प्रकार अत्यन्त निष्ठुर, साथ ही यौन-रूप मे भी निष्ठुर लिया जाता है।

१. W. I. S.

युद्ध चाहता है, इस बात को मानने के बजाय सत्य बल्कि इन एकांगी मत में भी अधिक है कि युद्ध द्रव्य के उत्पादक व्यापारीगण युद्ध करा देते है। यदि हम यह माने कि पेशेवर सैनिक तथा सेनापतिगण युद्ध करा देते है जिनसे उनको तरक्की का मौका मिले, तो यह युद्ध के यौन सिद्धान्त से कही अधिक बुद्धि-सगत है। यह बात सही है कि युद्धकाल मे यौन सदाचार बहुत कुछ शिथिल हो जाता है, किन्तु इसका कारण युद्ध मे की गई निष्ठुरता या नरहत्या नही है। युद्ध के कारण जो दम्पत्ति बिछुड जाते है, तथा हर समय मोर्चों पर मृत्यु का जो भय बना रहता है, साथ ही किसी आदर्श की पुकार नही होती, तो मोर्चों के सैनिकों मे, साथ ही जिन स्त्रियो को वे घर पर छोड़ आये है, उनमे यौन सदाचार का शिथिल हो जाना कोई आश्चर्य नही है। युद्धकाल मे जिन्हे जीवन के मूल्य (values of life) कहते है—हम किसी चिरन्तन मूल्य की ओर इशारा नही कर रहे है—वे बहुत तेजी के साथ बदलते है। युद्धकाल मे देश की हालत की खराबी, साथ ही बुर्जुआ देश मे किसी प्रकार आदर्श का अभाव होने के कारण सब तरह की प्रचलित नीतियो मे शिथिलता आ जाती है। फिर यह कोई ईश्वरीय नियम नही है कि युद्धकाल मे यौन सदाचार शिथिल ही हो जाय। यह इस बात से ज्ञात होता है कि १९४१–४५ के सोवियट-जर्मन युद्ध मे रूस मे किसी प्रकार यौन सदाचारगत शिथिलता देखने मे नही आई, बल्कि इस बात पर दूसरे मित्र देशो से रसद ले जानेवाले लोगो ने दुख प्रकट किया है कि वे जब अमेरिका या इँगलैंड से सामान लेकर रूस मे पहुँचे, तो वहाँ उनका खूब आदर हुआ, किन्तु वहा की स्त्रियो ने उनको किसी भी प्रकार से 'पुरुष' रूप मे देखने से इन्कार किया। केवल एक मोर्चे से ही नही बल्कि मुर्मान्स्क से लेकर सुदूर दक्षिण के सब मोर्चों की रूसी स्त्रियो के विरुद्ध इन भाड़े के टट्टू-सैनिको की ओर से ऐसी शिकायत आई है।

हम समझते है कि यौन इच्छा से युद्धों की उत्पत्ति को प्राप्त करने का जो तरीका है, वह गलत विज्ञान है, और इस गलत विज्ञान का आविष्कार असली कारणो पर राख डालने के लिए किया गया है। इन लोगो के कथन का यदि विश्लेषण किया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि युद्ध प्रकृति का नियम है इसलिए अपरिहार्य है, किन्तु बात ऐसी नही है। साम्यवाद स्थापित होते ही

तथा सब जातियो का आत्म-निर्णय का अधिकार प्राप्त होते ही युद्धो के लिए कोई गुँजाइश नही रहेगी। १९१४–१८ के महायुद्ध मे इँगलैड की सुप्रसिद्ध अभिनेत्री मेरी पिकफोर्ड तथा फ्रास की सुन्दरी गैवी डेसलिस लडाई मे भर्ती होने-वाले प्रत्येक स्वेच्छासेवक को एक चुम्बन देती थी। इससे भी यह सिद्ध नही होता कि यौन इच्छा से युद्ध उत्पन्न होते है, वल्कि इससे यही सिद्ध होता है कि युद्ध जव अन्य कारणो से आ गया तो सरकारे स्त्रियो के रूप-यौवन को इस्तेमाल कर अपनी तोपो की खूराक तैयार करती है। इसी प्रकार माताहरी इत्यादि गुप्त-चरियो ने जो रूप-यौवन दिखाकर गुप्तचरी का काम किया, उससे भी यही सिद्ध होता कि युद्ध से जिनको फायदा है, या कम से कम जो समझते है कि उन्हे फायदा होगा वे स्त्रियो का अत्यन्त गर्हित रूप से व्यवहार कर अपना उल्लू सीधा करते है। अवश्य इस विषय मे यह मानना पडेगा कि माताहरी आदि ने जो कुछ किया, वह कोई नई वात नही थी, ईसा के कई सौ वर्ष पहले कूटनीतिज्ञ कौटिल्य इस सम्बन्ध मे जो कुछ लिख गये है, उससे वे ऐसे कूटनीतिज्ञो के पूर्व-पुरुष सिद्ध होते है, क्योकि वे लिख गये है कि परिव्राजिकाओ के रूप मे गुप्तचरियो की नियुक्ति की जाय।

९—रावसपियर की शक्ति का अन्त आकस्मिक घटनाओ के कारण हुआ?—हम युद्ध की आलोचना करते करते कुछ बहक गये है, इसलिए फिर एक बार इति-हास के आकस्मिक सिद्धान्त पर लौट चले। फ्रेच राज्यक्रान्ति (१७८९) के दौरान मे हमे एक जगह पर कुछ ऐसी घटनाये मिलती है जिनके सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि वे आकस्मिक घटनाये थी, और यदि वे घटित न होती तो इतिहास किसी और ही धारा मे प्रवाहित होता। जिस समय ९ थर्मीडोर (२८ जुलाई) १७९४ के कन्वेनशन के फलस्वरूप रावसपियर तथा उनके मुख्य साथीगण गिरफ्तार कर लिए गये, उस समय जब इस बात की खबर उनके साथी फ्लेरियो के पास पहुँची जो उन दिनो मेजर थे, तो उन्होने झट रावसपियर तथा अपने मित्रो को मुक्त करने की योजना बनाई। फौरन उन्होने शहर के दरवाजो को बन्द कर दिया, और खतरे की घटी बजवानी शुरू कर दी, साथ ही उन्होने सब जेलरो को खबर कर दी कि कोई भी इन कैदियो को अपनी जेल मे लेना स्वीकार न करे। खतरे की घटी सुनकर जनता फौरन इकट्ठी होगई, किन्तु कन्वेनशन भी कोई घास-

फूस नही थी, उसके अपने अधिकार तथा अपनी सेना थी। इसलिए यह जरूरी समझा गया कि कोई सामरिक नेता जनता का नेतृत्व करे, तदनुसार ऑरियो (Henriot) की पुकार हुई, किन्तु वे उस दिन शराब के नशे मे इतने चूर थे कि उनसे कोई कार्य-क्रम करवाना मुश्किल था। इस प्रकार इस व्यक्ति के आकस्मिक रूप से शराब पीकर मतवाला होने के कारण राबसपियर को छुडाने के लिए एकत्र जनता को नेतृत्व न मिल सका। इसके बाद भी आशा बिल्कुल खतम हो गई, ऐसी बात नही। जनता फिर डटी रही। दोनो तरफ से तैयारियाँ होती रही, किन्तु ठीक आधीरात के समय बडे जोर से वर्षा शुरू हो गई, और इस कारण जनता अपने घर चली गई। नतीजा यह हुआ कि राबसपियर को मुक्त न किया जा सका। कन्वेनशन की ओर से आए हुए एक पुलिसवाले ने उनके जबड़े पर एक गोली मार दी, और वे हिरासत मे रहे, बाद को राबसपियर का सिर काट लिया गया।

राबसपियर की मृत्यु केवल एक व्यक्ति की मृत्यु नही, बल्कि एक धारा की मृत्यु थी। यह कहा जा सकता है कि राबसपियर जनता के असली प्रतिनिधि थे, इसलिए उनकी मृत्यु से फ्रान्स के इतिहास मे एक नये कदम की सूचना मिली। हमे इसके ब्यौरे मे जाने की आवश्यकता नही है, क्योकि फिर तो हमे सारी फ्रेन्च राज्यक्रान्ति की पृष्ठभूमि को समझना पडेगा। यहाँ केवल प्रश्न इतना है कि क्या एक सामाजिक धारा केवल एक व्यक्ति के आकस्मिक रूप से शराब पीकर बेहोश हो जाने या मध्यरात्रि मे आकस्मिक रूप से पानी बरसने के कारण बदल गई? देखने मे तो राबसपियर की असफलता इन दो आकस्मिक घटनाओ के मत्थे मढ दी जा सकती है, किन्तु तथ्य कुछ और ही है। पहली बात तो यह है कि राबसपियर ने जिस आतकवाद के युग (La Terreur) का प्रवर्तन किया था, पूँजीवादी वर्ग को उसकी अब आवश्यकता नही थी। सामन्तवादी वर्ग निर्णयात्मक रूप से पिट चुका था, आगे राबसपियर के रहने से उठती हुई साम्यवादीधारा के बलशाली हो जाने का डर था। इसलिए उठते हुए पूँजीवादी वर्ग के निकट राबसपियर की अब कोई ऐतिहासिक आवश्यकता नही थी। राबसपियर के अन्त के सब कारण तैयार थे।

फिर उन आकस्मिक घटनाओ को ही लिया जाय, जिनके बल पर यह

कहा जा सकता है कि रावसपियर का अन्त इन्ही के कारण हुआ। रावसपियर को जब उनके दोस्त भगाकर टाउनहाल मे ले भी आए, तो उस समय कुछ ने कहा कि सेना के प्रति एक अपील प्रकाशित की जाय, किन्तु रावसपियर ने अन्त तक वैधानिक आपत्ति करते हुए कहा कि यह अपील किसकी ओर से की जाएगी। इसके पहले भी रावसपयिर ने भागने से इन्कार किया था। कहना न होगा कि ऐसा व्यक्ति समाजवादी क्रान्ति का वाहन नही हो सकता था। सच बात तो यह है कि फ्लोरियो उनको भगाकर टाउनहाल मे ले आये थे। रावसपियर ने इस अपील पर दस्तखत तब किये जब शत्रुओ ने उनको बिल्कुल घेर लिया था। लुई मादला ने तो यहाँ तक लिखा है कि जिस समय वे पकडे गये, उस समय वे अपने नाम के प्रथम दो अक्षर ही लिख पाये थे। फिर आरियो के शराब पीकर मतवाला होने की बात को भी हम अन्य घटना से सम्बन्ध विहीन आकस्मिक घटना नही कह सकते। जब आरियो को कई दिन से पता था कि कनवेन्शन और रावसपियर मे जीवन मरण सग्राम हो रहा है, उस हालत मे इस प्रकार बेखबर होकर शराब पीने से उस सगठन का खोखलापन सिद्ध होता हे, जिसके आरियो, रावसपियर आदि नेता थे। फिर यदि एक आरियो ने शराब पीली तो जनता का नेतृत्व करने के लिए दूसरा नेता क्यो न मिला? यदि इस सगठन की इतनी दमनीय दशा थी कि एक नेता के अतिरिक्त कोई नेता ही नही था, तो क्या उस सगठन के सम्बन्ध मे यह कहना कुछ अत्युक्ति होगी कि उसकी कजा पहले ही आ चुकी थी। फिर जनता को इस काम मे नेतृत्व की ही क्यो आवश्यकता हुई? जनता के अन्दर से नेता क्यो न निकल आये? इसी पेरिस की जनता ने इसके पहले कई वार कितने ही कार्य बिना नेतृत्व के किये थे। वास्तील कारागार को तोडने से लेकर कितनी ही घटनाएँ ऐसी हुई जिनमे जनता ने अपना नेतृत्व अपने आप किया। नेतृत्व के वगैर जनता ने कुछ न किया, इसका अर्थ ही यह है कि जनता द्विविधे मे थी। फिर मान लिया जाय कि नेता मिल भी जाता तो इसी जनता को गोलियो का सामना करना पडता, फिर वह वरमा से क्यो भाग खडी हुई। इसका अर्थ यह है कि जनता के साथ रावसपियर का योगसूत्र शिथिल हो चुका था, और जनता एक वहाना मिलते ही चल देने

को तैयार थी। फिर यदि जनता चली भी गई तो उसके साथ-साथ आरियो के जो गनरगण थे, वे क्यो चले गये? थोडी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि कथित सब आकस्मिक घटनाये रावसपियर के पक्ष मे घटित होती (जैसा मान लेना केवल कल्पना की उडान भरकर घटनाओ के द्वन्द्व-वाद से घटित होता है) तो भी जब रावसपियर की सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमि कमज़ोर हो चुकी थी तो वे जल्दी ही किसी और बहाने और तरीके से निकाल दिये जाते, इसमे सन्देह नही। आकस्मिक घटनाये केवल सामाजिक शक्तियो को द्रुत या विलम्बित कर सकती है, उनका स्थान नही ले सकती। इसी कारण मार्क्स 'ऐतिहासिक घटनाओ को आकस्मिक घटना मात्र नही समझते, जो चाहे तो घटित होती, और चाहे तो घटित नही होती, और जिन पर मनुष्य का न तो कोई प्रभाव है न कोई नियत्रण। वे ऐतिहासिक घटनाओ को मानवीय इच्छाओ तथा कामनाओ के परिणामो के रूप मे भी देखते है। इस मत के अनुसार यह स्पष्ट है कि मनुष्य जाति अपने भाग्य का पथ-प्रदर्शन तथा निर्णय कर सकती है। इतिहास कुछ नियमो के साथ काम करता है, और इन नियमो को मानकर ही समाज चलता है।'[1]

१०—नारी का रूप भी अपने दायरे में एक सामाजिक शक्ति—'क्लियोपेट्रा की नाक आकस्मिक रूप से छोटी न होने के कारण विश्व इतिहास का रूप दूसरा हुआ, इस सम्बन्ध मे पासकाल का जो कथन है, वह इतना हास्यास्पद है कि उस पर विचार करना ही अयुक्तियुक्त मालूम देता है। हो सकता है कि किसी सुन्दरी के रूप ने किसी वीर या उस समय के शक्तिशाली पुरुष पर प्रभाव डाला हो, और उसे कुछ हद तक परिचालित भी किया हो, इस मानी मे यह कहा जा सकता है कि क्लियोपेट्रा ने जूलियस सिजर पर अपने सौन्दर्य का जादू डाला, किन्तु यह कहना कि इस सौन्दर्य ने समाज की गति को ही बदल दिया यह व्यर्थ की जल्पना मात्र है। स्मरण रहे सौन्दर्य भौतिक है, इसलिए यदि सौन्दर्य का कुछ प्रभाव पडता है तो वह प्रभाव एक भौतिक प्रभाव ही है। सौन्दर्य अपने दायरे मे एक शक्ति है, और सब शक्तियो की तरह वह समाज की गति को द्रुत या विलम्बित कर सकता है, किन्तु यह समझना

१ B P S S

कि दुनिया की सबसे सुन्दरी रमणी का सौन्दर्य भी आर्थिक सामाजिक शक्तियों के बिल्कुल विपरीत कुछ काम कर सकेगा, गलत है। अभी-अभी मिसेस सिम्पसन की बात बहुत ताजी है। उनके सौन्दर्य का कहिये या प्रेम का कहिये जादू जार्ज पचम के ज्येष्ठ पुत्र पर चल गया, किन्तु वह इतिहास को किसी भी हद तक न बदल सका। हाँ जो व्यक्ति सम्राट् होता वह एक ड्यूक होकर रह गया। इँगलैंड के उच्च वर्ग के लोग—जिनके हाथो मे वहाँ का शासनसूत्र है—अपने प्रगतिशील विचारो की शेखी के बावजूद इस बात को गवारा करने के लिए तैयार नही थे कि एक ऐसी स्त्री जो पहले किसी साधारण व्यक्ति की स्त्री रह चुकी हो, उनके देश की रानी बने। परिणाम यह हुआ कि राजकुमार के सामने यह प्रश्न आया कि या तो वे अपनी प्रेयसी को छोडे या राज्य को। उन्होने राज्य को ही त्याग दिया। इस प्रकार जहाँ तक राजकुमार के भाग्य के निर्णय की बात है, वह भी मिसेस सिम्पसन के प्रेम या रूप के द्वारा नही बल्कि सामाजिक शक्तियो के द्वारा निर्णीत हुआ। यदि इँगलैंड का शासक वर्ग इतना दकियानूसी न होता तो ड्यूक आफ विन्डसर ड्यूक न होकर कुछ और ही होते। इसके साथ ही हमे इस बात के स्वीकार करने मे कुछ आपत्ति नही है कि नारी का सौन्दर्य एक शक्ति है, और उसके नियमो को जानकर उसका सामाजिक इस्तेमाल किया जा सकता है। प्रत्येक देश का प्रचार विभाग इन बातो को बखूबी समझता है। हमे इसके ब्यौरे मे जाने की आवश्यकता नही।

११—आकस्मिक सिद्धान्त के कुछ और उदाहरण—जान गुन्थर ने अपनी पुस्तक Inside Europe मे ऐतिहासिक रूप से महत्त्वपूर्ण आकस्मिक घटनाओ के कई उदाहरण गिनाये है। एक तो यह है कि यदि एक जर्मन जनरल लेनिन को एक बन्द गाडी मे रूस मे दाखिल कराने पर राजी न होता तो रूस का इतिहास कुछ और ही होता। दूसरा यह है कि यदि ट्राटस्की आवेश मे आकर लेनिन की अन्त्येष्टि क्रिया के अवसर पर उपस्थित होने से अस्वीकार न कर देते तो रूस मे पाँच वार्षिक योजनाओ की नौबत न आती, यानी स्टालिन की न चल पाती। तीसरी घटना यो बताई जाती है कि यदि आस्ट्रियन पार्लियामेंट के एक महत्त्वपूर्ण अधिवेशन के अवसर पर एक सदस्य को मल त्याग की हाजत न होती, तो आस्ट्रिया

मे डोल्फस शासन ही न होता और मध्ययोरप का चेहरा कुछ और ही होता। हमे बताने की ज़रूरत नही है कि ये घटनाये वहीं तक सफल या असफल रही जहाँ तक वे सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियो के अनुकूल या प्रतिकूल रही। इन तीनो घटनाओ मे से प्रत्येक की जाँच करने पर हमे यही बात ज्ञात होगी।

१२—हालवाख का इतिहास सम्बन्धी आणविक सिद्धान्त—१८वी सदी के यान्त्रिक भौतिकवादी हालवाख ने इतिहास के सम्बन्ध मे एक ऐसे दृष्टि-कोण का प्रतिपादन किया है, जो देखने मे आकस्मिकता का सिद्धान्त न होते हुए भी अन्तिम विश्लेषण मे आकस्मिकता के सिद्धान्त का ही एक दूसरा रूप है। हालवाख अपने भौतिकवाद से प्रेरित होकर इस नतीजे पर पहुँचे कि अणु तथा परमाणु से ही सारी दुनिया बनी है, इसलिए वे ही असल मे इतिहास के निर्माता है। वे इस सम्बन्ध मे यह परिणाम निकालते है कि 'प्रकृति मे प्रत्येक वस्तु सम्बद्ध है, उसमे प्रत्येक वस्तु क्रिया-प्रतिक्रिया शील है, प्रत्येक वस्तु हिलती-डुलती है, बनती है। एक भी अणु ऐसा नही है जो महत्त्वपूर्ण ज़रूरी हिस्सा अदा न करता हो, ऐसा कोई भी अदृश्य परमाणु नही है, जिसको यदि उपयुक्त परिस्थितियो मे रखा जाय तो वह अघटन घटन न कर सके। एक धर्मान्ध के यकृत मे अत्यन्त कड़ुवापन, विजेता के हृदय मे स्फीत रक्त, राजा की पाकस्थली मे विकार तथा एक स्त्री के दिमाग की खाम-ख्याली—इनमे से प्रत्येक बात किसी लडाई को छिडा देने, लाखो आदमियो को कटवा देने, किसी नगर की दीवारो को तोडवा देने, तथा कई सदियो के लिए सारे जगत् को सर्वनाश के भवर मे डाल देने के लिए यथेष्ट है।' हालवाख के इस विचार की आलोचना करते हुए प्लेखनाव ने जो लिखा है, उसे भी सुन लिया जाय। वे लिखते है कि हालवाख का यह सिद्धान्त क्रामवेल के सम्बन्ध मे कही हुई उस बात से पृथक् नही है, जिसे किसी धार्मिक पुरुष ने कहा था कि ईश्वरीय इच्छा के कारण क्रामवेल के पेट मे एक दाना ऐसी जगह पर पहुँच गया जिससे वह मर ही कर रहा। हाँ, हालवाख का सिद्धान्त इस मानी मे पृथक् अवश्य है कि वे ईश्वर को नही मानते, किन्तु दाने ने जो हिस्सा इतिहास मे अदा किया, उसे वे निर्विकार चित्त से मान लेगे।[१]

---

१ E H. M. p 36

कहना न होगा कि हालवाख प्रतिपादित इतिहास का आणविक सिद्धान्त एक तरफ तो आकस्मिक सिद्धान्त का प्रच्छन्नरूप है, दूसरी ओर इसमे मनुष्य की चेष्टा का कोई महत्त्व नही रह जाता, यह तो भाग्यवादी है क्योकि न मालूम किस समय कौन परमाणु क्या आफत ढा दे। इस प्रकार भौतिकवाद की आड मे यह सिद्धान्त केवल अदृष्टवाद है। कहना न होगा कि यात्रिक भौतिकवाद के लिए ऐसी भूलभुलैयाँ मे पड जाना कोई आश्चर्य की बात नही है।

१३—इतिहास का स्वत स्फूर्त सिद्धान्त—फरवरी क्रान्ति का उदाहरण— घटनाये खुद बखुद होती है, यह भी आकस्मिकता के सिद्धान्त का ही एक दूसरा रूप है, क्योकि इस बात मे यह माना जाता है कि घटनाये न मालूम किस तरह से हो जाती है, अपने आप होती है, और उन पर कोई नियत्रण इसलिए नही हो सकता कि उनके घटित होने मे कोई नियम नही है। रूस की क्रान्ति आधुनिक इतिहास मे एक बहुत बडी क्या शायद सबसे बडी घटना है। १९१७ की फरवरी क्रान्ति मे किसी दल का नेतृत्व नही था, इससे कहा जाता है कि स्वत स्फूर्ति सिद्धान्त की पुष्टि होती है। हम पहले यह देखेगे कि इस क्रान्ति मे क्या वस्तु स्थिति सचमुच वैसी ही थी जैसी बतलाई जाती है। हम एक एक करके वहा के विभिन्न दल के सम्बन्ध मे देखेगे कि वस्तुस्थिति क्या थी। सोशल रिवोल्यूशनरी दल के सभापति जर्जीनाफ ने बाद को लिखा कि 'यह क्रान्ति हमारे ऊपर बिजली की तरह फट पडी। हम इस सम्बन्ध मे बिल्कुल स्पष्ट वादिता से काम ले। अवश्य हम क्रान्तिकारीगण बहुत दिनो से इसके लिए काम कर रहे थे और बराबर इसकी प्रतीक्षा कर रहे थे।' तो इतना स्पष्ट है कि इस दल ने क्रान्ति का न तो बटन ही दबाया और न नेतृत्व ही किया। मेन-शेविको का हाल इससे कुछ बेहतर नही था। जब क्रान्ति आई तो वे बिल्कुल तैयार नही थे यद्यपि बाद को इन लोगो ने दावा किया कि क्रान्ति उन्ही की की हुई है। इस सम्बन्ध मे एक व्यक्ति ने मजेदार तरीके से यह लिखा है कि फरवरी २४ (१९१७) वाली क्रान्ति मे एक [illegible] पहले जिस समय [illegible] के [illegible] नामक एक व्यक्ति [illegible] मे मिले तो उससे कहा कि [illegible] [illegible] तो रही है, इसे बन्द करना चाहिए। फिर भी इसी [illegible] के अनुसार इसी [illegible] ने यह दावा किया कि क्रान्ति लाने मे उसका

भारी हाथ रहा। करेन्सकी के विषय उनके अन्तरग वृत्त के एक व्यक्ति ने लिखा है कि वे भी इस बात से घबडाते थे कि जनता एक दफे भडक जाय तो कही ऐसा न हो कि वह फिर इतनी उग्र हो जाय कि कावू मे न आये। इसलिए यद्यपि बाद को घटनाचक्र ने अर्थात् वर्गशक्तियो की क्रिया प्रतिक्रिया ने भले ही करेन्सकी को नेपोलियन तृतीय की तरह बहुत जिम्मेदारी की जगह पर बैठा दिया हो किन्तु क्रान्ति करने मे उनका क्या हिस्सा था, यह उनके उल्लिखित वचनो मे स्पष्ट है। रह गया बाल्शेविक दल, सो उसके प्रधान नेता लेनिन निर्वासन मे थे, जिनोविन उसके साथ थे, कामिनाफ, स्वेर्डलाफ, राइकाफ, स्टेलिन ये सब भी निर्वासित थे। ड्यूमा मे जो मजदूरो के पाँच बाल्शे-विक प्रतिनिधि थे, वे १९१४ से ही जेल मे सड रहे थे। दल बहुत अस्तव्यस्त हालत मे था। बात यह है कि लडाई के प्रारम्भ होते ही जारशाही ने इस पर बहुत जोर का हमला किया था, इसी की चोट से अभी यह उठ नही पाया था। जब हम दूसरे तरीके से और गहराई के साथ देखते है तो हमे यह ज्ञात होता है कि पेट्रोग्रेड ने ही इस क्रान्ति के अवसर पर सारे देश का नेतृत्व किया। मास्को तथा अन्य शहरो ने, और बाद को अगडाई लेते-लेते देहात ने इसी प्रकार का अनुसरण किया। अब हमे यह देखना है कि पेट्रोग्रेड मे बाल्शेविको के नेतागण क्या कर रहे थे। उस समय ट्राटस्की के अनुसार पेट्रोग्रेड के तीन बाल्शे-विक नेता थे,—शिलियाय निकाफ, जलूटस्की और मोलोटोफ। इनमे मे सबसे जिम्मेदार शिलियाय निकाफ समझे जाते थे क्योकि ये बहुत दिनो तक लेनिन के साथ रह चुके थे। जब क्रान्ति ने जोरो से डगमारना शुरू किया, तब शिलि-याय निकाफ ने चुगुरिन की माँग पर २७ फरवरी की सुबह को सेनाओ के प्रति एक अपील निकाली। यह ठीक-ठीक पता नही है कि यह अपील छप भी पाई या नही। कुछ भी हो यदि छपी भी हो, तो उसकी कोई जरूरत नही है, क्योकि सेनाये क्रान्ति मे आ ही चुकी थी। फिर भी इसमे सन्देह नही कि यदि किसी दल ने कोई चेष्टा की तो बाल्शेविक दल ने की। २७ तारीख को जिस समय पेट्रोग्रेड की जेल तोड दी गई, उस सबध मे यह उल्लेखनीय है कि जेल के फाटक पर ही अन्य दलो के मुकाबिले मे बाल्शेविक दल की श्रेष्टता स्पष्ट हो जाती है। मेनशेविक दल के जो नेता इस समय जेल से छुडा लिए गये वे फौरन ड्यूमा

की ओर दौड़े जहाँ ओहदे बट रहे थे, किन्तु वास्तविक नेतागण जेल से सीधे ही मजदूरों के मुहल्ले तथा सेनाओं के शिविरों की ओर चल दिये जिससे राजधानी में क्रान्ति की विजय हो। इस प्रकार वास्तविक दल की चेष्टा तो स्पष्ट है, किन्तु फिर भी यह दावा किया जाय कि उसने फरवरी क्रान्ति का नेतृत्व किया तो यह दावा अतिरंजित होगा। तो फिर किसने क्रान्ति का नेतृत्व किया। यहीं से इतिहास के स्वतःस्फूर्ति सिद्धान्त को जोर मिलता है, किन्तु फिर भी वैज्ञानिक समाजशास्त्र को मान्य नहीं हो सकता इसलिए हम और गहराई के साथ घटनाओं की छानबीन करनी चाहिए। किसी दल ने नेतृत्व न किया हो, किन्तु नेतृत्व किसी ने तो किया ही होगा।

इसकी पृष्ठभूमि मे सबसे पहले तो युद्ध की छाया मे परिपक्वमान आर्थिक सामाजिक सकट, जारशाही का खोखलापन, देश मे करीव-करीव उसका कोई मित्र न रह जाना, १९०५ की क्रान्ति से प्राप्त जनता की अभिज्ञता, लडाई मे रूस की हार, साथ ही राजनैतिक दलो और सर्वोपरि लेनिन के दल का प्रचार तथा उनके कार्यकर्त्ताओ का त्याग, लगन आदि वाते थी। सव वातो की छानवीन करने के वाद ट्राटस्की सही तौर पर इस नतीजे पर पहुँचे है कि इस क्रान्ति का नेतृत्व न लेनिन ने किया, न लेनिन के दल ने किया, किन्तु मुख्यत लेनिन के दल के द्वारा तैयार किये हुए मजदूरो ने—और हम उसमे इतना जोड देते है कि सैनिको के रूप मे किसानो ने किया। इसलिए इतिहास का स्वत स्फूर्ति वाला सिद्धान्त लचर तथा अवैज्ञानिक है। भले ही किसी समय किसी घटना का कारण समझ मे न आवे, किन्तु इस वात से घवडाकर इस सिद्धान्त की गोद मे आत्मसमर्पण करना गलत है।

फरवरी क्रान्ति मे किस प्रकार जनता ने अपना नेतृत्व आप किया, यह क्रान्ति के बाद की घटनाओ मे ज्ञात होता है। जिस समय क्रान्ति का वेगवल उत्तरोत्तर वढता जा रहा था, उस समय २७ फरवरी को घटनाओ के रुख से घवडाकर ड्यूमा के सदस्यगण सवेरे ही एक- नियमित अधिवेशन मे एकत्र हुए, किन्तु जव वे इकट्ठे हुए तब उन्हे मालूम हो गया कि ड्यूमा को भग कर दिया गया है। ड्यूमा के सदस्यगण फिर एक निजी कान्फ्रेस मे इकट्ठे हुए, और सब अपनी कमजोरी पर हाथ मलते रहे। उस कान्फ्रेस मे कैडेट दल के नेक्रासव ने एक प्रस्ताव रखा था कि एक सामरिक अधिनायकत्व स्थापित किया जाय, और सारी शक्ति किसी जनप्रिय जनरल के हाथो मे सौप दी जाय। इन लोगो ने ग्रैन्ड ड्यूक मिखैल को पेट्रोग्रेड मे बुलाकर उनके हाथो मे अधिनायकत्व सौपना चाहा, जार की व्यक्तिगत कर्मचारी मण्डली (persoual staff) मे इस्तीफा देने के लिए अनुरोध करना चाहा, और जार से तार देकर एक जिम्मेदार मत्रीमडल वनाने की प्रार्थना करनी चाही। इस प्रकार ड्यूमा के इन सदस्यो के जरिये रूस का सम्पत्तिशाली वर्ग अन्तिम घडी मे जार को नाम मात्र के लिए हटाकर क्रान्ति को अपने स्वार्थ की वलिवेदी पर चढाने का षडयत्र कर रहा था। उधर जेल से छूटे हुए मेनशेविकागण मजदूर सभा

गिरफ्तार कर करके लाये जा रहे थे। रोडजियन्को जो ड्यूमा के सदस्यों के एक तरह से नेता थे, इस बात पर क्रोध से थरथर कॉप रहे थे कि कैसे यह अज्ञात कुलशील सैनिक बिना हुक्म के लोगो को गिरफ्तार कर करके लाते चले जा रहे है। स्मरण रहे कि सोवियट ड्यूमा कमेटी के हाथो मे शक्ति समर्पण करने के लिए तैयार होने के कारण रोडजियन्को एक तरह से क्रान्ति के प्रधान अधिकारियो मे हो चुके थे। भूतपूर्व मत्री शैग्लोविटाफ गिरफ्तार होकर आये तो रोडजियन्को ने चाहा कि उनको दफ्तर मे बुलाकर उनसे कुछ बातचीत की जाय। यह बातचीत किस किस्म की होती यह तो स्पष्ट ही है, किन्तु रोडजियन्को के कहने पर पहरे के सैनिको ने शैग्लोविटाफ को उनके सुपुर्द करने से इन्कार किया। बाद को रोडजियन्को ने अपना सस्मरण लिखते हुए इस पर लिखा, 'जब मैने उस पर अपने अधिकार की बात कही तो सैनिकों ने अपने कैदी को घेर लिया और अत्यन्त गुस्ताखी और चुनोती देनेवाला चेहरा बनाकर अपने राइफलो की ओर इशारा किया। फिर वे बिना कुछ बोले ही शैग्लेविटाफ को न मालूम कहाँ ले गये।'

सच बात तो यह है कि स्वय रोडजियन्को एक तरह से क्रान्तिकारी सैनिको के हाथो मे कैद थे, और वे हर घडी इस बात के लिए शकित थे कि शायद गिरफ्तार कर लिए जायँ। इससे स्पष्ट है कि जनता कुछ मामलो मे बिलकुल स्पष्टता के साथ अपना नेतृत्व आप कर रही थी। यह बात जरूर है कि नेताओ की गडबडी अर्थात् उनके निम्न मध्यवर्गीय चरित्र तथा उसके पीछे हुए उनके हितो के कारण जनता की ताकत अन्त तक मिखेल रोमानोफ के हाथो मे जाते-जाते रह गई। जहाँ तक मिल्युकाफ—रोडजियन्को कम्पनी का सम्बन्ध है, वे तो मिखैल के हाथ मे सब शक्ति सौपने को तैयार थे, किन्तु मिखैल ने अधिकतर राजनीतिज्ञता के साथ यह समझ लिया कि मिलने को तो शायद मिल जाय, किन्तु जान खतरे मे पड जायेगी, इसलिए शक्ति ग्रहण करने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार यदि नेताओ के षड्यन्त्र के फलस्वरूप मिखैल राज्याधिकार ग्रहण करते, तो क्या होता उसका भी हम एक बडी हद तक अनुमान कर सकते है। जनता अवश्य ही ऐसे मौको पर अपनी कारगुजारी दिखा जाती, इसमे सन्देह नही। रहा यह कि जब जनता इतनी जाग्रत थी, तो

सोवियट ने ड्यूमा कमेटी के हाथो मे शक्ति देना स्वीकार क्यो किया? इसका उत्तर यह है कि जनता अपने तजुर्बे से थोडा-थोडा करके सीखती है, किन्तु जितना वह सीखती है, वह पूरा सीख लेती है। इस सम्बन्ध मे यह भी स्मरण योग्य है कि १९०५ के तजुर्बे का जनता ने १९१७ की फरवरी मे पूरा फायदा उठाया था। हाँ यदि नेता ठीक होते—ठीक नेता तो उस समय भी मौजूद थे, किन्तु अभी उनकी चलती नही थी—तो क्या होता इसका हम अनुमान कर सकते है। फिर भी नेताओ पर ही सब कुछ निर्भर है, यह भी हमने इसी घटना मे देख लिया। नेताओ ने तो क्रान्ति को डाकुओ के हाथो मे सौप दिया था, किन्तु शेग्लोविटाफ के उदाहरण ने (ऐसे उदाहरण न मालूम कितने हुए होगे) यह दिखला दिया कि नेता एक हद तक ही सामाजिक, आर्थिक शक्तियो मे खीचातानी कर सकते है।

कुछ भी हो इन ब्यौरो से स्पष्ट है कि फरवरी क्रान्ति के अन्दर नियम थे, और इन्ही नियमो के अन्दर वह चली। फरवरी क्रान्ति किसी भी तरह स्वत-स्फूर्ति नही थी। उसके प्रवाह मे हम उस समय की सामाजिक आर्थिक शक्तियो, वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धो वर्ग चेतना की मात्रा और परिणाम को मूर्तिमान पाते है। यदि फरवरी क्रान्ति पर दृश्यमान रूप मे किसी दल का ठप्पा नही लग पाया, तो न सही, किन्तु इससे समाज के गतिशास्त्र की पुष्टि होती है, न कि खण्डन। यह जो हमने लिखा है कि नेताओ की चलती तो फरवरी क्रान्ति का रूप और ही होता इस सम्बन्ध मे तथ्य है कि बोलशेविको की चलती नही थी, और जनता भी उन्हे अन्य बनावटी समाजवादियो से अलग करके नही समझ पा रही थी। बोलशेविको को इन झूठे समाजवादियो से अलग करके समझने के लिए फरवरी से अक्टूबर तक ८ महीने समय की जरूरत थी। क्रान्ति बाद फौरन जो सोवियट कायम हुए उनमे मेनशेविको और सोशल-रिवोल्यू-शनरी दल के लोगो की बहुसख्या थी। फिर भी जनता इतनी सजग थी कि वह अपने और पूँजीवादियो के फर्क़ को खूब समझती थी। इसी समझ के कारण, इस समय के नेताओ की गलती और [illegible] की [illegible] तथा उनके प्रभाव के बावजूद जनता धीरे-धीरे उन आठ महीनो मे आगे बढती गई और [illegible] के अन्दर अपने सच्चे मित्र बोल्शेविको [illegible] को पहचानती भी गई।

फरवरी क्रान्ति के बाद टोरिडे प्रासाद मे एक तरफ सोवियट और दूसरी तरफ ड्यूमा कमेटी का दफ्तर रहा। कानूनी दृष्टि से ड्यूमा के प्रतिनिधि ही बडे थे, किन्तु इन प्रतिनिधियो पर साथ ही रेजिमेट के अफसरान, कारखानो के डाइरेक्टर तथा मैनेजर, रेल-तार के परिचालक, ताल्लुकेदारियो के व्यवस्थापक, मैनेजर—इन सब पर जनता कडी निगाह रखती थी। जो लेख छपने के लिए जाते थे, उन पर कम्पोजीटर निगाह रखते थे। तारघर के मुंशी देखते थे कि तार से क्या खबर जा रही है। सैनिक देखते थे कि उनके अफसर कहाँ आते-जाते, उठते-बैठते है। इस प्रकार स्वय जनता एक बडी हद तक इन लोगो की निगरानी रखती थी। सच बात तो यह है कि जनता ने नई सरकार को बहुत कुछ under house arrest यानी मकान मे गिरफ्तार कर रखा था।

१४—मिल्युकाफ शासन के विरुद्ध धर्म प्रदर्शन कहाँ तक स्वत स्फूर्त था ?— रूसी क्रान्ति से ही सम्बद्ध एक दूसरी घटना के सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि यह स्वत-स्फूर्त थी। जिस समय फरवरी क्रान्ति के बाद मिल्युकाफ की सरकार ने मित्र पक्ष के राजदूतो की प्ररोचना पर रूस को अन्त तक या विजय तक लडाई मे डटे रहने का ऐलान किया तो उस समय समाजवादी अखबार हल्ला मचाकर रह गये। मेनशेविक अखबार 'रावोचम्पागाजेटा' ने यह कहा कि इस प्रकार की घोपणा करना लोकतत्र की खिल्ली उडाना है। इस अखबार ने यह भी माँग की कि सोवियटो को चाहिए कि इसके भयकर परिणामो से बचने के लिए कोई न कोई कदम उठाया जावे। इस पर सोवियट की कार्य-कारिणी ने, जिसमे सुधारवादियो का बहुमत था, यह तय किया कि सोवियट का खुला अधिवेशन बुलाया जाय, किन्तु ऐसा करने मे उसका उद्देश्य केवल समय प्राप्त करना बताया गया, उसका असली उद्देश्य इस बात को देखना था कि निम्नतर कतार के लोग इस ऐलान से कहाँ तक असन्तुष्ट है। साराश यह है कि नेताओ ने कुछ भी नही किया। इस बीच मे जनता एक दिन हथियार लेकर निकल पडी और उनके पोस्टरो मे 'मिल्युकाफ का नाश हो' का नारा बुलन्द किया गया। यह प्रदर्शन इस अर्थ मे बहुत सफल रहा कि इसके फलस्वरूप अस्थायी सरकार को पीछे हटना पडा। कहा जाता है कि यह, प्रदर्शन सम्पूर्ण रूप से स्वत स्फूर्त था। हम देखे कि यह बात कहाँ तक सत्य की

कसौटी पर ठहरती है। इस दिन लिण्डे नामक एक व्यक्ति ने प्रदर्शन का पहिया चला दिया था। यह व्यक्ति विद्वान्, गणितज्ञ और दार्शनिक था। इस व्यक्ति का किसी दल से सम्बन्ध नही था। समाजवादी अखबारो की टिप्पणियो को पढकर यह व्यक्ति जोश मे आ गया, और जाकर फिनलैण्ड रेजिमेंट कमेटी मे पहुँचा। वहाँ उसने यह प्रस्ताव रखा कि फौरन निकलकर मेरेन्स्की प्रासाद पर चला जाय। लिन्डे की बात वहाँ मान ली गई, उसी दिन शाम को फिनलेण्ड वालो का रेजिमेण्ट पोस्टरो के साथ राजधानी की सड़को पर घूमने लगा। इसी के पीछे-पीछे और सेनाये भी निकल पडी, और इनकी सख्या तीस हजार सशस्त्र सेना मे पहुँच गई। अब इसमे इतनी बात तो सही है कि किसी दल ने इस प्रदर्शन को न तो शुरू ही किया था, और न सगठित ही किया था, किन्तु फिर भी बोल्शेविक अखबार तथा नेताओ ने ही लडाई के विरुद्ध नारा दिया था, और मिल्युकाफ की निन्दा की थी, इसे हम कैसे भूल सकते है? स्मरण रहे इन्ही अखबारो से निस्पृह वैज्ञानिक लिन्डे को जोश आया था। यह भी ज्ञात है कि मेनशेविक अखबार राबोचा पर गरजेटा ने जो मिल्युकाफ-विरोधी टिप्पणी की थी, वह बोल्शेविको के प्रभाव तथा दबाव के कारण की गई थी। इसमे केवल इतना ही कहा जा सकता है कि बोल्शेविको को यह पता नही लग पाया कि इस पैमाने पर इतना जल्दी प्रदर्शन हो सकता है। इसमे वे अवश्य पीछे रह गये। फिर भी जैसा हम देख चुके कि लिन्डे के जोश मे आने की घटना को स्वत-स्फूर्ति नही कहा जा सकता है। बारूदखाना तैयार था, लिन्डे ने अपनी चमत्कारी से धधका दिया। इस घटना से यह भी पता चलता है कि कैसे अक्सर प्रबल समाजिक शक्तियाँ अपने अनुकूल एक नेता पैदा कर लेती है। हमेशा का यह तजर्बा है कि ऐसे अवसरों पर न मालूम कहाँ से, शायद आकाश से नेता उतर आते है। इसमे कोई रहस्यवादी पहलू नही है। इसकी पृष्ठभूमि मे सामाजिक शक्तियाँ ही रहती है, नही तो लिन्डे को यदि अकेले जोश आता तो वह पागल समझा जाता, और शायद आवारागर्दी मे जार की जेलो मे सड़ता रहता। रेजिमेंट ने क्यो नही और लिन्डे ने ही क्यो इस अवसर पर नेतृत्व किया, उसका उत्तर यह है कि किसी भी क्रान्तिकारी विस्फोट के आगे हमेशा वही लोग रहते है जो अधिकतर अनुभूतिशील होते है, और जिनमे सहनशक्ति अपेक्षाकृत कम होती है।

१५—इतिहास के सम्बन्ध में विश्वासघात सिद्धान्त—इतिहास की गलत व्याख्या का एक और प्रचलित तरीका यह है कि प्रगति के अभाव या प्रगति की हार को किन्ही विशेष व्यक्तियो की दुष्टता या विश्वासघात पर थोप दिया जाय। ऐसे ही लोग राम-द्वारा लका-विजय के लिये विभीषण को, भारत की अफगानो-द्वारा विजय के लिए जयचन्द को (ऐतिहासिक रूप से यह प्रमाणित हो चुका है कि जयचन्द और पृथ्वीराजवाली सारी घटनाये कवि कल्पना है) और अँगरेजो द्वारा विजय के लिए मीरजाफर को दोषी करार देते है। इसमे सन्देह नही कि यह लोग अपनी जगह पर दोषी ज़रूर थे, किन्तु यह कहना कि इन्ही दो एक व्यक्तियों की बदौलत सारे इतिहास का रग ही बदल गया यह उनकी निन्दा करना नही, बल्कि इनको ज़रूरत से अधिक महत्त्व देकर बडा कर देना है। भारतीय आतकवादी क्रान्तिकारी आन्दोलन की असफलता के सम्बन्ध मे इसी प्रकार की बाते कही जाती है कि कृपालसिह के द्वारा क्रान्ति की तारीख खोल दिये जाने से १९१४-१८ के युग मे उत्तर भारत मे क्रान्ति न हो सकी, इत्यादि इत्यादि। प्रश्न यह कि जहाँ विभीषण, जयचन्द, मीरजाफर या कृपालसिह थे, वहाँ इनके समतुल्य शक्तिशाली या उनसे अधिक शक्तिशाली बहुत से व्यक्ति इस धारा के विरुद्ध लगे हुए थे, फिर क्या कारण है कि इन लोगो की चल गई और दूसरे लोगो की नही चल पाई?

१६—१८४८ की क्रान्ति और विश्वासघात सिद्धान्त—१८४८ की फरवरी और मार्च मे जो क्रान्ति हुई थी, उसके बाद कुछ लोग उसके सम्बन्ध मे मारास्ट, लेद्रूरोला, या लुई ब्ला पर दोष मढते रहे। इस पर मार्क्स-एगेल्स ने इसके सम्बन्ध मे यो लिखा है कि—'१८४८ की फरवरी के आकस्मिक आन्दोलन व्यक्ति विशेषों के कार्य नही थे, बल्कि ऐसे राष्ट्रीय अभाव थे, ऐसी ज़रूरते थी और ऐसी स्वत उद्भूत अदम्य अभिव्यक्तियाँ थी, जिनको प्रत्येक देश की बहुत-सी श्रेणियाँ स्पष्ट रूप से अनुभव तो करती है, किन्तु कम समझती है। यह एक ऐसी वस्तु है, जिसको सभी मानते है, किन्तु जब आप प्रति क्रान्ति सफलताओ का कारण ढूँढने चलते है, तो आपके लिए चारो तरफ से लोग कहने लगते है कि अमुक व्यक्ति तथा अमुक नागरिक ने जनता के साथ विश्वासघात किया। परिस्थितियो के अनुसार यह उत्तर बहुत सत्य भी हो सकता है और नहीं भी, किन्तु किसी भी हालत मे

यह किसी वात की व्याख्या नही करता—यहाँ तक कि यह भी नही दिखलाता कि यह हो कैसे गया कि लोगो ने इस प्रकार अपने को विश्वासघात का शिकार होने दिया। उस राजनैतिक दल की कितनी दयनीय दशा है जिसकी सारी पूँजी केवल इसी वात के ज्ञान पर निर्भर है कि अमुक व्यक्ति का विश्वास न किया जाय। क्रान्तिकारी उत्थान और उसके दव जाने के कारणो का अनुसन्धान ऐतिहासिक दृष्टिकोण मे वहुत ही महत्त्वपूर्ण है। ये तमाम टुच्चे, व्यक्तिगत कलह और दोषारोपण—ये तमाम विरोधी कथन कि मारास्ट या लेद्रु रोला या लुई व्ला पर अस्थायी सरकार का अमुक सदस्य या उनमे से सवके सव ने क्रान्ति की नाव को ले जाकर ऐसे चट्टान पर भिडा दिया, जहाँ पर वह टकराकर चकनाचूर हो गई—ये सारी वाते एक अमेरिकन या अँगरेज के लिए जो वाहर मे इन विभिन्न आन्दोलनो को देख रहा है, क्या दिलचस्पी पैदा कर सकती है, या रोशनी डाल सकती है। कोई भी सही दिमाग का व्यक्ति इस वात का कभी भी विश्वास न करेगा कि ११ व्यक्ति जिनमे से अधिकाश भलाई और वुराई दोनो के लिए वहुत कम सामर्थ्य रखते थे, उन्होने ३ करोड ६० लाख आवादी-वाली जाति का सर्वनाश कर दिया।'[1]

१७—मालिनोवस्की आदि रूस क्रान्ति को रोक न सके—जव सामाजिक, आर्थिक शक्तियाँ प्रबल रूप से सगठित होती है तो एक जयचन्द, मीरजाफर या कृपालसिंह कुछ विगाड नही सकते। इसका सवसे अच्छा उदाहरण यह है कि १९१७ की क्रान्ति के ऐन पहले तक वोल्शेविक दल की सवसे वडी केन्द्रीय कमेटी मे मालिनोवस्की नामक एक व्यक्ति था, जिसे क्रान्तिकारी तो क्रान्तिकारी समझते थे, किन्तु वह असल मे पुलिस का आदमी था। वह वरावर पुलिस को खवर दिया करता था, इस वात का तो पता तव लगा जव क्रान्ति हो गई, और पुलिस का रेकार्ड क्रान्तिकारियो के हाथ लगा। फिर भी मालिनोवस्की ने क्या विगाड लिया? केवल यही नही वोल्शेविक पार्टी के दो प्रसिद्ध नेता कामेनेफ और जिनोविफ ने जव केन्द्रीय कमेटी मे नवम्वर क्रान्ति के ऐन पहले, क्रान्ति फौरन की जाय या कुछ देर मे, इस पर आलोचना हुई, तो उसके विरुद्ध वोट दिया। इतने मे सन्तुष्ट न होकर उन दोनो ने मेनशेविको के अखवार

---

१ R C R p 10

नोवाया जिज्न (नवजीवन) मे यह वात खोल दी कि वोल्शेविक पार्टी सशस्त्र विद्रोह की तैयारी कर रही है, और वे इसे जुआ खेलना समझते हैं। लेनिन ने इस पर कामेनेफ और जिनेविफ को विश्वासघातक करार दिया, किन्तु परिणाम क्या हुआ ? क्रान्ति के लिए शक्तियाँ इतनी तगडी हो चुकी थी कि एक तरफ मालिनोवस्की और दूसरी तरफ कामेनेफ और जिनोविफ के विश्वासघात से उसका कुछ नही बिगड सका। इसलिए किसी आन्दोलन की सफलता या विफलता एक या दस-बीस आदमियो के विश्वासघात पर निर्भर नही होती। प्रत्येक आन्दोलन मे कुछ विश्वासघातक या आधुनिकतम भाषा मे पाँचवे दस्ते-वाले निकलेगे। जिस समय रूस मे समाजवाद को स्थापित हुए करीब पचीस वर्ष हो चुके थे, और करीब-करीब एक मुश्त समाजवाद की शिक्षा मे पल चुकी थी, उस समय कि जब नात्सियो का हमला हुआ, तो कुछ न कुछ विश्वासघातक वहाँ भी निकले। अवश्य इन विश्वासघातको की सख्या नात्सीगणो के द्वारा आक्रान्त अन्य देशो के मुकाबिले मे कुछ भी नही थी, फिर भी ऐसे लोग निकले, यही क्या कम है ? फिर भी उन्होने क्या कर लिया ? जहाँ सामाजिक शक्तियाँ प्रवल होती है, वहाँ दो चार विश्वासघातो से कुछ बनता बिगडता नही है। लगे हाथो यह बता दिया जाय कि जो लोग विश्वासघात के भय से किसी प्रकार के क्रान्तिकारी कार्य मे विश्वास नही रखते, वे कितने गलत है, यह स्पष्ट है। ऐसे लोग केवल एक आड लेकर अपनी अकर्मण्यता को छिपाना चाहते है।

१८—इतिहास मनोविज्ञान की समस्या है—यह मतवाद—ए० आई० टयूमेनियेफ ने एक बहुतथ्यपूर्ण लेख मे कुछ बुर्जुआ इतिहास लेखको के इतिहास-सम्बन्धी मत का सकलन किया है। यह सम्भव नही है कि उस लेख का अनुवाद यहाँ पेश किया जाय, इसलिए हम उसका कुछ सार सकलन कर पाठक के सम्मुख पेश करेगे। यूरोप मे वेर (berr) एक ख्यातनामा इतिहास लेखक समझे जाते है, इनके अनुसार इतिहास मनोविज्ञान की एक समस्या है, और इतिहास लेखक का कर्त्तव्य यह है कि वह इसी तथ्य को लेकर चले, और विभिन्न व्यक्तियो के दर्मियान होनेवाले सघर्ष तथा लेन-देन को दिखलावे। ट० वर्नहाइम का मत भी वेर के मत से मिलता-जुलता है। वे सभी

ऐतिहासिक तथ्यो और ऐतिहासिक विकास को मानवीय प्रकृति के मनोवैज्ञानिक तथा शारीरिक गुणो के रूप मे देखते है। उन्होने लिखा है कि मनुष्य की क्रियाएँ जो हमारे विज्ञान के विचार्य विषय है मुख्यत मनोवैज्ञानिक कारणो पर निर्भर है। अन्य बहुत से जर्मन विद्वान्, उदाहरणार्थ स्प्रानोर, लाप्रेख्त, ब्राइजिग, क्रिन्टनेर, वेरवेर इसी मत का समर्थन करते है। इतिहास का यह दृष्टिकोण बहुत ही व्यक्ति—केन्द्रिक है, अवश्य ही मनुष्य की मनोवृत्तिया बहुत बडी चीज है (इस बाद को उनका महत्त्व भी दिखलायेंगे) किन्तु यह कहना कि वे ही इतिहास की एक मात्र शक्ति है, गलत है। फिर प्रश्न तो यह है कि जिसे हम मनोवृत्ति या भावना या भावुकता कहते है, वह भी तो कोई स्थायी वस्तु नही है। उदाहरण स्वरूप यौथ समाज के युग मे जिसे हम आज प्रणयगत ईर्ष्या समझते है उसका कही पता नही था। इसी प्रकार जिसे हम साम्पत्तिक भावना कहते है वह भी उस रूप मे यौथ उत्पादन के युग मे नही थी। इसलिए केवल व्यक्ति या इसके मन को इतिहास की केन्द्रीभूत शक्ति मानना गलत होगा।

शासकगण निन्दित होते हैं, जनता का एक हिस्सा फिर सुधार का नारा देता है, और यह कहता है कि शासको पर नियत्रण होना चाहिये। ये सुधार तथा नियत्रण के सोपान है। हमने इतिहास का जो थोडा बहुत विश्लेषण किया है, उससे देखा जाय तो लॉगलोवा और सेनोवो का मत कितना धुँधला ज्ञात होगा। एक बार रिवाज बने, फिर टूटने लगे, फिर इन पर नियत्रण की माँग हुई, यही उनके सारे ज्ञान का निष्कर्ष हैं। आखिर ये रिवाज क्यो उत्पन्न हुए, क्यो उनका अनुकरण हुआ, क्यो वे टूटे, क्यो कुछ रिवाजो का अनुकरण होता है, और कुछ का दमन ? इन प्रश्नो का इन लेखको के निकट कोई उत्तर नही है। इस प्रकार ये लेखक बीच ही मे ठहर जाते हैं, और समझते है कि उन्होने समाज के गतिशास्त्र के रहस्य को समझ लिया। यह जो बतलाया गया है कि नये रिवाज या सस्था व्यक्तियो की स्वेच्छाचारी बुद्धि से उत्पन्न होती है, आखिर इन व्यक्तियो मे यह बुद्धि क्यो आती है ? जिस समय यौथ समाज का आर्थिक आधार टूटने लगा उस समय थोडे से लोग जोडे की शादी के रूप मे समाज के विरुद्ध विद्रोही हो गये। अब तक यह रिवाज था कि एक जन (Jens) के सारे पुरुष दूसरे जन की सारी स्त्रियो के पति होते थे, इसलिए जिन्होने जोडे की शादी का नया रिवाज चलाया वे यौथ समाज के विरुद्ध विद्रोही थे। इस विद्रोह की प्रेरणा के मूल मे जब हम जाते हैं तो देखते है कि यौथ समाज के गर्भ मे विकासमान वैयक्तिक सम्पत्ति ही वह नीव थी जिस पर उनकी इस नई भावुकता की इमारत खडी हुई थी। फिर भी मानना पडेगा कि लागलोवा और सेनोवो यथार्थता के बहुत पास पहुँच गये, हाँ वे मूल तक नही पहुँच सके, ऐसा करने मे बुर्जुआ समाज को खतरा था।

२०—हमेशा से पूजीवाद है, और रहेगा सिद्धान्त—सत्य से बचने के लिए अकर्मण्य लोगो ने तथा बुर्जुआ लोगो ने तरह-तरह के मतवादो की सृष्टि की है। कही मनोविज्ञान की आड ली गई है तो कही व्यक्तित्व के रहस्यमय क्षेत्र मे लोग भटक गये है, यह कोई आश्चर्य की बात नही है। वे वर्ग-सघर्ष को छिपाना चाहते थे, इसी लिए उन्होने इस प्रकार के मनमाने मतो का प्रतिपादन किया। वे कई क्षेत्रो मे सत्य के बहुत इर्द-गिर्द रहे, बल्कि सच कहा जाय तो उनके लेखो मे सत्य की झलक आ गई, किन्तु फिर भी वे असली बात को टाल

गये––ऐसे मौके पर टाल गये जब उसको टालने से उनका सारा लेख बिलकुल तर्क-विरुद्ध होकर रह गया। यह भी एक मजे की बात है कि उदीयमान पूँजीवाद-युग के लेखको ने वर्ग-सघर्ष को अपनी समाजशास्त्र-सम्बन्धी खोजो का आधार बनाया था––वर्ग-सघर्ष के सिद्धान्त के आविष्कर्त्ता मार्क्स नही बल्कि उनके पहले के कुछ बुर्जुआ लेखक है (हम बाद को इसका ब्यौरा देगे) किन्तु, यह तो उस युग की बात थी जब पूजीवाद स्वय एक निर्यातित शक्ति थी। ज्योही पूँजीवाद अधिकारारूढ हो गया, उसके लेखको मे परिवर्तन की सूचना हुई। अब तक उन्हे यह दिखाना था कि सामन्तवाद एक अस्थायी सामाजिक व्यवस्था है, इसलिए वे वर्ग-सघर्ष का प्रतिपादन करते रहे, किन्तु अब तो उन्हे यह दिखाना था कि पूँजीवाद चिरन्तन है, उसमे कोई क्षय नही है, इसलिए उनकी रचनाओ का आधारभूत सुर बिलकुल बदल गया। अब यह दिखाया जाने लगा कि पूँजीवाद सभी देशो मे और सभी युगो मे रहा है। फ्रेच राज्यक्रान्ति के पहले के पूँजीवादी (और उस समय पूँजीवाद चूँकि क्रान्तिकारी था, इसलिए हम कहेगे, क्रान्तिकारी पूँजीवादी) तत्त्ववेत्ता यदि यह सुनते कि सामन्तवाद चिरन्तन है तो वे कितना चौकते? जो कुछ भी हो इ० मेयर, बेलारख, पोलमान, रोस्टोवस्टेव आदि लेखक पूँजीवाद को प्राचीन यूरोप मे, मध्ययुगीन इतिहास मे, प्राचीन जर्मनो मे तथा शारलमेन (charlemagne) के राज्य मे पाते है। 'फ्रेच इतिहास-वेत्ता हाउसेर इसी प्रकार सोलहवी तथा सत्रहवी सदी मे विकसित पूँजीवाद का अस्तित्व देखते है, और इस प्रकार वे जहाँ तक हो सका है पूँजीवाद के जन्मकाल को पीछे की ओर घसीट ले जाते है, जिससे यह दिखाया जा सके कि आज की समस्याएँ कोई आज की समस्या नही है, बल्कि युग-युग मे यही समस्याएँ रही है।' स्वाभाविक रूप से ऐसे लेखको का यह भी कहना है कि चूँकि पूँजीवाद बराबर से था, इसलिए बराबर रहेगा। इन लोगो का कहना है कि जातियाँ आई और गई, पृथ्वी का चेहरा बार-बार बदला, मानचित्र के रगो मे परिवर्तन हुए, किन्तु पूँजीवाद बराबर से है और बराबर रहेगा। १०१३ मे गेरलिङ्ग ने पूँजीवाद का इतिहास तथा 'सिद्धान्त' नामक एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमे उन्होने दिखलाया कि पूँजीवाद चिरकाल से सब जातियो मे रहा है। टाम्स नामक विद्वान् ने इस बात को अपने लेखो तथा व्याख्यानो मे बराबर कहा है।

सोम्बार्ट नामक कथित मार्क्सवादी लेखक ने अपना यह अजीब सिद्धान्त पेश किया है कि पूँजीवाद के साथ-साथ पहले के युग की दस्तकारी छोटी कृषक आर्थिक पद्धति, साथ ही पूँजीवाद के बाद के युग की सहकारी समितियाँ राष्ट्र, म्युनिसिपल कारखाने, मिश्रित सार्वजनिक धन्धे मौजूद रहे है, और रहेंगे। उनका तो कहना है कि मजदूरो की हालत खुद ही सुधरेगी। असली बात तो यह है कि वे वर्ग-सघर्ष के इस तार्किक उपसहार से घबडाते है कि पूंजीवाद का भी उसी प्रकार से नाश होना अनिवार्य है, जिस प्रकार से सामन्तवाद का नाश हुआ। इसलिए वे इससे बचने के लिए अजीबोगरीब सिद्धान्त पेश करते है। सोम्बार्ट के भौतिकवाद की तो यह हालत है कि स्पिरिट या भावना पर विचार इतिहास को आगे ले जाते है। यदि यह भौतिकवाद है तो भाववाद क्या है ?

२१--इतिहास स्वान्त सुखाय--तथ्यो का खब्त--जर्मनी के बुर्जुआ इतिहास लेखको मे शीर्ष स्थानीय विद्वान् रान्के इतिहास मे केवल तथ्य ही तथ्य--तथ्यो का एक अन्त हीन ताँता देखते है। इनको इन तथ्यो से किसी प्रकार किसी सामान्य नियम का पता लगाने की जरूरत नही, इसलिए मार्क्स ने इनके सम्बन्ध मे कह दिया था कि ये बस कहानियो को इकट्ठा करते है, और तमाम बडी घटनाओ को तुच्छता तथा बेहूदगी मे परिणत करते है। इन लोगो को केवल तथ्य से मतलब है। कहना न होगा, ऐसे लोगो के हाथो मे पडकर इतिहास एक निष्प्राण दन्तकटाकटी मात्र हो जाती है। इन लोगो को केवल यह जानना है कि अमुक तथ्य क्या है। रान्के तथा उनके शिष्यो के लिए घटनाओ का सही वर्णन--चाहे वे घटनाये कुछ भी हो--उच्चतम नियम है। ऐसे लेखको को कदाचित् यह जानने का अवकास नही है कि एक ही घटना भिन्न-भिन्न लोगो की आँखो मे भिन्न रूप से अर्थपूर्ण हो जाती है। जब मजदूर एक कारखाने के नजदीक या उसके सामने हडताल करते है, और मजदूरो पर गोली चलाई जाती है, तो इस घटना को मजदूर और पूँजीपति बिलकुल भिन्न दृष्टिकोण से देखते है। घटना को अवश्य ही देखना पडेगा, किन्तु घटना की पृष्ठभूमि को भी भुलाया नही जा सकता। क्या यह सम्भव है कि निष्प्राण तथ्यो को पिरोकर इतिहास बने ? ऐसा तो नही ज्ञात होता, इसलिए रान्के का तथ्यो के सम्बन्ध मे जो पागलपन है, वह समझ मे नही आता। इसे हम केवल एक तरह की लीपापोती ही

समझ सकते है। अवश्य ही ऐतिहासिक तथ्यो का अध्ययन होना चाहिए, किन्तु हम इन तथ्यो के ककाल मे रक्त सचार तभी कर सकते है जब किसी प्रगतिशील दृष्टिकोण को लेकर इतिहास को समझा लिखा—जाय। रान्के के शिष्यो मे माइनेके (Meinecke) ने यह लिखा है कि इतिहास का उच्च उद्देश्य ऐतिहासिक तथ्यो का विशुद्ध मनन है, क्योकि इस पवित्र मन्दिर मे और शान्त आश्रम मे बैठकर आत्मा को जीवन के अन्धकारपूर्ण और दुखमय पहलुओ से मुक्ति मिलती है। इस प्रकार इन लोगो के हाथो मे पडकर इतिहास का पठन-पाठन एक अध्यात्मवादी तुरीयानन्द का रूप धारण कर लेता है, और एक रोगग्रस्त प्रवृत्ति के अतिरिक्त उसमे कुछ रह नही जाता। इतिहास ऐसे लोगो के निकट स्वान्त सुखाय है। कहॉ मार्क्स का यह मानवीय—वैज्ञानिक आदर्श जो यह बतलाता है कि इतिहास के अध्ययन का हमारा उद्देश्य इतिहास को बदल सकने के लिए है, और कहॉ यह रोगग्रस्त प्रवृत्ति कि इतिहास स्वान्त सुखाय है। कहॉ वह क्रान्तिकारी नारा, और कहॉ यह अकर्मण्य आदर्श ?

२२—इतिहास का आधुनिक मनुष्य केन्द्रवादी सिद्धान्त—टचूमिनिग्रेफ ने यह दिखलाया है कि डेलवाक नामक एक जर्मन इतिहासवेत्ता का यह कहना है कि वे मनुष्य का वासस्थान होने के कारण पृथ्वी के इतिहास मे दिलचस्पी रखते है। उनका कहना है कि 'मनुष्य शरीर मे ही दिव्यशक्ति अपने को मुक्त कर सकती है, तथा सुदूर स्थित सूर्य और नक्षत्र इसलिए है जिससे कि मनुष्य यह कह सके कि यह नक्षत्र खचित आकाश मेरे सिर पर है और हममे ईश्वरीय नियम है।' एक दूसरे रूप मे यह मतवाद मध्ययुग के उस मतवाद का पुनरुद्धार मात्र है जिसमे यह कहा जाता था कि पृथ्वी जगत का केन्द्र है, सूर्य उसी की प्रदक्षिणा करता है, क्योकि मनुष्य इसमे निवास करता है। कहना न होगा यह मतवाद इतिहास ऐसे जीवन मे ओतप्रोत विषय को बिल्कुल नपुंसक बनाकर उसे अध्यात्मवाद के रथ मे जोत देता है। इससे इतिहासाध्ययन की क्रान्तिकारी प्रवृत्ति जाती रहती है, यह तो स्पष्ट ही है।

२३—क्रोचे का द्रष्टगट सिद्धान्त—आधुनिक लेखको मे क्रोचे बहुत बडे

विद्वान् है। कुछ दिनो वे मार्क्स मे भी दिलचस्पी रखते थे। क्रोचे की दृष्टि मे 'इतिहास मृत है, यह वही तक जीवित है, जहाँ तक यह हमारा ध्यान अपनी ओर खीच सकता है, और उसका विपय हो सकता है। यह भी तभी तक के लिए जब तक हमारा ध्यान उस पर केन्द्रित होता है। प्राचीन ग्रीक और रोमन शान्तिपूर्वक तब तक अपनी कब्रो मे सडते रहे, जब तक रेनेसास या पुनरुज्जीवन को युग ने आकर पुनरुज्जीवित नही किया। जर्मन वर्वर भी भुला दिये गये थे, किन्तु रोमान्टिक युग ने उन्हे पुनरुज्जीवित किया।' इस प्रकार क्रोचे के निकट इतिहास द्रष्टगत है। उनके निकट इतिहास का कोई जीवनप्रद अस्तित्व नही है। वह केवल मानसिक कसरत का एक क्षेत्र है। फिर भी यह मानना पडेगा कि क्रोचे के विचार अन्य वुर्जुआ लेखको से अधिक प्रगतिशील है, क्योकि उसमे फिर भी मृतकाल को वर्तमान के द्वारा जीवित करने की वात है, किन्तु बस यही तक। वे भविष्यकाल तक नही जाते।

ए० आई० ट्यूमेनयेफ ने इस बात की एक सूची सी तैयार कर दी है कि कौन से वुर्जुआ विद्वान् किन शक्तियो को इतिहास की परिचालिका शक्ति के रूप मे देखते है। वे लिखते है कि 'कई लेखक सामाजिक नियम का जीवविज्ञान के नियमो मे (हमप्लोविच--नस्लसिद्धान्त--समाजिक सहजात प्रवृत्तियो का सिद्धान्त तो विशेषकर अमेरिका मे फैला हुआ है), कई शरीर विज्ञान के नियमो मे (समाजशास्त्र मे अवयवगत सिद्धान्त यानी Organic theory in sociology) और अन्त मे बहुत से लेखक तो अक्सर मनोविज्ञान तथा विभिन्न मानसिक गुणो की अभिव्यक्ति तथा क्रिया प्रतिक्रिया के रूप मे इतिहास को देखते है। कुछ तो यह कहते है कि मनुष्यो की योग्यताओ और सर्वोपरि मानवीय बुद्धि का विकास (डेयर, वकल), कई वैयक्तिक मनोविज्ञान (तार्द, लाकोव, पाला, सिमेल, वार्ड, वाल्डविन), कई सामूहिक मनोविज्ञान और सामूहिक चेतना (डूर्कहाइम, टेनिस, लामप्रेस्त), कई जातीय मनोविज्ञान को (लेवन, फुलियर, लाजारस, स्टाइन्थहाल, वुन्डट), कई जनमन विज्ञान, भीड मनोविज्ञान जिसे नकारात्मक पहलुओ से चित्रित किया गया है (तार्द, लवाँ, मेगाल, लेनोत्र, एन० के० मेरवोलवस्की), तथा मग्नमन को (फ्रायड) कई वाहरी भौगोलिक

परिस्थिति का मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक परिस्थितियो पर जो असर होता है, उसे (वकल तथा राट जेल का नर भौगोलिक मतवाद) इतिहास की प्रधान शक्ति मानते है, इन्ही समस्याओ को लेकर वुर्जुआ लेखक काय माथा-पच्ची किया करते है।'[१] यदि टचूमिनेयेफ की सूची को देखा जाय, और उसका विश्लेपण किया जाय तो वह कुछ थोडे से मदो मे आ सकती है। इनमे से मुख्य मतवादो पर इस अध्याय मे विचार हो चुका है, कुछ पर हम बाद को विस्तार के साथ विचार करेगे।

इतिहास का हेगेलीय सिद्धान्त

१—मार्क्सवाद विज्ञान भी और कर्त्तव्यशास्त्र भी—ऐतिहासिक भौतिकवाद का सबसे मुख्य प्रतिपाद्य और कदाचित् उसका सार भाग यह है कि जिस प्रकार हम प्रकृति के नियमो को जानकर प्रकृति को नियन्त्रित कर सकते है, उसी प्रकार हम समाज की गति को जानकर समाज को नियन्त्रित कर सकते है। अन्य सब तरह के समाज शास्त्री केवल समाज की व्याख्या भर करते है, किन्तु मार्क्स के समाजशास्त्र का उद्देश्य दुनिया को जानकर उसे बदलना है। मार्क्सवाद इसलिए न केवल एक विज्ञान है, बल्कि यह एक कर्त्तव्यशास्त्र भी है, अर्थात् यह हमे बतलाता है कि हमे क्या करना चाहिए। लेनिन ने मार्क्सवाद के इस पहलू को स्पष्ट करते हुए यह लिख दिया है कि मार्क्सवाद न केवल अन्य समाजशास्त्रो से बल्कि अन्य समाजवादो से इस अर्थ मे भिन्न है कि 'उसमे विकास की दृश्यगत प्रक्रिया तथा दृश्यगत अवस्थाओ का न केवल एक सही वैज्ञानिक विश्लेषण है, बल्कि उसके साथ-साथ जनता, व्यक्ति, गुट, सगठन तथा ऐसे दलो की (जो जनता के साथ सम्पर्क कायम कर सकती है) क्रान्तिकारी क्रियाशीलता, क्रान्तिकारी सृजन शक्ति तथा क्रान्तिकारी कर्मशक्ति के महत्त्व की बहुत जोरदार स्वीकृति पाई जाती है।'[१] सामाजिक शक्तियो का वैज्ञानिक विश्लेषण स्वय एक बहुत बडी बात है, किन्तु यदि इसके साथ-साथ उसमे इस बात का स्पष्टता पूर्वक निर्देश न दिया गया हो कि कर्त्तव्य क्या है तो वह बहुत कुछ जीवनहीन शुष्क वितडा मात्र होगा।

वैज्ञानिक समाजशास्त्र केवल समाज की गति का दिग्दर्शन कराकर, उसकी गति का रहस्योद्घाटन कर चुप नही रहा जाता, बल्कि वह इसके साथ ही मनुष्य को आगे के कर्त्तव्य के लिए भी उद्वुद्ध करता है। जहाँ तक वह केवल पहले कार्य को करता है, यानी वैज्ञानिक तरीके पर समाज की गति का मर्मोद्घाटन करता है, और दृश्यमान अनियम के अन्दर नियम का अखड राज्य

१ D M A p 75

स्थापित कर देता है, वहाँ तक वह एक विज्ञान है, किन्तु इसी मे उसके कर्त्तव्य की इति नही हो जाती। वैज्ञानिक समाजशास्त्र के आविष्कार के पहले के युगो के दार्शनिको का कार्य केवल मानसिक उडानो के सहारे विश्व की व्याख्या करना था। तरह-तरह से दिमाग दौडाकर बाल की खाल निकालकर, दूर-दूर की कौडियाँ लाकर वे केवल व्याख्या से ही सन्तुष्ट रहते थे, किन्तु वैज्ञानिक समाजशास्त्र ने न केवल इनकी विज्ञान-सम्मत बल्कि वास्तविकता सम्मत व्याख्या की अर्थात् वास्तविकता से नियम निकाले और इस व्याख्या को व्यवहारिक इतिहास की कसौटी पर सही साबित किया। सच बात तो यह है कि इतिहास ने पहले-पहल एक सिलसिला स्थापित किया, बल्कि इसके साथ ही उसने किये गये विश्लेषण के आधार पर यह बताया कि समाज की गति आगे इस ओर रहेगी, और इस प्रकार के कार्य करने से समाज की शक्तियो को विकसित करने मे सहायता देना होगा।

२--इतिहास की गति किस ओर है, जानना सम्भव--बोल्शेविक दल का उदाहरण--किस ओर जाने से समाज की उत्पादनशक्तियाँ विकसित होगी, इसे वैज्ञानिक समाजशास्त्र बडे परिश्रम मे बताता है। प्रगति और प्रतिक्रिया की परिभाषा के लिए यह जरूरी है कि हम जाने कि समाज की गति किस ओर है। वर्तमान समय मे वह किस ओर है, यह जानना तो बहुत ही जरूरी है। इस गति ज्ञान के बगैर हम कैसे जान सकेगे कि क्या प्रगति है और क्या प्रतिक्रिया है? प्रगति और प्रतिक्रिया ये दोनो शब्द तुलनात्मक है। प्राचीन दर्शन शास्त्रो मे यहाँ तक कि अपने युग के लिए प्रगतिशील दर्शनशास्त्रो की भी यह मौलिक गलती थी कि वे गतिहीन रूप से प्रगति और प्रतिक्रिया की कल्पना करते थे, किन्तु वैज्ञानिक समाजशास्त्र की विशेषता यह है कि इसमे प्रगति की भी प्रगतिशील परिभाषा की जाती है। इसलिए किसी विशेष युग मे क्या प्रगतिशील है और क्या प्रतिक्रियावादी है इसे जानने के लिए उस युग की सामाजिक, आर्थिक शक्तियो का प्रवाह किस ओर है, जमाने की चाल किधर को है, यह जानाना जरूरी है। रहा यह कि इतिहास की गति किस ओर है, इसे पहले से जानना सम्भव है या नही, इस पर तर्क हो सकता है। ट्राटस्की ने अपनी पुस्तक 'रूसी क्रान्ति' मे इस विषय का अच्छा विवेचन किया है। उन्होने

लिखा है कि एक क्रान्तिकारी अपनी सारी कार्यपद्धति को इस बात के आधार रूप मे मानकर चलता है कि इतिहास के गति के रुख को पहले से न केवल जानना वल्कि उसको नियन्त्रित करना भी सम्भव है। 'वोल्शेविकवाद की ऐतिहासिक गति ने इस बात को प्रमाणित कर दिखला दिया कि इस प्रकार से पहले से हिसाब लगाना तो कम से कम एक मोटे तौर पर सम्भव है ही।' एक क्रान्तिकारी युग मे जब हर घडी परिवर्तन हो रहे है, उस समय हवा किस ओर वह रही है तथा किस ओर वहेगी, इन दोनो वातो को मोटे तौर पर जाने वगैर सही माना मे कोई नेतृत्व नही हो सकता। दल का तथा नेता का कर्त्तव्य यही है कि वह इस रुख को पहिचाने, इसके विरोध मे खडी शक्तियो तथा सहयोगी शक्तियो को जाने, और तव अपने मोहरो को चलावे। इसलिए इसका ज्ञान वहुत ही आवश्यक है। ऐसे ज्ञान के लिए प्रत्येक वर्ग के क्या हित है, तथा उसकी भावुकताये किस ओर जा सकती है, इसे जानना वहुत जरूरी है। यह वात सही है कि इस प्रकार का ज्ञान वहुत ही कठिन है, स्वय मार्क्स और एगेल्स कई वार घटनाओ को, उदाहरणार्थ १८४८ मे योरप मे क्या होने जा रहा है, इसे व्यौरे मे नही समझ पाये,* तभी तो इस ज्ञान को प्राप्त करने

---

* एगेल्स ने 'फ्रास मे वर्गयुद्ध' की भूमिका लिखते हुए एक सच्चे वैज्ञानिक की तरह यह मान लिया कि 'इतिहास ने हमे गलत प्रमाणित किया, और दिखला दिया कि हम उन दिनो जो वात रखते थे, वह भ्रान्त था। इतिहास इससे भी आगे गया, इसने न केवल हमारी इस गलती को सुधार दिया, वल्कि इसने उन परिस्थितियो को बिल्कुल वदल दिया, जिनमे आगे सर्वहारा वर्ग को सग्राम करना पडेगा'। १८४८ के सम्बन्ध मे इनकी जो गलती थी, वह यह थी कि वे उस समय के सर्वहारावर्ग की जागृति को देखकर यह समझते थे कि सर्वहारा क्रान्तियाँ होने ही वाली है, किन्तु एक तो सर्वहारावर्ग अभी इस योग्य नही हुआ था कि राष्ट्र की वागडोर अपने हाथो मे ले सके, दूसरे अभी तक पूजीवादी वर्ग उन्नतिशील था इसलिए उसका विनाश नही हो सकता था। १८४८ से लेकर उद्योगधन्धो मे जो वृद्धि हुई, उसी के कारण प्रतिक्रिया का युग आया। इस सम्वन्ध मे यह स्मरण रहे कि अभी मार्क्स और एगेल्स ने अपने सिद्धान्त का केवल प्राथमिक रूप से ही प्रतिपादन किया था।

के लिए अधिक से अधिक प्रयत्न की आवश्यकता है। जनजागृति के घनत्व मे तथा स्वय जनता को बनानेवाले अशो मे क्या दिनानुदैनिक परिवर्तन हो रहे है, वर्गशक्तियो का किस प्रकार सतुलन बदल रहा है, इन सब बातो को जानना दल तथा नेता का परम कर्त्तव्य है। रूस के बाल्शेविक दल का इतिहास तो इस बात का प्रमाण है कि इस प्रकार से इतिहास के नियमो को जानकर इतिहास निर्माण करना सम्भव है, इसलिए १९१७ की क्रान्ति के बाद से मार्क्स-एगेल्स द्वारा पद्धतिगत रूप से आविष्कृत समाज गतिशास्त्र एक प्रतिष्ठित ज्ञान की मर्यादा प्राप्त कर चुका है।

जनता जब किसी क्रान्ति मे कूद पडती है, तो वह यह सोचकर नही कूदती कि वह क्रान्ति कर रही है, बल्कि वह एक तीव्र भावना को लेकर चलती है कि अब आगे चीजे उसकी सहनशक्ति के बाहर है। इसी लिए यह और भी जरूरी हो जाता है कि सज्ञानरूप मे चीजो को चलाया जाय, और इसके लिए यह जरूरी है कि सही ढग से चीजो को समझा जाय।

३—वैज्ञानिक समाजशास्त्र एक विज्ञान है—अमुक समय चन्द्र या सूर्य ग्रहण होगा, अमुक समय अमुक नक्षत्र अमुक स्थान पर होगा यह ज्योतिष मे बतलाया जा सकता है। इसी प्रकार बाढ, आँधी, पानी आदि के सम्बन्ध मे भी विज्ञान भविष्यवाणी करने लगा है, यद्यपि अभी वह पूर्ण विज्ञान नही हुआ है। क्या इसी प्रकार सामाजिक शक्तियो के सम्बन्ध मे भी कहना सम्भव है कि अमुक दिन इतने बजकर इतने मिनट पर क्रान्ति होगी? यदि नही तो फिर समाजशास्त्र को विज्ञान कैसे कहा जा सकता है? बात यह है कि सूर्य ग्रहण ऐसी घटनाओ मे मनुष्य की इच्छा का कोई सवाल नही उठता। वे इच्छाओ से स्वतत्र रूप से घटित होते है, किन्तु समाज की गति के सम्बन्ध मे यह बात नही कही जा सकती, बल्कि समाज की गति मनुष्यो की इच्छा पर भी निर्भर है, अवश्य अन्तिम विश्लेपण मे मनुष्यो की ये इच्छाएँ भौतिक कारणो पर निर्भर है, किन्तु जब वे एक बार जन्म ले लेती है, तो वे एक हद तक एक स्वतत्रशक्ति भी हो जाती है। मार्क्सवाद इन इच्छाओ से इन्कार नही करता, बल्कि उनकी व्याख्या करता है अर्थात् उनके अन्तर्निहित कारणो का उद्घाटन करता है। समाजशास्त्र अभी इतनी हद तक विज्ञान तो हो ही चुका है कि वह

हमे बतला सकता है कि घटनाओ का रुख किस ओर है, किन्तु अभी घडी और मिनट का निर्णय करना कठिन है, फिर भी यदि रीड की बात का वि विश्वास किया जाय तो लेनिन ने नवम्बर क्रान्ति के विषय मे पहले ही से कहा था कि ६ तारीख को क्रान्ति करना जल्दी बहुत करना होगा, और ८ को करना बहुत देर कर देना होगा, अतएव ७ ही को सर्वहारा का हमला हो जाना चाहिए। इस प्रकार यह मानना पडेगा कि एक सुलझा हुआ नेता घडी और मिनट का भी निर्णय कर सकता है। जैसे अणुवीक्षण यत्र का इस्तेमाल सभी नही कर सकते इसके लिए शिक्षाप्राप्त आँखे चाहिये उसी प्रकार समाजविज्ञान के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति बिल्कुल सही सही भविष्य वाणी नही कर सकता। केवल एक सुलझा हुआ नेता अधिक से अधिक तथ्यो को ख्याल रखकर ही किसी निर्दिष्ट निर्णय पर पहुँच सकता है। अभी यह आशा करना गलत है कि प्रत्येक व्यक्ति ऐसे जटिल शास्त्र का प्रयोग इस हद तक कर सकेगा कि वह भविष्य वाणी करने मे समर्थ हो। अतएव और किसी बात की आलोचना करने के पहले हम मनुष्य समाज के विकास पर वैज्ञानिक, ऐतिहासिक दृष्टि डालेगे।

४—हेगेल ने ही पहले पहल इतिहास को विकासमान प्रक्रिया रूप में देखा—हम यह पहले ही बता चुके है कि मार्क्स के पहले इतिहास लेखन कला मे बडी ही अन्धा धुन्धी फैली हुई थी। सच बात तो यह है कि मार्क्स के पहले हेगेल (१७७०-१८३१) ने इतिहास को सिलसिले के अन्दर लाने की कोशिश की, यद्यपि अपने भाववादी विचारो के कारण वे इसमे पूर्णत सफल नही हो सके, किन्तु उन्होने जिस नीव की स्थापना की मार्क्स ने उसी का इस्तेमाल कर इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या मे सफलता प्राप्त की। इस सम्बन्ध मे हेगेल की सेवाये महान है, साथ ही हेगेल को समझने पर मार्क्स को समझना आसान होगा, इसलिए हम कुछ विस्तार के साथ हेगेल के मत का दिग्दर्शन करायेगे। हेगेल को यहाँ तक कि उनके इतिहास सम्बन्धी मतवाद को समझने के लिए उनकी द्वन्द्वात्मक पद्धति को समझने की आवश्यकता है।

५—हेराक्लिटस की द्वन्द्ववादी पद्धति—हेगेल से २५०० वर्ष पहले हेराक्लिटस (५४०-४७५ ई० पू०) के तर्कशास्त्र मे द्वन्द्वात्मक पद्धति भ्रूण रूप से मौजूद थी। हेराक्लिटस ने निरवच्छिन्नता की ऊल जुलूल धारणा को

नष्ट कर दिया, और कहा कि 'प्रत्येक वस्तु बराबर परिवर्तन की प्रक्रिया में है। सभी चीजें हैं भी और नहीं भी हैं, क्योंकि यद्यपि वास्तव में प्रत्येक चीज मौजूद है, किन्तु साथ ही वह खतम भी हो रही है।' हेराक्लिटस ने कहा कि हम एक नदी में दोबारा प्रवेश नहीं कर सकते। इस कथन की क्रान्तिकारी सम्भावना बहुत महान् है। इसी को मानो जारी रखते हुए उन्होंने कहा था कि 'जो आम है वही सत्य है, जो अपवाद है वही मिथ्या है। जो मरणशील मन की समझ के बाहर है, वह सत्य नहीं है, बल्कि स्वप्न है, ज्ञान नहीं है, भ्रम है।'[१] हेराक्लिटस ने नास्तित्व में अस्तित्व तथा अस्तित्व में नास्तित्व में घटनाओं के क्रमागत रूप से परिवर्तन की बात कही थी। साथ ही उन्होंने यह कहा था कि एक स्वरूप से दूसरे स्वरूप में क्रमशः परिवर्तन हो रहा है। विरोधी वस्तुओं की एकता में उनका विभाजन तथा विभाजन में फिर एकता में आना जाना लगा रहता है। हम देखेंगे कि इस प्रकार हेराक्लिटस के मन में बीज रूप में हेगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति मौजूद थी। हेगेल ने स्वयं भी माना है कि उनका जो प्रसिद्ध सिद्धान्त है Sein und Nichtsein is dasselbe अर्थात् होना या न होना एक है, वह हेराक्लिटस के मतवाद में आ चुका था।[२]

स्पिनोजा द्वन्दात्मक तर्क शैली के मानने वाले थे, किन्तु फिर भी वह अंग्रेजी विचारधारा के प्रवाह मे बिल्कुल अचल हो चुकी थी। सकुचित क्षेत्र मे दार्श-निक क्षेत्र के बाहर भी फ्रेन्चो मे इस तर्कशैली के कई अच्छे ग्रन्थ लिखे गये। यहाँ पर केवल दिदरो लिखित Le neveu de Rameau तथा रूसो लिखित 'असामानता की उत्पत्ति' का उल्लेख करना ही यथेष्ट है।[१]

७—हेगेल प्रथम वैज्ञानिक द्वन्द्ववादी—हेगेल के पहले ही हेगेल की तर्क-पद्धति अविकसित रूप में मौजूद थी, किन्तु फिर भी उसको एक वैज्ञानिक रूप देने का तथा विरोधी वस्तुओ की एकता के तार्किक नियमो को स्थापित करने का एक मात्र गौरव हेगेल को दिया जाना चाहिए। हेगेल की यह तर्क शैली क्या है, और वह किस प्रकार इतिहास की व्याख्या पर लागू की जाती है, इसे हम देखेंगे।

आम तौर से यह समझा जाता है कि दो विरोधी बाते एक दूसरे के सम्पूर्ण बहिभूत है, जैसे यह समझा जाता है कि अस्तित्व के विचार मे नास्तित्व नही आता है। हेगेल ने कहा कि इस प्रकार की तर्कना गलत है। उन्होंने कहा कि प्रत्येक बात असगतियो से पूर्ण है, असगति ही उसके अस्तित्व का सार भाग है, यह एक बात या वस्तु इसलिए मौजूद है कि उसमे विरोधी बातो की एकता है। हेगेल के अनुसार पहला स्थूल विचार होना (seiu) है। इसका विपरीत विचार न होना (nichtseiu) है। हेगेल कहते हैं कि इन दोनो को मिला दो तो वह अस्तित्व—becoming (werdeu) हो जाता है, और यह जो werdeu है, वह एक वास्तविकता है। बहुत सक्षेप मे हेगेल की द्वन्द्वात्मक तर्क पद्धति यही है। अब यह पूछा जाय कि ऐसा कैसे होता है तो इसका कोई उत्तर हेगेल नही देते। 'हेगेल केवल इतना उत्तर देते है कि इस प्रकार यह वास्तविकता हो जाती है, किन्तु उससे प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता।'

८—होना और न होना एक है—इसका हदाहरण—इतने से शायद स्पष्ट न हो इसलिए हेगेल का दिया हुआ एक उदाहरण भी दिया जाता है। उनका कहना है कि विशुद्ध रोशनी मे यानी ऐसी रोशनी मे जिसमे रग या छाया का

१ A D E

यह है कि ईश्वर दर्शनशास्त्र मे अपने विषय मे सज्ञान होते है, और इस प्रकार अपने उच्चतम विकास को प्राप्त कर लेते है। अपने विषय से बाहर होने के कारण हम इस ओर अधिक नही जाएँगे, किन्तु इतना बता देना जरूरी है कि हेगेल अपने द्वन्द्ववादी नियम के क्षेत्र मे स्वय ईश्वर को भी ले आने से नही छोडते।

१०—परिमाणगत परिवर्तन से गुणगत परिवर्तन—हेगेल के तर्कशास्त्र मे एक और मौलिक नियम यह है कि किसी वस्तु के अन्दर जो परिमाणगत या मात्रागत परिवर्तन होता है, वह जाकर गुणगत परिवर्तन हो जाता है। गुण-गत परिवर्तन का यह मुहूर्त छलाग का मुहूर्त है। लोग साधारणत कहते थे कि Historia non facit saltus इतिहास मे छलागे नही हुआ करती, फिर भी क्रान्तियाँ होती ही है। हेगल ने प्रति पक्षियो की आलो-चना का उत्तर देते हुए कहा था, 'यह कहा जाता है कि प्रकृति मे छलाग नही होती। साधारण रूप मे जब उत्थान या विनाश की कल्पना क्रमिक रूप से की जाती है, तभी वह ठीक समझी जाती है। किन्तु हम देखते है कि होने का परिवर्तन केवल आम तौर पर एक परिमाण से दूसरे परिमाण मे परिवर्तन नही है, बल्कि परिमाण से गुण और गुण से परिमाण मे परिवर्तन होता है। ठढा किए जाने पर पानी धीरे-धीरे कीचड की तरह शक्ल से कठिन होकर बर्फ नही होता, बल्कि एकाएक कठिन हो जाता है। सच बात तो यह है कि जमने के बिन्दु पर पहुँचने पर वह तरल रह सकता है (यदि वह निश्चल रहे), किन्तु जरा भी हिलाने ही वह फौरन कडा हो जाता है।'[१]

११—ब्राउनीय गति और मात्रागत परिवर्तन से गुणगत परिवर्तन—मार्क्स ने हेगेल ही से यह विचार लिया था कि द्वन्द्व के जरिए से विकास होता है। इसलिए यह विचार मार्क्सवादी विचारधारा का भी एक प्रमुख अग है। लेवी ने विज्ञान के क्षेत्र मे इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण दिया है। "विज्ञान मे ब्राउनीय गति (Brownian movement) नाम से एक गति है। किसी तरल पदार्थ मे भून के बहुत छोटे परमाणु डाल दिए जाते है, उस तरल पदार्थ को बडी देर तक स्थिर रखा जाता है, और जहाँ तक सम्भव होता है किसी चीज से उसे हिलने या हवा लगने नही दिया जाता। जब काफी देर

१ Logic by Hegel book I quoted in E H M

के बाद यह समझा जाता है कि वह पदार्थ स्थिर हो गया है, तब उसको अनुवीक्षण यंत्र से देखा जाता है। ऐसा करने पर ऐसा मालूम होता है कि वे टाले हुए परमाणु टेढे-मेढे तरीके से झटके के साथ चल रहे हैं। यह दिखाया जा सकता है कि उनकी रफ्तार और 'मनमानी गति तरल पदार्थ के गतिशील अणुओं के साथ संघर्ष में आने की क्रिया के साथ सामंजस्य पूर्ण है। इसी को ब्राउनीय गति कहते है, और इसी प्रभाव पर तरल पदार्थों का आणविक (molecular) सिद्धान्त निर्भर है। जो कुछ भी हो, यदि सारे तरल पदार्थ को एक वस्तु के रूप में लिया जाय तो वह स्थिर है, किन्तु उसके अन्दर जो अणु हैं जिनसे वह बना है, वे बराबर गतिशील हैं। इस प्रकार एक ही समय में गति और विराम, आकड़ेगत दृष्टि से विराम और आणविक दृष्टि से गति मौजूद है। अब यदि इस तरल पदार्थ को गर्मी पहुँचाई जाय, किन्तु फिर भी इसे साधारण तौर पर स्थिर रखा जाय तो उसके अन्दर की गति बढती है। उस समय हम कहते हैं कि और अधिक उत्ताप जज्ब करने के कारण उसकी आन्तरिक स्फूर्ति (internal energy) बढ रही है।"[१] इस प्रकार उसके अन्दर के अणुओं की आपसी टक्कर बढते-बढते इस हद तक पहुँच जाती है, जिसे हम उबाल कहते हैं। जब यह संघर्ष और जोर पकड़ती है, तो वह तरल पदार्थ भाप में परिणत हो जाता है, इस प्रकार क्रमिक मात्रा गत परिवर्तन से एक हद पर पहुँच कर गुणगत परिवर्तन हो जाता है।

१२—रस्सी, बायलर, पत्थर, तिनका, रोटी का उदाहरण—बुखारिन ने परिमाणगत परिवर्तन से गुणगत परिवर्तन के दो एक और सहजबोध्य उदाहरण दिए हैं। यदि एक रस्सी में कुछ वजन झुलाया जाय और उसमें धीरे-धीरे वजन बढाया जाय, तो वह एक हद तक बढते हुए वजन को बरदाश्त कर लेगी किन्तु बिन्दु पर जाकर पट से टूट जाएगी। इसी प्रकार एक बायलर में एक मात्रा तक भाप बढाई जाय तो बढ सकती है किन्तु उसके बाद एकाएक बायलर फट जायगा। इसी प्रकार कई आदमी मिलकर एक पत्थर को उठाने की चेष्टा करते हैं तब एक आदमी और लगता है, किन्तु फिर भी वजन को उठा नहीं पाते। बाद को एक दुबली बुढिया उसमें हाथ लगा देती है, और तब वह वजन

१ P. M. M. p 108-9

उठ जाता है। बुखारिन के इस उदाहरण मे जो सत्य है वही दूसरे रूप मे सुप्रसिद्ध अँगरेजी कहावत, 'It is the last straw that breaks the camel's back अर्थात् ऊँट की पीठ पर बडे वजन रखने पर भी कुछ नही होता किन्तु एक आखिरी तिनके मे पीठ टूट जाती है' मे है। इसमे तिनका वह विन्दु है जहाँ पर पीठ और बर्दाश्त नही कर सकती।

टालस्टाय की एक कहानी में एक व्यक्ति एक के वाद एक रोटी खाता जाता है। प्रथम रोटी के खाने के वाद उसका पेट नही भरता, द्वितीय के वाद भी वह भूखा रहता है, तृतीय के वाद भी कुछ भूख रह जाती है, किन्तु इसके वाद ही वह एक टुकडा खा लेता है तो उसका पेट भर जाता है। इस पर वह अफसोस करता है कि क्यो उसने इतनी रोटियाँ खर्च की, पहले ही वह टुकडा क्यो न खाया। हम जानते है कि वह व्यक्ति गलती पर था। रोटियाँ विना खाये टुकडा काम न देता।[१]

१३—इतिहास पर हेगेल—इतिहास के क्षेत्र मे अपने तर्कशास्त्र को लागू करते हुए हेगेल कहते है कि इतिहास मूल विचार भाव का ही दृश्यगत विकसित रूप है। यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा वह अपनी व्याख्या आप कर सचेतनता प्राप्त करता है। ऐसा वह वाद, प्रतिवाद और युक्तवाद (thesis, anti-thesis and synthesis) की प्रक्रिया मे करता है। इस प्रकार हेगेल का कहना यह है और यही इतिहास के सम्वन्ध मे उनके सिद्धान्त की मूलगत वात है कि विचार या भाव से ही अस्तित्व उत्पन्न होता है। हेगेल के अनुसार एक विचार आता है, और उसी विचार के अनुरूप अवस्थाएँ पैदा होती हैं। दूसरा विचार आता है, वह उससे टक्कर लेता है। फिर इन दोनो विचारो के टक्कर से एक तीसरा विचार उत्पन्न होता है, इसी प्रकार इतिहास चलता रहता है। हेगेल के अनुसार महापुरुष अपने युग के विचार के प्रतीक या अवतार स्वरूप है। युग का जो विचार है, वही उस युग की राजनीति, धर्म, विज्ञान, कानून मे प्रतिफलित होता है। हेगेल इतिहास सवधी वल्कि अपनी इस द्वन्द्ववादी तर्क पद्धति के इतने पक्के है कि वे ईश्वरवादी होते हुए भी यह मानने के लिए तैयार नही कि ईश्वर इस पद्धति से वाहर है,

१ H M p 80-81

और उसने विश्व की सृष्टि की। वे कहते है कि दुनिया एक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया मे ईश्वर तभी उत्पन्न होते है, जब निरवच्छिन्न भाव (Absolute idea) अपने आत्म विकास की प्रक्रिया को खतम कर लेता है। इन गहरे आध्यात्मिक-रहस्यवादी क्षेत्रो मे जाने के बजाय, इस अवसर पर इतना ही समझना यथेष्ट होगा कि हेगेल सृष्टि को एक क्रिया नही मानते, बल्कि एक चिरन्तन प्रक्रिया, एक की हुई बात नही, बल्कि एक चिरन्तन रूप से होता हुआ आन्दोलन मानते है। अब यह पूछा जाय कि यह प्रक्रिया कहाँ से शुरू हुई, क्या वह कुछ भी नही मे शुरू हुई, तो इस पर हेगेल का उत्तर पहले ही आ चुका है कि कुछ तथा कुछ भी नही दोनो एक है। यदि इसका कोई अर्थ हो सकता है तो यही कि हेगेल विश्व की उत्पत्ति तथा इतिहास को एक प्रक्रिया भर मानते है जो आदिम प्रक्रिया से उत्पन्न हुई। स्पिनोजा की तरह हेगेल यह विश्वास करते थे कि यह विश्व एक बुद्धिसगत पद्धति है, और इसमे भी प्रत्येक वस्तु मे पारस्परिक सम्बन्ध है। इसलिए हेगेल के अनुसार इतिहास को समझने के लिए उसके सिलसिले तथा पूर्वापर सम्बन्ध को विकसित रूप मे समझने की आवश्यकता है।

१४—इतिहास पर यात्रिक भौतिकवादी—हेगेल के तर्कशास्त्र मे दुर्बोधता है फिर भी 'सामाजिक घटनाओ मे द्वन्द्वात्मक तर्कपद्धति के प्रयोग ने एक क्रान्ति ही पैदा कर दी। बिना अत्युक्ति के यह कहा जा सकता है कि हम मनुष्य जाति के इतिहास को इसी के कारण नियम द्वारा नियत्रित एक प्रक्रिया के रूप मे सोचने मे समर्थ हुए है।'[१] औरो की बात दूर रही प्राक् हेगेल युग के भौतिकवादी (द्वन्द्वात्मक नही यात्रिक) इतिहास या मनुष्य समाज के विकास की कोई धारणा ही नही रखते थे। वे किसी युग को मूर्खतापूर्ण तथा किसी युग को कुछ और विशेषण देकर सन्तोष कर लेते थे। मनुष्य के इतिहास के विभिन्न युगो को विकास की एक लडी मे पिरोने के विचार मे वे कोसो दूर थे। फ्रेन्च दार्शनिक मध्ययुग से असन्तुष्ट थे, इसलिए वे उस युग के प्रति कुछ अपशब्द इस्तेमाल करने मे ही अपनी इतिहास-चर्चा की सीमा समझते थे। 'सुप्रसिद्ध भौतिकवादी हेलवेसियस के नजदीक मध्ययुग बेहूदगी की पराकाष्ठा थी। हेगेल

१ E H M, p

ने मध्ययुग की सस्थाओ तथा तौर तरीको की तारीफ के पुल तो नही बाँधे, किन्तु वे इस युग को मानव-जाति के इतिहास की एक अपरिहार्य कडी अवश्य मानते है। इसके अलावा वे यह भी देखते है कि मध्ययुग के सामाजिक जीवन की आन्तरिक असगतियो मे ही आधुनिक समाज की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार फ्रेन्च भौतिकवादी दार्शनिक धर्म को मनुष्य के कुसस्कारो से तथा पुरोहितो और पैगम्बरो की बेईमानी तथा ढोग से उत्पन्न करार देकर चुप बैठ गए। उन्होने धर्म को गिराने के लिए इतना समझ लिया था कि धर्म प्रतिक्रियावादियो के हाथो मे एक शक्ति है, इसलिए उससे लोहा लेकर उसे रसातल पहुँचाना है। इससे अधिक वे नही जानते थे। उन लोगो ने धर्म के वैज्ञानिक अध्ययन की चेष्टा नही की, किन्तु हेगेल के द्वन्द्वात्मक भाववाद ने इस प्रकार के अध्ययन के लिए जमीन तैयार कर दी।

१५—योरोपियनो के विचार और हेगेल—जब प्राक् हेगेल युग के दार्शनिक इतिहास का अध्ययन करने का कष्ट भी उठाते थे, तो वे ऐसा अपनी पद्धति को पुष्ट करने के पक्ष मे तर्क ढूंढने के लिए करते थे, या पहले की पद्धतियो को काटने के लिए करते थे किन्तु हेगेल ने कहा कि प्रत्येक पद्धति अपने समय की आमदनी है। इस कारण प्रत्येक दर्शनशास्त्र अपनी जगह पर फिट बैठता है। साथ ही उन्होने कहा कि 'जो दर्शन सबसे बाद मे पैदा हुआ है, उसे अपने से पहले के तमाम दर्शनशास्त्रो को अपने अन्तर्मुक्त करना चाहिए, और इस बात के साथ ही साथ यदि वह और तरह से भी दर्शन नाम के योग्य है, तभी समग्रतम, व्यापकतम पद्धति हो सकेगा। हेगेल पूर्व युग मे काल्पनिक आदर्श जगतो (Utopia) के सम्बन्ध मे उडानो की भरमार थी। इस प्रकार की सैकडो स्वाप्निक योजनाएँ एक से एक अलौकिक परिकल्पना रूपी वर्षा मे मेढक की तरह आविर्भूत हुई। सर टामस मोर (१४७८-१५३५) ने यूटोपिया (शाब्दिक अर्थ न कही), जान विक्लिफ (मृत्यु १३८४) ने राजतान्त्रिक साम्यवाद, बेकन (१५६१-१६२६) ने दक्षिण द्वीप पुंज के एक काल्पनिक द्वीप को अपने स्वप्नो का आधार बनाकर एक कल्पनाराज्य, यूवान वालेन्टीन आड्रे ने क्रिस्टिया पोलिस, टामस कैम्पानेल्लास (१५६८-१६३९) ने सूर्यपूरी, जेरार्ड विन्स्टन ले ने अपना एक कल्पनाजगत, जेम्स हैरिंगटन ने (१६११-

१६७७) ओसियाना की परिकल्पना पेश की है। इन सवका तथा अन्य बहुतो का उद्देश्य यही था कि समाज मे आमूल परिवर्तन हो। वे प्रचलित समाज पद्धति से ऊब चुके थे। वे चाहते थे कि क्रान्तिकारी परिवर्तन किये जायँ। उन सब को यही रट लगी रहती थी कि बस सही कानून बना दिये जायँ तो सब ठीक हो जाय, और वर्तमान विषमता और दुख के युग का खातमा होकर मर्त्य पर स्वर्ग-राज्य का प्रवर्तन हो जाए। हेगेल ने कहा कि इस प्रकार कानून बनाना राष्ट्र से अलग होकर नही सोच सकते। कानून शासन यत्र का एक स्वरूप या प्रकाशमात्र है, विधान या कानून केवल दूसरी सूक्ष्म सामाजिक शक्तियो से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध ही नही है वल्कि सारी नैतिक तथा बौद्धिक विशेपता—जिसमे उसके अन्तर्गत सारी शक्तियाँ आ जाती है, उसी का एक स्वरूप है। अतएव वह विधान वही है जो उस जाति के उपयुक्त है। इस प्रकार हेगेल ने आशिक परिवर्तन द्वारा मौलिक परिवर्तन की चेष्टा को अयुक्ति-युक्त वतलाया। साथ ही उन्होने कहा जो वास्तविक है वह बुद्धिसगत है, यदि वह बुद्धि-सगत नही हे, यदि उसकी जडे युग की आत्मा स्वरूप विचार मे नही है तो वे है कैसे ? हेगेल के इन विचारो का पूरा तार्किक परिणाम क्या-क्या हुआ, इसे देखने के पहले हम देखेगे कि हेगेल के इतिहास-सम्वन्धी विचार मे जो सिलसिला, पद्धति तथा विकास का उपादान है, वह अन्य भाववादी दार्शनिको के इसी विषय के विचारो से कितने उन्नत है।

१६—अन्य भाववादियों के इतिहास सम्बन्धी विचार और हेगेल की श्रेष्ठता—फ्रेंच लेखक वोसथे (१६८२) का कहना है कि इतिहास इस वात को उद्घाटित कर दिखलाता है कि किस प्रकार ईश्वर ने मनुष्य जाति का पथ-प्रदर्शन किया है। जर्मन भाववादी दार्शनिक लेसिंग का कहना है कि इतिहास द्वारा ईश्वर मनुष्य जाति को शिक्षा देते है।[1] यह द्रष्टव्य है कि ये लोग खुलकर ईश्वर को ले आते है, किन्तु हेगेल उसी को विचार या idea या विश्वभावना अथवा world spirit के नाम से छिपा रखते है। इसके अतिरिक्त उद्धृत मतो मे सेलिंग के अतिरिक्त किसी ने भी इतिहास की एक विकासमान प्रक्रिया के रूप मे कल्पना नही की। सेलिंग मे भी यह विचार अस्पष्ट है।

१ H M p 59

'विकासवाद की कसौटी पर कसने पर प्राक हेगेलीय दार्शनिकों का अजीब ही हाल था। उन लोगो मे इतिहास एक विकसमान प्रक्रिया है, ऐसी कोई धारणा नही थी। डेकार्ट ने तो यहाँ तक लिख मारा कि प्राचीन पुस्तको को और उनके इतिहासो तथा कहानियो को पढना केवल समय का अपव्यय है। ऐसा लिखने मे डेकार्ट का शायद यह कारण रहा हो कि उनके समय मे जो वाते इतिहास के रूप मे, घोटवाई जाती थी, उनका वाक्ई यही हाल था। आधुनिक ह्यूम का कहना है कि ग्रीको और रोमनो की वातो को पढने मे कोई फायदा नही। फ्रेंच और अँगरेजो के सम्वन्ध मे पढकर पाठक जिन नतीजो पर पहुँचेगे, वे कुछ अधिक गलत न होगे, यानी उस हालत मे भी गलत न होगे जव उनको ग्रीको और रोमनो पर भी लाद दी जाय। ह्यूम का कहना है कि मानव जाति सव युगो मे और सव देशो मे इतनी एक रही है कि इतिहास हमे कुछ भी नया या असाधारण प्रदान नही करता।' टचूमिनेयेफ ने दिखलाया है कि इसी प्रकार ह्यूम, दनेमूर इससे भी आगे वढ गए, और उन्होने तो कह दिया कि इसकी भी कोई आवश्यकता नही है कि सम-सामयिक मनुष्य-समाज का अध्ययन किया जाय, वल्कि वीवर (Beaver), मधुमक्खी और चीटी जाति का अध्ययन किया जाय, इसी से मनुष्य समाज का ज्ञान मिल जाता है।[१]

१७—जीव विज्ञान का इतिहास पर हमला—वेल्स का मत—हेगेल ने ही प्रथम वार इतिहास को एक सिलसिलेवार प्रक्रिया के रूप मे देखा, इसमे कोई सन्देह नही। एच० जी० वेल्स ऐसे परम स्वतन्त्रचेता व्यक्ति (अवश्य इनके क्षेत्र मे यह स्वतन्त्रचित्तता वर्तमान पद्धति की कुछ वागाडम्वरपूर्ण सुन्दर समालोचना तक ही रह जाती है, वह किसी प्रकार का रचनात्मक विचार पेश करने मे समर्थ नही होती) इतिहास मे यह जो सिलसिला दिखाई पडने लगा है, उसकी व्याख्या मे कहते हैं कि जीव-विज्ञान ने इतिहास पर हमला कर दिया—Biology invads history। हम वाद को दिखलाएँगे कि जीव-विज्ञान तथा इतिहास मे विकासवाद की धारणा एक ही समय मे आई। इतिहास मे और जीव-विजान मे यह जो विकासवाद का वोलवाला हुआ, वह एक ही आवश्यकता की पूर्ति के कारण हुई। ऐसा कहने या मानने की कोई

१ M M T p 241

आवश्यकता नही प्रतीत होती कि इतिहास मे यह नियम जीव-विज्ञान से लिया गया। बाद को हम इसकी सन् तारीख पर भी आलोचना करेगे। यह मत अमान्य होते हुए भी कि जीव-विज्ञान से यह धारणा इतिहास मे ली गई वेल्स ने इस मत के प्रतिपादन मे जो कुछ लिखा है, वह बहुत ही दिलचस्प है, इसलिए हम उसे यहाँ उद्धृत करेगे।

वे लिखते है कि "इन लोगो को करीब-करीब कोई भी ऐतिहासिक परिप्रेक्षित नही था। वे अपने पीछे कई हजार वर्षो तक यहाँ तक कि समय के प्रारम्भ तक दृष्टि दौडा जाते है किन्तु उनकी निगाह मे उस युग मे भी मनुष्य जीवन करीब-करीब वैसा ही था जैसा उनके अपने समय मे था। उनकी निगाह मे मनुष्य-समाज चिरकाल से कुछ सामाजिक टाइपो की कमोवेश आपस मे सँभली हुई पद्धति है—ये है शासक और शासित, शिकारी और खेतिहर, पुरोहित और सैनिक। इसी को वे मनुष्य जीवन की चिरकालीन पद्धति समझते थे। वे इतिहास को इस रूप मे देखते थे कि इस बीच मे शहर और खेत, मरुभूमि और समुद्र—इन खास बातो मे थोडा बहुत परिवर्तन होते हुए भी मनुष्य अपरिहार्य रूप से वैसा ही रहा है। हाँ इस बीच मे जो आविष्कार हुए है, उनमे उसका जीवन कुछ ऐश्वर्य-शाली अवश्य हुआ है। उनके निरीक्षण तथा तुलना करने का तरीका इतना सीमित था कि वे इस बात को महसूस नही कर सकते थे कि जगलो को साफ कर घासवाली जमीनो के भण्डारो को बढाकर वे जिन भूभागो मे फैल रहे थे, उनको धीरे-धीरे ऐश्वर्यहीन तथा वचित बना रहे है। वे साम्राज्यो के उत्थान और पतन के साथ अपने साधारण जीवन के अज्ञान विनाश को सम्बद्ध नही कर पाते थे। वे जनसख्या तथा कर्म शक्ति के सतुलन मे जो बराबर स्थान परिवर्तन होते रहते है, उसके कारणो को कुछ और ही समझते थे। इसलिए भूतकाल के ये विचारशील व्यक्ति अपरिवर्तनीय मनुष्य-स्वभाव की बाते करते थे। वे कहते थे कि मनुष्य स्वभाव परिवर्तित नही हो सकता। वे सतरगी आशा पर निर्भर रहते थे और ऐसा इसलिए कि स्वय ईश्वर ने ही कह दिया है कि जब तक पृथ्वी रहेगी तब तक बोआई का समय भी रहेगा, और फसल भी होती रहेगी . । इसी तर्ज पर कोई एक दर्जन शताब्दी के पहले तक वे यह समझते थे कि दुनिया चपटी है। वे समझते थे कि जिस समुद्र पर वे यात्रा करते थे,

वह चपटा है, और उनको यह समझने मे बहुत आयास लगता था कि समुद्र के धरातल का दृश्यमान समतल वास्तव मे बकिम था, और जितनी ही तेजी के साथ और जितने ही दूर तक वे जाते थे, वे इस बात को उतना ही समझते गये कि चपटी पृथ्वीवाली धारणा टूट रही है। इसके बाद मनुष्य की इस प्रकार की बहुत-सी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण धारणाओ की बखिया बैठती गई। आश्चर्यचकित नाविको को आकाश मे नई-नई नक्षत्रमालाये दिखलाई देने लगी। दो शताब्दियो मे ही मनुष्य ने यह आविष्कार कर लिया कि वह चपटी पृथ्वी पर नही बल्कि एक गोल पृथ्वी पर रहता है, और गत दस शताब्दियो मे उसने यह भी पता पा लिया कि मनुष्य विश्व का मध्यम विन्दु नही, बल्कि एक बहुत ही दोयम दर्जे के ग्रह का अधिवासी है। मनुष्य को अपने जीवन के साथ इन नये विचारो को सामजस्य मे लाना पडा और कुछ हद तक वह इसमे सफल भी हुआ है, किन्तु केवल कुछ ही हद तक।"

वेल्स आगे चलकर शेपोक्त विचार के साथ इतिहास-सम्बन्धी धारणा को एक पक्ति मे लाकर यो समझाते है—"हमारे ऐतिहासिक विकास अब लाखो वर्ष तक पीछे की ओर जाते है। हम मनुष्य को मनुष्य से निम्नतर परिस्थितियो से, तुलनात्मक रूप मे, एकाकी वन्दरो के जीवन से ढाई लाख वर्ष पहले निकलते पाते है। हम अब निरन्तर वृद्धिशील सहीपन के साथ जानते है कि उस सुदूर भूतकाल मे शिकार का जीवन था, हम देखते है कि खेती के उत्पन्न होते होते सैकडो वर्ष लग गये। इस प्रकार के ज्ञान से मनुष्य-जीवन के सम्बन्ध मे जो स्थिरता की धारणा थी, वह दूर हो गई। अब धीरे-धीरे यह हमे मालूम हुआ है कि गत बीस या पचीस हजार वर्षो से मनुष्य इस प्रकार के निरन्तर परिवर्तन की परिस्थितियो मे आगे बढता जा रहा है।"[१]

१८—वेल्स का मत प्रामाणिक नही—वेल्स ने क्रम-विकास का जो सिलसिला बतलाया है, वह ठीक है, किन्तु इसे बताने के लिए उन्हे यह कहने की कोई आवश्यकता नही थी कि इतिहास पर यह जीव विज्ञान का हमला है। ऐसा उन्होंने हेगल तथा मार्क्स को श्रेय न देकर अन्य लोगो को श्रेय देने के व्यर्थ प्रयत्न के कारण ही किया है। इतिहास पर विकासवाद को लागू करने का श्रेय सब से

१ O S p 18-20

पहले हेगेल को है, किन्तु उसे अकाटच वैज्ञानिक आधार पर स्थापित करने का श्रेय मार्क्स को है, यह हम बाद मे देखेगे।

१९--हेगेलवाद मे प्रतिक्रियावाद के उपादान--अब हम फिर हेगेल पर लौट जाते है। हेगेल ने यह जो कहा है कि जो है वह बुद्धि-सगत है, इसके लिए उन पर प्रतिक्रियावादी होने का दोषारोपण किया है, क्योकि इस मतवाद से हर तरह के सामाजिक अत्याचार, अन्यान्य तथा विपमता का समर्थन होता था। सच तो यह है कि इस प्रकार का दोपारोपण केवल वायवीय था, बात नही प्रुसीय राजतत्र ने सचमुच हेगेलवाद को अपने समर्थन मे इस्तेमाल किया। यह कहा गया कि प्रुसीय राजतन्त्र मौजूद है, यही इस बात का प्रमाण है कि वह बुद्धिसगत है। इस गडबडी के लिए केवल हेगेल के व्याख्याकार ही जिम्मेदार थे, यह बात नही। हेगेल स्वय विचारो की इस गडवडी के कारणीभूत हुए। जिस समय नेपोलियन ने येना मे प्रवेश किया था, उस समय हेगेल ने उनको श्वेत अश्व पर आसीन निरवच्छिन्न स्पिरिट करके स्वागत किया। यह तो कुछ हद तक समझ मे आ सकता था कि नेपोलियन सगीनो के द्वारा ही सही जर्मनी मे नये पूँजीवादी सम्बन्धो को स्थापित करने आये थे। उनका इस प्रकार स्वागत करना सचमुच नवयुग के प्रति अभिवादन-ज्ञापन करना था। नेपोलियन की विश्वव्यापी विजयो का कारण ही यह था कि वे जिस देश मे गये उस देश मे पूँजीवादी गुट को बल पहुँचाकर पहले के सामन्तवादी वर्ग को नीचा दिखाते गये। रूस मे उनको जो सफलता नही मिली इसके गौणकारण रूसियो की वहादुरी और उनकी Scovched eaith policy तथा जनरल वारफ थे, किन्तु असली कारण यह था कि रूस मे अभी पूँजीवादीवर्ग बिलकुल वलहीन था। इसलिए नेपोलियन का हेगेल द्वारा स्वागत बिलकुल समझ मे आता है, किन्तु इसके बीस वर्ष बाद जब फ्रेड्रिक विलियम तृतीय के अधीन जर्मनी मे प्रतिक्रियावादी सामन्त-वादी राजतन्त्र दृढीभूत हो रहा था, उस समय हेगेल अपने क्रान्तिकारी विचारो को निर्णयात्मक रूप से खो चुके थे, और कार्यरूप मे प्रतिक्रियावादी हिस्सा अदा कर-रहे थे।

२०--हेगेल के अनुसार इतिहास के चार युग--हेगेल ने सारे इतिहास को जिस प्रकार विभक्त कर दिया है, उससे उनके विचारो का प्रतिक्रियावादी

उपादान बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। उन्होने बताया कि इतिहास के चार मुख्य युग है—

(१) पूर्व देशो मे भाव ने (Idea) ने अभी अपनी स्वतन्त्रता नही प्राप्त की है, वहाँ अभी substantiality की प्रधानता है। मनुष्य के हक अभी अज्ञात है क्योकि पूर्व केवल इतना जानता है कि एक (अन्य नही) मुक्त है। यह दुनिया के बचपन का युग है।

(२) ग्रीस मे हम वैयक्तिकता की प्रधानता पाते है। भाव जानता है कि वह मुक्त है, किन्तु केवल कुछ ही स्वरूपो मे यानी केवल कुछ ही लोग मुक्त है। मन अभी तक भूत से मिश्रित है, और उसी मे अपनी अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। यह अभिव्यक्ति सौन्दर्य है। यह दुनिया के यौवन का युग है।

(३) रोम मे हम दृश्यगत और दृष्टगत के बीच मे विरोध पाते है। राजनैतिक सार्वदेशिकता तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता दोनो का विकास हुआ, किन्तु अभी इनका समन्वय नही हुआ। यह दुनिया की परिणतावस्था या अधेड़पन का युग है।

(४) ट्यूटनिक जातियो मे हम इन असगतियो की एकता पाते है, भाव को स्व का ज्ञान हो जाता है, और ग्रीस तथा रोम की तरह यह मान लेने के बजाय कि कुछ ही लोग स्वतन्त्र है वह जान लेता है कि सभी मनुष्य स्वतन्त्र है। यह दुनिया की वृद्धावस्था है, यद्यपि शरीर की वृद्धावस्था का अर्थ कमजोरी है, मन की वृद्धावस्था परिपक्वता है।'[१]

२१—मैकाले और टामस हाब्स के साथ हेगेल की तुलना—हेगेल के इतिहास-सम्बन्धी दर्शन की कलई यही पर खुल जाती है, यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने जमाने के प्रुसीय राज्य को राष्ट्र की सबसे उच्चावस्था समझते थे। इस मामले मे वे मैकाले (१८००–१८५९) से उच्चतर किस प्रकार कहे जा सकते है, क्योकि उन्होने भी अपने जमाने के इँगलैड की वैधानिक शासन की पद्धति को सब शासनो मे उच्चतम समझा।[२] इसी प्रकार टामस हाब्स (१५८८–१६७९) अपने जमाने के राजतन्त्र के समर्थन मे एक दर्शनशास्त्र खड़ा कर गये थे। ये सभी दार्शनिक अपनी-अपनी सरकार के समर्थक थे, फिर भी हेगेल की

१ B H P   २ A J A

विशेषता यह है कि उन्होने विकास के सिद्धान्त को लागू कर तब प्रुसिया मे प्रचलित राजतन्त्र को विकास का उच्चतम सोपान साबित किया।

२२—हेगेलवाद का क्रान्तिकारी पहलू—रूस मे भी हेगेल का यह विचार बुद्धि-सगत है, लेकिन विसारियन बेलिन्स्की ऐसे उनके चेलो के लिए बहुत दुखदायी साबित हुआ, क्योकि वे इस बात को मानने के लिए तैयार नही थे कि जार का शासन भी बुद्धिसगत हो सकता है। तुलनात्मक रूप मे कुछ ही दिनो के लिए बेलिन्स्की इस दार्शनिक शान्तिवाद को मानकर चल सके। निकोलाई बोगोस्लोवस्की ने बेलिन्स्की के सम्बन्ध मे लिखा है कि 'वास्तविकता के साथ सामजस्य अर्थात् यह मानकर चलना कि निकोलस प्रथम का अर्द्धगुलाम-शासन ठीक है, और उसमे कुछ गलती नही है, यह बेलिन्स्की के ऐसे विद्रोही प्रकृतिवाले व्यक्ति के लिए बहुत बडी असगति साबित हुई । धीरे-धीरे वे हेगेल की एकदेशीय व्याख्या पर विजय पाकर मुक्ति के आदर्श के उग्र उपासक हो गये।[१] किन्तु हेगेल के विचारो का एक दूसरा पहलू भी था, और वह क्रान्तिकारी था। वह यह था कि यदि कोई पद्धति या वस्तु बुद्धि-सगत नही है, तो दृश्यमान रूप से उसकी मोजूदगी या अस्तित्व होने पर भी यह समझना चाहिए कि वह जबर्दस्ती मोजूद है, और उसका अन्त हो जाय तो अच्छा है। इसका अर्थ यह है कि जीवन और वास्तविकता मे उस अस्तित्व की जडे नही रह गई, और वह समाज के विकास के नये सोपान के साथ सामजस्यपूर्ण नही है, इसलिए वह नष्ट होगा ही। गीता के छात्रो को स्मरण होगा कि उसमे भी भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को युद्ध मे प्रवृत्त करते हुए इसी प्रकार विश्व रूप मे दिखलाते हुए दिखला दिया कि राजाओ के झुण्डो समेत धृतराष्ट्र के सब पुत्र भीष्म, द्रोण और सूत पुत्र (कर्ण) पाण्डवो की ओर के मुख्य-मुख्य योद्धाओ के साथ भगवान् की विकराल दाढोवाले अनेक भयकर मुखो मे घुस रहे है, और कुछ लोग दातो मे दबकर ऐसे दिखाई दे रहे है कि उनकी खोपडियाँ चूर-चूर हो गई (गीता ११।२८-२८)। इस प्रकार से जो लोग जीवित है उनको मृत दिखाकर कृष्ण ने वही तर्क दिया था जो वामपक्षीय हेगेलवादी देते है, अर्थात् जो दृश्यमान

---

१ I. L. F. no V 1944 p 55

रूप से है, ऐसा प्रतीत हो रहा हे, वह नही है। अवश्य इन दोनो दृष्टिकोणो मे कुछ प्रभेद भी है किन्तु हम इस अवसर पर इस वारीकी मे नही पटेगे।

वामपक्षीय हेगेलवादियो का एक अलग ही मत खडा हो गया। इन लोगो ने यह साबित किया कि ईसाई-धर्म या आमतौर से धर्म बुद्धि विरुद्ध है, इसलिए उनका विनाश अनिवार्य है, और उसके विरुद्ध तर्क करना चाहिए। रूस के वामपक्षीय हेगेलवादियो ने इसी धारा का अनुसरण करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि जारशाही के विरुद्ध सग्राम करना चाहिए। हेगेल के विचारो के क्रान्तिकारी पहलू को हृदयगम कर रूस के स्थिर स्वार्थवाले पादरी वर्ग ने उसके विरुद्ध जेहाद बोल दिया। १८६० तथा १८७० के अन्दर ही के युग मे उन्होने शिक्षालयो मे हेगेल का पठन-पाठन वन्द कर दिया। इस सम्वन्ध मे सवसे मजे की वात यह है कि हेगेल स्वय भाववादी थे, और निरवच्छिन्न भाव (Absolute Idea) के नाम से ईश्वर को मानते थे। उस जमाने मे रूस के सारे शिक्षालय पादरियो के नियत्रण मे थे, इस कारण हेगेल सभी शिक्षालयो के लिए परिया करार दिये गये।'[१]

२३--हेगेलवाद की द्वयर्थता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि--हेगेल प्रतिपादित सिद्धान्त का इस प्रकार दो विरुद्ध अर्थो मे प्रयुक्त होना हेगेल के दर्शन की न्यूनता का सूचक है। गिरकाथ ने इस बात की व्याख्या करते हुए यह लिखा है कि हेगेल की विचारधारा की यह द्वयर्थता उस समय के पूँजीवादीवर्ग मे फैली हुई गडवडी को प्रतिफलित करती है। इस वर्ग मे एक प्रगतिशील तथा दूसरा प्रतिक्रियावादी हिस्सा था। एक तरफ सडे गले प्राचीन गतानुगतिक सनातन को नष्ट करने की आवश्यकता अनुभूत हो रही थी, दूसरी तरफ आगामी नवीन, भविष्य, आगन्तुक के लिए इस वर्ग के मन मे भय तथा शका थी क्योकि फ्रेन्च राज्यक्रान्ति के तजर्वे से जर्मन पूँजीवादीवर्ग किसी नतीजे पर पहुँच नही पा रहा था। फिर भी हेगेलवाद की जो मूलभूत बात है, यानी ससार की, मनुष्य की, पद्धतियो की परिवर्त्तनशीलता, विकास, परिमाणगत परिवर्तन के जरिये से गुणगत परिवर्तन कर नये सोपान मे पहुँचते रहना--ये बाते ऐसी थी, जिनको कितना भी तोडा-मरोडा जाय, वे प्रतिगामी नही हो सकती थी। यद्यपि हेगेल

१ D M A

ने स्वयं अपने राजनैतिक मतवादो से तथा आचरण से अपने ही दर्शन शास्त्र के साथ एक प्रकार से विश्वासघात किया था, फिर भी उस दर्शन के मन्तव्य स्पष्ट, स्फटिक की भाँति स्वच्छ थे। ऐसा कई बार हुआ है कि लेखक की रचना तो एक क्रान्तिकारी दशा ले रही है, किन्तु लेखक की राजनीति दकियानूसी है, और उसने कार्यरूप मे प्रगति का विरोध किया। जर्मनी के गरमपथी पूँजीवादियो ने कुछ दिनो तक हेगेलवाद को अपने दर्शनशास्त्र के रूप मे इस्तेमाल करने की चेष्टा की, किन्तु तजर्बे से यह जल्दी ही ज्ञात हो गया कि या तो हेगेलवाद अपरिवर्तन-वादी, पूँजीवादी तबके की प्रतिक्रियावादी विचारधारा बनकर प्रस्तरीभूत हो जाता या बुद्धिमगत धर्म का चरित्र धारण करता है, अथवा वह इतना क्रान्तिवादी हो जाता है कि पूँजीवादी वर्ग के किसी मतलब का नही रहता उल्टा उससे इस वर्ग को खतरा पैदा हो जाता है।

प्रतिक्रिया कैसी होती है। वह तभी सन्तुष्ट होता है और यह समझता है कि उसने एक तार्किक व्याख्या दे दी, जब वह उनके वास्तविक ऐतिहासिक व्यवहार का वर्णन तथा उनका वर्गीकरण कर लेता है।'

लेवी के इस कथन से स्पष्ट है कि वैज्ञानिक रूप से हेगेल का विकास सम्बन्धी विचार जहाँ तक कि विचारो से वस्तु निर्मित होती हैं, बिल्कुल लचर है। बाद को हम देखेगे कि मार्क्स ने तथा उनके पहले फायरबाक ने हेगेल के इस कमजोर पहलू पर हमला किया है। सच बात तो यह है कि इस मत को इस न्यूनता से शुद्ध कर दिये जाने पर जो कुछ बचता है, वही वैज्ञानिक समाजशास्त्र का आधार है। लेनिन का कहना था कि हेगेल की सभी बातो को कोई ग्रहण नही कर सकता, उनकी चुनी हुई तार्किक ज्ञान सम्बन्धी बातो को लेना चाहिए और उन्हे रहस्यवादी आवरण से मुक्त कर जब शुद्ध कर लिया जावेगा तभी वे काम दे सकती है।

हेगेल के दर्शन के अनुसार मनुष्य जाति का विकास 'एक ऐसी प्रक्रिया है जो अपनी ही प्रकृति के कारण किसी कथित निरवच्छिन्न सत्य के आविष्कार मे भौतिक अन्तिमता प्राप्त नही कर सकती, किन्तु इसके विपरीत हेगेलवाद ने इस बात का दावा किया कि वह इसी निरवच्छिन्न सत्य पर ही आधारित है, किन्तु इस प्रकार ऐतिहासिक तथा प्राकृतिक ज्ञान की एक पद्धति जो सर्वव्यापी तथा सर्वकाल के लिए अन्तिम है द्वन्द्वात्मक विचार शैली के मूलगत नियमो के विरुद्ध है क्योकि इसके अन्तर्गत यह बात आती है कि बाह्य जगत् का पद्धतिगत ज्ञान पुस्त दर पुस्त विपुल उन्नति कर सकता है।'[1]

---

१ A D E

हेगेल, कोंत, डारविन, फायरबाख के विचार और मार्क्सवाद से उनका सम्बन्ध

१—कोंत-वर्णित इतिहास के तीन सोपान—इतिहास की प्राक्मार्क्स धारणाओं में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण मत फ्रेञ्च दार्शनिक आँगुस्त कोंत (१७९८-१८५७) का है। यदि हम इस बात को याद रखें कि हेगेल तथा मार्क्स के अलावा वे ही एकमात्र दार्शनिक हैं, जिन्होंने इतिहास को विकसित रूप में समझने की चेष्टा की, तो उनका महत्त्व बहुत अधिक हो जाता है। यों तो मार्क्सवादी पाठ्य पुस्तकों में हेगेल के बाद ही फायरबाख को गिनाने की परिपाटी है, और वह ठीक भी है, क्योंकि अगली कड़ी वही है, किन्तु प्राय समसामयिक एक विचार-धारा के रूप में कोंत के इतिहास-सम्बन्धी मतवाद में कुछ ब्यौरे में जाना अनुचित न होगा। कोंत ने अपनी विकास सम्बन्धी धारणा को न केवल इतिहास पर बल्कि मनुष्य के विचारों के सम्पूर्ण क्षेत्र पर अलग-अलग तथा सामूहिक रूप से लागू किया। इससे उनका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। उनकी धारणा के अनुसार मनुष्य के विचार में तथा इतिहास में एक के बाद एक तीन सोपान आते हैं। वे तीन सोपान यों हैं—

(२) अलौकिक (metaphysical) युग जो पहले युग का परिवर्तित रूपमात्र है, किन्तु जो परिवर्तनकालीन सोपान के रूप मे महत्त्वपूर्ण है। अति प्राकृतिक बुतो की जगह अब अदृष्ट सूक्ष्म शक्तियाँ आ जाती है, जिनके सम्बन्ध मे यह धारणा की जाती है कि वे विभिन्न वस्तुओ मे मौजूद है, और वे स्वय घटनाओ को उत्पन्न करने मे समर्थ है। इस सोपान की सबसे उच्च अवस्था वह है जब ये तमाम शक्तियाँ एक सार्वभौमशक्ति के रूप मे लाई जाती है।

(३) धनात्मक (positive) युग जिसमे मन कारणो तथा अन्तिम तत्त्वो के अनुसन्धान की व्यर्थता का अनुभव कर निरीक्षण तथा ऐसे नियमो के वर्गीकरण मे, जो परिणामो को नियन्त्रित करते है, लगता है। इस युग मे एक के बाद एक सिलसिला आता है, उसका तथा उसके साथ आनेवाले सोपान की समता का अध्ययन किया जाता है। इस सोपान की सबसे उच्च अवस्था वही होगी जब एक ही सार्वभौम दृष्टिकोण के विविध ब्यौरे के रूप मे सब घटनाओ की व्याख्या करना सम्भव होगा।

इस मत का उदाहरण देते हुए उन्होने दिखाया है कि पहले ज्योतिप अथेलो नामक देवता तथा उनके रथवाली व्याख्या प्रचलित थी, फिर पेथागोरस की सख्याएँ, सामजस्य (harmonies) तथा तरह-तरह के अलौकिक विचारो की उडान के जरिये होते हुए अब माध्याकर्षण के नियम तक पहुँचा है। कोत के युग तक माध्याकर्षण का ज्ञान ही अन्तिम ज्ञान था। अभी आइन्स्टाइन का उदय नही हुआ था। जो कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि कोतवाद मे विकास-वाद की धारणा बहुत स्पष्टता के साथ मौजूद है।

२—कोतवाद की त्रुटियाँ—सामाजिक विकास के सम्बन्ध मे कोत का मत अन्य मतो से कई दृष्टि मे श्रेष्ठ है, क्योकि इसमे परिवर्तनशीलता और विकास की बात मानी गई है, किन्तु इस विकासवाद मे त्रुटि यह है कि इसमे उन शक्तियो के उद्घाटन करने की चेष्टामात्र नही है जिनसे ये परिवर्तन होते जाते है। दूसरी त्रुटि यह है कि यह विकास एक हद तक जाकर यानी धनात्मक सोपान तक पहुँचकर रुक-सा जाता है। विकास के कारणो का उद्घाटन करने मे असमर्थ होने के कारण कोतवाद के पैर मजबूत नही हो पाते, यह कोई पद्धति नही हो पाती,

बल्कि एक मन्तव्यमात्र होकर रह जाता है। जब वे इस परिवर्तन का कोई कारण नही बता पाते, साथ ही यह कहते है कि परिवर्तन होता है, और इस परिवर्तन का स्वरूप अग्रगति है, तो यह एक तरह का भाग्यवाद या ईश्वर की सदिच्छावाद (teleology) होकर रह जाता है। वैज्ञानिक समाजशास्त्र के मुकाबिले मे यह मतवाद इसलिए बहुत निकृष्ट ठहरता है। धनात्मक सोपान ही आखिरी सोपान है, यह बात तभी समझ मे आ सकती, जब यह बता दिया जाता कि बराबर यह धनात्मकता भी उन्नति करती जाती है। कोत ने अपने दर्शनशास्त्र को positism या धनात्मकवाद नाम दिया, अत यह सन्देह हो जाता है कि कही वे अपने ही मत को अन्तिम सत्य और अपने को आखिरी पैगम्बर तो नही समझते। कोतवाद समाज मे होनेवाली घटनाओ को एक सिलसिले मे बाँधने मे असमर्थ है। इसका कहना यह मालूम देता है कि पहले लोगो के पास ज्ञान के साधन कम थे, और धीरे धीरे ज्यो-ज्यो ज्ञान के साधन बढे, त्यो-त्यो वे धनात्मक सोपान की ओर बढते गये। इस अत्यन्त सरल बात को कोत ने बहुत वागाडम्बर और नये पारिभाषिक शब्दो के साथ कहा है। यह मतवाद हमारे सामने समाज के विकास का कोई सर्वांगपूर्ण चित्र पेश करने मे असमर्थ है। वह यह भी नही बताता है कि इस परिवर्तन मे मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है। यदि कोत से यह पूछा जाय कि आखिर किस तरह वर्तमान परिस्थितियो को पार कर मनुष्य आगे बढेगा, तो कोत इसके उत्तर मे १८वी शताब्दी के फ्रेंच विश्वकोषवादियो की तरह यह कहते है कि लोगो को धनात्मकवाद की शिक्षा दी जाय, या उसी की छत्रछाया मे उनकी शिक्षा हो। कहना न होगा कि इस प्रकार से जो मतवाद का ढाँचा हमारे सम्मुख खडा होता है, उसे हम बहुत हुआ तो Liberalism या उदारवाद कह सकते है। एक तो पद्धति ही भ्रान्त है, दूसरे उसकी शिक्षा मे ही सब कुछ हो जायगा, यह मतवाद एक पगुवत है। इस दृष्टि से देखने पर कोतवाद मे विकासवाद को जो तरजीह दी गई है, वह खटाई मे पड जाता है क्योंकि शिक्षा से ही विकास हुआ है, यह मतवाद तो ऊपर से प्रथम दृष्टि मे ही अकर्मण्य मालूम पड जाता है। मार्क्सवाद मे विकास के कारणो का उद्घाटन किया गया है, फिर भी यदि उसके क्रान्तिकारी हिस्से को छोडकर यह कह दिया

जाय कि न तो वर्गसघर्ष आदि के तीव्रीकरण की कोई आवश्यकता है और न किसी सगठन की जरूरत है, बस मार्क्सवाद की शिक्षा दी जाय तो वह भी एक नपुसक मतवाद हो जायगा। ऐसी हालत मे कोत को भी भाववादियो मे गिनना पडेगा यद्यपि साथ ही यह मानना पडेगा कि विज्ञान के प्रति उनकी श्रद्धा अगाध थी और अपने युग मे उन्होने कुमस्कारो के विरुद्ध अच्छा सग्राम किया। विश्व की व्याख्या के रूप मे पगु होने के अतिरिक्त इस मतवाद मे कर्तव्य-शास्त्र का तो बिलकुल अभाव है। इस प्रकार का मतवाद मानव-जाति के लिए कभी पथ-प्रदर्शक नही हो सकता।

टचूमिनियेफ कोत के समाजशास्त्र पर सही रूप से कहते है कि कोत ने सामाजिक विकास की कल्पना सिर के बल खडे रूप मे की है, तथा उनकी शिक्षा मे सामाजिक विकास के भौतिक आधार को कोई महत्त्व प्राप्त नही हुआ। 'यदि सेंट साइमन ने विज्ञान के विकास को उद्योग-धन्धे के विकास के साथ रक्खा तो कोत ने ऐसा किया कि मानवीय बुद्धि तथा मानवीय विचार के विकास को सामाजिक विकास की मुख्य शक्ति के रूप मे दिखाया । जिस प्रकार वे तीन सोपानो को देखते है, उस प्रकार के दृष्टिकोण के कारण वे विश्व कोषवादियो से कुछ आगे नही प्रतीत होते। सामाजिक जीवन की वास्तविक सारी अन्तर्गत वस्तु उनकी समाज-सम्बन्धी शिक्षा मे या तो गायब ही है या मानवीय बुद्धि की प्रगति पर उसे सम्पूर्ण रूप से निर्भर माना गया है। समाज का क्या स्वरूप होगा, यह उनके अनुसार बुद्धि के विकास के सोपान पर निर्भर है। बहुदेववाद के साथ समरवाद तथा प्राप्ति की प्रवृत्तियाँ है, इसी प्रकार अलौकिक दर्शनशास्त्र के साथ कई प्रकार के परिवर्तनकालीन सामन्तवाद है, तथा धनात्मक सोपान के साथ औद्योगिकवाद चलता है।'[१] इसी प्रकार और भी बहुत सी बाते है जिनका मतलब यही है कि बुद्धि सामाजिक अवस्थाओ को परिचालित करती है, जब कि वस्तुस्थिति इसके बिलकुल विपरीत है।

३—इरासमस, विको, लामार्क, गेटे, डारविन—मार्क्स जिस समय अभी अपने विचारो को परिपक्व कर रहे थे, उसी जमाने मे विज्ञान मे विकासवाद के सिद्धान्त का बोलबाला होता जा रहा था। चार्ल्स डारविन (१८०९–८२, जो

१ M M T p 258

मार्क्स के लगभग ९ साल पहले पैदा हुए, और करीब करीब एक साल पहले मरे, यानी जो मार्क्स के करीव करीब समसामयिक थे) के पहले ही कई और वैज्ञानिक अपने विचारो मे विकासवाद का आभास दे चुके थे। इनमे से इरास-मस, डारविन, विफो (Buffon) तथा लामार्क विकासवाद के कायल हो चुके थे। जर्मनी के महाकवि गेटे विज्ञान से स्वतन्त्र रूप से इस नतीजे पर पहुँच चुके थे। चार्ल्स डारविन ने १८३७ मे अपना पहला ग्रन्थ प्रकाशित किया जिसमे उन्होने बिगुल नामक जहाज पर चरचा के दौरान मे जो तजरबे हुए थे, उनका वर्णन किया। इसी मे कुछ भ्रमरूप से उनके विचार आ चुके थे। १८४५ मे डारविन ने अपने इस भ्रमण-वृत्तान्त के नये सस्करण विकासवादी सिद्धान्त को कुछ अधिक स्पष्टता के साथ रक्खा था। १८५९ मे उन्होने The origin of species नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया, जिसमे उन्होने विकासवाद सम्बन्धी अपने विचारो को स्पष्टरूप मे रक्खा। यह एक बहुत ही क्रान्तिकारी विचार था। डारविन ने इस पुस्तक मे प्राणी जातियो (Species) के विकास के सिद्धान्त को प्राकृतिक निर्वाचन (natural selection) तथा जीवन-सग्राम मे योग्यतम के टिक जाने (Survival of the fittest) पर आधारित दिखलाया। उन्होने इस सम्बन्ध मे बीस वर्ष तक मसाला इकट्ठा किया था, और इस सिद्धान्त के कारण पहले-पहल जीव-विज्ञान को ऐसा समन्वय प्राप्त हुआ जिसके कारण हम इसकी तुलना पदार्थ-विज्ञान के क्षेत्र मे न्यूटन के माध्याकर्षण के सिद्धान्त से कर सकते है।[१]

४—Origin of species **पर मार्क्स**—Origin of Species नामक ग्रन्थ का मार्क्स पर क्या प्रभाव पडा, यह केवल अटकलपच्चू की बात नही है, बल्कि १८६१ की १६ जनवरी को उन्होने एक मित्र को लन्दन से जो पत्र लिखा था, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस पुस्तक को पढकर वे कितने प्रभावित हुए थे। अवश्य स्मरण रहे कि १८४४ मे मार्क्स और एगेल्स एक दूसरे से स्वतन्त्र रूप से सामाजिक विकास-सम्बन्धी अपने सिद्धान्त को परिपक्व कर चुके थे। १८४८ मे तो कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो मे इन दोनो विद्वानो ने अपने इस सम्बन्ध के मत का वहुत विशद स्पष्टीकरण भी कर दिया था। जो

---

१ A wolf in O M K p 43

कुछ भी हो, उल्लिखित पत्र मे मार्क्स ने यह माना था कि डारविन की पुस्तक वहुत ही महत्त्वपूर्ण है, और प्राकृतिक विज्ञान के आधार के तौर पर इतिहास मे वर्गसघर्ष दिखाने के लिए काम देती है।'

५—डारविन का मत और प्रचलित धर्म के साथ उसका विरोध—डारविन ने अपनी इस प्रसिद्ध पुस्तक मे यह कहा कि सभी प्राणी या तो किसी साधारण प्राणी से या कुछ साधारण प्राणियो से विकसित हुए है। मनुष्य भी इस प्रकार दूसरे प्राणियो से उद्भूत करार दिया गया। हमे यहाँ पर इस सिद्धान्त के ब्यौरे मे जाने की आवश्यकता नही है किन्तु यदि हम ध्यान से देखे तो हेगेल के विकास-सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्त और डारविन के वैज्ञानिक सिद्धान्त की एकता कई अर्थो मे दृष्टिगोचर होगी। डारविन के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे यह वात ध्यान देने योग्य है कि पादरियो ने तथा आध्यात्मिक नेताओ ने उनके सिद्धान्त का विरोध किया। यह स्वाभाविक था, क्योकि डारविन ने वाइविल के कई मूलभूत सिद्धान्तो का पर्दाफाश कर दिया था। वाइविल के अनुसार पृथ्वी की उम्र अधिक से अधिक सात हजार वर्ष थी, किन्तु डारविन के सिद्धान्त से यह वात विलकुल कट गई। इसके अतिरिक्त वाइविल के अनुसार मनुष्य सृष्टि का मध्यम विन्दु था, किन्तु इसमे यह दिखा दिया गया कि अवश्य ही यह मनुष्य सवसे अधिक विकसित प्राणी है, किन्तु वह निम्नतर प्राणियो से उद्भूत है। डारविन स्वय वैयक्तिक जीवन मे धर्मवादी थे, किन्तु उनके सिद्धान्त धर्म के विलकुल विरुद्ध पडते थे।

६—emergent evolution सिद्धान्त के द्वारा डारविनवाद की त्रुटि की पूर्ति—डारविन के विकासवादी सिद्धान्त से यह वात स्पष्ट नही होती कि विकासवाद के जरिये नये गुणो की कैसे उत्पत्ति होती है। "डारविन का विचार था कि ये परिवर्तन सूक्ष्म तब्दीलियो (Variations) के कारण होते है। तब्दीलियाँ होती है यह तो स्पष्ट है, क्योकि यदि सन्तान पूर्ण रूप से माता-पिता के सदृश होती तो फिर दुनिया अव तक अमीवा (amoeba) और जेली मछली (जो साठ करोड से लेकर छ· करोड़ वर्षो के वीच जीवन के काल मे समुद्र मे मौजूद रही होगी) से ही भरी होती, किन्तु ऐसा नही है, इसलिए हम लोगो को यह समझना चाहिए कि इन सन्तानो मे कुछ ऐसे

प्रभेद दृष्टिगोचर होते गये जो उनके पिता-माता मे नही थे।"[१] डारविन इसका कोई उत्तर न दे सके थे। बाद को चलकर अध्यापक एस० अलेक्जेंडर (जन्म १८५९) तथा अध्यापक सी० लायड मारगन (जन्म १८५२) ने विकासवाद के सिद्धान्त को (emergent evolution) नवगुणोत्पत्तिशील विकास के रूप मे परिवर्तित कर दिया। नवगुणोत्पत्तिशील विकासवाद के सिद्धान्त का उद्देश्य उन कठिनाइयो का सामना करना है, जिनके कारण विकासवाद का पुराना सिद्धान्त नये गुण तथा मूल्यो की उत्पत्ति के मामलो मे कच्चा पडता था। इस सिद्धान्त का यह उद्देश्य है कि विकास की प्रक्रिया को यान्त्रिक विकास से कुछ अधिक समझा जाय। नये सिद्धान्त के अनुसार विकास मे यह गुण है कि वह ऐसे प्राणियो को पैदा कर सकता है, जिनको विकास के पूर्वतन प्रवाह को देखनेवाले लोग कभी नही जान सकते थे, और जो वास्तव मे पहले की अवस्थाओ के योगफलमात्र (mere resultant) नही है। इस सिद्धान्त के अनुसार यह कहा जा सकता है कि जीवन, चेतना और आत्मचेतना विकास की प्रक्रिया के दौरान मे उद्भूत (emerge) हुए है।'[२] तो यह स्पष्ट है कि लायड मारगन तथा अलेक्जेंडर के नवगुणोत्पत्तिशील विकास के बगैर डारविन का सिद्धान्त यान्त्रिक रहता, और उसमे नये गुणो तथा नये तत्त्वो की उत्पत्ति का विषय उसी प्रकार अन्धकार मे रहता, किन्तु हेगेल तथा इसलिए मार्क्स के द्वन्द्वात्मक न्याय से ये दोनो बाते यानी विकास, साथ ही नये गुणो की उत्पत्ति की बात साफ हो चुकी थी। इस दृष्टि से हेगेल ने इन वैज्ञानिक के पहले इन प्रश्नो को सुलझा लिया था।

७—डारविन पर मार्क्स—यह तो हम कह ही चुके कि मार्क्स पर डारविन का क्या प्रभाव पडा। डारविन की रचना को पढते ही मार्क्स उसकी अन्तर्निहित धारा को पहचान गये और उन्होने इसकी बडी प्रशंसा की। केवल यही नही, मार्क्स ने यह भी समझ लिया कि डारविन की रचना का teleology या प्रकृति सोद्देश्यवाद या प्रकृति से उद्देश्य है और वह सचेतनरूप से उन्नति की ओर बढ रही है, इस मतवाद को गहरा धक्का लगा। मार्क्स ने यह भी कहा कि अब तक प्रकृति मे ऐतिहासिक विकास के आविष्कार करने की ओर इतना विराट् प्रयास

१ G. M T   २ O M K. p. 61

किसी ने नही किया था। हमने मार्क्स के जिस पत्र को उद्धृत किया, उसके पहले ही १८६० की २९ दिसम्बर को मार्क्स ने एक पत्र मे यो लिखा था 'गत चार हफ्तो मे मैंने न मालूम क्या-क्या पढ डाला। इनमे डारविन की प्राकृतिक निर्वाचन-सम्बन्धी पुस्तक भी है। यद्यपि विचार भद्दे अँगरेजी ढग से प्रकट किये गये है, फिर भी इस पुस्तक मे हमारे मतवाद के लिए प्राकृतिक इतिहास का आधार मौजूद है।' वी० एल० कामोरोफ ने यह दिखलाया है कि परिपक्व आलोचना के बाद मार्क्स अपने इस सम्बन्धी विचार को कुछ बदल देते है। वे १८६२ की १८ जून को यो लिखते है—'डारविन के इस बयान मे मेरा बडा मनोरजन हुआ कि वे पौधो और इतर प्राणियो पर मालथसिप सिद्धान्त का प्रयोग करते है, जब कि मिस्टर मालथस का वक्तव्य यह है कि वे अपने सिद्धान्त का प्रयोग पौधो और इतर प्राणियो पर नही करते, बल्कि केवल मनुष्य पर करते है।' यहाँ पर यह बता दिया जाय कि इस प्रसग मे मार्क्स माल्थस के जिस मत का हवाला दे रहे है वह यह है कि मनुष्य रेखागणितिक श्रेढी (geometrical progression) से बढता है, यानी दो, चार, सोलह इस तरीके से बढता है, जब कि मनुष्य जिनको खाकर जीता है, वे पौधे और पशु-पक्षी अकगणितिक श्रेढी से (arithmetical progression) यानी दो, चार इस प्रकार से बढते है। मार्क्स इस पत्र मे यह भी लिखते है कि 'यह बहुत ही खूब रहा कि डारविन पौधो और इतर प्राणियो मे अपने ही अँगरेजी समाज का आविष्कार करते है, जिसमे श्रम का विभाजन, प्रतियोगिता, नये बाजारो का खुलना, आविष्कार और मालथसिप अस्तित्व के लिए सघर्ष है। यह तो असल मे हाब्स का Bellum omnium contra-omnes अर्थात् सबके विरुद्ध सबके युद्धवाला सिद्धान्त है, और इसे पढकर हेगेल के phenomenology के विचार याद आ जाते है, जिसमे नागरिक समाज आध्यात्मिक प्राणि राज्य (Spiritual animal kingdom) के रूप मे व्यक्त है। डारविन साहब के अनुसार प्राणि-जगत् भी एक नागरिक समाज है।'

भला यह कैसे हो सकता था कि मार्क्स डारविन के वैज्ञानिक आविष्कार से इतने मुग्ध होकर बह जाते कि वे 'अस्तित्व के लिए सघर्ष' के सिद्धान्त के समाज-शास्त्रीय पहलू को भूल जायँ। यह नही कि मार्क्सवादियो का यह

कहना है कि अस्तित्व के लिए सघर्ष है ही नही। वृहत्तर सत्य तो यह है कि अस्तित्व के लिए सघर्ष भी है, सहयोग भी है। क्रोपाटकीन ने सहयोग के पहलू को स्पष्ट करने के लिए 'पारस्परिक सहयोग' नामक एक बहुतथ्यपूर्ण पुस्तक ही लिख डाली। एगेल्स ने यह कहा था कि विकास मे इसी प्रकार विकास चलता है।

डारविन ने मालथस के सिद्धान्त का जिन शब्दो मे उल्लेख किया था, वह यो है 'मालथस का सिद्धान्त मानो बहुशक्ति-सयुक्त होकर समग्र प्राणी और वनस्पति जगत् पर लागू हुआ है, क्योकि इस क्षेत्र मे न तो खाद्य कृत्रिम रूप से बढाया जा सकता है, और न विवाद से बुद्धिपूर्वक बचने का कोई सवाल हो सकता है।' कामोरोफ ने इस पर टीका करते हुए सही तौर पर लिखा है कि 'जब इस प्रकार अस्तित्व के सघर्ष की परिभाषा करने के बाद ही मालथस का हवाला दिया जाता है, तो हम यह बिना महसूस किये नही रह सकते कि डारविन के लिए यह अच्छा होता यदि वे बिलकुल मालथस का नाम न लेते। वर्गसघर्ष के जगत् से शब्दो को लेकर कोई प्राणी और वनस्पति-जगत् पर लागू करे और फिर उसकी समालोचना न हो और वह बचकर जाय, यह असम्भव है।'[१]

८—प्राण की उत्पत्ति पर डारविन का गलत मत—डारविन का जो मत सबसे आपत्तिजनक है, वह यह है कि वे प्राण की उत्पत्ति कैसे हुई, इस प्रश्न पर विचार करते समय प्रयोगात्मक पद्धति से हटकर यह कह देते है कि 'ईश्वर ने प्रारम्भ मे कुछ स्वरूपो मे या एक स्वरूप मे साँस फूँक दी।' एगेल्स ने इस मत का बहुत ही डटकर विरोध किया, और यह कहा कि ज्यो ही अलबूमन-युक्त शरीरो की बनावट का पता लग जावेगा त्यो ही यह सम्भव होगा कि जीवित अलबूमन का उत्पादन किया जा सके। अवश्य यह समझना कि रसायनशास्त्र रात भर मे उस बात को करने मे समर्थ होगा जिसे करने मे प्रकृति बहुत ही अनुकूल परिस्थितियो मे केवल कुछ ही ग्रहो मे लाखो वर्ष बाद समर्थ हुई है, भ्रान्त है, और विज्ञान से जादू की माँग करना है।' एगेल्स की यह भविष्यवाणी कहाँ तक सफल हुई है, यह सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स के निम्न उद्धरण से ज्ञात होगा।

९—प्राण की भौतिक उत्पत्ति पर जीन्स—जीन्स लिखते है "एक मत का

१ M. M T p 194

तो यह कहना है कि ज्यो ज्यो पृथ्वी धीरे धीरे ठडी पडती गई त्यो त्यो यह स्वाभाविक और करीब करीब अनिवार्य था कि जीवन की उत्पत्ति हो। दूसरा मत यह है कि जब एक आकस्मिक घटना से पृथ्वी उत्पन्न हो गई, तब जीवन को उत्पन्न करने के लिए एक दूसरी आकस्मिक घटना की जरूरत हुई । जीवन के भौतिक उपादान बिलकुल साधारण रासायनिक ऐटम है, यानी कार्बन जैसा कि हमे पानी मे प्राप्त होती है, नाइट्रोजन जिससे वातावरण का अधिकाश हिस्सा बना है, हाइड्रोजन तथा आक्सिजन जैसा कि हमे पानी मे प्राप्त होता है। जीवन के लिए जरूरी हर तरह के ऐटम नवजात पृथ्वी पर रहे होगे। बीच बीच मे ऐटमो के झुण्ड उस प्रकार से एकत्र हो जाते होगे जिस प्रकार वे जीवित कोप मे रहते है। सच बात तो यह है कि यथेष्ट समय मे वे इस प्रकार कही न कही मिल जाते हो, किन्तु क्या इतने से ही वे मिलकर जीवित कोप मे परिणत हो जाते है ? दूसरे शब्दो मे क्या एक जीवित कोष महज उन साधारण ऐटमो का उसके असाधारण रूप से एकत्रित झुण्डमात्र है, या इससे कुछ अधिक ? क्या जीवन महज ऐटमो का झुण्ड है, या ऐटमो का झुण्ड और जीवन है ? हम इसके उत्तर को नही जानते।' इसके बाद भी अध्यात्मवादी जीन्स जिस बात को मानने के लिए मजबूर होते है वह यो है—'जीवित भूत मे कुछ साधारण ऐटम रहते है, किन्तु ये ऐटम प्रधानत वे ऐटम है जिनमे यह विशेष योग्यता है कि वे परमाणुओ (molecules) के बहुत बडे झुण्ड को एकत्र कर सके, किन्तु अधिकाश ऐटम मे यह गुण नही है। उदाहरणार्थ हाईड्रोजन और आक्सिजन के ऐटम मिलकर हाईड्रोजन के परमाणुओ का (H_2 or H_3) आक्सिजन या ओजोन के (O_2 or O_3) पानी के (H_2O) या हाईड्रोजन पैरोक्साइड (H_2O_2) के परमाणुओ का निर्माण कर सकते है। किन्तु इनमे से किसी भी मिश्रण मे चार से अधिक ऐटम नही है। नाइट्रोजन को जोडने से यह मामला कुछ सुधरता नही है। हाईड्रोजन, आक्सिजन और नाईट्रोजन के मिश्रणो मे तुलनात्मक रूप से बहुत कम ऐटम रहते है, किन्तु कार्बन को इसमे जोडते ही बिलकुल तसवीर बदल जाती है। अब सैकडो ही नही, लाखो ऐटम मिश्रित हो सकते है। ऐसे परमाणुओ से ही जीवित शरीर बना है। कोई एक सदी पहले तक यह आम तौर से समझा जाता था कि किसी न किसी प्रकार की जीवनयुक्त

शक्ति की इन तथा दूसरे उपकरणो को उत्पादन करने मे जरूरत है, जिनसे जीवित शरीर बनता है। इसके बाद वोलेर ने चूरिया (Co (N H 2) 2) को अपनी प्रयोगशाला मे मामूली रासायनिक प्रक्रिया से उत्पन्न किया, और इसके बाद जीवित शरीर को बनानेवाले दूसरे उपकरणो का एक के बाद एक आविष्कार होता जा रहा है। आज परिस्थिति यह है कि जिन बातो को लोग पहले जीवनयुक्त शक्ति से युक्त समझते थे, वे एक एक करके रासायनिक प्रक्रिया की उपज ज्ञात होती जा रही है। यद्यपि इस समस्या का समाधान अभी दूर है, फिर भी यह दिन बदिन साफ होता जा रहा है कि जीवित शरीर की विशेषता कथित जीवनयुक्त शक्ति का जौहर नही, बल्कि बहुत ही मामूली उपादान की महिमा है जो सर्वदा अन्य ऐटमो के बहुत बडे परिमाण के साथ और बहुत से परमाणुओ के साथ झुण्ड बनाकर रहता है। कार्बन के विना जीवन नही है। यह शायद विशेष द्रष्टव्य इसलिए है कि यह धातु और अधातु के बीच मे परिवर्तन-कालीन रूप है। कार्बन की पादार्थिक वनावट मे कोई ऐसी वात नही है जिसे रहस्यमय कहा जा सकता है, और जिसके कारण वह दूसरे ऐटमो को जुटाने मे समर्थ होता है। कार्बन ऐटम मे छ एलेक्ट्रन होते है जो उपयुक्त न्यूक्लस या सार भाग के चारो ओर, सूर्य के चारो ओर छ ग्रहो की भाँति, घूमते रहते है। इसके एक तरफ तो वोरन है और दूसरी तरफ नाइट्रोजन है क्योकि वोरन मे चार और नाइट्रोजन मे सात एलेक्ट्रन होते है।"[१]

१०—आधुनिक जीव-विज्ञान से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रमाणित—जेम्स जीन्स के उद्धरण से यह स्पष्ट है कि जीवन मे किसी प्रकार का रहस्य इस अर्थ मे नही है कि वह अभौतिक है। अव तो किसी किसी प्रयोगशाला से यह दावा किया जा रहा है कि जीवन रासायनिक रूप से उत्पन्न किया गया है। यह कोई आश्चर्य की वात नही है। ज्यो ज्यो विज्ञान की उन्नति होनी जा रही है, त्यो त्यो किस प्रकार जीवन की भौतिकता तथा उसकी भौतिक उत्पत्ति प्रमाणित होती जा रही है, यह तो हम देख चुके। वाई० एम० यूरानवस्की ने इस पर १९३६ तक के जीव-विज्ञान को सामने रखते हुए यह कहा है कि 'आधुनिक जीवविज्ञान की सफलताओ के द्वारा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का समर्थन हो रहा है। भौतिकवादी

१ M U J. p. 4-5

द्वन्द्वात्मक न्याय ही इस क्षेत्र मे तत्त्वानुसन्धान के लिए एक पद्धति प्रदान करता है, और वह पद्धति है विरोधी वस्तुओ की एकता की धारणा। यही प्राणि-जगत् की प्रक्रियाओ का नियम है—Assimilation and dissimilation—अर्थात् परिपाक करना और विखरना, autonomy and correlation of organs अवयवो की स्वतन्त्रता और उनका पारस्परिक सम्बन्ध। भौतिकवादी द्वन्द्वात्मक न्याय ही हमे जीव-विज्ञान की श्रेणियो (genus, Species, individual—वर्ग, उपवर्ग, व्यक्ति इत्यादि) की तुलनात्मकता, सूक्ष्मता तथा तरलता को समझने मे समर्थ करता है। यदि जीव-विज्ञान को उसकी समग्रता मे लिया जाय तो यह वात स्पष्ट हो जाती है कि द्वन्द्वात्मक पद्धति सही है, और हमे प्राणि-जगत् की एकता को देखने मे समर्थ करती है।'[१]

डारविन के विषय मे आलोचना करने के वाद हम इस नतीजे पर पहुँचने के लिए बाध्य होते हैं कि मार्क्सवाद और डारविनवाद दोनो मे विकासवाद स्वीकृत होने पर भी उनमें कुछ मौलिक भेद है। ये प्रभेद बहुत ही भारी है, और इनके कारण दोनो मतवाद स्वतन्त्र हो जाते है। हमने यह इसी आलोचना के दौरान मे दिखला दिया कि ये भेद मुख्यत कहाँ कहाँ और क्या क्या है।

११—मार्क्स और हेगेल का विकासवाद डारविन-वाद से अधिक उन्नत— मार्क्स ने हेगेल से द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त को ज्यो का त्यो ग्रहण कर लिया, इस बात को स्वय मार्क्स भी स्वीकार करते है, इसलिए जहाँ तक ऋण स्वीकार करने की वात है न तो मार्क्स ही इसमे पीछे है, और न अन्य मार्क्सवादी लेखक ही। हम किसी अगले अध्याय मे दिखलायेगे कि मार्क्स ने किस हद तक अपने सामाजिक, आर्थिक विचार भी अपने पूर्ववर्तियो से लिये। लेनिन का कहना है कि "मार्क्स और एगेल्स ने हेगेल के दर्शनशास्त्र के आधारगत द्वन्द्वात्मक विचार को जैसे प्रतिपादन किया है, वह विकासवाद के प्रचलित सिद्धान्त से अधिक व्यापक तथा अधिक सारयुक्त है। विकास मानो अपनी पार की हुई मजिलो की विभिन्न रूप से किन्तु एक उच्चतर समतल पर पुनरावृत्ति करता है, 'प्रतिषेध का प्रतिषेध' यानी एक ऐसा विकास जो सरल रेखा मे नही बल्कि भँवरक्रम मे चलता है, छलाँग, प्राकृतिक विपत्तियाँ, क्रान्तियो मे चलनेवाला विकास क्रमिकता

१ M M T p 167

के अवकाशो के साथ चलनेवाला विकास, परिमाण का गुणगत परिवर्तन, विकास की आन्तरिक उत्तेजना, असगतियो तथा एक वस्तु पर, एक घटना पर एक समाज मे क्रियाशील विभिन्न शक्तियो एव प्रवृत्तियो के सघर्ष से प्राप्त होती है, प्रत्येक घटना के प्रत्येक पहलू के बीच के अविभाज्य तथा घनिष्ठतम सम्बन्ध है पारस्परिक निर्भरता (इतिहास बराबर नये पहलुओ का उद्घाटन करता है)---एक ऐसा सम्बन्ध जो गति के नियमानुसार चलनेवाली विषम प्रक्रिया के सम्बन्ध को बतलाता है।"[१] लेनिन ने ये सब बाते मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के लिए कही है, किन्तु इनमे से सभी बाते ऐसी है जो मार्क्सवाद और हेगेलवाद मे साधारण है।

१२---मार्क्स और हेगल के बीच की कडी फायरवाख---हेगेल और मार्क्स के बीच कडी के रूप मे फायरवाख (१८०४-७२) का बहुत बडा महत्त्व है। लुडविग फायरवाख नामक पुस्तक की भूमिका मे एगेल्स ने यह साफ लिख दिया था कि हेगेल के दर्शन और उनकी धारणा तथा उनके दर्शन के बीच कडी के रूप मे फायरवाख को माना जा सकता है।[२] इसलिए फायरवाख पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। ऐसा केवल हम विचार के ऐतिहासिक सिलसिले को दिखाने के लिए ही नही वल्कि मार्क्स के विचारो को अच्छी तरह समझने के लिए करेगे। फायरवाख हेगेलवादी थे, और इस नाते वे इस नतीजे पर पहुँच चुके थे कि हेगेलवाद ही जर्मन दर्शनशास्त्र का सबसे उच्च विन्दु है। फायरवाख ने हेगेलवाद को अपनाया, किन्तु एक विन्दु पर जाकर वे हेगेल से बिलकुल मूलगत रूप से अलग हो गये। हेगेलवादी पद्धति मे प्रकृति केवल निरवच्छिन्न विचार की बेगानगी (alienation of the absolute idea) अर्थात् विचार का अध पतनमात्र था, किन्तु फायरवाख ने 'ईसाइयत का सार' मे अपने गुरु के इस विचार को बिलकुल नही माना। 'एक ही चोट मे इस पुस्तक ने हेगेलवाद की इस असगति को चूर्ण-विचूर्ण कर दिया, और बिना घुमाव-फिराव के इसने फिर भौतिकवाद को सिहासन पर आरूढ कर दिया। इसका कहना था कि प्रकृति सब दर्शनो से स्वतन्त्र रूप से वर्तमान है। यह वह नीव है जिस पर प्रकृति की ही उपज हम मनुष्य उत्पन्न हुए है। प्रकृति और मानव

---

१ T. K M. २ L F. p. 15

के वाहर कुछ भी नही है, और हमारी धार्मिक खामख्यालियो ने जिन उच्चतर सत्ताओ की सृष्टि की है, वे हमारी ही खामख्याली का प्रतिफल मात्र है।' एगेल्स ने यह लिखा है कि ईसाई मत का सार किस प्रकार उस युग मे एक वहुत क्रान्तिकारी पुस्तक सावित हुई। वे लिखते है—'लोगो मे आम जोश था, हम लोग फौरन फायरवाखवादी हो गये। मार्क्स-लिखित 'पवित्र परिवार' को यदि कोई पढे तो मालूम होगा कि कई मामलो मे मतभेद के वावजूद मार्क्स ने इस पुस्तक मे प्रतिपादित मतवाद का कितने जोर के साथ स्वागत किया तथा उन पर इसका कितना प्रभाव पडा। पुस्तक की जो त्रुटियाँ थी, वे भी इसके असर को वढाने मे सहायक सिद्ध हुई। इसकी साहित्यिक शैली के कारण, जो अक्सर वागाडम्वरपूर्ण थी, इसके पाठको की सख्या वहुत वढ गई, और सूक्ष्म दन्तकटा-कटीपूर्ण सालो के हेगेलवाद के वाद यह वहुत ताजगी देनेवाला सावित हुआ। इसमे प्रेम को जो वढा-चढाकर विलकुल खुदाई अर्पित की गई थी, वह भी इस पुस्तक की सफलता मे सहायक हुआ। क्योकि 'विशुद्ध वुद्धि' (pure reason) के असहनीय साम्राज्य के वाद प्रेम का यह नारा वहुत सफल रहा, किन्तु इस सम्वन्ध मे हमे भूलना नही चाहिए कि फायरवाख की इन दो कमजोरियो से ही वह 'सच्चा समाजवाद', जो एक ताऊन की तरह १८४० के वाद शिक्षित जर्मनी मे फैल रहा था, (और जिसमे वैज्ञानिक ज्ञान के स्थान पर सुललित वाक्यावली का प्रयोग होता था, तथा उत्पादन के आर्थिक परिवर्तन के जरिये सर्वहारा की मुक्ति के स्थान पर प्रेम के द्वारा मनुष्य-जाति की मुक्ति का नारा दिया जाता था) उसका फायरवाख से गठवन्धन हो गया।' [१]

१३—फायरवाख का भौतिकवाद—फायरवाखवाद की वर्णित कमजोरियो के वावजूद उसने जो भौतिकवाद को अपनाया, यह हेगेलवाद पर एक वहुत वडी विजय थी। 'सारे दर्शनशास्त्र का प्रधान आधारगत प्रश्न, विशेपकर आधुनिक दर्शनशास्त्र का प्रधान प्रश्न विचार और अस्तित्व मे क्या सम्वन्ध है, इसी पर मतामत है।' इसी प्रश्न के साथ स्वाभाविक रूप से ऐसे प्रश्न भी आ गये कि भगवान् ने विश्व की सृष्टि की है, या नही। 'दार्शनिको ने इन प्रश्नो का जैसा उत्तर दिया, उसी के अनुसार उनके दो शिविर हो गये। जिन्होने यह कहा कि

---

१ L F p. 28

चित्त या मन प्रकृति से पहले से मौजूद है, और इसलिए किसी न किसी रूप मे यह कहा कि इसी से भौतिक जगत् की उत्पत्ति हुई (हेगेल मे जाकर यह वात ईसाई धर्म से कही अधिक जटिल और ऊलजलूल रूप धारण करती है), वे लोग भाववादी शिविर के हुए। इसके विपरीत जिन्होने प्रकृति को प्राथमिक कहा, वे भौतिकवाद के विभिन्न मतवाद के अन्तर्गत हुए।'[1] फायरवाख ने इस विषय मे भौतिकवाद को माना, और कहा कि हेगेल का मतवाद व्यावहारिक रूप से असत्य ठहरता है। उन्होने कहा कि भविष्य मे दर्शनशास्त्र को एक नये रास्ते पर ले जाना पडेगा। इस नये दर्शनशास्त्र का उन्होने सक्षेप मे यो वर्णन किया--विचार या भाव अस्तित्व पर वनते है। यह कहना गलत है कि अस्तित्व विचार से वनते है, अस्तित्व स्वय अपने आपका निर्धारण करता है, उसकी नीव उसी मे है। फायरवाख ने इसी विचार को अपने लेखो, विशेषकर ईसाइयत के सार मे प्रचार किया। इसमे ईसाई-धर्म की ही नही, बल्कि सव धर्मो की आलोचना की गई है। इस दृष्टि से यह पुस्तक बहुत अच्छी है। फायरवाख ने इस आलोचना मे धर्म की जड ही यह कहकर काट दी कि धर्म केवल मनुष्यो की आवश्यकताओ तथा आशाओ का काल्पनिक रूप से प्रसारित रूप मात्र है। उन्होने कहा कि मनुष्य ईश्वर, स्वर्ग, नरक आदि की सृष्टि कर इन इच्छाओ की पूर्ति करता है। वह इस प्रकार वार बार घूम-फिर-कर अपनी ही पूजा तथा प्रदक्षिणा करता है। फायरवाख की जो सबसे वडी सेवा थी, वह यह थी कि वे दर्शनशास्त्र को विचारो की उडान के पहाडी ऊसर से उतारकर प्राकृतिक विज्ञान तथा आम तौर से विज्ञान के क्षेत्र मे ले आये। उन्होने कहा कि यह भौतिक जगत् इन्द्रिय से ज्ञातव्य है तथा जिस जगत् मे हम रहते हैं, वह वास्तविक है। उन्होने यह भी कहा कि हमारे विचार भौतिक इन्द्रियो, उदाहरणार्थ मस्तिष्क मे उद्भूत होते है। भूत की उत्पत्ति चित् द्वारा नही होती बल्कि चित् भूत का ही उच्चतम स्वरूप है।

१४--फायरवाखवाद की त्रुटियाँ--फायरवाख भौतिकवाद पर पहुँच जाने पर भी उनके विचार कई दृष्टि से त्रुटिपूर्ण रह गये। वे हेगेलवाद की अच्छी बातो को भी नही अपना पाये। वे घटनाओ को प्रक्रियाओ के रूप मे नही देख

१. L F. p 30-31

पाये। उन्होने यह तो कह दिया कि अस्तित्व चेतना का निर्णय करता है, किन्तु ऐसा किन नियमो मे होता है, इसका उद्‌घाटन करने मे वे असमर्थ रहे। उन्होने धर्म और तमाम विचारधाराओ को मनुष्य के मस्तिष्क तथा उसकी भौतिक अवस्थाओ मे जोड तो दिया, किन्तु वे मनुष्य की कोई व्याख्या करना भूल गये। सच तो यह है कि उन्होने उसको करीव करीव एक निरवच्छिन्न धारणा के रूप मे व्यक्त किया। आगे चलकर मार्क्स ने फायरवाख के विचारो को पूर्णता प्रदान की।

मार्क्स ने फायरवाख पर यह लिखा कि 'अव तक मौजूद सारे भौतिकवाद की, जिसमे फायरवाख का भौतिकवाद भी है, प्रधान त्रुटि यह रही है कि वस्तु, वास्तविकता, इन्द्रियग्राह्य वस्तु को केवल वस्तु या वस्तुदर्शन के रूप मे कल्पना की गई है, किन्तु इमे मानवीय इन्द्रियगत क्रिया तथा व्यवहार के रूप मे यानी दृष्टिगत रूप मे कल्पित नही किया गया। इसलिए ऐसा हुआ कि भौतिकवाद मे जिस क्रियाशील पहलू का विकास न हो सका, उसका विकास भाववाद के द्वारा हुआ, किन्तु केवल सूक्ष्म रूप मे ही हुआ, क्योकि भाववाद इन्द्रियगत क्रिया के रूप मे नही मानता। फायरवाख चाहते है कि इन्द्रियग्राह्य वस्तुओ को विचार के विषयो से पृथक् करके देखा जाय, किन्तु वे स्वय मनुष्य की क्रिया को वस्तुओ के जरिये होनेवाली क्रिया करके कल्पना नही करते। इसके फलस्वरूप वे 'ईसाई मत का सार' नामक पुस्तक मे सैद्धान्तिक रुख को ही एकमात्र सही मानवीय रुख देखते है, और वे व्यवहार की कल्पना केवल उसके गन्दे यहूदी (यानी वाहरी) स्वरूप यानी दृश्यमान के रूप मे करते है, इसलिए वे क्रान्तिकारी तथा व्यावहारिक समालोचनात्मक क्रिया के महत्त्व को नही समझ पाते।'[१]

मार्क्स फायरवाख पर एक पूरी पुस्तक ही लिखनेवाले थे, किन्तु कार्य की अधिकता के कारण वे इस पुस्तक को नही लिख पाये। उनके मरने के वाद उनकी एक पुरानी कापी मिली जिसमे उन्होने फायरवाख के सम्बन्ध मे ग्यारह विन्दु तैयार किये थे। उनको एगेल्स ने अपनी पुस्तक लुडविग फायरवाख के १८८८ वाले सस्करण मे प्रकाशित किया। जो लोग गम्भीरता से फायरवाख और मार्क्स

१ T F K (First thesis)

इतिहास-निर्माण में भूगोल तथा आबहवा का स्थान

१——भौगोलिक अवस्था एक शक्ति——उत्पादन का स्वरूप तथा उत्पादन की परिस्थितियाँ जीवन धारण की भौतिक अवस्थाओं पर निर्भर हैं। जीवन धारण की इन भौतिक अवस्थाओ मे कई बाते आती है। 'सामाजिक उत्पादन के दौरान मे मनुष्य विशिष्ट सम्बन्धो मे सयुक्त हो जाते है, जिनका निर्णय उनकी इच्छा से स्वतन्त्र रूप मे होना है। ये उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादन की भौतिक शक्तियो की निर्दिष्ट विकास की मजिल के अनुयायी है। उत्पादन के इन सम्बन्धो के योगफल से समाज का आर्थिक ढाँचा बनता है। यह वह वास्तविक आधार है जिस पर कानूनी तथा राजनैतिक ऊपरी ढाँचा विकसित होता है।'[१]

उत्पादन की भौतिक परिस्थितियो मे जो बाते आती है उनमे भौगोलिक अवस्था का बहुत महत्त्व है। स्टालिन लिखते है 'इसमे कोई सन्देह नही कि भौगोलिक परिस्थितियाँ समाज के भौतिक जीवन की अवस्थाओ मे एक बहुत ही अपरिहार्य और धारावाहिक अवस्था है। जरूर ही इसका समाज के विकास पर असर पडता है।'[२] प्लेखनाफ भी इस बात को मानते है। उनका कहना है 'हम अब इस बात को जानते है कि उत्पादन की शक्तियाँ भौगोलिक विकास की अवस्थाओ की विशेषताओ पर प्राथमिक रूप से निर्भर है, किन्तु ज्योही कोई खास सामाजिक सम्बन्ध उत्पन्न हो जाते है, त्योही वे अपनी बारी मे उत्पादन की शक्तियो के विकास पर एक विशेष असर डालते है। इसलिए जो प्राथमिक रूप से परिणाम था, वह अब कारण के रूप मे परिणत हो जाता है। एक तरफ उत्पादन की शक्तियो के विकास तथा दूसरी तरफ सामाजिक प्रणाली के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है जो विभिन्न युग मे विभिन्न रूप धारण करती है।'[३]

---

१. C. K. M द्वितीय जर्मन सस्करण की भूमिका।
२ D M ३. F P M

२—भौगोलिक परिस्थिति के असर के उदाहरण—भौगोलिक परिस्थिति के कुछ मोटे-मोटे परिणामो को तो बहुत स्थूल दृष्टिवाला व्यक्ति भी समझ सकता है। उदाहरण-स्वरूप राजपूताने के लोग आमतौर से अच्छे नाविक या तैराक अथवा तिब्बत कोई नौशक्तिशाली व्यापारी देश नही हो सकता। सूक्ष्मतर प्रभावो को समझने के लिए इससे सूक्ष्मतर दृष्टि की आवश्यकता है। श्वाइन फुर्थ ने लिखा है कि अफ्रीका मे जब किसी स्थान मे आबादी अधिक हो जाती है, तो आबादी का कुछ हिस्सा अपना वासस्थान बदल देता है, और वासस्थान बदलते ही फौरन अपनी जीविका का तरीका भी बदल देता है। जो कबीले खेती करते थे वे शिकार से जीवन धारण करने लगते है और जो अब तक पशु-पालन करते थे वे खेती करने लगते है। श्वाइन फुर्थ ने और भी दिखलाया है कि मध्य अफ्रीका के जिन हिस्सो मे लोहा है, उनमे लोग लोहा गलाने और हथियार तथा औजार बनाने लग जाते है। प्लेखनाफ ने यह दिखलाया है कि जिन स्थानो मे धातु नही थे, वहाँ के आदिम-निवासी बाहरी सहायता के बगैर प्रस्तरयुग से बाहर नही जा सके। इसी प्रकार यह भी दिखलाया गया है कि आदिम मछली मारनेवाले लोगो तथा शिकार जीवियो को पशुपालन तथा खेती के सोपान मे पहुँचाने के लिए यह जरूरी था कि अनुकूल भौगोलिक परिस्थिति तथा अनुकूल वनस्पति और पशु हो। 'ल्युइस मारगन ने तो यहाँ तक दिखलाया है कि नवीन जगत् अर्थात् अमेरिका और प्राचीन जगत् के सामाजिक विकास मे जो भारी अन्तर है, उसे हम एक ही तरीके से समझ सकते है, वह यह है कि अमेरिका मे ऐसे प्राणी नही थे जो पालतू बनाये जा सके, तथा इन दोनो गोलार्द्धो के वनस्पति जगत् मे भी फर्क था। उत्तरी अमेरिका के लाल चमडीवाले लोगो के विषय मे लिखते हुए वाइटस ने लिखा है कि इनके पास कोई पालतू जानवर नही थे। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, क्योकि यही मुख्य कारण है जिससे ये लोग विकास के इतने निम्न स्तर पर रह गये।'[१] जूलियस सीजर ने जिस समय इँगलेड पर आक्रमण किया था, उस समय इँगलैड के लोग समुद्र के द्वारा बाहरी जगत् से कटे होने के कारण ही यूरोप की अन्य जातियो के मुकाबिले मे असभ्य थे। जिस समुद्र के विषय मे ब्रिटेन के लोग यह कहते है—

१ F P. M p. 27

Rule Britania, rule the waves
Britons shall be never slaves

अर्थात्—'ब्रिटानिया, तुम सागर की लहरो पर शासन करती रहो, फिर ब्रिटेन के लोग कभी गुलाम नही होगे,' वही समुद्र ब्रिटेन की असभ्यता का कारण था। हम अपने परिणाम को पहले से न बता करके इतना तो कही सकते है कि जब नौविद्या की उन्नति हुई अर्थात् ब्रिटेन के लोगो ने सागररूपी भौगोलिक परिस्थिति को नियमित करके उसे एक बाधा की जगह सहायक अवस्था मे परिणत कर लिया, तो इँगलैड सागर का राजा हो गया। १९३९-४५ के महायुद्ध मे ब्रिटिश खाडी के कारण कह लीजिए या श्रेष्ठतर नौसेना के कारण, हिटलर इँगलैड को नही जीत सका, किन्तु एक दिन जब ब्रिटेनवाले नौविद्या से अपरिचित थे, जूलियस सीजर ने सागर के रास्ते इँगलैड को जीता था।

कुछ विद्वान् भौगोलिक तथा आबहवा-सम्बन्धी परिस्थितियो को इतना महत्त्व देते है कि वे उसी को इतिहास की निर्णयकारी शक्ति मानते है। पीक और फ्लार ने अपनी लेखमाला The corridors of times मे इसी मत का प्रतिपादन किया है। जूलियन हक्सले ने मुख्यतया इस लेखमाला को आधार मानकर जिस मत का प्रतिपादन किया है, वह बहुत ही दिलचस्प है। ऐसे लोगो के अनुसार इतिहास की व्याख्या का कुछ नमूना पेश कर तब हम इस सम्बन्ध मे अपना दृष्टिकोण प्रकट करेगे। सक्षेप मे ये विद्वान् इतिहास को जिस प्रकार देखते है, वह यो है—

३—मनुष्य की उत्पत्ति भौगोलिक कारणो से ?—स्वय मनुष्य की उत्पत्ति ही आबहवा-सम्बन्धी कारणो से हुई। कहा जाता है कि जब आदिम जगलो के बीच से पानी हट गया, उस समय मनुष्यो के पूर्वपुरुष पेडो से उतर आये और वे मुख्यतया जमीन पर रहने लगे। उस युग मे हिमालय बहुत ऊँचा था। यह अनुमान किया गया है कि मनुष्य की उत्पत्ति हिमालय के उत्तर मे हुई। ज्यों ज्यो यहाँ पर जमीन सूखती गई, जगल दक्षिण की ओर खिसकते गये, किन्तु एक जगह पर जाकर उनका सामना अलघ्य पहाडो से हुआ, और एशिया से उनका उच्छेद ही हो गया। इसलिए इन भूभागो के मनुष्य सदृश (Authro poid) अधिवासी या तो खतम होने के लिए बाध्य हुए, या नई परिस्थितियो

मे अपने को अधिकतर भूतलवासी तथा मासभक्षक बनकर बचाने मे समर्थ हुए। ऐसे विद्वानो का अनुमान है कि पॉच लाख वर्ष पहले बरफ युग मे जरूर किसी रूप मे मनुष्य मौजूद रहे होगे। इस सम्बन्ध मे अभी काफी मसाला न मिलने के कारण कोई सिलसिलेवार इतिहास लिखना सम्भव नही हुआ है।

४---सहारा की सभ्यता का विनाश भौगोलिक कारणो से---जिस समय हिमानी युग (glacial period) की बरफ आखिरी बार के लिए जाने को तैयार हो रही थी, उस समय उत्तर अफ्रीका के ऊपर 'ऑधी की पेटी' (Storm belt) थी यानी इस दायरे मे आये हुए भूभागो मे मौसम तेजी से और बार-बार बदलते थे। ऐल्सवर्थ हन्टिंगटन ने कहा है कि इस प्रकार का जलवायु मनुष्य की कर्मशक्ति तथा सफलता के लिए परम उत्तेजक है। यह अनुमान किया जाता है कि इसी ऑधी की पेटी के कारण इस समय की सहारा मरुभूमि हरी-भरी और उर्वर थी। शायद अफ्रीका या दक्षिण एशिया से ही ई० पू० २०,००० मे यूरोप को आधुनिक मनुष्य प्राप्त हुए। सहारा की यह समृद्धि अधिक दिन स्थायी न हो सकी, क्योकि ज्यो ज्यो बरफ उत्तर की ओर जाने लगी, त्यो-त्यो आवहवा की पेटियॉ भी उसके पीछे धसकने लगी, और सहारा शुष्क पेटी के दायरो मे आ गया। इस प्रकार सहारा के उजडने का कारण आवहवा की पेटियो का धसकना है। सहारा भी कभी हरा-भरा था, और वहॉ भी कभी प्रचुर जल था, इसका प्रमाण छिटफुट नख-लिस्तानो मे मौजूद घडियालो तथा कुछ ताजे पानी की मछलियो के अस्तित्व से मिलता है। सहारा के सूख जाने पर वहॉ के लोग दक्षिण तथा उत्तर की ओर भागने के लिए मजबूर हुए।

५---आबहवा के दबाव से कृषि की उत्पत्ति---इस बीच मे जो भूभाग सबसे उर्वर तथा मनुष्य की कर्मशक्तियो के लिए सबसे उत्तम था, वह भूमध्यसागर के इर्द-गिर्द की भूमि, इराक, तुर्किस्तान साबित हुए। इससे फिर नई गतियॉ शुरू हुई। प्राचीन प्रस्तर युग के अन्तिम मनुष्य वृक्षहीन समतलो मे खतम होते हुए, शिकार का पीछा करते हुए उत्तर की तरफ चल दिये। अन्त मे वे जाकर जगल और समुद्र के बीच फॅस गये, और बाल्टिक के किनारे घोंघा मछली

तथा जगली फलो को बीननेवाले लोग होकर रह गये। प्रस्तर युग के दूसरे लोगो के जो वशधर उत्तर अफ्रीका और स्पेन मे रह गये थे, उन्होने कास्पीय सस्कृति (Caspian culture) का विकास किया। बाद को वे भी उत्तर की ओर चले गये, और अन्त मे पश्चिमी एशिया मे पहुँचे। इस मत के अनुसार ज्यो ज्यो जगलो की अग्रगति के सामने खुले मैदान घटते गये, त्यो त्यो बड़े शिकार घटते गये, ज्यो ज्यो बडे शिकार कम हो गये, मनुष्य अन्य खाद्यो की तरफ झुकने लगे। वे शिकार के साथ साथ जगली फल-मूल पर गुजर-बसर करने लगे। ऐसा वे मजबूरी के कारण ही करने लगे। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से आज हम इसे जाति कह सकते है फिर भी आदिम मनुष्य को जब शिकार की कमी हुई होगी, और उसे मजबूरी से फल-मूल आदि पर आना पडा होगा, उसने इसको एक महान् दुर्भाग्य समझा होगा। इस प्रकार मनुष्य फिर एक बार आबहवा के परिवर्तन के कारण प्रगति के लिए मजबूर हुआ। इसी प्रकार फल-मूल बीनने से उसकी प्रगति फल-मूल तथा अनाज को उत्पन्न करने यानी कृषि की ओर हुई होगी। समझा जाता है कि ईसा पूर्व पाँच हजार के लगभग निकट पूर्व मे कृषि का आविष्कार हुआ था। यह अनुश्रुति है कि देवी इसिस ने शाम मे हरमन पर्वत पर अनाज पाया, और उसने इसे अपने पुत्र को दिया। हक्सले के अनुसार इस अनुश्रुति मे सत्य के दो हिस्से होगे। एक तो यह कि अधिक सम्भव है, पुरुष के बजाय स्त्री को ही अनाज उत्पन्न करने का विचार हुआ होगा, क्योकि पुरुष तो शिकार मे ही लगा रहता था। दूसरी बात यह है कि शाम अथवा इसके आसपास कही कृषि का आविष्कार हुआ होगा।

६—खेती का प्रारम्भ—समझा जाता है कि ई० पू० पाँच हजार मे अनाज उत्पन्न करने की रीति फिलिस्तीन से घूमकर इराक मे पहुँची, और स्थायी बस्तियाँ बस गई, किन्तु यह तथ्य अभी सुनिश्चित नही है। फिलिस्तीन इसलिए खेती का उत्पत्ति स्थल माना गया है कि वहाँ के गुफा-निवासो मे कुछ प्राचीन हँसिये प्राप्त हुए है, किन्तु ये हँसिये खाद्य एकत्र करने के उपयोगी है, न कि खेती द्वारा खाद्य उत्पादन के। गार्डन चाइल्ड का कहना है कि ये गुफा-निवासी, जिन्हे नाटु-फियन कहा गया है, एक पिछडे हुए कबीले के थे, और इन्होने किसी और जाति से खेती का कुछ काम सीख लिया था, किन्तु वे अभी तक अपनी आर्थिक पद्धति

को इस नये आविष्कार के अनुसार संगठित नही कर पाये थे।[४] इधर प्राक्-आर्य भारत में भी खेती के होने का पता लगा है। भारतीय आर्यो ने यहाँ की आदिम-निवासी आस्ट्रिक जाति से कई मुख्य चीजो की खेती सीखी, इसमे कोई सन्देह नही। यह प्रमाणित हो चुका है कि आर्यो ने आदिम निवासियो से धान, इमली, नारियल, केला, पान, सुपारी और शायद हल्दी, अदरक, बैंगन तथा लौकी की खेती सीखी। खेती के विकास के सम्बन्ध मे ब्यौरे आगे दिये जायँगे।

७——नूह की कहानी का आधार, मिस्र की सभ्यता का भौगोलिक कारण—— हिमानी युग चुपचाप खतम नही हुआ, बार बार वह मरकर भी जिन्दा होता रहा। इसके फलस्वरूप भूभाग मे भी परिवर्तन होता रहा। ई० पू० ८,५०० मे करीब एक सदी तक बरफ के प्रकोप की वृद्धि हुई। इससे जमीन ऊँची उठ गई। इसके दो दिलचस्प नतीजे हुए। इराक के इर्द-गिर्द इतनी बरफ गिरी कि मालूम होता है, बाढ के मारे कई बसे हुए भूभाग उजड गये। हजरत नूह की बाढ की कहानी, मालूम होता है, इसी घटना से संश्लिष्ट है। मिस्र पर बरफ के इस प्रकोप का विशेष प्रभाव पडा। इस समय के पहले तक नील नदी की उपत्यका दलदल से भरी हुई तथा मुख्यतया बस्ती के अयोग्य थी। इतिहासज्ञो का अनुमान है कि जमीन के उच्च हो जाने से यह उपत्यका सूख गई, और बस्ती के लायक हो गई। ज्यो ही जमीन म इस प्रकार का परिवर्तन हुआ त्यो ही चारो तरफ से कृषि करनेवाले लोग इस तरफ आकर बसने लगे। इस प्रकार मिस्र की सभ्यता का उदय हुआ। मिस्र की सभ्यता ने जो और सभ्यताओ को अपने सामने फीका कर दिया, उसका भी कारण प्राकृतिक परिवर्तन बतलाया जाता है।

बद्दू जाति अपने ही देश मे खूब बढती रही। इराक की सभ्यता किस दर्जे पर पहुँची थी, यह खाल्दियो के ऊर नामक स्थान से प्राप्त द्रव्यो से ज्ञात होता है। इस सभ्यता का समय हक्सले के अनुसार ई० पू० ३,५०० है। इस युग की सबसे बडी प्राप्तियो मे पुरोहित, राजा, पत्थर की स्थापत्यकला, मेहराब (arch) का निर्माण, लिखित कानून तथा समुद्री जहाज है। इसी के बाद फिर जमीन उच्च हुई और सूखे का एक नया युग आया। इस कारण प्राचीन सभ्यता अपने आदिम स्थान ऊर मे तो ढह गई, किन्तु अब यूरोप, अफ्रीका और एशिया मे फैल गई। मिस्र की सभ्यता ने अपने ही वेगबल से परिचालित होकर नई सफलताओ को प्राप्त किया। पत्थर के सुन्दर मन्दिर और पिरामिड बने। गणित और ज्योतिष की उत्पत्ति हुई। राष्ट्र एक नियमित नौकरशाही के द्वारा परिचालित होने लगा। थोडे ही दिन बाद इराक मे राजा सारगन का उदय हुआ जो उन विजेताओ मे प्रथम थे, जिन्होने सेनाओ के द्वारा राज्य का निर्माण किया। सेनाएँ इसी युग की नई उत्पत्ति थी। वर्ग-समाज की उत्पत्ति के साथ साथ वर्ग राष्ट्र की तरफ से एक सगठित दमनकारी शक्ति के रूप मे सेना का उदय अनिवार्य था। यो तो आदिम शिकारीगण भी लडते होगे, किन्तु उन लडाइयो मे सीधा सीधा एक समाज सारे दूसरे समाज से भिड जाता था, उस युग मे सेनाओ के द्वारा लडाई नही होती थी। हक्सले भी यह मानते है कि सम्पत्ति और रियायतो की उत्पत्ति के साथ साथ लडाई का लडाई के रूप मे विकास हुआ। ई० पू० ३,००० के पहले स्टेपो मे पहले-पहल घोडो को पालतू बनाया गया। घोडो को पालतू बनाने के कुछ ही दिनो बाद सूखे का प्रादुर्भाव हुआ, और बद्दू लोग खाने की कमी के कारण घोडेसहित स्थायी बस्तियो पर टूट पडे। ये घोडे उस युग मे रणनीति के क्षेत्र मे उतने ही बडे हथियार थे जैसे १९३९–४५ के युद्ध मे टैंक थे। इस प्रकार मिस्र और इराक की सभ्यता पर जो हमले हुए, उनका कारण स्टेपो मे सूखा पडना था।

९—आबहवा के कारण, वाणिज्य का प्रसार तथा आयरिश संस्कृति का उदय—इस बीच मे कई कारणो से अनाज-उत्पादक मनुष्य सब दिशाओ को जाने के लिए मजबूर हुए। जन-सख्या की वृद्धि के साथ साथ आबहवा-सम्बन्धी परिवर्तन इसके कारणरूप हुए। हक्सले का अनुमान है कि ई० पू०

३,००० तक यूरोप महादेश पर अनाज-उत्पादक मनुष्यो की बस्ती नही थी। इसके बाद हजार साल मे थ्रेस, जर्मनी, बेल्जियम और फ्रास के अधिकाश भाग मे ऐसे लोग बस गये थे। भूमध्यसागर इनके मध्यवर्ती होने के कारण व्यापार का वाहन हो गया, और ईजियन समुद्र के नाविक ई० पू० २ २०० तक एटलाटिक के किनारे पहुँच गये। इसी के साथ पूर्व की ओर लोग फैले और एक नई सस्कृति उत्तर भारत तथा चीन मे पहुँची। हक्सले समझते है कि इसी से सस्कृति के पहले कीटाणु वहाँ पहुँचे। यह भी समझा जाता है कि अमेरिका की पहली किश्त पहुँची, और यह उस जगह के जरिये पहुँची जहाँ अब वेयरिंग स्थल डमरू-मध्य है। अगले हजार वर्ष मे जहाजो की सहायता से मनुष्य की आवादी फैली। यूरोप के उत्तर-पश्चिम मे भी मनुष्य फैले। सामुद्रिक वाणिज्य आयरलैंड और स्कैंडिनेविया तक पहुँचा। आयरलैंड ने सस्कृति की एक उच्च सतह प्राप्त की। हक्सले समझते है कि पहले आयरलैंड की आवहवा सदियो तक अत्यन्त आर्द्र थी, इसलिए वहाँ के लोगो की कर्मशक्ति कुठित हो जाती थी, किन्तु अब शुष्क तथा स्वास्थ्यकर आवहवा के कारण इस सस्कृति का उद्भव हुआ।

१०—विभिन्न सभ्यताओ के उदय तथा विलय में आवहवा सम्बन्धी कारण—ई० पू० १८०० मे फिर आवहवा-सम्बन्धी एक परिवर्तन हुआ, और आवहवा क्रमश आर्द्र और शीतल होती गई। ई० पू० १२०० मे ?०० ईसवी तक आर्द्रता तथा ठडक का एक नया चक्र चला जो ई० पू० ४०० मे पराकाष्ठा को पहुँचा था, और धीरे धीरे गिरते गिरते ५०० ई० तक सूखे मे पहुँच गया। फिर एक बार आँधियो की पेटी भूमध्यसागर के अन्दर मे चली। इस प्रकार बेबीलोनिया, असीरिया, केनान, फिनिसिया तथा बाद के युग के क्रीट, मिस्र, ट्राय, ग्रीस, कारथेज तथा रोम आदि की सभ्यता का उदय हुआ। भूमध्यसागर मानवीय कर्मशक्ति का केन्द्र हो गया। चूँकि बद्दूगण अपने स्टेपो मे तब तक आराम से रह सकते थे जब तक यह आर्द्र हवा चलती रही ये जातियाँ बर्बरो के आक्रमण से पीडित न होकर उन्नति करती रही, किन्तु इस समय आवहवा मे परिवर्तन होने से उत्तरी देशो का सर्वनाश हो गया। उन पर ठडक और आर्द्रता का प्रकोप हुआ, सडी हुई वनस्पति के दलदल और जगल फैल गये। आवहवा के इसी परिवर्तन के कारण आयरलैंड और स्केडिनेविया की सस्कृति का पतन आ

और ई० पू० पचम तथा चतुर्थ शताब्दियो मे बडे जोर की ठडक पडी। स्कैंडिनेवीय गाथाओ मे शायद इसी की बाते मौजूद है।

११—ग्रीस और रोम की सभ्यता का कथित भौगोलिक कारण—इसके बाद भूमध्यसागर की सभ्यता के पतन का प्रारम्भ हुआ। जोन्स नामक एक विद्वान् का यह विचार है कि ग्रीस के पतन का कारण अफ्रीका से लाया हुआ मलेरिया था। हक्सले लिखते है कि इस युग मे सूखने की प्रक्रिया जारी थी, इसलिए यह अनुमान सही हो सकता है। नदियो तथा तलावो के सूखने से मलेरिया के मच्छड बनने मे सहायता मिली। बतलाया जाता है कि शायद रोम के पतन का कारण भी मलेरिया हो, किन्तु हक्सले समझते है कि शायद इटली मे ग्रीस से अधिक वृष्टि होने के कारण मलेरिया के विस्तार का प्रभाव पीछे हुआ। इसी बीच भूमध्यसागर के इर्द-गिर्द देशो मे आबहवा-सम्बन्धी कारणो से कृषि भी घट गई, फिर बर्बर लोग भी चढ आये।

१२—गाथ और हूण जातियो के हमलो का आबहवा-सम्बन्धी कारण—५०० ई० से १००० ई० तक का युग निश्चित रूप से शुष्क था। हक्सले की समझ मे यही कारण है कि हूण और गाथ जातियाँ सारे यूरोप मे फैल गई और सूखे से पीडित अरब देश से इस्लाम के विस्तार की उत्तेजना मिली, किन्तु इसी कारण दलदलयुक्त उत्तर मे नये जीवन का सचार हुआ, आयरलैंड की सस्कृति पुनरुज्जीवित हुई। इसी युग मे स्कैंडिनेविया मे वाइकिगो का दबदबा रहा। इस युग के अन्त मे आर्द्रता बढी, और आर्द्रता के कारण वे अपनी जीविका तथा जमीनो से वचित हो गये। वे फिर इधर-उधर चलने लगे यहाँ तक कि सिसली मे पहुँच गये।

१३—माया सभ्यता की आबहवागत व्याख्या—हक्सले ने इन नियमो को केवल प्राचीनतर गोलार्द्ध पर लागू नही किया, बल्कि नवीन गोलार्द्ध के यूकाटान की माया सभ्यता पर लागू किया है। माया लोगो के इतिहास के दो स्वर्णयुग शीतल तथा आर्द्र युगो से मिलते है।

१४—मनुष्य के चरित्र तथा कर्मशक्ति पर जमीन और जानवर का असर—हक्सले ने दिखलाया है कि मानवीय इतिहास पर आबहवा तथा प्राकृतिक घटनाओ के प्रभावो का प्रश्न केवल अटकलपच्चू नही है। उनके कथनानुसार

इनका कुछ व्यावहारिक परिणाम उस समय उस देश के जानवर, जमीन तथा घास के मैदानो पर दृष्टिगोचर हो सकता है। इस सिलसिले मे जमीन की रासायनिक वनावट, साथ ही आबहवा महत्त्वपूर्ण वाते है, किन्तु एक तरह से ये दोनो परस्पर सम्बद्ध भी है। समय समय पर जानवर अजीव चीजो को खाने लगते है जैसे वे हड्डियाँ चबाने लगते है या मरे हुए जानवरो को खा जाते है। इस पर भी अध्ययन किया गया और विद्वान् इस नतीजे पर पहुँचे कि उन जानवरो मे गम्भीर शारीरिक न्यूनताएँ है, तभी वे इन चीजो को खाकर उन न्यूनताओ को पूर्ण करते है। वे इस प्रकार खाद्य मे किसी उपादान की न्यूनता की पूर्ति कर लेते है। यह न्यूनता अन्तिम विश्लेषण पर जमीन की न्यूनता पर सम्बद्ध है। यो तो कई उपादानो की कमी से जानवरो मे यह अस्वाभाविक प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है, किन्तु फासफोरस या कैल्सियम की या दोनो की कमी होने पर ही पशु ऐसा आचरण करता है। हड्डियो के लिए जरूरी उपादान होने के कारण इन दोनो मे से किसी की कमी से सही तौर पर हड्डियो की वृद्धि नही हो पाती, इसी कारण जानवर अपने स्वभाव के विरुद्ध आचरण करते है। ऐसे जानवरो के दूध मे कैल्सियम और फासफोरस की कमी हो जाती है। उनके वच्चे इस कमी के कारण पीडित हो जाते है। हड्डियो तथा लाशो के लिए अस्वाभाविक भूख की तृप्ति मे इस कमी की तृप्ति होती है, किन्तु कई वार लाशो तथा हड्डियो मे रोग-कीटाणु उत्पन्न हो जाते है, इसलिए अकसर इनके खानेवालो को पुष्टि प्राप्त होने के वजाय भारी नुकसान होता है। वताया जाता है कि फाकलैड द्वीपपुंज के चरागाहों मे कैल्सियम की कमी के कारण वहाँ के जानवरो की वृद्धि रुक गई थी। इन सब बातो का असर यह हुआ कि जो मनुष्य इन जानवरो के मास तथा दूध पर गुजारा करते है, उनके शरीर मे भी त्रुटि हो गई। इस प्रकार जमीन की न्यूनता के कारण ऐसे भूभागो के जानवर समय समय पर चरने के लिए ऐसी जगह पहुँच जाते थे, जहाँ ये कमियाँ न हो। यह वहुत ही स्वाभाविक वात है। हक्सले ने दिखलाया है कि अफ्रीका के कुछ भागो मे, जहाँ इस प्रकार खाद्य मे खनिज पदार्थगत न्यूनता है, वहाँ के वच्चे नमक के ककडो को उसी प्रकार पसन्द करते है, और उसी प्रकार से नमक पर टूटते है जैसे सभी वच्चे मिठाई पर टूटते है। जिस

समय फ्रास मे नमक पर टैक्स था, वताया जाता है कि उस समय फ्रास की गौओ की दशा वहुत खराव थी। इसके फलस्वरूप उन गौओ का मास तथा दूध इस्तेमाल करनेवालो को यथेष्ट पुष्टि नही मिलती थी।

१५—घास और इतिहास का सम्बन्ध—इसी प्रकार घास भी मनुष्य की परिस्थिति का वहुत निर्णय करती है। घास से केवल मास ही नही वल्कि ऊन, चमडा, दूध, मक्खन, पनीर, और हड्डियो, चमडो, सीगो से विभिन्न उपजे प्राप्त होती है। ब्रिटेन मे हर साल घास की उपजो का मूल्य ४० करोड पौड तक पहुँचता है। न्यूज़ीलैंडवाले तो घास की ही कमाई खाते है। भुट्टा और गेहूँ की किस्म की उन्नति के लिए वहुत प्रयत्न किया गया है। उस अनुपात से घास के लिए कुछ नही किया गया, फिर भी घास का कितना महत्त्व है, यह स्पष्ट हो गया। घास से मनुष्य की आर्थिक, सामाजिक परिस्थिति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

१६—विज्ञान की उन्नति के साथ जलवायु और भूगोल के प्रभाव का ह्रास—भौगोलिक प्राकृतिक कारणो को जो लोग इतिहास की निर्णयकारी शक्ति मानते है, उनका मत सक्षेप मे सकलित कर दिया गया। हमने इस सम्बन्ध मे जो तथ्य दिये है, वे मुख्यत जूलियन हक्सले,[१] चाइल्ड आदि की पुस्तको से लिये गये है। इसमे कोई सन्देह नही कि इनमे से कुछ तथ्य अपनी जगह पर वहुत महत्त्वपूर्ण है। जिस समय पृथ्वी पर नित्य नये भौगोलिक परिवर्तन हुआ करते थे, साथ ही मनुष्य अभी प्राकृतिक नियमो को करीब करीब कुछ भी नही समझता था, उस समय भौगोलिक तथा आवहवा-सम्बन्धी परिस्थिति का प्रभाव अधिक था। अव तो प्रकृति के नियमो के साथ उत्तरोत्तर अधिक परिचय हो जाने के कारण मनुष्य प्रकृति पर एक वडी हद तक नियन्त्रण करने मे समर्थ है। भूडोल ऐसी प्राकृतिक दुर्घटना पर भी मनुष्य इस हद तक तो नियन्त्रण प्राप्त कर ही चुका है कि अव भूडोलप्रूफ मकान आदि वन सकते है। भूडोल किधर से आ रहा है, कहाँ से आ रहा है, इसका ज्ञान भी सम्भव है। जव वायुयानो का चलन साइकिलो की तरह हो जायगा तव भूडोल के समय वायुयानो का इस्तेमाल कर यानी सामयिक रूप से उन पर रहकर वहुत वडी हद तक भूडोल के उपद्रव से शायद वचना सम्भव होगा। अव

[१] U M J

मरुभूमियो के विस्तार को भी रोका जा सकता है। शायद नहर निकालने मे तथा अन्य विज्ञानो मे इतनी उन्नति हो कि इस समय जो हजारो मील जमीने मरुभूमि के रूप मे पडी हुई है, उन पर खेतीबारी हो सके। आखिर जैसा कि हम देख चुके, सहारा मरुभूमि किसी युग मे हरी-भरी थी, और वहॉ एक सभ्यता की खेती लहलहा रही थी। जगलो मे कमी-बेशी पर किसी देश के वृष्टिपात मे कमी-बेशी की जा सकती है।

१७——भूगोल और जलवायु से इतिहास की व्याख्या सम्भव नही——इस सबन्ध मे सबसे बडी बात यह है कि वैज्ञानिको के अनुसार गत १००० वर्ष से आबहवा मे कोई विशेष उलट-फेर करनेवाले परिवर्तन नही हुए। इस बीच मे ऐसा नही हुआ कि जो देश ठडे थे, वे एकाएक गरम हो गये हो, या जो देश गरम थे, वे एका-एक ठडे हो गये हो, जैसा कि इस ग्रह के प्रारम्भिक युग मे बार बार होता रहा, ऐसा वैज्ञानिको का मत है। इसके साथ हम यह जानते है कि गत हजार दो हजार वर्षो मे मनुष्य की समाज-पद्धति बार बार मौलिक रूप से बदली है, इसलिए इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि भौगोलिक परिस्थिति को इतिहास की शक्तियो मे मानते हुए भी उसे निर्णयकारी शक्ति कैसे माना जा सकता है। हम भौगोलिक परिस्थिति को इतिहास की शक्तियो मे मानने से इन्कार नही करते, किन्तु हमारी इस स्वीकृति मे ही यह बात अन्तर्निहित है कि ज्यो ज्यो मनुष्य प्रगति कर रहा है त्यो त्यो इन प्राकृतिक शक्तियो का प्रभाव घटता जा रहा है। हम यह तो देख ही चुके कि किस प्रकार जो समुद्र कभी इँगलैड के पिछडेपन का कारण था, वही समुद्र नौविद्या की उन्नति के कारण इँगलैड के साम्राज्य मे सूर्य को अस्त होने नही देता है। साथ ही यह भी बता दिया जाय कि हक्सले आदि विद्वानो ने जिस प्रकार आयरलैड, रोम, ग्रीस आदि के पतन के प्राकृतिक कारण या आबहवा-सम्बन्धी कारण बतलाये है, उन्हे हम ज्यो का त्यो स्वीकार नही कर लेते। प्रागैतिहासिक युग के मनुष्य सदृश अधिवासी या प्रस्तर युग के मैगडेलियनो, ओरगेनेगियनो मे किस प्रकार प्रगति हुई या उनका क्यो विलय हुआ, केवल भौगोलिक तथा आबहवा-सम्बन्धी कारणो मे ही इनका उत्थान या पतन हुआ या नही, इस पचडे मे हम नही पडेगे, क्योकि इस सम्बन्ध मे हमारे पास बहुत कम तथ्य है। किन्तु रोम, ग्रीस तथा अन्यान्य

ऐतिहासिक जातियो का क्यो पतन हुआ, इसके सम्बन्ध मे हम बहुत ब्यौरे में जानते है। भले ही जोन्स या हक्सले ऐसे कुछ विद्वान् मलेरिया को ही इसका कारण समझे, किन्तु बुर्जुआ स्कूल तथा कालेजो की पाठ्य-पुस्तको मे और विशेषज्ञो की पुस्तको मे भी इन जातियो के पतन का कारण कुछ और ही बताया जाता है। जब कोई समाज उत्पादन के तकाजे के अनुसार प्रगति कर उत्पादन के सम्बन्धो को परिवर्तित नही कर पाता, अपने गतानुगतिक पथ पर चला जाता है तो उस समाज मे पहले आबद्धता आती है, और फिर एक हद पर जाकर उसका बिखरना शुरू हो जाता है। इसमे कोई रहस्य की बात नही है। मिस्र, रोम, यूनान का यही हुआ। हम यहाँ पर इस सम्बन्ध मे और अधिक ब्यौरे मे नही जायँगे। फिर यदि मलेरिया के पतन का एकमात्र कारण माना जाय तो यह प्रश्न उठता है कि क्या कारण है कि ये लोग बडे बडे आविष्कार तो कर पाये, किन्तु मलेरिया को रोकने मे समर्थ नही हुए। जब हम इन बातो की तह मे जायँगे तब हम किसी और ही नतीजे पर पहुँचेगे।

१८—भूगोल और जलवायु के प्रभाव पर स्टालिन—स्टालिन इसलिए बहुत ही सही तौर पर यह कहते है कि "गत तीन हजार वर्षो से यूरोप का मनुष्य-समाज तीन विभिन्न सामाजिक पद्धतियो से अर्थात् आदिम साम्यवादी समाज, गुलाम पद्धतिमूलक समाज तथा सामन्तवादी समाज से गुजर कर वर्तमान युग मे पहुँचा है। रूस मे तो समाज इससे भी आगे जा चुका है, यानी वह पूँजीवादी पद्धति मे गुजर कर साम्यवादी समाज मे प्रविष्ट हो चुका है, किन्तु इस बीच मे यानी गत तीन हजार वर्षो मे यूरोप की भौगोलिक परिस्थिति या तो कुछ भी नही बदली या इतनी कम बदली कि और तो और, भूगोलशास्त्र भी उनकी बिलकुल अवज्ञा करता है। कोई महत्त्वपूर्ण भौगोलिक परिवर्तन होने मे लाखो साल लग जाते है, किन्तु कई सौ या हजार दो हजार वर्षो मे मनुष्य की समाज-पद्धति मे महत्त्वपूर्ण से महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो जाते है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भौगोलिक परिस्थितियाँ सामाजिक विकास का निर्णयकारी कारण या प्रधान कारण नही हो सकती क्योकि जो बात दसियो हजार वर्ष तक अपरिवर्तित रहती है, वह ऐसे मौलिक परिवर्तनो का कारणीभूत नही हो सकती जो कई-सौ सालो मे कई बार बदलती है।'

मनुष्य सभ्यता के किस दर्जे मे है, इसी के अनुसार भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव कम या अधिक होता है। जिस समय मनुष्य प्रकृति के मुकाबिले मे बिलकुल असहाय होता है, और उसने न तो खाद्य द्रव्य उत्पन्न करना सीखा है न मकान बनाना ही, उस समय वह प्राकृतिक तथा भौगोलिक अवस्थाओ के हाथो मे उसी प्रकार एक असहाय खिलौना रहता है जिस प्रकार पशु होता है। किन्तु ज्यो-ज्यो मनुष्य तजर्बे मे तथा जरूरतो के कारण नई बाते तथा जीवन-निर्वाह के उच्चतर तरीके सीखता जाता है, त्यो-त्यो वह प्रकृति, आबहवा तथा भौगोलिक अवस्था की गुलामी से हटता जाता है। मूसलाधार वर्षा होती रहे, किन्तु मनुष्य अब खडे-खडे नही भीगता। कड़ाके की धूप पडती रहे किन्तु अब वह छाँह मे बैठकर चैन की बाँसुरी बजा सकता है। यदि उसने नाव बनाना सीख लिया तो समुद्र उसके मार्ग को रोक नही सकते। यदि उसने इतना अनाज उत्पन्न कर लिया कि कुछ सचय भी कर सकता है तो अब यह जरूरी नही रहता कि पानी ठीक समय पर बरसे या न बरसे। यदि जमीन मे कुछ न्यूनता है तो आज मनुष्य कृत्रिम रूप से बाहर से चीजे लाकर इस कमी की पूर्ति कर सकता है, साथ ही एक बडी हद तक जानवरो को भी हर आबहवा का आदी किया जा सकता है। हेगेल का कहना है कि समुद्र और नदियाँ मनुष्य को नजदीक लाती है तथा पहाड उन्हे दूर करते है। पहाड भी मनुष्य को तभी तक दूर कर सकते है जब तक मनुष्य पहाड को काटकर या उन्हे तोडकर रास्ता न तैयार कर सके। हेगेल के समय मे नौविद्या की उन्नति हो चुकी थी, इसलिए उन्होने यह तो लिख दिया कि नदी और सागर मनुष्य को निकटतर कर देते है, किन्तु पहाड अभी तक बाधक बने थे, इसलिए उन्होने इसे एक चिरन्तन नियम के रूप मे लिख दिया कि पहाड मनुष्य को दूर कर देते है। आदिम मनुष्य की दृष्टि से देखा जाय तो नदी, पहाड, सागर सभी समान रूप मे मनुष्य को एक दूसरे से दूर करते थे। पहाडो की जहाँ तक बात है अब—जब कि ऐटम को विभक्त कर उसकी शक्ति को काम मे लाना सम्भव हुआ है तब—पहाडो-वाली बाधा शायद अधिक दिन तक स्थायी न हो सके। इस नए आविष्कार से शायद यह सम्भव हो कि न केवल आल्प्स ही कोई बाधा न रहे, बल्कि हिमालय को भी दस बीस जगह से तोडकर इतनी चौडी सडके बनाई जा सके कि तिब्बत,

चीन और पामीर से भारतवर्ष के लोगो का उसी प्रकार सम्बन्ध हो जाय जिस प्रकार भारत के विभिन्न प्रान्तो मे है। प्रत्येक नये आविष्कार के साथ कथित भौगोलिक और आवहवा-सम्बन्धी प्रभावो से मनुष्य मुक्त होता जा रहा है। अत समाज-पद्धति की निर्णयकारी शक्ति क्या है, इसकी खोज हमे भौगोलिक तथा आवहवा-सम्बन्धी कारणो को छोडकर अन्यत्र करनी पडेगी।

१९—भूगोल और आबहवा के असर-सम्बन्धी सिद्धान्त का दुरुपयोग— कुछ लोगो ने भौगोलिक कारण को इतना और इस प्रकार से महत्त्व दिया है कि वे विज्ञान के दायरे मे न रहकर साम्राज्यवाद के पक्के समर्थक हो गये है। ऐसे लोगो मे मो० तस्किये का नाम विशेष उल्लेख योग्य है। इन्होने बोरडिन का अनुसरण कर भूगोल और आवहवा पर बहुत जोर दिया, और यह दिखाने का प्रयत्न किया कि राजनैतिक और सामाजिक सस्थाओ का उद्भव तथा विलय आवहवा तथा जमीन की उर्वरा शक्ति पर निर्भर होता है। वे तो यहाँ तक कह गये कि ठडे देशो मे राजनैतिक स्वतन्त्रता तथा गरम देशो मे गुलामी स्वाभाविक है। उन्होने यह कहा कि पहाडी देश स्वतन्त्रता के लिए उत्तेजक सिद्ध होते है, और समतलो मे, जुल्म को उत्तेजना मिलती है। उनका यह भी कहना था 'एशिया के वृहत् भौगोलिक विभाजन तानाशाही को प्रोत्साहित करते है किन्तु यूरोप की छोटी इकाइयाँ स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन देती है। अन्य लोगो के मुकाबिले मे द्वीपवासियो का झुकाव लोक तान्त्रिक सरकार की ओर होता है।[१]

इस कथन की एक-एक बात को गलत प्रमाणित किया जा सकता है। यदि ठडे देश के लोग गुलाम हुए तो गरम देश के लोग भी गुलाम हुए। जिन कारणो से यूरोप मे पहले-पहल सामन्तवाद का अन्त होकर पूँजीवाद और उसके अत्यन्त परिणत रूप साम्राज्यवाद का उदय हुआ, तथा एशिया और अफ्रीका के देश इनके चगुल मे फँस गये, वे कुछ और ही थे। जिस कारण से इँगलैंड मे पहले-पहल पार्लियामेंटी शासन का प्रारम्भ हुआ, वह भौगोलिक नही है, बल्कि वहाँ के उदीयमान पूँजीवादी वर्ग का यह प्रसाद था। फिर यदि द्वीपवासियो का लोक-तान्त्रिक शासन की ओर झुकाव है तो हजारो अन्य द्वीपो मे पार्लियामेंटी शासन का उद्भव क्यो नही हुआ? ऐसे मतवाद तब अत्यन्त खतरनाक हो जाते है जब

१ H P H p 255

उनके बूते पर यह कहा जाता है कि खास-खास साम्राज्यवादी देश हमेशा शासक रहेगे, और दूसरे देश हमेशा गुलाम रहेगे। इस प्रकार का विज्ञान विज्ञान नही, विज्ञान के नाम पर, बुद्धि पर, बलात्कार है। बुर्जुआ लेखको ने अपने प्रभुओ के शासन को चिरस्थायी बनाने के लिए ऐसे सिद्धान्त बना डाले है। कहना न होगा कि सही मानी मे समाजशास्त्र ऐसे पक्षपात, दूषित मतवादो को फूटी आँखों भी न तो देख सकता है और न उसे सहन कर सकता है।

———

जनसंख्या और नस्ल का इतिहास से सम्बन्ध

१—जनसख्या निर्णयकारी शक्ति—यह मतवाद—समाज के भौतिक जीवन की अवस्थाओ मे जनसख्या को भी बहुत प्रमुख स्थान प्राप्त है। यदि किसी देश मे जनसख्या बहुत ही कम हो, जैसा कोलम्बस द्वारा अमेरिका के आविष्कार के समय अमेरिका की थी, तो वह उन्नति नही कर सकता यह तो निसन्देह है। एक हद तक जनसख्या का होना उत्पादन तथा विनिमय अर्थात् श्रम-सम्बन्धो को ढग पर चालू रखने के लिए अपरिहार्य है। साथ ही सधारणबुद्धि यह भी बतलाती है कि एक हद के बाद जनसख्या मे वृद्धि अच्छी नही हो सकती। उत्पादन की शक्तियाँ जिस अनुपात से बढती है उससे अधिक अनुपात से यदि जनसख्या बढे और सब बाते ज्यो की त्यो रहे तो रहन-सहन के मानदड मे कमी होना अनिवार्य है। इस साधारण दृष्टिकोण को ही अन्त तक ले जाकर एक सिद्धान्त का रूप देकर यह कहा गया है कि जनसख्या ही समाज की उन्नति मे निर्णयकारी शक्ति है।

२—मालथसवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—जनसख्या के ही ऊपर किसी देश का ऐश्वर्य या दरिद्रता निर्भर है, माल्थस (१७६६-१८३४) ने इस मतवाद को स्थापित करने का 'वैज्ञानिक' प्रयत्न किया। १७८९ मे फ्रास मे जो राज्य-क्रान्ति हुई थी, उसमे विजय का सेहरा यद्यपि पूँजीवादी वर्ग के सिर पर बँधा, और यूरोप भर मे पूँजीवादी वर्ग के पक्ष मे क्रान्तियो का एक ताँता लग गया, फिर भी उस क्रान्ति मे कुछ ऐसी बाते हुई, पूँजीवादियो को ऐसी काली शक्तियाँ दिखाई पडी कि उनके सिहासन के नीचे कुछ किसकिसाने लगा। सारे यूरोप का सम्पत्तिशाली पूँजीवादीवर्ग अभी तक उसी प्रकार थरथर काँप रहा था। जिस प्रकार एक चूहा अलौकिक रूप से बिल्ली के पजो से बच जाने के बाद काँपता है। वायुमण्डल भी अभी तक समानता, मैत्री, स्वाधीनता की गूँज तथा जेकोबिनो की हुकार हिल्लोरे ले रहा था। स्वय पूँजीवादीवर्ग का विवेक (यदि इसका कभी कोई विवेक रहा हो) आत्मदशन का अनुभव कर रहा था, क्योकि जिस सर्वहारावर्ग की मित्रता के कारण वह अपने शत्रु सामन्तवादियो

पर विजय प्राप्त कर सका, लडाई की तलवारें अभी म्यानो मे बन्द भी नहीं हुई थी कि उनको फिर से एक बार निर्दयता के साथ सर्वहारा वर्ग—जनता पर चलाया गया। ऐसे समय मे माल्थस ने १७९८ मे On the principles of the population of nations (जातियो के, जनसख्या के सिद्धान्तों पर रोशनी) नामक एक पुस्तक प्रकाशित की।

३—माल्थस पर मार्क्स—मार्क्स ने इस रचना के सम्बन्ध मे यह लिखा 'प्रथम रूप मे यह पुस्तक स्कूली लडको की तरह छिछोरी रचना थी। उसमे डिफो, सर जेम्स स्टुअर्ट, टाउन्सएेड, फ्रेकलिन, वालेस तथा अन्य लेखको मे चुराये हुए उपादान पर एक पादरी के उद्गार थे, और इसमे एक भी वाक्य ऐसा नही था जिसको माल्थस ने सोचा हो।'[1] इस पुस्तक मे यह प्रतिपादन किया था कि जनसख्या का यह एक अपरिवर्तनीय नियम है कि जनसख्या तो रेखागणितिक श्रेणी (geometrical progression) मे बढती है, और जीवन धारण के साधन अकगणितिक श्रेणी (arithmetical progression) से बढते है। इस प्रकार माल्थस ने कहा कि उत्पादन के साधन मे वृद्धि जिस रफ्तार से होती है, उससे कही अधिक रफ्तार मे जनसख्या की वृद्धि होती है। इसका नतीजा यह होता है कि लोग गरीब होते जाते है।[2] नि सन्देह यह मतवाद पूँजीवादियो को बहुत पसन्द आया, क्योंकि अब वे गरीब का सारा दोष एक प्राकृतिक नियम के सिर मढ सकते थे। नतीजा यह हुआ कि माल्थस हाथो हाथ ले लिए गये, और उनकी पुस्तक मे कोई विशेषता न होते हुए भी उनके सिद्धान्तो की बडी धूम रही। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्र-विद् अल्फ्रेड मार्शल ने यह जो लिखा है कि माल्थस की पुस्तक जनसख्या पर आधुनिक अनुशीलन का आरम्भ बिन्दु है, यह सही नही है। जैसा मार्क्स ने लिखा है कि इसके पहले ही बहुत-सी पुस्तको मे यह चर्चा हो रही थी। माल्थस ने इन आलोचनाओ को चुरा मात्र लिया। मार्क्स ने इस पुस्तक के सम्बन्ध मे यह भी कहा है कि माल्थस की यह पुस्तक मनुष्य-प्रकृति पर एक लाछन है। उन्होने माल्थस के इस नियम की व्यर्थता यह कहकर साबित कर दी है कि

---

१ M. E. C p. 171

२ C. G. P. note to p 40

उत्पादन की प्रत्येक विशेष ऐतिहासिक पद्धति का जनसख्या-सम्बन्धी विशेष नियम है जो केवल उसी की सीमाओ के अन्दर ऐतिहासिक रूप से सही है।[१]

४—तथ्यो की गवाही माल्थसवाद के विरुद्ध—माल्थस के इस सिद्धान्त ने उस युग के उदीयमान पूँजीवादी वर्ग के विवेक पर ऐसा प्रलेप लगाया कि १८०३ मे ही माल्थस को अपनी पुस्तक का एक परिवर्द्धित तथा परिशोधित सस्करण प्रकाशित करना पडा। तब से तो यह सिद्धान्त पूँजीवादी शोषण का एक समर्थक सिद्धान्त हो गया। यही कारण है कि यह सिद्धान्त बहुत अशो मे अभी तक जीवित है, यद्यपि तथ्यो ने सम्पूर्णरूप से इसको गलत साबित कर दिया। ऐसा समझने के लिए कोई कारण नही मालूम देता कि जनसख्या की वृद्धि से गरीबी अनिवार्य रूप से बढेगी ही। गरीबी का बढना अथवा न बढना कई बातो पर निर्भर है। यदि उत्पादन की शक्तियो मे जनसख्या की वृद्धि के अनुपात से अधिक वृद्धि हो तो कोई कारण नही कि गरीबी बढ जाय। अमेरिका मे बराबर जनसख्या की वृद्धि हुई, किन्तु इससे वहां गरीबी बढी तो नही, बल्कि उत्तरोत्तर उसका ऐश्वर्य बढता गया। इतना ही नही इस ऐश्वर्य-वृद्धि का एक बडा कारण जनसख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि है। यदि किसी देश मे प्राकृतिक साधन (जैसे ज़मीन) अधिक उपलब्ध है, किन्तु उनको काम मे लाने के लिए यथेष्ट लोग नही है तो इससे उनकी उन्नति मे बाधा ही होगी। एस अवेलिन टामस ने लिखा है 'माल्थस के बाद के इतिहास से उनके सिद्धान्त की पुष्टि नही होती। इँगलैड मे जनसख्या तेज़ी से बढती गई है, किन्तु यह नही कहा जा सकता कि कुल मिलाकर यहाँ के लोग पहले से गरीब है। नि सन्दिग्ध रूप से आमतौर पर यह देश और व्यक्तिगत रूप से इसका प्रत्येक अधिवासी एक शताब्दी पहले के मुकाबिले आज कही अधिक धनी है। १९वी सदी के दौरान मे यहाँ के लोगो की जरूरते और विविधता बराबर बढती गई, रहन-सहन का मानदड बढता गया, और एक पुश्त के लिए जो चीज विलासिता थी, वह अगली पुश्तवालो के लिए जरूरत हो गई । माल्थस के सिद्धान्त से (लेखक का मतलब शायद आत्मप्रवचनाकारी पूँजीवादियो तथा उनके पिछलगुओ से है—ले०) यह विश्वास हो गया कि जनसख्या की वृद्धि हमेशा हानिकर ही होती है, किन्तु इस सिद्धान्त मे यह बात नही देखी गई थी

---

१ E S p. 276

कि बडी सख्याओ के बीच सहयोग से लाभ नही हो सकते तथा रेल जैसे आविष्कार बिना अधिक जनसख्या के काम मे नही आ सकते । . . जनसख्या मे धारावाहिक वृद्धि होते रहने पर भी पाश्चात्य देशो मे रहन-सहन का मानदण्ड बराबर ऊँचा होता गया। इसका कारण अव्वल तो यह है कि अब तक उत्पादन बेहद बढ जाने के कारण जनसख्या की वृद्धि से कोई हानि होती नही जान पडी। दूसरी बात यह है कि आम लोगो के रहन-सहन के मानदण्ड मे वृद्धि के परिणामस्वरूप जनसख्या मे यद्यपि वृद्धि हुई है, फिर भी वह उससे कम है जो उत्पादन मे अधिकतर वृद्धि के फलस्वरूप होता।'[१]

ऑकडो की सहायता मे पालमम्बर्ट ने निर्विवाद सिद्ध तरीके से प्रमाणित किया है कि १८८० और १९१० के बीच जर्मनी की जनसख्या मे जो वृद्धि हुई उससे माल्थस प्रतिपादित सिद्धान्त के बिल्कुल विरुद्ध नतीजे निकलते है, अर्थात् रहन-सहन के मानदण्ड मे जनसख्या से कही अधिक तेजी से वृद्धि हुई है। १८४९ से १८९९ के सयुक्तराष्ट्र अमेरिका के ऑकडो की इसी प्रकार समीक्षा करने पर माल्थस के सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत परिणाम निकलते है।[२] इस प्रकार माल्थस के सिद्धान्त के व्यावहारिक आधार बिल्कुल गायब है। किसी सिद्धान्त की सत्यासत्यता व्यावहारिक रूप मे वह कहाँ तक सत्य ठहरता है, किसी पर निर्भर है। जब हम इस दृष्टि से माल्थस के सिद्धान्त की जाँच करते है तो वह एक मिनट भी टिक नही पाता।

५—आयरलैंड तथा फ्रांस में माल्थस के नियम गलत प्रमाणित—मार्क्स ने अपनी पुस्तक 'पूँजी मे माल्थस के नियम के विरुद्ध कई ऐतिहासिक उदाहरण दिये है जो अकाट्य है। उनमे से एक यह है कि इँगलैंड मे उस युग मे black death (काली मौत) नाम से जो महामारी आई थी, उसके फलस्वरूप हजारो आदमी मर गये, देश की जनसख्या घट गई, देहाती जनता बहुत कुछ भारयुक्त तथा धनी हो गई। यहाँ तक तो माल्थस का सिद्धान्त बिल्कुल लागू हुआ क्योकि जनसख्या घटी तो लोग खुशहाल हुए, किन्तु ब्रिटिश खाड़ी की दूसरी ओर इसी महामारी का फ्रास मे क्या नतीजा हुआ ? जब हम इस बात को देखते है तो हमे कुछ दूसरी ही बात

१ E. E. S p. 276-7
२ J. S W. p 73

दिखलाई पडती है। फ्रास मे इस महामारी के फलस्वरूप जो जनहानि हुई, उसका नतीजा यह हुआ कि लोग गुलामी और गरीबी मे जकड गये। मार्क्स ने अपनी उल्लिखित पुस्तक मे इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक दूसरा उदाहरण भी दिया है। 'आयरलैंड के सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि जनसख्या के नियमो को प्रत्यक्ष करने के लिए वह एक आदर्श देश है, यानी वहाँ जनसख्या के नियम बिल्कुल नही उतरते है। टामस सैडलर ने जनसख्या-सम्बन्धी अपना ग्रन्थ प्रकाशित करने के पहले अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Ireland, its evils and their remedies (द्वितीय सस्करण, लन्दन १८२९) प्रकाशित की थी जिसमे उन्होंने आयरलैंड के विभिन्न प्रान्तो तथा फिर एक एक प्रान्त के विभिन्न जिलो के आँकडो की तुलना कर दिखलाया था कि आयरलैंड मे दरिद्रता के साथ जनसख्या के आँकडो का कोई तारतम्य नही बैठता, बल्कि तारतम्य उलटा ही बैठता है।'

जिस एक भूभाग मे जन-सख्या घट गई थी, उसका वर्णन देते हुए मार्क्स ने कहा है 'हमे इस बात को जानकर आश्चर्य नही है कि एक स्वर ने दी गई निरीक्षको की राय के अनुसार इस वर्ग के आम लोगो मे गम्भीर असन्तोष फैला हुआ है, वे भूतकाल पर ईर्ष्यापूर्ण दृष्टि डालते है, वर्तमान से घृणा करते है और भविष्य के विषय मे निराश है।'

माल्थस के सिद्धान्त का सार तथा उसकी समालोचना ऊपर दी गई है, फिर भी उसके सिद्धान्त ने जो उत्तेजना उत्पन्न की, वह मार्क्स के समय भी इतनी ताजी थी कि उन्होने एक मित्र श्वाइलत्सेपर को २४ जनवरी १८६५ मे पत्र लिखते हुए लिखा था—'यद्यपि यह सिद्धान्त मनुष्य जाति पर लाछन है, फिर भी उसने कितना जोश पैदा किया। यह उत्तेजना क्यो पैदा हुई, इसका तो हम पहले ही वर्णन कर चुके है, सचमुच पूँजीवादी वर्ग के चुभते हुए विवेक को जब इस प्रकार के किसी 'वैज्ञानिक' सिद्धान्त का सहारा मिल जाता है, तो वे उस लेखक को सिर पर उठाकर क्यो न नाचना शुरु करे। इसी सिद्धान्त के कारण माल्थस को केम्ब्रिज विश्वविद्यालय की फेलोशिप प्राप्त हुई। उनके ग्रन्थ मे जो बाते थी उनका सार सकलित किया जा चुका। इस प्रकार के सिद्धान्तों से पूँजी-वादियो को आत्मप्रसाद भले ही प्राप्त हो तथा वे अब शोषितवर्ग के सम्मुख सुर्ख-रुह भले ही बन जायें किन्तु न तो यह तथ्य है और न विज्ञान है।

६——माल्थसवाद पर डेलीस्लवनीस——मी० डेलीस्लवनीस तो साफ साफ लिखते है 'आधुनिक जगत् पहले के किसी भी जमाने मे अधिक ऐश्वर्यशाली है। गरीबी तो अब भी स्पष्ट है, किन्तु ऐसा उत्पादन शक्ति के अभाव के कारण नही बल्कि उपविभाजन के कारण है। सार्वजनिक धन (पार्कों, सडको तथा विद्यालयों के रूप मे अधिक है, अवकाश भी अधिक है, और अवकाश के उपयोग के मौके भी अधिक है। पहले से कही अधिक लोग आधुनिक आविष्कारो तथा समाज के आधुनिक सगठनो से कुछ न कुछ फायदा उठाते है।'[१] इसलिए ऐतिहासिक भौतिकवाद जनसख्या को अपनी जगह पर एक शक्ति मानते हुए भी यह नही मानता कि वह इतिहास की निर्णायिक शक्ति है।

७——जनसख्या पर स्टालिन——स्टालिन ने इस विषय मे लिखा है 'यदि जनसख्या मे वृद्धि सामाजिक विकास की निर्णयकारी शक्ति होती, तो जिस अनुपात मे जनसख्या अधिक घनी होती, उस अनुपात मे उस स्थान की सामाजिक पद्धति की उन्नत होती, किन्तु वास्तविक क्षेत्र मे हम यह बात नही पाते। चीन की जनसख्या का घनत्व अमेरिका की जनसख्या से चौगुना है, फिर भी अमेरिका का स्थान सामाजिक विकास के सोपान मे चीन से कही उच्चतर है। चीन मे अभी तक अर्द्ध सामन्तवादी पद्धति प्रचलित है, किन्तु अमेरिका बहुत पहले ही पूँजीवाद के विकास के उच्चतम सोपान पर पहुँच चुका। बेल्जियम मे जनसख्या का घनत्व सयुक्तराष्ट्र अमेरिका का १९ गुना और सोवियट रूस का २६ गुना है, फिर भी सयुक्तराष्ट्र अमेरिका सामाजिक विकास के सोपान मे बेल्जियम से उच्चतर स्थान पर है, और जहाँ तक सोवियट रूस का सम्बन्ध है, बेल्जियम तो उससे एक ऐतिहासिक युग पीछे है, क्योकि बेल्जियम मे पूँजीवादी पद्धति है, और सोवियट रूस ने पूँजीवादी सोपान को पार कर समाजवादी पद्धति की स्थापना की है। इससे स्पष्ट है कि जनसख्या मे वृद्धि समाज के विकास की निर्णयकारी शक्ति नही हो सकती।'[२]

८——माल्थसवाद के जरिये रहस्यवाद——माल्थस ने जनसख्या को केवल गरीबी का कारण ही नही करार दिया था, बल्कि यह भी कहा था कि यदि विलम्बित विवाह आदि तरीको से जनसख्या की वृद्धि पर रोक-थाम न की जाय

---

१ O. M K. p. 741 २ D. M.

तो लडाइयाँ, दुर्भिक्ष तथा बीमारी आकर जनसख्या को घटा देती है। इस प्रकार माल्थस ने गरीबी, दुर्भिक्ष तथा लडाइयो की जिम्मेदारी मे भी शासकवर्ग को तथा उनके शोषण की पद्धति को बरी कर दिया। यही नही, कमोवेश प्राकृतिक विपत्ति—जैसे महामारी आदि—का दोष भी जनसख्या पर मढ दिया। गरीब लोग नि सन्तान कम होते है, इसलिए अन्त तक इस सिद्धान्त से कौन दोषी ठहरता है, यह स्पष्ट है। भला ऐसे सुन्दर सिद्धान्त का पूँजीवादियो के विश्वविद्यालयो से क्यो न स्वागत होता? समाज की सभी बुराइयो के लिए जनसख्या की वृद्धि जिम्मेदार है और जनसख्या के लिए जिम्मेदार है मनुष्य की इन्द्रियलोलुपता या नफ्सपरस्ती, अतएव इन सबकी दवा है, इन्द्रियसयम, नफ्सकशी। बहुत ही सुन्दर निदान और बहुत ही सुन्दर दवा रही। इस प्रकार माल्थस का सिद्धान्त कथित अर्थशास्त्र के बाडे से निकलकर रहस्यवाद मे भी ले जाता है। यह भी अच्छा ही है क्योकि इस प्रकार इस सिद्धान्त मे विश्वास करनेवाला ऐसी जगह पर पहुँच जाता है, जहाँ से पूँजीवाद को कोई खतरा नही है।

९—**दुर्भिक्ष और जनसख्या**—आधुनिक युग के आर्थिक सकटो को लिया जाय। इन अवसरो पर लोगो की रहन-सहन के मानदड घट जाते है बेकारी बढ जाती है तथा कही-कही दुर्भिक्ष भी पड जाता है। पुराने जमाने मे जब रेल तथा उन्नत यातायात के साधन नही थे, तब अतिवृष्टि, अनावृष्टि पर अन्य प्राकृतिक कारण को दुर्भिक्ष के लिए दोषी करार दिया जा सकता है। पुराणो मे अक्सर ऐसे दुर्भिक्षो का उल्लेख आया है जब बारह-बारह वर्ष तक पानी नही बरसा है। किन्तु अब तो यदि कही लोग भूखो मरते है तो इसलिए नही कि खाद्य वस्तुओ की कमी है, या यातायात के शीघ्रगामी साधन नही है, बल्कि अब तो आर्थिक सकटो का कारण अति उत्पादन होता है। १९२९ के सकट के जमाने की तथा उसके इर्द-गिर्द सालो की ही बात ली जाय। सारी दुनिया मे लाखो लोग अनशन या अर्द्धाशन मे गुजारा कर रहे थे, किन्तु इसी जमाने मे दूध के पीपे नदियो मे डाल दिये गये इजन मे कोयले की जगह गेहूँ झोका गया, चाय की पत्तियाँ ताप ली गई। स्पष्ट है कि इन दुर्भिक्षो के साथ जनसख्या का कोई सम्बन्ध नही है। इस सम्बन्ध मे यह द्रष्टव्य है कि दुर्भिक्ष अधिक घनी जनसख्यावाले देशो मे अधिक होता है, ऐसा नही। ऐसा होता तो चीन

और भारत के अतिरिक्त बेल्जियम, हालैंड आदि देशो मे दुर्भिक्ष होने चाहिए थे, किन्तु शेषोक्त देशो मे दुर्भिक्ष नही होते। दुर्भिक्ष केवल पिछडे हुए शोषित देशो मे ही होते हैं, और समृद्धिशाली देशो में जब वे होते है, तो शोषित तबके तक ही सीमित रहते हैं। इसका अर्थ स्पष्ट है कि दोष विभाजन मे है। जिस शोषक पद्धति मे दुर्भिक्ष होते है उस पर उसका दोष लगाना चाहिए न कि जनसख्या पर। १९४३ मे बगाल मे जो भयकर दुर्भिक्ष हुआ उसका कारण बगाल की बढी हुई जनसख्या नही, बल्कि जैसा कि सरकारी 'वुडहेड कमीशन' ने भी माना था, अनाज के वितरण मे गडवडी तथा अन्य धांधलियो के कारण यह दुर्भिक्ष हुआ। सैद्धान्तिक रूप मे फिर भी यह कहा जा सकता है कि जमीन तो सीमित है, अब किसी कोलम्बस के द्वारा किसी नये भूभाग के आविष्कृत होने की सम्भावना नही है, किन्तु जनसख्या बराबर बढती जा रही है, ऐसी हालत मे चाहे कितना भी अच्छा विभाजन हो जनसख्या की वृद्धि दुर्भिक्ष का कारण न होगी।

१०—जरूरी नही कि आबादी बढने पर खाद्य कम हो—इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अभी जमीन अपनी उत्पादकता की शेष सीमा पर नही पहुँची। उसमे पहुँचते-पहुँचते शायद सदियाँ लगे, केवल यही नही विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ कदाचित् जमीन से स्वतन्त्र रूप मे भी खाद्य उत्पादन सम्भव हो। जिस प्रक्रिया से आज मिट्टी, पानी, खाद्य, हवा महीनो मे गेहूँ मे परिणत हो पाती है, सम्भव है कि वह प्रक्रिया प्रयोगशाला के अन्दर अपेक्षाकृत कम समय मे अजाम दी जा सके, और यह सम्भव है कि खाद्य उत्पादन मे जमीन के ऊपर हमारी आज जो निर्भरता है, वह बिलकुल दूर हो जाय। फिर समुद्र मे इतनी विपुल खाद्य-सामग्री है कि उसका कुछ अन्दाजा नही किया जा सकता।

११—१९१४-१८ के महायुद्ध का उदाहरण—१९१४-१८ के महायुद्ध मे ४,१४,३५,००० लोग मरे, किन्तु यह कहने का साहस किसी ने नही किया कि इसके फलस्वरूप लोग कुछ पहले से धनी हो गये या उनकी रहन-सहन का मान-दण्ड कुछ बढा। अवश्य इस विपुल जनहानि के साथ-साथ इस महायुद्ध में विपुल धनहानि भी हुई। सच तो यह है कि विश्वपूँजी का ⅓ भाग नष्ट हो गया। युद्ध के तुरन्त बाद सार्वदेशिक रूप से दुर्भिक्ष अर्थसंकट की जो लहर दौड गई वह

सख्या के आधार पर साम्राज्य विस्तार का जो दावा किया था, वह ग़लत था। उन्होने यह दिखलाया कि यदि इस हिसाब से देखा जाय कि किस देश मे पृथ्वी की कितनी फीसदी जनसख्या है और उस देश मे पृथ्वी के रकबे की कितनी फीसदी आ जाती है, तो ज्ञात होगा कि जर्मनी की जनसख्या पृथ्वी की जनसख्या की ४० फी सदी है, और उसके पास रकवा केवल ०५ फी सदी है। इटली की जनसख्या पृथ्वी की जनसख्या की २५ फी सदी है और रकवा २८ फी सदी है, यानी इटली को तो इस दृष्टि से कुछ माँगने का कोई हक नही है। चीन की जनसख्या पृथ्वी की जनमख्या की २०४ है, किन्तु पृथ्वी के रकबे का मात्र ७७ उसके पास है, किन्तु किसी फासिवादी ने यह नही कहा कि चीन को पृथ्वी का और १२७ रकवा प्राप्त होना चाहिए। डाक्टर कुजिनस्की ने जिस प्रकार आँकडो को लेकर दिखलाया है उसे हम वैज्ञानिक नही कह सकते, क्योकि पृथ्वी के रकवे मे उन्होने जो मरुभूमियो, ऊसरो आदि को गिन लिया उससे ये आँकडे किसी प्रकार सही नही माने जा सकते। जो हो, इतना तो सही है कि आस्ट्रेलिया, ब्राजील आदि देशो के पास जरूरत से ज्यादा जमीन है, जब कि बहुत से देश ऐसे है जिनमे वास्तविक रूप से जीवन धारण के स्थान की तुलनात्मक रूप से कमी है। सम्भव है, ऐसे देशो की सूची मे जर्मनी भी आ जाय, किन्तु अवश्य ही इस सूची मे सवसे पहला नाम चीन का ही होगा। इसलिए जनसख्या की वृद्धि को एक नैतिक वहाना वनाकर जो लोग दूसरे देशो को हडपने की योजनाएँ बनाते रहे या वनाते है तर्कशास्त्र का तकाजा यह है कि सब से पहले वे चीन आदि देशो की आवादी के लिए लेवनसराऊम की व्यवस्था करे, किन्तु जिन फासिवादियो ने लेवनसराऊम का नारा दिया था, उनकी निगाह मे तो कदाचित् चीन आदि देशो के लोग मनुष्य की श्रेणी मे ही नही है। सच तो यह है कि उन्होने नार्डिक जातियो की स्वभावसिद्ध प्रधानता के रूप मे यह वात कही है। हम यथास्थान उसकी भी आलोचना करेगे।

१५——जनसख्या केवल प्राणीविज्ञान-सम्बन्धी घटना नहीं——यह समझना भारी भूल है कि जनसख्या केवल विशुद्ध रूप से प्राणिविज्ञान-सम्बन्धी (biological) या प्राकृतिक घटना है। जनसख्या की वृद्धि तथा उसमे ह्रास कितने ही ऐसे पहलुओ पर निर्भर है जैसे कर्मविभाजन, वर्गो का पारस्परिक सम्बन्ध इत्यादि। समाज मे प्रचलित सामाजिक आर्थिक, पद्धति पर जनसख्या का घटना-बढना निर्भर

है। हम जानते है कि अत्यन्त आदिम समाज मे जब उत्पादन के साधन बहुत ही अनुन्नत तथा आदिम थे, जनसख्या की वृद्धि को प्रोत्साहित नही किया जाता था। उस समय की आर्थिक पद्धति मे इसके लिए अधिक गुँजाइश नही थी। करीब करीब प्रत्येक आदिम जाति मे शिशुहत्या का रिवाज था। अमेरिका की कुचिल जाति का बच्चा जब बीमार हो जाता था तो उसकी मा उसको जगल मे डाल आती थी। जी० एफ० अगस साहब तो आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैड की किसी जगली जाति के सम्बन्ध मे बता गये है कि वे अपने जीवित लडके तथा लडकियो को वशी की कटिया की नोक पर चारे की जगह लगा देते थे, और अपने बच्चो की चर्बी मे मछली पकडते थे। प्राचीन भारतीयो मे ही नही, बल्कि अत्यन्त अर्वाचीन काल तक भारतवर्ष मे प्रयाग की त्रिवेणी तथा गगासागर के सगम पर लोग आमतौर से बच्चो को चढाया करते थे। अरब मे मुहम्मद के समय तक तथा उनके बाद भी शिशुहत्या की प्रथा और तो और कुरैश कबीले मे भी मौजूद थी। मक्के के पास अबूदीलामा नामक पहाड पर बच्चो का वध किया जाता था। ग्रीक इतिहास-लेखक स्ट्रेबो (ई० पू० ६०-२४) ने लिखा है कि प्राचीन लोगो मे शिशुहत्या की प्रथा का इतना चलन था कि मिस्र के लोग जो अपने सब बच्चो तथा बच्चियो का पालन करते थे, यह बात आश्चर्य की दृष्टि से देखते थे। प्राचीन चीनियो मे तो यह प्रथा थी ही, किन्तु अभी तक शायद चीन के कुछ हिस्सो मे यह प्रथा मौजूद है। अन्दमन मे मा अपने बच्चो को दाँत निकलने के बाद एकान्त स्थान मे छोडकर चल देती थी। इस प्रकार शिशुहत्या के साथ साथ अत्यन्त आदिम समाजो मे बूढे अपाहिजो तथा बीमारो को मारकर आनुष्ठानिक तरीके से खा डालते थे। शिशुहत्या, वृद्धहत्या आदि की प्रथाएँ अनुन्नत आर्थिक पद्धति के कारण ही थी, इसलिए यह समझने की आवश्यकता नही कि जनसख्या एक प्राकृतिक अथवा खुदाई घटना है।

१६—जनसख्या के ह्रास तथा वृद्धि के दोयम कारण—हम जानते है कि उत्पादन के साधनो मे उन्नति के साथ साथ इस प्रकार की प्रथाएँ स्वय लुप्त होती गई। इस क्षेत्र मे कही यह न समझा जाय कि उत्पादन के साधनो की उन्नति अथवा श्रम की उत्पादकता मे वृद्धि से हमेशा जनसख्या बढेगी, इसलिए यह बता देना आवश्यक है कि इस क्षेत्र मे अन्य दोयम दर्जे के कारण भी क्रियाशील

हो सकते है, और वे उत्पादकता मे वृद्धि रहने पर भी जनसंख्या की वृद्धि के मार्ग मे रोडे हो सकते है। उदाहरणस्वरूप एक बहुत ही सहजबुद्धि की बात ली जाय। जिस समाज मे जायज और नाजायज सन्तान मे भेद होता है तथा जहाँ स्त्री नाजायज सन्तान उत्पन्न करने पर निन्दनीय होती है, वहाँ स्वाभाविक रूप से नाजायज सन्तान कम उत्पन्न की जायगी, अर्थात् गर्भपात कराकर भ्रूण-हत्या कर या अन्य किसी उपाय से लोग इस विपत्ति से बचने की चेष्टा करेंगे। जिस समाज मे नारी के लिए एकमात्र सम्मान का आधार रूप ही है तथा जिस समाज मे पुरुष की आँखो मे स्त्रियो का लोभनीय होना ही उनके लिए एकमात्र अच्छी अवस्था है, वहाँ सभी महिलाएँ चाहेगी कि बच्चे जनने के कारण उनके रूप मे अन्तर न पडे। साम्पत्तिक दृष्टि का भी बच्चों की वृद्धि या ह्रास मे एक बहुत बडा हिस्सा है। बुखारिन ने लिखा है कि फ्रेंच छोटा जमींदार यह नही चाहता कि उसके अधिक पुत्र हो क्योकि वह अपनी सम्पत्ति को कई टुकडो मे बाँटना पसन्द नही करता। पुरुष-प्रधान समाज मे लडकियो का उत्पन्न होना अच्छा नही समझा जाता—अवश्य इस समझ की तह मे यह बात परोक्ष-रूप से है कि समाज मे लडकियो की आर्थिक हैसियत अर्थात् उत्पादन मे उनकी हैसियत कम हो गई है। पहले जो हम शिशुहत्या की बात बता चुके है वह बाद को समाज मे स्त्रियो की आर्थिक हैसियत घट जाने के कारण, एक बडी हद तक कन्या-शिशु की हत्या मे रूपान्तरित हो गई। तथा ऐसे कृत्य के नैतिक समर्थन के रूप मे इस प्रकार की धारणाएँ जैसे लडकी देने मे हेठी है, इत्यादि की उत्पत्ति है। जिन जातियो मे उत्पादन के साधन तेजी से बढ रहे थे, तथा जो जातियाँ निरन्तर युद्ध मे लिप्त होने के कारण अपनी भलाई इसी मे देखती थी कि अपने मृत सैनिको की पूर्ति होती रहे, उनमे पुत्रोत्पत्ति धर्म माना गया। भारतीय आर्यो मे जो पुत्रोत्पत्ति को धर्म का एक अपरिहार्य अग समझा गया, इसका एक प्रधान कारण यह था कि आर्य अपने मे पुरुष बढाना चाहते थे। फासिस्टवादियो ने लेबनसराऊम का नारा देते हुए भी जनसख्या वृद्धि करने की जिस कारण से चेष्टा की, आर्यो की इस धारणा की पृष्ठभूमि मे इससे अच्छा कारण नही था।

१७—जनसख्या परिस्थितियो पर निर्भर—इस प्रकार हम अन्य बहुत

से सामाजिक, ऐतिहासिक तथा आर्थिक कारण दे सकते है जिनके कारण जनसख्या की वृद्धि को ईश्वरीय इच्छामात्र या प्राकृतिक घटना नही कह सकते। यह एक आकस्मिक घटना नही है कि जापान, इँगलैड आदि देश मुश्किल मे अपनी वर्तमान जनसख्या के एक तिहाई लोगो को अपनी जमीन की उपज से जिला सकते है, फिर भी उनकी जनसख्या इतनी वढ गई। यदि ये देश साम्राज्यवादी लूट-खसोट मे लिप्त न होते, तो इनकी जनसख्या हरगिज इतनी वढ नही सकती थी, अर्थात् वढती तो उसके साथ ही साथ सनकी रहन-सहन का मानदण्ड निरन्तर घटता जाता। वह किसी हालत मे वढ नही सकता है। मनुष्य की परिस्थितियाँ इस प्रकार उसकी जनसख्या का निर्णय करती, न कि जनसख्या परिस्थितियो का। अवश्य जनसख्या एक हद तक परिस्थितियो का निर्णय कर सकती है, इसमे कोई सन्देह नही। मनुष्य अव सज्ञान रूप मे अपनी जनसख्या मे वृद्धि या कमी करने मे समर्थ है, वशर्ते कि वह अपने समाज को ढग से सगठित करे। मनुष्य-जाति अपनी जनसख्या की तो वात दूर रही, पौधे और इतर प्राणियो की सख्या को अपनी आवश्यकता के अनुसार घटाने-वढाने मे समर्थ है। कई प्राणी जातियो को मनुष्य ने करीव करीव मौत के घाट उतार दिया है, दूसरी ओर उसने अपने हित के लिए अत्यन्त चर्वीयुक्त सुअर ऐसे प्राणी को वढाया है, जो इतना मोटा होता है कि चल नही सकता। वनस्पति-जगत् के सम्वन्ध मे भी यह वात सही है। जिसे हम कृषि विद्या कहते है, वह मनुष्य द्वारा वनस्पति जगत् मे हस्तक्षेप कर वाछित पौधो की वृद्धि और अवाञ्छित पौधो की विनाश प्रक्रियामात्र है।

१८—जनसंख्या का सामाजिक नियंत्रण सम्भव—समय समय पर आँकड़ाशास्त्र विशेषज्ञगण जनसख्या की प्रवृत्तियो के आधार पर भविष्यवाणी किया करते है। इन भविष्यवाणियो मे यह वतलाया जाता है कि अमुक-अमुक देश मे २००० ईस्वी मे या सौ दो सौ वर्ष मे कितनी जनसख्या होगी। हमे इन आँकडो की सत्यता अथवा असत्यता पर कुछ नही कहना है,—ऐसा करना विषय से वाहर जाना होगा, फिर भी जिस आधार पर ऐसी भविष्यवाणियाँ की जाती है उनके सम्वन्ध मे हमे दो एक शब्द कहना है। ये लोग यह समझ कर चलते ज्ञात होते है कि जनसख्या की वृद्धि ऐसी घटना है जिस पर मनुष्य की सज्ञान इच्छाशक्ति का

कोई नियत्रण नही है। पर यह वात गलत है। अत्यन्त आदिम अवस्था से मनुष्य ने अपनी जनसख्या को नियत्रित किया है, इसलिए कोई कारण नही कि आगे वह ऐसा न कर सके। जिस प्रकार सामग्री उत्पादन के सम्बन्ध मे योजनागत रूप से चला जा सकता है उसी प्रकार जनसख्या के सम्वन्ध मे भी योजना वनाई जा सकती है। योजना के द्वारा यह सम्भव है कि जनसख्या को आवश्यकतानुसार प्रोत्साहित अथवा निरुत्साहित किया जाय। एक तरफ जन्मनियत्रण के विभिन्न तरीके तथा दूसरी तरफ कृत्रिम गर्भाधान (artificial insemination) के तरीको के आविष्कार से अव यह कार्य वहुत ही सुकर हो गया है। इस प्रकार की योजना को समाजवादी समाज मे ही विशेषकर उस समय जब कि सारे जगत् मे समाजवादी समाज की स्थापना होगी कार्यान्वित करना सम्भव है।

१९––नस्ल इतिहास का निर्णायक सिद्धान्त––नस्ल से इतिहास की व्याख्या करने का जो तरीका है, उसे हम इतिहास-सम्वन्धी जनसख्या सिद्धान्त के अन्तर्गत नही तो उससे मिला-जुला मान सकते है, क्योकि इस सिद्धान्त का यह कथन है कि एक खास नस्ल के लोगो की ही दुनिया मे बढती होगी और बाकी आबादी उसकी गुलामी करेगी। इस सिद्धान्त के अनुसार जाति, नस्ल के ही कारण, वडी या छोटी होती है। नस्लवाचक रेस शव्द अँगरेजी तथा फ्रेच मे सोलहवी सदी मे और जर्मनी मे अठारहवी सदी मे आया। पहले इस शब्द का अर्थ एक व्यक्ति का वशज था जैसे Race of Abraham Race of Satan इत्यादि। यह शव्द स्लैव या सेम्टिक भाषाओ से आया, इस पर अभी झगडा है।

२०––नार्डिक श्रेष्ठता का नारा––वर्तमान समय मे जर्मन नात्सियो ने इस सिद्धान्त को वल पहुँचाया था, और यह कहा था कि नार्डिक नस्ल के ही लोग दुनिया पर राज्य करने के लिए पैदा हुए है। मजे की वात है कि इस सिद्धान्त के अनुसार नात्सी जर्मनी के मित्र जापानी भी शासित जातियो मे आते थे, किन्तु इस प्रकार के झूठे प्रचारकार्य मे तर्कशास्त्र के तकाजो को कौन देखता था? यद्यपि हिटलर तथा उनके पिछलगुओ ने ही इस सिद्धान्त को सिद्धान्त के रूप मे पेश करने का प्रयत्न किया, किन्तु यह स्मरण रहे कि १९वी सदी के पूर्वार्द्ध मे ही फ्रेच काउन्ट जोजेफ गोविनो ने इस मत का प्रतिपादन किया

था कि आर्यजाति श्रेष्ठतम है। लापुज (Lapouge) ने १८९९ मे एक पुस्तक लिखकर यह कहा था कि नार्डिक जाति ही श्रेष्ठतम. आर्य जाति है। जब हिटलर ने एक आवश्यक किवदन्ती के रूप मे नार्डिक जाति की श्रेष्ठता का नारा दिया तो बहुत से भाडे के वैज्ञानिको ने इस मत का समर्थन कर 'आमीन' कहा। १९३९-४५ की लडाई मे नात्सी जर्मनी की हार से इस मूर्खतापूर्ण मत का सम्पूर्णरूप से निराकरण हो गया, किन्तु फिर भी न नार्डिक जाति की सही और किसी जाति की श्रेष्ठता के रूप मे यह नारा न मालूम कहाँ से फिर पैदा हो सकता है, इसलिए इस विषय पर थोडा विचार कर लेना न अप्रासगिक होगा और न समय का अपव्यय।

२१--नार्डिक प्रतिभा केवल कहानी है--नार्डिक प्रतिभा और वीरता के सम्बन्ध मे जिस गप की सृष्टि कर जर्मन जनता को फासिवाद के रथ मे जोता गया था, उसके सम्बन्ध मे लिखते हुए जूलियन हक्सले ने लिखा था कि सभ्यता की जो सबसे बडी देने है, अर्थात् लेखनकला, खेती, पहिया तथा प्रस्तर द्वारा निर्माणकला इनमे से एक की भी उत्पत्ति नार्डिक प्रतिभा से नही हुई। इन कलाओ की उत्पत्ति निकटपूर्व मे ऐसे लोगो मे हुई, जिनके सम्बन्ध मे किसी भी तरह यह नही कहा जा सकता कि वे नार्डिक नस्ल से अथवा उस नस्ल से, जिसमे नार्डिक उत्पन्न हुए, किसी प्रकार सम्बद्ध थे। अज्ञात देश तथा भूभाग की खोज और दूर देश के पर्यटन मे अवश्य ही एक तरह की साहसपूर्ण प्रतिभा की आवश्यकता होती है, किन्तु हवलक ऐलिस ने अपनी पुस्तक Studies of British genius मे यह दिखलाया है कि ब्रिटिश पर्यटको मे तथा अज्ञात देशो मे खोज निकालनेवालो मे शायद ही कोई उस प्रकार का केशयुक्त था जो नार्डिक जाति की विशेषता है। वाइडेन रीख ने यह दिखलाया है कि जर्मनो मे जो महान् व्यक्ति हुए है जैसे बिटोफेन, कान्ट, शिलर, लाइबनिट्स, गेटे उन लोगो मे से कोई भी दीर्घ मस्तकयुक्त नही था, जो नार्डिक जाति की विशेषता है, बल्कि बिलकुल गोल सिरवाले या अल्पगोल मस्तकयुक्त थे। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका मे भी कुछ लोगो ने नार्डिक श्रेष्ठता के सिद्धान्त की बाँग दी, किन्तु ह्रडलिका (Hrdlicka) ने दिखलाया है कि जिन लोगो ने जाकर अमेरिका बनाया था वे लोग अधिकाश रूप मे गोल सिरवाले तथा रग की दृष्टि से मध्यम रंग

के या गहरे रग के थे। इन तथ्यो को उद्धृत कर हाक्सले ने बिल्कुल निश्चित रूप से यह प्रमाणित कर दिया है कि नार्डिक जाति की श्रेष्ठतावाली कहानी निरी गप थी।

२२—अन्यान्य जातियो में भी अपनी जाति की श्रेष्ठता का नारा—कही यह न समझा जाय कि इस प्रकार की मूर्खता या बेईमानी केवल हिटलर ने ही की, इसलिए यह बतला देना आवश्यक है कि समय समय पर प्रत्येक सफल जाति ने दूसरो पर रोक डालने के लिए और कभी कभी असफल जाति ने भी अपनी हीनता पर वर्म की तरह बाँधने के लिए इस प्रकार के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। अँगरेजो को ही लीजिए। जिस समय जूलियस-सीजर ने ई० पू० ६२ मे ब्रिटेन पर फौज चढा दी थी तो क्या उस समय ब्रिटेन लोग यह कह सकते थे कि उनकी नस्ल बहुत ऊँची है, किन्तु बाद को जब ब्रिटेन का साम्राज्य सुदूर विस्तृत हुआ, तब उसके लोग किस प्रकार अपने को अधीन जातियो के लोगो से मौलिक रूप से श्रेष्ठतर समझने लगे, इस बात को किसी भारतीय से बताने की आवश्यकता नही है। भारतीयो को अपने देश मे ही अँगरेजो के साथ एक क्लब का सदस्य नही होने दिया जाता है, न होटल मे ही खाने दिया जाता है। अमेरिकावाले लोकतन्त्र और न्याय का नारा देते हुए थकते नही है। कहा गया है कि १९३९–४५ का युद्ध लोकतन्त्र के लिए लडा गया, किन्तु स्वय अमेरिका मे निम्न लोगो के साथ जैसा व्यवहार होता है, वह किसी से छिपा नही है। इतिहास मे इस प्रकार के व्यवहार का एक ही उदाहरण है, वह है भारतीय सवर्ण हिन्दुओ के द्वारा अछूतो के प्रति व्यवहार। यदि हम इस व्यवहार की पृष्ठभूमि पर जायँ तो हमे ज्ञात होगा विजेता आर्यों ने विजित आदिम निवासियो के साथ जो व्यवहार किये थे, मुख्यत उसी का अवशेषमात्र यह छुआछूत है। अरस्तू ने ग्रीक सभ्यता से विमुग्ध होकर यह कहा था कि कोई और जाति ग्रीको की सतह तक नही पहुँच सकती। उस समय ग्रीस ज्ञान-विज्ञान का केन्द्र था, भला तब योरप मे कौन इस कथन का विरोध करता। अरस्तू ने उत्तरी भूभागो के लोगो के सम्बन्ध मे यह कहा था कि इन लोगों मे जोश तो है किन्तु उनमे बुद्धि और हुनर नही है। एशियावासियो के सबध मे उन्होने कहा था कि उनमे बुद्धि और हुनर तो है किन्तु जोश नही है।

आज ग्रीस की हालत को देखकर कौन अरस्तू की बातो को सोचकर बिना हँसे रह सकता है।

२३—जातियों तथा नस्लों का चरित्र परिवर्तनशील—नस्लवाले सिद्धान्त मे एक बडी भारी त्रुटि यह है कि यह इस बात को भूल जाता है कि जातियो के चरित्र भी बदला करते है। गुरु नानक के समय के सिक्ख बहुत सीधे-सादे, भजन करनेवाले लोग थे, किन्तु परिस्थितियो ने उन्हे एक सामरिक जाति बना दिया। अब सिक्खो मे ही बहुत से मूर्ख ऐसे मिलेगे जो कहेगे कि सिक्खो मे सामरिकता एक प्राकृतिक देन है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह दावा कहाँ तक सही समझा जा सकता है, यह हम बता ही चुके। गुरु नानक इस दावे को सुनते तो सबसे अधिक हँसते। इसी प्रकार जर्मन लोग कार्लाइल के समय शान्तिप्रिय, दार्शनिक, सगीत-प्रिय तथा व्यक्तिवादी समझे जाते थे, किन्तु फ्रेको प्रुशियन युद्ध के बाद से उनका जातीय चरित्र बदल गया, ऐसा हक्सले भी मानते है। आधुनिक युग मे भारतवर्ष का एक उदाहरण लिया जाय। जब अँगरेज भारतवर्ष मे आये थे तब बगाली एक बहादुर कौम समझी जाती थी। अँगरेजो ने बगाली सेना से राज्य-विस्तार किया, किन्तु सन्यासी-विद्रोह के बाद मे उनको फौज से निकाल दिया गया था। केवल शासकवर्ग मे ही नही, आम भारतीयो मे बगालियो के सम्बन्ध मे यह धारणा हो गई कि वे कायर होते है। बगाल मे क्रान्तिकारी आन्दोलन के प्रसार के साथ-साथ फिर एक बार पासा पलटा। फिर तो कुछ लोगो मे हर एक बगाली को ही खुदीराम और कन्हाईलाल के सस्करण समझने की परिपाटी चल गई। इन बातो से यही निष्कर्ष निकलता है कि फिर नस्ल कहाँ रही। अच्छे निरीक्षक यह बतलाते है कि १९३९-४५ के युद्ध के फलस्वरूप आप रूसियो मे भी इसी प्रकार चरित्र-परिवर्तन के लक्षण दृष्टि-गोचर हो रहे है। जिस समय १९४१ मे पहले-पहल नाजी जर्मनी ने सोवियट रूस पर हमला किया, उस समय जब जर्मन कैदी रूसियो के हाथ लगे तो उन्होने उनके साथ तवारिश या साथी का व्यवहार करना चाहा, किन्तु जल्दी ही उन्हे यह ज्ञात हुआ कि वे इस प्रकार के व्यवहार के उपयुक्त नही रह गये है। इससे उनकी जहनियत मे परिवर्तन हुआ। अब एक रूसी नागरिक स्वाभाविक रूप से यह समझता है कि न मालूम कब, किस ओर से उसकी समाज-

वादी पितृ-भूमि पर हमला हो जाय, इसलिए उसकी पहले की वह शान्ति-वादी निरीह मनोवृत्ति नही रही। हम भारतवर्ष मे भी ऐतिहासिक समय के अन्दर ही यह देखते चले जा रहे है कि घटनाओ के घात-प्रतिघात तथा सग्रामों के कारण भारतीयो की जहनियत मे परवर्तन होता जा रहा है। वे अब उस प्रकार के निरीह शान्तिपूर्ण जीव नही रह गये है जैसा कि वे तीस या चालीस साल पहले थे। स्मरण रहे, इस क्षेत्र मे भी इस बीच मे कोई नस्ली परिवर्तन नही हुआ, फिर भी यह निर्विवाद सिद्ध है कि इस प्रकार उनके चरित्र मे मात्रा-गत परिवर्तन होते जा रहे है जो शायद अदूर भविष्य मे ऐसे गुणगत परिवर्तन का रूप ले तथा उनका चरित्र वैसा हो जाय जैसा एक स्वतन्त्र नागरिक का होना चाहिए।

२४—कोई विशुद्ध नस्ल नही—विशुद्ध प्राणि-विज्ञान के आधार पर जूलियन हक्सले इस नतीजे पर पहुँचते है कि दुनिया में जैसे कोई विशुद्ध भाषा नही है, वैसे ही कोई विशुद्ध जाति या नस्ल भी नही है। इसलिए नस्ल और जाति के आधार पर श्रेष्ठता या निकृष्टता का प्रतिपादन बिलकुल मनमाना है। नस्लो मे इतना यथेष्ट आदान-प्रदान हो चुका है कि यह भी कहना सम्भव नही है कि एक विशेष स्थान पर अमुक विशेष नस्ल की प्रधानता है। कथित एक ही नस्ल के लोगो मे ऊँचे और नीचे तबके मे कद और आकृति मे बहुत फर्क होता है। ऐसी हालत मे नस्ल-सिद्धान्त के माननेवाले के लिए दो ही रास्ते रहे—एक तो यह कि वह कह दे कि नस्ल की विशुद्धता नही रही, या यह कहे कि प्राकृतिक निर्वाचन प्रक्रिया के द्वारा उच्च तबके मे ऊँचे कदवाले लोग आ गये। इस प्रकार एक नस्ल के होते हुए भी इसके सबसे अच्छे नमूने एक तरह हो गये, और दूसरे दूसरी तरफ। दूसरी व्याख्या के अनुसार नस्ल की महत्ता घट गई और परिस्थितियो की महत्ता बढ गई। वीर्यकोष (gene) बहुत महत्त्वपूर्ण वस्तु है इसमें सन्देह नही, किन्तु ज्यो ज्यो विज्ञान का जोर बढता जा रहा है, त्यो-त्यो जातियाँ वीर्यकोष से स्वतत्र होती जायँगी, और नस्ल की उन्नति होती जायगी। जिन जातियो को अपनी नस्ल की शुद्धता पर बहुत नाज है, उन लोगो की शुद्धता की बात परीक्षा की कसौटी पर नही ठहरती। यहूदी जाति दुनिया मे सबसे अलग रहनेवाली जाति समझी जाती है, किन्तु वे जिन जिन

जातियो मे है, उन्ही उन्ही जातियो के शक्ल के हो चुके है। फिर भी उन्हे उसी जाति के दूसरे लोगो से अलग करके पहचाना जा सकता है, इसका कारण उनकी रहन-सहन, परिच्छद तथा सस्कृति है, न कि नस्ल। अफ्रीका मे ऐसे यहूदी मौजूद है जो बिल्कुल काले है। इसी प्रकार और नस्लो के सम्बन्ध मे भी समझा जाय। अवश्य यह भी समझना गलत है कि नस्ल कुछ है ही नही। यह कौन कह रहा है। यहाँ केवल इतना ही कहा जा रहा है कि विशुद्ध नस्ल कोई नही रही, और दूसरी यह बात कि नस्ल इतिहास का निर्णय नही करती, यानी यह नही बताती कि अमुक नस्ल के लोग शासक होगे और अमुक नस्ल के लोग शासित होगे। हक्सले ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि नस्ल के सम्बन्ध मे जो वैज्ञानिक धारणा है, और जो आम लोगो की धारणा है, उनमे बहुत फर्क है। वैज्ञानिक अर्थ मे मनुष्य जाति के खास खास गिरोहो के लिए नस्ल शब्द का प्रयोग अब बहुत कम अर्थ रखता है, और जितना भी रखता था वह दिन ब दिन घटता जा रहा है। हक्सले सब वैज्ञानिक तथ्यो को तौलने के बाद इस नतीजे पर पहुँचते है कि 'इन परिस्थितियो मे यह वाञ्छनीय है कि मनुष्य के सम्बन्ध मे नस्ल शब्द का प्रयोग हमारे वैज्ञानिक तथा रोजमर्रे के कोष से निकाल देना चाहिए।'[१] वे यह भी कहते है कि नस्ल शब्द को निकालकर ethnic group शब्द का प्रयोग किया जाय तो अधिक अच्छा रहे।

२५—कौन श्रेष्ठ नस्ल—आर्य या अनार्य ?—हमने ऊपर जितने उदाहरण सकलित किये है, उनमे यह नही दिखलाया गया कि भारतवर्ष मे वर्णभेद के आधार के रूप मे नस्ल की उच्चता की दुहाई दी जाती है। ऐसे लोगो का कहना यह है—चाहे वे ऐसा खुलकर कहे या न कहे कि ब्राह्मण आदि सवर्ण हिन्दू आर्य है और शूद्र अनार्य है, इसलिए सवर्ण हिन्दू श्रेष्ठ है और शूद्र निकृष्ट। इसमे सन्देह नही कि किसी युग मे वर्णभेद से नस्लभेद का सम्बन्ध था, किन्तु स्वय वैदिकयुग मे ही रक्त सम्मिश्रण यथेष्ट हुआ और बाद के युगो मे तो यह सम्मिश्रण और भी प्रगाढ हो गया। रहा आर्य और आनार्य मे कौन उत्कृष्ट है और कौन निकृष्ट है—यह प्रश्न। इस सम्बन्ध मे ज्यो ज्यो इतिहास पर से काल का आवरण हटता जा रहा है त्यो त्यो अनार्यो की श्रेष्ठता का पल्ला भारी

१ U. M. I p 124

होता जा रहा है। एक बात निर्विवाद सिद्ध है। वह यह है कि आर्य अधिकतर सुसगठित थे तथा उनके पास सम्भव है, उत्कृष्टतर अस्त्र रहे हो किन्तु जहाँ तक सस्कृति के अन्य अधिकतर पहलुओ की बात है, वे शायद किसी अर्थ मे भी आर्यों से निकृष्ट नही थे। अनार्यों मे शासन-पद्धति आर्यों से कम विकसित नही थी। खेती के विषय मे वे अच्छी तरह जानते थे। इस बात का प्रमाण है कि आर्यो ने कई बहुत महत्त्वपूर्ण चीजो की खेती अनार्यो से सीखी। रहा सस्कृति का अन्यतम प्रधान पहलू धर्म, बल्कि उस युग का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू धर्म उसमे हम देखते है कि वर्तमान हिन्दू धर्म मे अनार्यो के दिये हुए उपादान कही अधिक है। वैदिक युग के इन्द्र, वरुण अर्यमा, अग्नि को अब कोई नही पूछता, किन्तु कृष्ण, शिव, काली की पूजा सर्वत्र होती है। इन शेषोक्त देवी-देवताओ के सम्बन्ध मे ज्ञात हुआ है कि इनमे अनार्य उपादान अधिक है। इस सम्बन्ध मे खोपडी नापविद्या तथा अन्य वैज्ञानिक तरीको से यह ज्ञात हुआ है कि किसी एक भूभाग के शूद्र और ब्राह्मण की खोपडी या नस्ल मे कोई फर्क नही है। बगाल की नम शूद्र नामक अस्पृश्य जाति की खोपड़ियों के नाप मे कोई फर्क नही है। यह भी देखा गया है कि सुविधा मिलने पर कथित नीच जाति के लोग उसी प्रकार प्रतिभा का परिचय दे सकते है जैसे अन्य जाति के लोग देते है।

इन सब बातो का निष्कर्ष यह है कि जनसख्या को या नस्ल को किसी भी प्रकार इतिहास की निर्णयात्मिका शक्ति नही कहा जा सकता। इस प्रकार के सिद्धान्त वैज्ञानिक परिच्छद मे रहने पर भी सम्पूर्णरूप से अवैज्ञानिक है। शोषक तथा शासकवर्ग ऐसे सिद्धान्तो की आड मे अपने खूनी पजो को छिपाकर रखना चाहते है। इन सिद्धान्तो की वैज्ञानिकता उतनी ही है जितनी कि अर्नेस्ट मिलर के इस सिद्धान्त की वैज्ञानिकता है कि पार्थिव चुम्बकत्व पर ऐतिहासिक विकास निर्भर है। जब पृष्ठपोषक मिल जायँ और मोटी रकमे मिले तो क्यो न ऐसे सिद्धान्तो का आविष्कार हो। एक साहब जीवन्स इसी प्रकार सूर्य के ऊपर के धब्बो मे औद्योगिक सकटो की व्याख्या करने की चेष्टा करते है। हमने इन उदाहरणो को यह दिखाने के लिए पेश किया जिससे ज्ञात हो जाय कि शोषकवर्ग विज्ञान का किस प्रकार अपने स्वार्थ के लिए उपयोग करता है। वे सभी कुछ कह जायँगे, केवल उसी को नही कहेगे जो सत्य है।

सभ्यता की अग्रगति में यंत्र का स्थान—यंत्र-संन्यास के नारे की जाँच

१—सभ्यता की परिभाषा—जिसे हम सभ्यता कहते है, वह उत्पादन शक्तियो के विकास के बिना सम्भव न होती। यदि कहा जाय कि उत्पादन शक्तियो की अपेक्षाकृत विकसित अवस्था का नाम ही सभ्यता है तो इसमे कोई अत्युक्ति न होगी, और न इस परिभाषा पर अव्याप्ति या अतिव्याप्ति का दोष ही लगाना सम्भव होगा। उत्पादन शक्तियो के विकास के साथ साथ समाज सभ्य होता गया है, और उसकी रीति-नीति, रहन-सहन, चाल-ढाल, खाने-पकाने, पहनने-ओढने, शासनप्रणाली—एक शब्द मे सभी बातो मे परिवर्तन हुआ है। उत्पादन की शक्तियाँ वह आधार है जिस पर समाज की अट्टालिका खडी होती है। प्रभेद केवल इतना है कि समाज की इस नींव मे द्रुत-परिवर्तन होता गया है, और उसके फलस्वरूप समाज के ऊपरी ढाँचे मे, उसके श्रम-सम्बन्धो तथा विचारो मे परिवर्तन होते गये है।

२—यंत्र के आधार से उसकी उन्नति की असगति मे यंत्र की अग्रगति—'हस्तपरिचालित मिल के परिणामस्वरूप ऐसा समाज पैदा होता है जिसमे सामन्तवादी प्रभु का बोलबाला होता है, किन्तु वाष्पपरिचालित मिल के परिणामस्वरूप औद्योगिक पूँजीवादी समाज का सूत्रपात होता है।' उत्पादन के साधनो मे, यह स्पष्ट है कि यंत्रो का बहुत भारी स्थान है। यंत्र-विद्या की उन्नति असगतियो के कारण हुई है।

दृढ तथा टिकाऊ वस्तु का इस्तेमाल किया जाय। इस प्रकार यत्र के आधार को वदलकर लकडी से लोहा तथा अव हम इस्पात के युग मे पहुँचने हैं।

३—मॉग से यत्र की उन्नति—यह तो एक ह। यत्र के अन्दर असगति के कारण उसकी उन्नति की कहानी वताई गई, किन्तु मॉग और पूर्ति के अन्दर आपसी असगति पैदा हो जाने के कारण यत्र-विद्या की अग्रगति हुई है। यह कोई कपोलकल्पना नही है। जी० टी० वार्नर ने ब्रिटिश उद्योग-धन्धे मे आविष्कारो का इतिहास लिखते हुए वताया है कि '१७३३ मे वरी नामक स्थान के के (Kay) नामक व्यक्ति ने flying shuttle यानी द्रुत ढरकी का पेटेंट कराया। अब तक बुनगार ताने-वाने के अन्दर से हाथोहाथ ढरकी चलाता था। इससे एक तो गति कम रहती थी और दूसरो कपडे की चौडाई अधिक न हो सकती थी। चौडा कपडा बुनते समय दो बुनगार एक ही साथ काम करते थे। एक इधर से ढरकी छोडता था, दूसरा उसे उधर से पकडता था, फिर उसे छोडता था, इसी प्रकार पहले बुनगारी होती थी। के के आविष्कार से ढरकी यान्त्रिक तरीके से इधर से उधर चलने लगी। इससे न केवल कपडे की चौडाई को वढाना सम्भव हुआ, वल्कि अव दुगुना से अधिक काम करना सभव हुआ।'[१] इस प्रकार जो उन्नत करघा उत्पन्न हुआ उसके कारण समाज की वढती हुई मॉग की पूर्ति करना सम्भव हुआ।

४—एक धन्धे मे उन्नति के कारण दूसरे धन्धे में उन्नति—१८वी सदी के अन्त मे इँगलैड मे करघे की वडी उन्नति हुई किन्तु चरखे मे इसके अनुरूप उन्नति नही हुई। एक तो यो ही चरखा करघे के साथ मुश्किल से चल पाता था, अव तो ओर भी आफत हुई। स्मरण रहे, अबकी वार जो असगति हुई वह एक ही यत्र या धन्धे के हिस्सो मे अथवा उसकी तेजी और उसे निर्माण करने की वस्तु मे नही, वल्कि दो अलग अलग यत्रो या धन्धो मे हुई। नतीजा यह हुआ कि करघे वेकार पडे रहने लगे, क्योंकि उनको सूत ही नही मिलता था, फिर वे वुनते तो क्या वुनते। इस प्रकार वुनगारी ओर कताई इन दोनो कलाओ की अजीव हालत हो गई। यदि अव कताई मे उन्नति न होती तो वुनगारी मे उन्नति वेकार हो जाती, इसलिए उसकी उन्नति अपरिहार्य हो

१ L E I H p 226

गई, हुआ भी ऐसा ही। इसी जमाने मे कताई के यत्र का जब आविष्कार हुआ, और चरखे मे मानवता का पिण्ड छूट गया तभी यह असगति दूर हुई। १७६४ मे जेम्स हारग्रीव्स नामक ब्लैक वर्न के एक जुलाहे का चरखा फर्श पर उलट गया, और उसी से उसको कुछ ऐसे विचार मिले जिससे Spinning jenny का आविष्कार सम्भव हुआ। पहले एक कतार मे आठ सूत पर काम होता था, फिर जल्दी ही ज्ञात हुआ कि एक साथ इससे अधिक सख्यक सूत कत सकते है। इस काम को लडके भी कर सकते थे, इसलिए कातनेवालों की द्रुतता बढ गई। हारग्रीव्स के बाद रिचर्ड आर्कराइट ने इसमे और उन्नति की। अन्त मे एक दूसरे व्यक्ति ने दोनो ही को मिलाकर और उन्नति की।[१] कताई मे पहले-पहल जल-शक्ति का इस्तेमाल शुरू हुआ। इस प्रकार बुनगारी कताई के पीछे रह गई। अब फिर एक बार असगति पैदा हो गई। एडमड कार्टराइट नामक एक पादरी ने पहला शक्ति-चालित करघा तैयार किया। यह यत्र बिल्कुल ऊलजलूल था। किन्तु धीरे धीरे उसमे उन्नति होती गई। इस प्रकार कताई और बुनाई की अगगति की नाम काटे के मध्य मे बराबर उन्नति होती गई।

५—एक भाग के साथ दूसरे भाग की असगति से उन्नति—इसी प्रकार बराबर यन्त्रविद्या मे उन्नति होती गई है। किसी भी धन्धे को लिया जाय और जरा बारीकी मे उसका अध्ययन किया जाय तो प्रकट होगा कि एक न एक असगति के कारण उस धन्धे मे क्रमिक उन्नति हुई है। हम जो मामूली मिट्टी के तेल की लालटेन को देखते है, उसमे भी इसी प्रकार एक एक हिस्से की अलग अलग उन्नति हुई है, और जब एक हिस्से मे उन्नति हुई, और वह उन्नति दूसरे हिस्से की उन्नति के साथ असगतिग्रस्त हो गई तो दूसरे हिस्से मे भी उन्नति की आवश्यकता हुई और उन्नति हुई।

६—पशुओ की शक्ति के उपयोग से सभ्यता की वृद्धि—आदिम मनुष्य के पास केवल एक ही शक्ति थी, और वह शक्ति थी उसके शरीर की। यदि उसको किसी चीज को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने की आवश्यकता होती, तो वह उसे अपनी पीठ पर लादकर या ढकेल कर या घसीटकर ले जाता था। इस युग मे उसकी शक्ति इस मामले मे किसी मामूली पशु से अधिक नही थी। धीरे धीरे उसने अपनी इस शारीरिक शक्ति को कुछ आदिम यन्त्रो, जैसे बेंगा आदि, से विस्तृत कर लिया, किन्तु मूल मे अभी उसकी ताकत उसके शरीर की ताकत तक ही सीमित थी। धीरे धीरे जब वह पशुपालन करने लगा तब उसने बैल, घोडा, बरफ के हिरन आदि से अपनी शक्ति बढा ली। अब उसे जब किसी चीज को यहाँ से वहाँ ले जाना होता, तो उसे अपनी शारीरिक ताकत खर्च करनी नही पडती, बल्कि वह स्वय भी इन पर बैठ लेता, और जिस चीज को ले जाना चाहता, उसे भी लादकर ले चलता। स्पष्ट है कि इस प्रकार बैल आदि की ताकत से उसकी ताकत पहले से कही अधिक बढ गई, और अग्रगति का दायरा बढ गया। इस प्रकार उत्पादन के कार्य मे पशुओ के उपयोग से मनुष्य को कुछ अवसर मिलने लगा क्योकि अब जीवन धारण के साधनो का उत्पादन कर लेने के बाद मनुष्य को उच्चतर वृत्तियो के लिए समय मिलने लगा। पशुपालन से खेती मे भी उन्नति हुई।

७—कहीं कृषि और कही पशुपालन की पहले उत्पत्ति—इस सम्बन्ध मे अभी तक मतभेद है कि पशुपालन का युग पहले था या कृषि का युग। अधिकाश विद्वानो का मत यह है कि कृषि सर्वत्र पशुपालन से प्राचीनतर है, किन्तु

दुग्ध से आया होगा। एकाएक मनुष्य ने पशु का दूध पीना स्वीकार नही किया। आर्यो के पहले के भारतीय दूध का इस्तेमाल नही जानते थे। ख्रिस्टाफफान फिरेर-हाइमनडार्फ के अनुसार १९४३ मे भी उडीसा की वन्डो जाति अपने जानवरो का दूध नही दुहती थी।[१] आज भी जिन भूभागो मे ऊँट का दूध बिल्कुल अपरिचित है वहाँ के लोगो को यदि ऊँट का दूध पीने के लिए दिया जाय तो वे सहसा उसे पीना स्वीकार न करेगे। इसलिए इस सम्बन्ध मे मनुष्य को शनै शनै ज्ञान प्राप्त हुआ होगा। दूध दुहने के विषय मे सबसे मजेदार बात यह थी कि पशु को जीवित रखकर भी उससे खाद्य प्राप्त किया था। नि सन्देह यह आविष्कार महत्त्व का था। यदि यह कहा जाय कि दूध के आविष्कार के कारण पशु-हिसा की ओर से मनुष्यो की प्रवृत्ति हटी होगी तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है। विचार परिस्थितियो से बनते है। जब पशु को जीवित रखकर भी उससे स्थायीरूप मे खाद्य प्राप्त करना सम्भव हुआ तो उस समय पशुहिसा के विरुद्ध भावनाओ का उठना बहुत स्वाभाविक था। हम वेदो मे ही हिसा, यहाँ तक कि याज्ञिकी हिसा के विरुद्ध जो आवाज उठती पाते है, उसमे और बातो के साथ इस बात का कहाँ तक हिस्सा था, इस पर अनुसन्धान करने की आवश्यकता है। अथर्ववेद मे चलकर गाय माता हो जाती है। इसके बाद के युग मे ही बुद्ध आदि का यज्ञ के विरुद्ध प्रचार चलता है। इस अनुसन्धान मे ये बाते अनुसन्धान योग्य है। नि सन्देह दूध दुहने के आविष्कार तथा कृषि मे उन्नति के साथ साथ पशुहिसा, विशेषकर खेती से सम्बद्ध पशुओ की हिसा, के विरुद्ध विचारधारा उत्पन्न हुई। किसी युग मे शिकार एक आवश्यक वस्तु थी, उस युग मे समाज का प्रत्येक व्यक्ति शिकारी होता था, किन्तु बाद के युग मे परिस्थितियाँ बदल जाने के कारण मृगया एक विलासमात्र रह गया। बहुत-सी प्राचीन बाते, जिनकी कभी जरूरत थी, बाद के युग मे किसी अनुष्ठान, रिवाज या धार्मिक कृत्य के रूप मे, प्रस्तरीभूत रूप मे, रह जाती है। बहुत सी जातियो मे शिकारवाद केवल एक उत्सव के रूप मे प्रस्तरीभूत होकर रह गया। उडीसा की गडबा जाति मे शिकार एक वसन्त उत्सव के रूप मे प्रस्तरीभूत होकर मौजूद है। राजपूतो का अहरिया उत्सव इसी प्रकार

---

[१] I R A S B Vol IX, no. I p. 162

एक अवशेषमात्र है। इसी प्रकार कभी मासभक्षण एक आवश्यक अग था, देवताओ और पितरो को मास का पिण्ड दिया जाता था, किन्तु पशु के उन्नततर उपयोगो के आविष्कार के साथ साथ याज्ञिकी हिसा ही प्रशस्त मानी गई, और उसके बाद के युग मे तो इसका भी सूक्ष्मीकरण हुआ, यज्ञ से भी मास को बिल्कुल निकाल देने की चेष्टा हुई, और उसमे लोगो को बहुत कुछ सफलता मिली।

किस प्रकार क्या हुआ यह ठीक ठीक कहना मुश्किल है, अवश्य ही इतने भारी परिवर्तन के पक्ष मे एकाधिक कारण हुए होगे, किन्तु इतना तो बिलकुल स्पष्ट है कि एक पशुपालक तथा खेतिहर जाति मे ही मास-भक्षण के विरुद्ध आन्दोलन खडा हो सकता था। ध्रुवो के निकट खेती के सम्भावनाहीन भूभागो में बसनेवाली जातियो मे पशुहिंसा के विरुद्ध आवाज नही उठ सकती थी और यदि उठती भी तो उस प्रकार के मत का प्रचार करनेवाला नेता वहाँ नही हो सकता था, बल्कि सम्भावना तो यही थी कि पागल समझकर उसे लिन्च कर दिया जाता।

फिर भी यह न समझा जाय कि सभी जातियो मे बहुत प्राचीनकाल मे ही पशुपालन का प्रवर्तन हुआ होगा। यह अनुमान इसलिए है कि भारतवर्ष मे भी बहुत सी जातियो मे उदाहरण स्वरूप कोल्लीमलयालियो मे पशुपालन का प्रवर्तन अभी हाल ही मे हुआ होगा।

१०—ऊन का आविष्कार—पशुपालन करते करते कुछ पशुओ के ऊन से जाडा दूर हो सकता है, यह भी मनुष्य को किसी सोपान मे ज्ञात हुआ होगा। चमडे से ऊन को अलग कर काम मे लाने के बजाय ऊनसमेत चमडे को ओढने का ही रिवाज पहले चला होगा। इस समय भी अधिक ठण्डे देशो मे इस प्रकार चमडा ओढने का रिवाज मौजूद है। मिस्रनिवासियो मे ऊन का उपयोग ई० पू० ३,००० तक ज्ञात नही था, किन्तु इसके पहले ही इराक मे ऊन का चलन हो चुका था। ऋग्वैदिक युग मे चर्म के अलावा ऊनी वस्त्रो का भी इस्तेमाल किया जाता था। ऊर्ण या ऊन के बनाये हुए कपडे आर्यो के मुख्य पहनावे थे। इस ऊन मे गान्धार का ऊन ही मुख्य समझा जाता था। ऋग्वेद के एक मत्र मे (१।१२६।७) गान्धार के भेड़ियो की तारीफ की गई है। बकरो से भी ऊन प्राप्त किया जाता था (ऋक् १०।२६।६)। सच बात तो यह है कि सूती वस्त्र

का ऋग्वेद मे कही पता नही मिलता। ऐसी हालत मे ऊनी वस्त्र ही एकमात्र वस्त्र रहे होगे, किन्तु इस सम्बन्ध मे विवाद है। मोहनजोदड़ो सभ्यता मे ऊनी वस्त्रो के व्यवहार का पता मिलता है। रोमन आक्रमण के पहले इँगलैड मे ऊन का व्यवहार प्रचलित हो चुका था।

११—चमडे के उपयोग का ज्ञान—केवल शिकार के युग मे चमडे का उपयोग सीखते सीखते मनुष्य को न मालूम कितने दिन लगे होगे। यह न समझा जाय कि हमेशा मनुष्य पशु-मास खाते समय चमडे को अलग ही कर देते रहे हो। मास के साथ चमडे को खा डालने का रिवाज नैपाल मे अभी तक है। चमडे का अलग उपयोग हो सकता है, इस बात का पता मनुष्य को बाद के युग मे ही लगा होगा। प्राचीन युग मे चमडे का उपयोग परिधेय, मकान या तम्बू बनाने के उपकरण, वर्तन, पुर, नाव आदि के रूप मे पाते है। चमडे के उपयोग का आविष्कार भी एक प्रमुख आविष्कार है, और पशुपालन के युग मे उसकी खूब उन्नति हुई होगी।

१२—धीरे धीरे पशु के सीग, खुर सभी अगो का इस्तेमाल—आधुनिक युग मे तो पशु के शरीर का शायद ही कोई हिस्सा बेकार जाता हो। पशुओ के सीगों तथा खुरो से बहुत सी चीजे, यहाँ तक कि जिलेटिन नामक एक खाद्य द्रव्य भी, बनता है। पशु की अँतडियो का भी उपयोग होता है। पशु की हड्डी कई कामों मे आती है। डाक्टर वोरोनोफ आदि ने बन्दर की ग्रन्थियो से मनुष्य को नव-यौवन देने की जो चिकित्साप्रणाली चलाई है, उससे ज्ञात होता है कि एक समय आयेगा जब मनुष्य का विज्ञान प्रत्येक पशु का किसी न किसी रूप मे उपयोग करेगा।

१३—पशु से धन की नाप—लडाई में पशु छीनना—पशुपालन के युग मे बल्कि पशुपालन तथा खेती दोनो के सम्मिलित युग मे पशु बहुत महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे। कई जगह तो पशु ही विनिमय के माध्यम थे। भारतवर्ष मे गाय बहुत दिनो तक विनिमय का माध्यम रही, तथा राजाओ तक के धन की पैमाइश उनके पशुओ की सख्या से की जाती थी। स्वाभाविक रूप से, ऐसे युग मे जब लडाइयाँ होती थी, तब एक दूसरे के पशु छीन लेते थे। महाभारत मे इस प्रकार पशु छीनने की कई कथाये आती है। जिस समय पाण्डव राजा विराट्

के यहाँ अज्ञातवास कर रहे थे, उस समय विराट राजा के पशुओ को लूटने के लिए कौरवो ने उन पर हमला किया था। उस समय राजा के आश्रित पाडवो ने उनकी रक्षा की थी। प्राचीन आर्यो मे युद्ध मे पशुओ का छीना जाना इतनी बडी बात थी कि युद्ध का प्राचीन नाम ही संस्कृति मे गविष्ति अर्थात् गाय की इच्छा कही गई है।[1]

१४—घोड़े का आविष्कार—पालतू पशुओ मे घोडे का स्थान बहुत प्रमुख है। फोर्ट नामक विद्वान् का कथन है कि घोडो को पहले-पहल दूध के लिए और चढने के लिए पालतू बनाया गया होगा। सिन्ध सभ्यता मे जीन के कुछ मिट्टी के बने माडेल मिले है जो ई० पू० २५०० के होगे। मिस्र मे घोडो का पहले-पहल प्रचलन हिक्सस (Hyksos) अर्थात् १६५० ई० पू० के पहले हुआ होगा। 'किन्तु सभी उदाहरणो मे वे रथ खीचनेवाले जानवरो के रूप मे दिखलाये गये है। ३००० ई० पू० मे कुछ अश्ववत पशु (Some sort of equid) सुमेर के मानुमेन्टो पर रथ खीचने दिखाये गये है। इस सम्बन्ध मे अभी विवाद है कि ये घोडे थे या खच्चर।'[2] पहियेवाली गाडियो का पता ३५०० ई० पू० मे सुमेरीय कला मे मिलता है। वैदिक आर्य रथ का उपयोग करते थे बल्कि रथकार वैदिक आर्यसमाज का बहुत महत्वपूर्ण सदस्य समझा गया था। रथ की श्रेष्ठता के कारण ही भारत मे आये हुए आर्य यहाँ के आदिम-तर निवासियो पर विजय प्राप्त कर सके। सिन्धु सभ्यता मे भी रथ का परिचय प्राप्त होता है। गदहे के सम्बन्ध मे यह अनुमान किया जाता है कि ३००० ई० पू० के पहले ही बोझा ढोने के लिए इसका इस्तेमाल होता था। इसी समय के करीब मिस्र मे पालतू गदहो तथा इराक मे हल चलानेवाले गदहो का पता मिलता है। ऊँट भी ई० पू० ३००० के पहले व्यवहृत होते थे।

१५—हल का विकास—हल का आविष्कार उत्पादन-पद्धति मे एक विकास की सूचना देता है। चाइल्ड का विचार है कि बैल ही शायद पहले-पहल खीचने-वाले जानवर थे। हल का आविष्कार होते होते बहुत दिन लगे होंगे, इसमे सन्देह नही। खेती के प्रारम्भिक युग मे मनुष्य हो (Hoe) या बहुत भद्दी

---

१ H I L Vol I p 64

२ M. M. H p 142

फल से जमीन को थोडी बहुत खोदकर बीज डाल देते थे। इसी का विकास होते-होते हल का आविष्कार हुआ। अब तो ट्रेक्टर का युग है। मिस्र मे हो का एक विकसित रूप लम्बे फलवाले हो का पता मिलता है। जापान मे ऐसे फावडो का पता मिलता है जिनको जमीन पर रखकर खीचा जाता था। हेब्राइडिस द्वीप मे एक तरह के Foot plough का पता मिला है। ये ही हल के पूर्वपुरुष होगे। हल के आविष्कार के साथ साथ खेती पुरुषो के हाथ चली गई, इसमे कुछ अपवाद है। भारतवर्ष मे ही अभी तक कोलिमलयाली तथा खासिया लोगो मे खेती स्त्रियाँ ही करती है, किन्तु यह स्मरण रहे कि इन लोगो मे खेती मे जानवरो का व्यवहार अपेक्षाकृत कम है। हो और हल मे जो प्रधान भेद है वह द्रष्टव्य है। हो मे मनुष्य की ही ताकत है, किन्तु हल मे बैल या घोडे की ताकत काम मे आने लगी थी। यो वह गुणगत रूप से हो से विभिन्न किस्म की वस्तु है।

१६—गेहूँ और जौ का विकास—हल के कारण खेती मे उन्नति हुई, यह तो स्पष्ट है। इस सम्बन्ध मे भी खोज की गई है कि किन किन अनाजो की खेती का सूत्रपात किस किस तरीके से हुआ। कहना न होगा कि हम यहाँ पर इसके ब्यौरे मे जाने का साहस नही कर सकते, इसलिए कुछ बहुत मोटे तथ्य ही पेश किये जायँगे। भूमध्यसागर, पश्चिमी एशिया और भारतवर्ष की सभ्यताएँ विशेषकर दो अनाजो पर निर्मित हुई है, एक जौ और दूसरा गेहूँ। गेहूँ के पूर्वपुरुष के रूप मे दो जगली घासो का पता लगता है, एक डिकल (Dinkel) और दूसरा जगली ऐमर (Emmer)। डिकल बल्कान, क्रीमिया, एशियाई कोचक और काकेशस मे जगली रूप मे उत्पन्न होती है, और ऐमर दक्षिण मे फिलस्तीन और कदाचित् ईरान में जगली रूप मे पैदा होती है। चाइल्ड ने इन दोनो घासो के इतिहास के सिलसिले मे यह बताया है कि आजकल जो घास जहाँ उगती है, वे पहले भी वही उगती होगी, ऐसा नही कहा जा सकता। वेबीलाफ ने तमाम तर्को का उपसहार करके यह नतीजा निकाला है कि अफगानिस्तान और उत्तर-पश्चिम चीन गेहूँ का आदिम निवासस्थान रहा होगा। ऐमर जाति की घास मिस्र, एशियाई कोचक और पश्चिमी योरप मे बोई जाती थी। इस समय जो गेहूँ

प्रचलित है वह एक तीसरी ही Triticum Vulgare किस्म का है। एमर और किसी अज्ञात घास के वीच जोडे से ही इस गेहूँ की उत्पत्ति हुई होगी। इराक, तुर्किस्तान, ईरान और भारतवर्ष मे जो प्राचीनतम गेहूँ के नमूने मिले है वे इसी किस्म के है। इसी प्रकार जौ के भी पूर्वज कुछ पहाडी घासे है। वेवीलाफ के अनुसार अवीसिनिया और दक्षिण पूर्व एशिया मे जौ की आदिम वुआई होती होगी।

१७—**वर्तन का आविष्कार**—जव आनाज उत्पन्न होने लगा, और अधिक तादाद मे उत्पन्न होने लगा तो उसे रखने का भी प्रश्न सामने आया। कहा जाता है कि इसी आवश्यकता से इस वात की खोज होने लगी कि जिन्हे हम आज वर्तन कहते है वे बने। किन्तु इस विषय मे मतभेद है कि कृषि के युग के वाद ही वर्तन बनाने की कला का उद्भव हुआ या उससे पहले। जिस समय मनुष्य अभी खेती नही करता था, वल्कि केवल प्रकृति मे उपलब्ध फल-मूल-कन्द, शस्य का सग्रहमात्र करता था, सम्भव है कि उसी युग मे सग्रह की जरूरत के लिए वर्तन वनाने की कला प्रकट हुई हो। नवप्रस्तरयुग मे करीव करीव सभी जातियाँ वर्तन बनाती थी, किन्तु फिलस्तीन के नाटूफियनो मे वर्तन बनाने की कला की उत्पत्ति नही हुई थी। केनिया मे प्राचीन प्रस्तरयुग के भूगर्भस्तर मे कुछ वर्तन के टुकडे प्राप्त होने से यह भी अनुमान किया जा रहा है कि कदाचित् वर्तन वनाने की कला के प्रारम्भ को नवप्रस्तरयुग से पीछे की ओर खिसकाना पडेगा। किसी मिट्टी से पुती हुई टोकरी के आकस्मिक रूप से जल जाने से वर्तन वनाने की कला प्रकट हुई होगी, ऐसा अनुमान किया गया है। नवप्रस्तरयुग की सभी सभ्यताओ मे वर्तन वनाना रहा होगा, क्योकि जहाँ भी खनन-कार्य से इन सभ्यताओ के सम्वन्ध मे हमे तथ्य प्राप्त हुए, वही टूटे हुए वर्तन प्रचुर मात्रा मे प्राप्त हुए है। वर्तन वनाने की कला के सम्वन्ध मे यह कहा गया है कि कदाचित् किसी द्रव्य मे रासायनिक परिवर्तन करने का सबसे प्रथम तजरवा इस कला के जरिये से ही मनुष्य को हुआ होगा। जो हो, यह नि सन्देह वहुत वडा आविष्कार था, इस विषय मे मनुष्य को मिट्टी के सम्वन्ध मे प्रयोग करने पडे, क्योकि प्रत्येक मिट्टी वर्तन वनाने के लिए समानरूप से उपयोगी नही थी। पहले कच्चे वर्तन ही वनते होगे, फिर अग्नि के उपयोग के साथ साथ

लोगों ने पक्के बर्तन बनाने की कला सीखी होगी। बर्तन बनाने में कुम्हार के चक्के का उपयोग बाद की चीज़ है। चाइल्ड के अनुसार बर्तन बनाने की कला ही प्रथम धन्धा है जिसमें पहिये या चक्के का उपयोग किया गया और इसके फलस्वरूप इस धंधे में क्रान्ति हो गई। इस बात का प्रमाण मौजूद है कि आज तक कुछ पिछड़ी हुई जातियों में हाथ से बर्तन बनाये जाते हैं। ऐसी जातियों में स्त्रियाँ इस कला का उपयोग करती हैं किन्तु चक्के पर बर्तन बनाना मुख्यत पुरुषों का काम रहा है। इस प्रकार बर्तन बनाने के क्षेत्र में भी चक्के के उपयोग के साथ साथ इसमें स्त्रियों का भाग घट गया और पुरुषों का बोलबाला हुआ।

१८—इष्टक-निर्माणकला—बर्तन बनाने से ही संयुक्तकला ईंट बनाने की है। शाम और इराक में ई० पू० ३०००- के बहुत पहले ही ईंट बनाने की कला का आविष्कार हो चुका था। इसके पहले कच्ची ईंट काम में आती थीं। सुमेर में ईंटें लिखने के काम में आती थीं। कच्ची ईंटों पर लिखकर फिर उन्हें पकाया जाता था। आज इन पकी हुई ईंटों की बदौलत ही हमें सुमेर की सभ्यता के विषय में बहुत कुछ ज्ञात है।

१९—भौतिक कारणों से लेखनकला की उत्पत्ति—सुमेर में ही लेखनकला का क्रमबद्ध इतिहास प्राप्त होता है। जिस प्रकार सुमेर में लेखनकला का उद्‌भव हुआ, वह ऐतिहासिक भौतिकवाद की सभ्यता का एक ज़बरदस्त प्रमाण है। यहाँ पर लेखनकला का उद्‌भव रोजमर्रा की भौतिक आवश्यकताओं के कारण हुआ। सुमेरीय मन्दिर बाकायदा बैंक का काम करते थे। इन मन्दिरों से अनाज लिया दिया जाता था। प्रारम्भिक दशा में कदाचित् लेन-देन केवल याददाश्त पर निर्भर कर चलता था, किन्तु इस प्रकार की प्रथा की सम्भावनाएँ सीमित थीं, क्योंकि याददाश्त एक व्यक्ति पर निर्भर है। यदि वह व्यक्ति मर गया तो कौन बतलाता कि मन्दिर को किससे क्या मिलना है। मरनेवाला व्यक्ति अपने साथ अपनी याददाश्त को भी ले जाता था। यह सम्भव है कि एक व्यक्ति की स्मृति-शक्ति बहुत जबरदस्त हो और वह बहुत सी बातों को ठीक ठीक याद रखता हो। सम्भव है, इसके लिए वह कुछ इशारों या गाँठों से मदद लेता हो, किन्तु जब वह मर जाय तो उसके इन इशारों तथा गाँठों को दूसरा कोई कैसे समझ सकता है। चाइल्ड ने इस विषय को समझाते हुए एक सुन्दर उदाहरण यह दिया है कि

यदि कोई व्यक्ति अपने रूमाल मे कोई गाँठ बाँधकर मर जाय तो जिस पुलिस-वाले को उसकी मृतदेह प्राप्त होगी, उससे यह उम्मीद कैसे की जाती है कि वह यह समझ ले कि रूमाल की ये गाँठे किस कारण और किस बात की याद दिलाने के लिए बाँधी गई थी। इसलिए स्वाभाविक रूप से कुछ ऐसे चिह्नो का प्रयोग आरम्भ हुआ जो सबके लिए, कम से कम उस मन्दिर के पुरोहित के लिए, एक अर्थ रखता है। सुमेरीय पुरोहित को यह याद रखना पडता था कि किस व्यक्ति को किस किस्म के कितने घडे अनाज और किस को कितनी भेडे दी गई। इसी भौतिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए लिखने की कला का आविष्कार हुआ। ऐरेच मे एक हिसाब का फलक (tablet) मिला है। इसमे जो कुछ लिखित है, सम्भव है कि केवल अक ही हो। इसके कुछ बाद ही किन्तु ई० पू० ३३०० के बाद मिट्टी के बने हुए फलक न केवल ऐरेच, जेमदेतनस्त्र बल्कि दूसरे खनन स्थानो पर भी मिले है। 'मिट्टी पर पुरोहित ने आकडो के साथ साथ कुछ लिखा भी है। जो कुछ उन्होने लिखा है वह अधिकाश रूप मे शीघ्र लेखनकला की तसवीरे है--जैसे एक घडा, एक बैल का सिर, दो त्रिकोण इत्यादि। इसलिए इस लेखनकला को चित्रलिपि कहा गया है। इन चिह्नो की ओर देखकर ही समझ मे आ सकता है कि इनके क्या मानी है। फिर भी अब वे बहुत कुछ हद तक परम्परानुयायी हो चुके है। समाज ने कई तरह से एक विचार को सक्षेप मे व्यक्त करने की पद्धतियो मे से एक पद्धति को चुन लिया है, ठप्पा लगा दिया है और कुछ चिह्नो का तो जो चित्र बने है उनसे कही अधिक व्यापक अर्थ है। घडे के चित्र का अर्थ इतना अर्थात् वह नाप की एक ईकाई है। इस प्रकार के चिह्न जो एक विचार के लिए आते है, उन्हे Ideogram या विचारचिह्न कहा जाता है। हमारे गणित के चिह्न +, —, ×, — इत्यादि इसी प्रकार विचार-चिह्नो के उदाहरण है।'

अब हम आगे लेखनकला के इतिहास का अनुसरण न करेगे। वह स्वय बहुत बडा विषय है। सक्षेप मे हम इतना ही बता देगे कि इस प्रकार धीरे धीरे भौतिक जरूरतो की पूर्ति करते करते लेखनकला की उन्नति होती गई। शुरुप्पाक मे कुछ लिखित फलक मिले है। इनका समय ३००० ई० पू० का है। इनसे ज्ञात होता है कि अब लेखनकला बिल्कुल पद्धतिगत हो चुकी है। ३००० ई०

पू० के वाद हमे जो लिखित फलक मिलते है उनमे हिसाबो, शर्तनामो के अतिरिक्त मत्र, कानून तथा इतिहास की वाते मिलती है। अव चित्र का चित्रत्व अस्पष्ट हो चला है, किन्तु लिखना सरल होता गया है।' हमने विशेपकर सुमेर का इतिहास इसलिए उद्धृत किया कि यहाँ पर लेखनकला का इतिहास हमे क्रमवद्ध तरीके से मिलता है, अन्यत्र यह हिसाव उतना स्पष्ट नही है। सुमेर के विविरण से यह अनुमान करना असम्भव न होगा कि भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही लेखनकला का उद्भव हुआ। चाइल्ड ने वहुत ही जोरों के साथ यह लिखा है 'सुमेरीय पुरोहितो ने लेखनकला का आविष्कार, चमत्कार या धर्म के नेताओ के रूप मे नही वल्कि एक ऐहिक जागीर के गुमाश्तो के रूप मे किया।'[१] यह भी द्रष्टव्य है कि आदिमतक लिखित दस्तावेज जो हमारे हाथ लगे है वे हिसाव तथा शब्द कोष के रूप मे है—शब्द कोष इसलिए कि औरो को वाताया जाय कि किस चिह्न का क्या अर्थ है। यह भी लेखनकला की भौतिक उत्पत्ति को प्रमाणित करता है।

२०—बुनकारी नवप्रस्तरयुग मे ज्ञात—बुनकारीकला मानवीय सभ्यता के इतिहास मे विशेप स्थान रखती है। प्राचीनतम नवप्रस्तर ग्रामो के अवशेपो का विशेपकर मिस्र, निकटपूर्व, सिन्धु सभ्यता तथा वैदिक भारत के अवशेपो तथा अनुश्रुतियो का विश्लेपण करने पर यह ज्ञात होता है कि इनमे वुनकारी कला प्रचलित थी। स्त्रियाँ भी वुनकारी करती थी। मोहन जोदारो और हरप्पा की खुदाई मे कपास की खेती का परिचय मिलता है। कपास की खेती तो कदाचित् उन्ही लोगो से दुनिया ने सीखी। फायूम झील के पास नवप्रस्तरयुग के गाँववाले एक प्रकार के सन का इस्तेमाल करते थे। प्राचीन स्वीजरलैंड मे इसी प्रकार एक तरह के रेशो का इस्तेमाल नवप्रस्तरयुग मे होता था। करघे का आविष्कार नवप्रस्तरयुग मे हो चुका था। गत शताब्दी तक कनाडा के उत्तर पश्चिम उपकूल मे कुछ लोग ऐसे मौजूद थे जो चटाई की तरह एक प्रकार का मोटा कपडा वुन लेते थे। इससे यह अनुमान किया जाता है कि करघे का आविष्कार होते होते वहुत दिन लगे होगे, और इसके पीछे सैकडो अज्ञात व्यक्तियो की प्रतिभा रही होगी। चरखे और करघे का सम्वन्ध तो स्पष्ट है। इन कलाओं

१ M M H p 209

का विकास होते होते आज की विराट् कपडे की मिले वनी है, किन्तु इसका प्रारम्भ बहुत ही मामूली था। मनुष्य का प्रथम पहनावा वल्कल या चमडा रहा होगा।

२१—नौविद्या का विकास—नावो का विकास भी बहुत दिलचस्प है। जो अवशेष प्राप्त हुए है उनसे ज्ञात हुआ है कि शुरू शुरू मे पेडो के तनो को खोखला कर नाव का काम लिया जाता था, साथ ही चमडे की नावे भी इस्तेमाल की जाती थी। प्रागैतिहासिक युग के मिस्र के चित्रो मे पता लगता है कि पेपिरस के पत्ते के ढेरो को बाँधकर नावे बनाई जाती थी, और इसमे चालीस से पचास तक खेनेवाले होते थे। बीच मे एक कैबिन होता था। इस प्रकार एक हद तक नावो मे जो उन्नति हुई वह केवल खेनेवालो की अर्थात् डाँडो की वृद्धि के रूप मे हुई। एक बजडे मे सैकडो डाँड होने पर भी उसकी एकमात्र ताकत मनुष्य की ही ताकत थी, किन्तु बाद को पालवाली नावो के आविष्कार से परिस्थिति बदल गई। अब हवा की शक्ति को नाव चलाने मे जोता जाने लगा। मिस्र मे ई० पू० ३५०० के इर्द-गिर्द पालवाली नावो का व्यवहार शुरू होता है। ऐसा बताया गया है कि मिस्र के नीलनद मे जो पालवाली नावे पहले-पहल चली वे विदेशी थी, फिर भी यह निर्विवाद सिद्ध है कि ई० पू० ३००० तक पूर्वी भूमध्य सागर मे ये नावे आम हो चुकी थी। यही बात अरब सागर के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती थी, यद्यपि अरब सागर के विषय मे प्राप्त प्रमाण कम है। नावो के आविष्कार से मनुष्य के लिए जल बाधक न रहकर मार्ग बन जाता है। वैदिक साहित्य मे नाव से व्यापार का परिचय मिलता है। मोहन जोदारो मे भी नाव का व्यवहार था। सदियो तक पालवाली नावे ही चलती रही। भाप के इजिन के आविष्कार के साथ साथ नाव मे अगली उन्नति हुई। अब तो Ocean liner या महासमुद्रगामी विराट् जहाजो का युग है।

२२—मानवीय सस्कृति के लिए महत्त्वपूर्ण चार आविष्कार—हम इस प्रसग मे सब उपयोगी आविष्कारो का इतिहास नही देना चाहते और न यह सम्भव है। हमने केवल कुछ कोस शिलाओ का निर्देश कर दिया जिससे यह ज्ञात हो जाय कि किस प्रकार उत्पादनपद्धति मे पैदा होनेवाली नई नई उन्नतियो

के निराकरण करते हुए सभ्यता मे वृद्धि होती गई। चाइल्ड के अनुसार २६०० ई० पू० से लेकर ६०० ई० पू० तक चार ही आविष्कार ऐसे हुए जो मानवीय सस्कृति के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण थे। ये आविष्कार यो थे--

(१) दशमलवपद्धति (२००० ई० पू० के करीब)

(२) औद्योगिक पैमाने पर लोहा गलाने का सस्ता तरीका (१४०० ई० पू०)। वैदिक आर्य लोहे से अपरिचित थे, ऐसा करीब करीब सभी विद्वानो का मत है।

(३) वर्णमालामूलक लिखन पद्धति (१३०० ई० पू०)

(४) शहरो को पानी पहुँचाने के लिए बृहदाकार कृत्रिम जलाशय (Aquduct) का निर्माण (७०० ई० पू०)।

बेबीलोनिया ने यद्यपि दशमलव का आविष्कार किया था, किन्तु फिर भी वह उनकी लिपि के साथ मर गई, इसलिए इसका पुनराविष्कार १५९० ई० में हुआ। लोहे के गलाने से तो एक नवयुग का ही प्रवर्तन होता है। कृत्रिम जलाशय की निर्माणपद्धति के आविष्कार से शहरी सभ्यता का उदय सम्भव हुआ। नही तो नदी के किनारो पर ही शहरो का उदय हो सकता था। अब यह मजबूरी नही रही।

२३--यंत्र का विकास और बिजली का प्रयोग--अपने कामो मे पशुओ की शक्ति को जोतने मे समर्थ होने पर भी मनुष्य की उत्पादनपद्धति अपेक्षाकृत पिछडी हुई ही रही। बैल, घोडे भी आखिर मनुष्य की तरह बहुत सीमित शक्तिवाले जानवर थे, इसलिए एक हद तक ही उनका उपयोग हो सकता था। इस सीमा को पार करने के लिए ही वाष्पशक्ति के उपयोग का विकास हुआ। जो काम अब तक मनुष्य अपनी ताकत या घोडा-बैल की ताकत से करता था, वह अब यन्त्र के द्वारा कही अधिक सुगमतापूर्वक किया जाने लगा। एक पूर्णवयव यन्त्र मे तीन हिस्से होते हैं, एक तो मोटर अर्थात् परिचालक हिस्सा, दूसरा वह हिस्सा जिसके जरिये जिस हिस्से मे काम होता है, उस हिस्से मे ताकत पहुँचाई जाती है, तीसरा वह हिस्सा जहाँ काम होता है। इस प्रकार यन्त्र के अन्दर ही एक प्रकार से श्रम-विभाजन मौजूद है। अब तो आधुनिक यन्त्र बहुत ही जटिल तथा सूक्ष्म हो गये हैं। यन्त्र की उन्नति के कारण न केवल मनुष्य की

शारीरिक ताकत को कोई जरूरत नही रही, बल्कि दृष्टिशक्ति की तीक्ष्णता तथा वैयक्तिक कौशल की आवश्यकता नही रही। अब तो यत्र बारीक से बारीक काम को एक नपे-तुले नमूने के अनुसार कर लेता है। अब केवल यत्र पर निगाह रखने के लिए मनुष्य की जरूरत है। उद्योग-धन्धो मे वाष्प की जगह बिजली के उपयोग के आविष्कार के कारण और भी उन्नति सम्भव हुई है। अब यत्र का परिचालक हिस्सा यानी जहाँ से यत्र को ताकत मिलती है, उसके लिए यह जरूरी नही है कि वह यत्र के अन्दर स्थित हो। अब सैकडो मील की दूरी से यत्र चलाने के लिए ताकत के रूप मे बिजली आ सकती है। बिजली इजिनो से सस्ती भी पडती है। अब तक किसी उद्योग-धधे को चलाने मे इस बात का ध्यान रखना पडता था कि कोयले की खान कितनी दूर पर है, इत्यादि, किन्तु बिजली का उपयोग सम्भव होने के कारण अब इस बात पर ख्याल रखने की जरूरत नही। धुआँ वगैरह न होने के कारण बिजली परिचालित कारखाने अधिक स्वास्थ्यकर होते है। बिजली का उपयोग घरो मे तथा धन्धो मे समान-रूप से हो सकता है।[1]

यातायात के साधनो मे उन्नति के साथ साथ अब यह जरूरी नही है कि काम करनेवाले लोग कारखाने के पास ही रहे। सडको की उन्नति के कारण देहातो मे माल भी अधिक आसानी से लाया और पहुंचाया जा सकता है। यदि यात्रिक उन्नति का सही इस्तेमाल किया जाय तो जाति का प्रत्येक व्यक्ति सुख-समृद्धि मे रह सकता है, किन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब कोई परिश्रमोपजीवी न रहे। विभाजन मे विषमता तथा शोषण के बावजूद यात्रिक युग मे शिक्षा, सस्कृति तथा उपभोग के अन्य साधनो का पहले के युगो के मुकाबिले मे कही अधिक प्रसार हुआ है। हाँ, इनका पूरा फायदा तभी उठाया जा सकता है जब समाजवाद हो, इसमे कोई सन्देह नही।

२४—चार मुख्य यात्रिक युग—किस प्रकार औजारो का विकास हुआ है, इस सम्बन्ध मे पुरातत्त्व ने हमे जो बतलाया है, वह यो है—

(१) प्राचीन प्रस्तरयुग, (२) नवप्रस्तरयुग, (३) ब्राञ्जयुग, (४) लौहयुग।

---

१ A. O P. E

इस प्रकार युग-विभाग से इस बात का भी पता लगता है कि उस विशेष-युग मे उत्पादन की शक्तियो का कितना विकास हुआ था। प्राचीन प्रस्तरयुग मे मनुष्य मुख्यत शिकार, मछली मारना, फल-मूल, कन्द, घोघा आदि के संग्रह मे जीवन धारण करते थे। यह भी अनुमान किया गया है कि इस युग मे मनुष्यो की सख्या बहुत कम होगी। नवप्रस्तरयुग मे उत्पादनपद्धति प्राचीन प्रस्तरयुग के मुकाबिले मे अधिक विकसित हुई और मनुष्य अब कृषि तथा पशुपालन भी करने लगा। नवप्रस्तरयुग के सम्बन्ध मे पुरातत्त्व की गवाही से ज्ञात होता है कि जनसख्या पहले के युग से अधिक बढ गई। इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है कि इस युग मे जनसख्या बढी। उत्पादनपद्धति मे उन्नति से ऐसा होना बिल्कुल स्वाभाविक था। पुरातत्त्व ने जिस गवाही पर यह बात बताई है कि नवप्रस्तरयुग की अधिक कब्रे प्राप्त हुई है, इसलिए इस युग मे आबादी अधिक थी, इसे कहाँ तक विश्वास्य समझा जा सकता है यह विचार्य है, क्योकि प्राचीन प्रस्तरयुग मे उत्पादनपद्धति के पिछडेपन के कारण युद्ध-बंदियो का तथा अपने समाज के बूढो तथा अपाहिजो को खा डालनेवाला सोपान भी तो रहा।

२५—ब्राञ्जयुग—भारत में नही—ब्राञ्जयुग मे मनुष्य जाति की और भी उन्नति हुई, क्योकि ब्राञ्ज के ओजार पहले के पत्थर के औजारो से कही अधिक उत्पादक थे, किन्तु सभी जगह यह युद्ध अपने उच्चरूप मे रहा हो, यह बात नही, क्योकि सभी जगह ब्राञ्ज के उपकरण सुलभता के साथ उपलब्ध नही थे। ब्राञ्ज ताँबा ओर टीन से बनता है। यो उसमे जस्ता, लोहा और शीशा भी जोडा जा सकता है। भारतवर्ष मे कोई ब्राञ्जयुग नही हुआ, ऐसा विन्सेंटस्मिथ आदि विद्वान् मानते है। ऐसा अनुमान है कि दक्षिण भारत मे पत्थर से सीधे सीधे लोहे के औजार का युग आ गया। बीच मे कोई सोपान नही हुआ। उत्तर भारत के सम्बन्ध मे स्मिथ मत है कि विकास दूसरे तरीके से हुआ, यहाँ पत्थर और लोहयुग के बीच मे एक ताम्रयुग भी हुआ। ऋग्वेद मे जो गम्भीर शब्द आया है, उसका मतलब लोहार नही बल्कि ताम्रकार है। प्राचीन सुमेर के सम्बन्ध मे यह निश्चितरूप से ज्ञात हुआ है कि वहाँ ब्राञ्ज का आविष्कार हुआ था, किन्तु गार्डेन चाइल्ड इसी सिलसिले मे यह कहते है कि उसी समय भारतवर्ष मे भी ब्राञ्ज का पता मिलता है। जो हो, लोहे का उल्लेख अथर्ववेद

मे आकर मिलता है। ई० पू० ५०० तक भारतवर्ष मे लोहे का व्यापार जोरो से होने लगा था। स्मिथ का यह अनुमान है कि भारतवर्ष मे ई० पू० १००० से लोहे का व्यापार शुरु हुआ होगा। अन्य विद्वानो के मतो मे और स्मिथ के मत मे थोडा वहुत प्रभेद है, किन्तु सभी इस विषय पर सहमत है कि भले ही यत्रतत्र खननकार्य मे ब्राञ्ज के इक्के-दुक्के हथियार मिले हो, किन्तु भारतवर्ष मे कभी ब्राञ्जयुग नही हुआ। दक्षिण भारत की कब्रो मे ब्राञ्ज के जो द्रव्य मिले है, वे वाहर से आये होगे। निकटपूर्व मे ब्राञ्ज का वहुत व्यापार होता था, ऐसा पुरातत्त्व का कहना है। ब्राञ्ज ताँबे से अधिक कडा होने के कारण हथियार और औजार वनाने के लिए अधिक उपयोगी है।

२६---लौहयुग---लौहयुग के प्रवर्तन के साथ साथ औजार के उपकरण मे सवसे वडी क्रान्ति होती है, क्योकि ब्राञ्ज बहुत कम तादाद मे प्राप्त हो सकता था, बल्कि वनाया जा सकता था। लोहे के ओजारो के साथ साथ औजार सस्ते भी हो गये। खेती अव जोरो से होने लगी। जनसख्या की जल्दी वृद्धि हुई।

२७---आधुनिक यत्रयुग का विभाजन---आधुनिक यत्रयुग को लुइस मम-फोर्ड का अनुसरण करते हुए यूजीन स्टेले ने यो युगो मे विभाजित किया है---

(१) अति प्राचीन यत्रयुग (Eotechnics) या आधुनिक यत्रयुग का उष काल। १००० ईस्वी से १८वी शताब्दी तक यह युग रहा। इसमे शक्ति के रूप मे जल, वायु और लकडी का जोर रहा। जमीन पर डाक ले जानेवाली घोडागाडियाँ और समुद्र मे पालवाले जहाज ही यात्रा और यातायात के क्षेत्र मे इस युग की उच्चतम सफलताएँ थी।

(२) इसके वाद के युग को प्राचीन यत्रयुग (palaeotechnics) कह सकते है। १९वी सदी से २०वी सदी के प्रारम्भ तक यह युग रहा। इस युग मे कोयले और लोहे का बोलवाला रहा और वाष्प परिचालित रेल तथा जहाज इस युग की विशेषता है।

(३) इसके वाद नवीन यत्रयुग (Neotechnics) आता है। १९वी सदी के पिछले चरण से इसका आरम्भ हुआ। यह विजली मिलावटी धातु (alloy complex) युग है। इस युग मे रेडियो, आधुनिक मोटर, डिनेल, विजली की स्ट्रीम लाइनवाली गाडी और हवाई जहाज का पचार हुआ।

२८—औजारो के कार्य का पृथक्करण—उन्नति का परिचायक—आदिम औजारो के सम्बन्ध मे एक बात यह भी ज्ञात हुई है कि आदिमतम युग मे एक ही औजार एक साथ कई काम देता था। यह कुछ आश्चर्य की बात नही है कि मनुष्य जिस पत्थर के टुकडे या लकड़ी को उठाकर फल तोडता था उसी को मौका पडने पर किसी जानवर या आदमी पर फेंककर मारता होगा। औजारो का पृथक्करण अर्थात विभिन्न काम के लिए विभिन्न औजारो का व्यवहार संस्कृति की उच्चता परिचायक है। जो जाति जितनी ही सभ्य होगी, उसमे इस प्रकार का पृथक्करण हुआ होगा। मनुष्य ज्यो ज्यो औजार बनाने की कला मे उन्नति करता गया त्यो त्यो उसने छेनी हथौडा आरी रन्दा कैंची, छुरी कुदाल फावडा, गैंती आदि भिन्न भिन्न कामो के लिए भिन्न भिन्न औजार बनाये।

२९—धनुष प्रथम इंजिन—यो ऐटमराज के युग मे धनुष बहुत ही आदिम ढंग का सरल हथियार ज्ञात होता था, किन्तु इसे पहली इंजिन की मर्यादा प्रदान की गई है कि यद्यपि इसमे केवल हाथ की ही ताकत काम मे आती है फिर भी धनुष को झुकाकर इस ताकत को केन्द्रीभूत कर दिया जाता है और यह ताकत तीर के फेंकने मे एक साथ एक बिन्दु पर काम मे आती है। गार्डेन चाइल्ड का अनुमान है कि धनुष का पहले-पहल आविष्कार मेगलेनियनयुग मे हुआ होगा। यह पता नही कि फ्रेंच ओरिग्नेशियनो मे इसका व्यवहार होता था या नही, किन्तु उन्ही के समसामयिक पूर्वी स्पेन के लोगो मे इसका व्यवहार होता था।[१] इसी धनुष ने चलकर आज हम इंजिनो की किस विपुल उन्नति मे पहुँचे है, इसे बताने की आवश्यकता नही।

३०—अगो के अनुकरण से अंगो की शक्ति-वृद्धि के लिए यन्त्रो का विकास—यन्त्र-विज्ञान मे उन्नति शुरू शुरू मे शरीर के अगो का अनुकरण करके हुई होगी, ऐसा विद्वानो का मत है। मनुष्य के घूँसे से हथौडा बसूला आदि भोथरे यन्त्रो की कल्पना हुई। इसी प्रकार धारवाले यन्त्रो की कल्पना नाखून तथा सामने के काटनेवाले दाँतो से हुई। दंतपंक्ति के अनुकरण मे आरी तथा रेती की कल्पना हुई। पकड की अवस्था मे हाथ तथा बन्द होते हुए जबडो से चिमटा आदि की कल्पना हुई होगी। अर्नेस्ट कैप ने इन बातो को बतलाते हुए दिख-

१ M M. H. p 67

औजार है। जटिल ओजार और कुशल कला का विकास भाषा ओर परम्परा की सहायता से ही विकसित हो सकता था।'[१]

मिस्टर हेनरी जार्ज ने Progress and Poverty नामक पुस्तक मे मनुष्य और पशु के भेद को दिखाते हुए जो कुछ कहा है, उसका भी साराश बहुत कुछ यही है। उनका कहना है 'मनुष्य एकमात्र प्राणी है जिसकी इच्छा की ज्यो ज्यो पूर्ति की जाती है, त्यो त्यो वह बढती है। मनुष्य ही एक प्राणी है जिसकी इच्छा कभी पूर्ण नही होती। आज का एक बैल आदिम युग के बैल से अधिक कोई कामना नही करता। इंगलिश चैनेल का सामुद्रिक 'गल' (Gull) पक्षी तेज चलनेवाले स्टीमरो पर बैठ जाता है। सीजर के समय की नावो पर जो गल्ले बैठा करती थी उनसे वह न तो अधिक अच्छा खाद्य चाहती है और न उसको उनसे अच्छे वासस्थान की आवश्यकता है। अन्य प्राणी प्राप्त सुविधाओ का केवल इतना ही उपयोग कर सकते हैं कि वे अधिक तेजी से वशवृद्धि करे, किन्तु मनुष्य के लिए यह बात सही नही है। मनुष्य की प्राथमिक आकाक्षाएँ तृप्त होने के बाद ही इसके मन में अन्य प्रकार के अभावो की उत्पत्ति होती है। मनुष्य भी और किसी चीज से पहले खाद्य चाहता है, इसके बाद वह पशुओ की तरह आश्रय चाहता है। यदि ये पूर्ण हो गये तो वह प्रजनन की इच्छाओ को सतुष्ट करना चाहता है। यहाँ तक तो मनुष्य और पशु की इच्छाओ का क्रम एक है, किन्तु पशुओ की इच्छा यही खत्म हो जाती है, परन्तु मनुष्य के लिए तो इन प्राथमिक आवश्यकताओ की परिपूर्ति मानो अनन्त श्रेणी (progression) का प्रारम्भमात्र है। पशु इस निरन्तर वृद्धिशील इच्छा का स्वाद नही जानता ज्यो ही किसी वाञ्छित वस्तु के परिमाणो के सम्बन्ध मे मनुष्य की इच्छा तृप्त हो गई, त्यो ही वह चाहता है कि बढिया किस्म की चीज मिले। पशुओ और मनुष्यो मे जो इच्छाएँ सामान्य है, वे भी मनुष्य मे आकर विस्तृत, परिष्कृत और उच्छिन्न होती है। मनुष्य न केवल भूख की तृप्ति के लिए खाता है, बल्कि वह उसमे स्वाद ढूँढता है। वह कपडे मे न केवल शीत, ग्रीष्म की निवृत्ति ढूँढता है, बल्कि वस्त्र उसका अलकार भी है। पहले का भद्दा झोपडा या गुफा अब सुन्दर, दिव्य प्रासाद हो जाता है। जहाँ जहाँ जिसके तिसके साथ तृप्त होनेवाली

---

१ U M J p 4

मौन इच्छा मनुष्य मे आकर एक सूक्ष्म गुण का रूप धारण करती है। उसमे ज्यो ज्यो इच्छाओ को तृप्त करने की शक्ति बढती है, त्यो त्यो उसमे इच्छाएँ भी बढती जाती है।'

हेनरी जार्ज ने जिन शब्दो मे मनुष्य ओर पशु के प्रभेद के सम्बन्ध मे लिखा है, उसे कुछ हद तक रहस्यवाद छू जाता है। ऐसा ज्ञात होता है मानो मनुष्य मे कोई अन्तर्निहित अलौकिक शक्ति हो, किन्तु ऐसी बात नही है, बल्कि उसकी सारी विशेपताओ को विकासवाद के द्वारा समझना सम्भव है। मनुष्य मे ये विशेपताएं चिरन्तन नही है, बल्कि इन विशेपताओ के कारण ही मनुष्य आज का मनुष्य हो सका है। नि सन्देह मनुष्य की श्रेष्ठता मे सबमे बडी चीज ओजार और यत्र है।

३२——यंत्र संन्यास नारे की अव्यवहारिकता——इस पर भी जो लोग रहस्य-वादी तरीके से यत्र सन्यास का नारा देते है, उनकी बाते समझना कठिन है। आज पृथ्वी की जनसख्या इतनी बढ चुकी है तथा लोगो की आवश्यकताएँ इतनी विविध हो गई है कि यत्रो के विना एक कदम भी नही चला जा सकता। यत्रो के विरुद्ध बढ-बढकर बाते मारना तो आसान है, किन्तु किसी भी यत्र-विरोधी ने इसका कोई व्यावहारिक रूप नही बतलाया कि बगैर यत्रो के इतनी बडी जनसख्या का प्रतिपालन कैसे होगा। स्मरण रहे कि यत्रो मे केवल तोप, टैंक और बडी बडी मिले ही नही आती, बल्कि उसमे छापेखाने, ट्रेक्टर, रेल, सिनेमा, तार, जहाज इत्यादि आते है जो हमारे सास्कृतिक जीवन के अनिवार्य और अपरि-हार्य अग हो गये है। आज ज्ञान-विज्ञान का जो अद्भुत प्रसार है वह यत्रो के ही कारण है। बडे विद्वान् समझे जानेवाले स्पिनोजा के पुस्तकालय मे केवल ६० पुस्तके थी, किन्तु आज ६० पुस्तको से बच्चो का पुस्तकालय खोलना भी हास्यास्पद समझा जायगा। आज एक विद्यालय के छात्र का साधारण ज्ञान (General knowledge) पहले के युग के विद्वानो के साधारण ज्ञान के मुकाबिले मे कही अधिक होता है। यत्रो के सन्यास का अर्थ और बातो के साथ साथ ज्ञान-विज्ञान के इस प्रसार को कुठित कर देना है। यत्र-सन्यासवाद भी एक तरह का पलायनवाद है क्योकि यह जीवन की वास्तविकताओ से मुँह मोडकर चलता है। आधुनिक यत्र मनुष्य की मानसिक मुक्ति का द्योतक है न

विचारधारा और आर्थिक सामाजिक परिस्थितियाँ

१—उत्पादन की शक्तियो पर विचारधारा का ढाँचा खड़ा—उत्पादन के साधनो वलिक यो कहना चाहिए कि उत्पादन के विकास से समाज का विकास होता जाता है। वितरण उत्पादन की प्रक्रिया के साथ सम्वद्ध है, इसलिए जैमी उत्पादन की प्रक्रिया होगी, वितरण की प्रक्रिया भी उसी के अनुरूप होगी। वितरण को उत्पादन से स्वतत्र ममझना गलत है। इसी प्रकार एक खास सोपान मे आकर जिस विनिमय की उत्पत्ति होती है, उसे भी उत्पादन पद्धति से अलग करके नही देखा जा सकता। जव भी हम यह कहते है कि उत्पादन पद्धति के विकास के साथ साथ समाज का विकास होता है, तो हमारा मतलव यह होता है कि वितरण और विनिमय भी उमी के अन्तर्गत मानकर समझा जाय। उत्पादन के विकास से समाज का विकास होता है, इसका अक्सर यह मतलव लगाया जाता है कि मानो उत्पादन-पद्धति और उत्पादन-शक्तियो के अतिरिक्त कोई और निर्णयकारी शक्ति है ही नही, किन्तु यह मत गलत है।

२—किन्तु विचारधारा भी महत्त्वपूर्ण—वैज्ञानिक समाजवाद का यह कहना है कि आर्थिक अवस्थाओ तथा उत्पादन की शक्तियो से जिस ऊपरी ढाँचे की उत्पत्ति होती है, वह भी एक वास्तविकता है। 'ऐतिहासिक भौतिकवाद आमतौर पर ऊपरी ढाँचे तथा खासतौर से विचारधारा को अस्वीकार नही करता, वल्कि उनकी व्याख्या करता है।'[१] ऐतिहासिक भौतिकवाद विचारधारा को—जिसमे धर्म, दर्शन, सदाचार, राष्ट्र सम्वन्धी धारणा, विज्ञान, कानून, कला, साहित्य आदि आ जाते है—अस्वीकार कर उडा नही देता, वल्कि उनको कार्य-कारण रूप से आर्थिक नीव के साथ मिलाकर समझने की चेष्टा करता है। यह कहना कि इतिहास की आर्थिक धारणा साहित्य, कला, दर्शन आदि की शक्ति को अस्वीकार करती है या समाज-निर्माण मे उनकी कोई हैसियत ही नही मानती, निर्मूल है। जिन लोगो ने भी इस सम्वन्ध मे मार्क्स एगेल्स के परिपक्व विचारो

१ H M p 226

से परिचय प्राप्त किया है, वे ऐसा कहने का साहस नही कर सकते कि इन विद्वानो के मतवाद मे आर्थिक कारणो को ही प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा अन्तिम निर्णयकारी शक्ति माना गया है। मार्क्सवाद केवल विचारधाराओ तथा उनके तमाम प्रकारो को एक क्रमबद्ध कार्यकारण युक्त तरीके से समझने की चेष्टा करता है।

३—मनुष्य केवल रोटी से नही जीता, किन्तु रोटी का महत्त्व—यह बात सच है कि मनुष्य केवल रोटी से ही नही जीता, किन्तु जितनी भी बुरी लगे, यह भी सत्य है कि मनुष्य की पहली जरूरत अपने लिए तथा अपने लोगो के लिए भूख प्यास-निवारण की वस्तुएँ, कपडे तथा आश्रय की प्राप्ति है, न कि और कुछ। मनुष्य ज्यो ज्यो सभ्य होता जाता है, ज्यो ज्यो उसकी उत्पादन-पद्धति मे उन्नति होती जाती है, त्यो त्यो वह केवल रोटी पर ही नही जीता,बल्कि उसके लिए उत्तरोत्तर मक्खन, चम्मच, कॉटा, कुर्सी, पुस्तक, चित्र और न मालूम किस किस चीज की जरूरत पडने लगती है। प्रागैतिहासिक निमाण्डरथाल या रोडस के मनुष्य को दॉत मॉजनेवाले ब्रुशो की जरूरत नही थी; किन्तु अब वह सभ्य देशो के नागरिको की एक जरूरत हो चुकी है। जिस समाज मे सभ्यता के सब साधन उपलब्ध है, और बराबर उन साधनो मे वृद्धि होती जा रही है, उस समाज के पक्षपुट मे आश्रय लेकर plain living and high thinking अर्थात् सादा जीवन और उच्च विचार का नारा देना अजीब तरीके से एक रोमास पैदा करना मात्र है; किन्तु यदि प्रागैतिहासिक मनुष्य से यह कहा जाता कि तुम इसी अवस्था मे रहो, और इसमे रहते हुए आइनस्टाइन सिद्धान्त का आविष्कार करो, तो इसकी हास्यास्पदता स्पष्ट हो जाती। हम दिखलायेगे कि अत्यन्त सूक्ष्म से सूक्ष्म धार्मिक तथा वैज्ञानिक विचार भी आर्थिक सामाजिक अवस्थाओ मे अच्छेद्य रूप से सम्बद्ध होते है।

४—पहले विचारधारा के साथ आर्थिक नीव का सीधा सम्बन्ध था—मनुष्य की उत्पत्ति एक सामाजिक प्राणी के रूप मे हुई। यदि मनुष्य सामाजिक न होता तो वह अपने पडोसियो के मुकाबिले मे पनप नही सकता था। पहले जो समाज मे रहना केवल एक भौतिक आवश्यकता की पूर्तिमात्र थी, वही बढते-बढते देशभक्ति और न मालूम किन-किन लच्छेदार विचारो मे पुष्पित

और पल्लवित हो गया। 'विचारो, सिद्धान्तो, सदाचार, धर्म तथा दर्शनो के एक पर एक स्तर बनते गये। प्रत्येक व्यक्ति जो समाज मे पैदा होता गया उसने न केवल उत्तराधिकार सूत्र मे आर्थिक ढाँचे को ही पाया, बल्कि विचार-धारागत ऊपरी ढाँचे को भी पाया।'[१] रोटी एक वास्तविकता है, किन्तु विचार भी वास्तविकता है। विचार को अस्वीकार करना किसी वैज्ञानिक दृष्टिकोण का ध्येय नही हो सकता। समाजवादी केवल उनकी तह तक जाना चाहते है। जिस समय मनुष्य बिलकुल अविकसित अवस्था मे थे, उस समय परिस्थितियो का सीधे-सीधे उनकी विचारधारा पर असर पडता रहा, किन्तु ज्यो-ज्यो मनुष्य सभ्य होता गया, त्यो त्यो यह सम्बन्ध जटिलतर और प्रच्छन्नतर होता गया। जिन देशो मे अधिक प्राकृतिक उत्पात होते थे, बताया गया है कि उनके लोग अधिक कुसस्कारग्रस्त होते थे। यह कोई आश्चर्य की बात नही है, किन्तु जिस युग मे मनुष्य प्राकृतिक शक्तियो को अधिक समझ चुका है, उस युग मे प्राकृतिक उत्पात इस प्रकार सीधे-सीधे मनुष्य के विचारो को प्रभावित नही कर सकते, यद्यपि यह भी सही है कि उनका कुछ न कुछ असर मनुष्य के मन पर होता होगा, यह असर इस रूप मे भी हो सकता है कि प्राकृतिक उत्पातयुक्त भूभाग के मनुष्य विज्ञान के द्वारा प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए अधिक प्रयत्न-शील हो जायँ। कहाँ कुसस्कारग्रस्तता और कहाँ इस प्रकार का वैज्ञानिक उद्योग ? इस प्रकार ज्यो-ज्यो मनुष्य जटिल होता गया है, त्यो-त्यो आर्थिक नीव के साथ उसके विचारो का सम्बन्ध निकालना कठिन हो जाता है।

५--भौतिक अवस्थाओ में मनुष्य स्वय भी--उत्पादन पद्धति भौतिक अवस्थाओ पर निर्भर है। अवश्य इन भौतिक अवस्थाओ मे मनुष्य स्वय एक बडा हिस्सा है। मनुष्य के अतिरिक्त जितनी भौतिक अवस्थाएँ है, उनको समाज की निर्णयकारी प्रथम शक्ति मानना सही अर्थ मे जडवाद है, और वैज्ञानिक भौतिकवाद के साथ इस प्रकार के जडवाद का कोई सम्बन्ध नही है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक लेवी ने इस सम्बन्ध मे कहा है कि 'मनुष्य ही धारणाओ, विचारो इत्यादि के उत्पादक है, किन्तु यह मनुष्य, वास्तविक जगत् का मनुष्य (काल्पनिक उडानो का मनुष्य नही) है, जो उत्पादन-शक्तियो के विशेष विकास

---

१ G I

तथा उनके साथ चलनेवाले स्वरूपो के साथ कदम-बकदम चलते है। विचार-धारा ऐसे वास्तविक मनुष्यो की सृष्टि है। यदि तमाम विचारधाराओ के साथ मनुष्य का सम्बन्ध एक Camera Obscura की तरह उलटा मालूम हो, तो भी वह विचारधारा ऐतिहासिक जीवन प्रक्रिया से ही उत्पन्न होता है।'

६——केवल आर्थिक पहलू पर जोर देने की एगेल्स द्वारा निन्दा——जीवन के ऊपर जितने प्रभाव पड़ते है, वे सब प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक है, ऐसा कहना बिलकुल गलत होगा। मार्क्स-एगेल्स ने पहले-पहल इतिहास की भौतिक-धारणा को वैज्ञानिक रूप से स्थापित किया था, इसलिए स्वाभाविक रूप मे उन्होने आर्थिक पहलू पर जोर दिया था, किन्तु जब यह बात उनकी दृष्टि मे आई कि उनके कुछ चेले जोश मे आकर ऊपरी ढाँचे के महत्त्व को कतई स्वीकार नही कर रहे है, तो उन्होने अपने आशय को साफ कर दिया। खेद तो यह है कि मार्क्स इस सम्बन्ध मे अपने विचारो को जिस पुस्तक मे लिखनेवाले थे, वह लिखी ही नही गई। मार्क्स का भौतिकवाद पर एक प्रकाण्ड ग्रन्थ लिखने का इरादा था, किन्तु वे इसे पूरा नही कर पाये। उनके सुयोग्य साथी एगेल्स ने इस बात को साफ कर दिया कि आर्थिक शक्तियाँ नीव के रूप मे है सही, पर उन्ही के आधार पर जो ऊपरी ढाँचा बनता है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है, और एक बार बन चुकने पर वह स्वय एक शक्ति हो जाता है, यहाँ तक कि वह नीव पर भी प्रभाव डालता है। एगेल्स के इस सम्बन्ध मे क्या विचार थे, उनको दिखाने के पहले हम प्लेखनाफ का उद्धरण देगे कि सक्षेप मे इस सम्बन्धी सारे विचार को उन्होने किस सुन्दरता से पेश किया है।

७——प्लेखनाफ द्वारा ऊपरी ढाँचे का विवरण——प्लेखनाफ लिखते है 'यदि हम नीव और ऊपरी ढाँचे के सम्बन्ध मे (अर्थात् आर्थिक शक्तियो और विचार-धारा के सम्बन्ध मे——ले०) मार्क्स तथा एगेल्स के विचारो को सक्षेप मे रक्खे तो उनका सिलसिला बहुत कुछ इस प्रकार होगा——

(१) उत्पादन की शक्तियो की हालत,

(२) इन शक्तियो से बँधे हुए आर्थिक सम्बन्ध,

(३) इस आर्थिक नीव पर खडी सामाजिक राजनैतिक शासन प्रणाली,

(४) समाज मे मनुष्य की मानसिक वृत्तियाँ जो आंशिक रूप से सीधे-सीधे आर्थिक अवस्थाओ से और आंशिक रूप से आर्थिक नींव पर खडी सारी सामाजिक राजनैतिक शासन-प्रणाली से उद्भूत होती है।

(५) इन मानसिक वृत्तियो को प्रतिफलित करती हुई विभिन्न विचार-धाराएँ।

८—विचारधारा के जरिये वर्गयुद्ध—इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ऊपरी ढाँचे मे कला, साहित्य, विज्ञान, धर्म, राष्ट्र, सदाचार सभी आ जाते है। ये सभी अपनी बारी-बारी से, और एक साथ मनुष्य पर असर डालते है, यहाँ तक कि वे इतने तगडे होते है कि नींव की प्रगति को रोकने मे या उसकी प्रगति को आगे बढाने मे कारण स्वरूप हो सकते है। जब कोई विचारधारा पहले-पहल एक ऐतिहासिक अवस्था मे उद्भूत होती है, उस समय वह क्रान्तिकारी और नवीन होती है, किन्तु इस बीच मे जब नींव आगे बढ जाती है, अर्थात् उत्पादन की शक्तियाँ समाज को आगे घसीट ले जाती है, उस समय के परिप्रेक्षित मे यही विचार, जो कभी क्रान्तिकारी और नवीन थे, प्रतिक्रियावादी हो जाते है। उस समय के समाज को नवीन विचारधारा की आवश्यकता होती है, और वह आती है। यह नवीन विचारधारा न तो हवा से आती है, और न हवा मे आती है। यह कुछ व्यक्तियो मे आती है, जिसे हम वर्ग कहते है। यह वर्ग नवीन या आगामी समाज का पुरोधा होता है। पुराने विचार के साथ जो पुराना वर्ग था, उसके साथ इस नवीन विचारवाले नवीन वर्ग की टक्कर होती है। वर्गो मे यह टक्कर और क्षेत्रो के साथ विचारधारा के क्षेत्र मे भी प्रतिफलित होती है, और यदि समाज प्रगतिशील होता है, तो नवीन वर्ग की ही जीत होती है। विचार-धारा इस वर्गयुद्ध मे एक हथियार के रूप मे काम देती है। विचारधारा को वर्ग से अलग करके सोचना गलत है। इसलिए विचारधाराओ के महत्त्व को अस्वीकार नही किया जा सकता, और न वैज्ञानिक समाज-शास्त्र मे ऐसा कही किया ही गया है। सच तो यह है कि मार्क्सवादी लेखकगण इसी क्षेत्र मे अधिक गवेषणा करते रहते है।

९—एंगेल्स द्वारा विचारधारा और आर्थिक नींव के सम्बन्ध का स्पष्टी-

करण—१८९० की २१ सितम्वर को लन्दन मे अपने एक मित्र जे० ब्लाख को पत्र लिखते हुए एगेल्स ने लिखा था 'आर्थिक अवस्था आधार है, किन्तु ऊपरी ढॉचे के विभिन्न उपादान—वर्ग सघर्ष के राजनैतिक स्वरूप तथा इसके परिणाम, सफल सग्राम के वाद विजयी वर्ग के द्वारा स्थापित शासन-विधान इत्यादि, कानून के स्वरूप, यहाँ तक कि लडनेवालो के दिमाग मे इन वास्तविक युद्धो के कारण उठनेवाली प्रतिक्रियाएँ, राजनैतिक, कानूनी, दार्शनिक' सिद्धान्त, धार्मिक विचार और प्रस्तरीभूत सिद्धान्तो के रूप मे उनका और आगे विकास (!)—ये सभी वाते ऐतिहासिक सघर्षो के ऊपर अपनी छाप डाल देती है, और वहुत से क्षेत्रो मे उनके रूप का निर्णय करती है। इन उपादानो मे वरावर पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है, फिर भी इन अन्तहीन आकस्मिक घटनाओ मे (यानी ऐसी घटनाओ मे जिनका आन्तरिक सम्वन्ध या तो इतना दूरावस्थित है, या उनको प्रमाणित करना इतना कठिन है कि हम उन आन्तरिक सम्वन्धो को अनुपस्थित मानते है, या उनकी अवहेलना कर चलते है) आर्थिक गति अन्त तक अपने को आवश्यक करके प्रमाणित करती है . । हम अपने इतिहास का आप निर्माण करते है, किन्तु ऐसा हम वहुत ही खास अवस्थाओ तथा पहले से उपस्थित दशाओ मे करते है। इनमे आर्थिक अवस्थाएं अन्तिम रूप मे निर्णयात्मक है, किन्तु राजनैतिक अवस्थाएं, वल्कि वे परम्पराएँ भी जो मनुष्य के मन मे चली आई है, एक हिस्सा रखती है, यद्यपि यह हिस्सा निर्णयात्मक नही होता। दूसरी वात यह है कि इतिहास अपने को हमेशा ऐसे परिचालित करता है कि अन्तिम परिणाम हमेशा वहुत-सी व्यक्तिगत इच्छाओ के बीच होनेवाले सघर्षो से उत्पन्न होता है। इनमे से प्रत्येक इच्छा जीवन की विशेष परिस्थितियो के समूह से उत्पन्न हुई है। इस प्रकार परस्पर काटनेवाली असख्य शक्तियाँ है शक्तियो के समान्तराल भुजयुक्त चतुर्भुजो के अनन्त सिलसिले है, जिनसे एक ही परिणाम—ऐतिहासिक घटना उत्पन्न होती है . . । मार्क्स और मै इस वात के लिए आंशिक रूप से दोषी हैं कि नवीन लेखकगण प्राय. आर्थिक पहलू पर इतना जोर देते है जितना नही देना चाहिए। खैर हम दोनो की वात तो हम लोगो को अपने विरोधियो का मुकाविला करने के लिए इस पर अधिक जोर देना पडा क्योंकि वे इससे इनकार करते थे, और

हमारे पास हर वक्त न तो इतना समय, स्थान तथा मौका रहता था कि प्रत्येक उपादान पर उसके मुताबिक जोर देकर बात की जा सके।'

१०—और स्पष्टीकरण—इस पत्र के तीन वर्ष बाद १८९३ की १४ जुलाई को लन्दन से फ्रास मेहरिंग को एक पत्र लिखते हुए एंगेल्स ने फिर इस बात को साफ किया था। उन्होंने लिखा था ' मार्क्स तथा मै अपनी रचनाओ मे बराबर इस बात पर जोर देने मे चूक गया और हम सभी समान रूप मे इसके लिए दोषी है। हम सभी इस बात को प्रमाणित करने मे लगे हुए थे कि आधारभूत आर्थिक कारणो मे राजनैतिक, कानूनी तथा अन्य विचारधारा सम्बन्धी धारणाओ को उद्भूत दिखलाया जाय, और उन्ही पर जोर दिया जाय किन्तु ऐसा करने के कारण हम यह दिखाने मे चूक गये कि ये धारणाएँ कैसे उत्पन्न होती है। इस त्रुटि के कारण हमारे विरोधियो को, हमे गलत समझने का सुयोग मिल गया। पाल बार्थ उसी के उदाहरण है। विचारधारा सचमुच ही कथित विचारकारी के द्वारा चेतनायुक्त रूप से पूरी की हुई एक क्रिया है, किन्तु यह चेतना झूठी चेतना है। जिन वास्तविक उद्देश्यो से विचारकारी परिचालित हो रहा है, वे उसके लिए अज्ञात रहते हैं, नही तो यह प्रक्रिया विचारधारा की प्रक्रिया ही नही होती। इसलिए वह झूठे तथा दृश्यमान उद्देश्यो की कल्पना करता है, फिर चूँकि यह विचार भी प्रक्रिया है इसलिए वह इसके स्वरूप तथा इसकी वस्तु को या तो अपने विशुद्ध विचारो या अपने पूर्ववर्तियो के विशुद्ध विचार से प्राप्त करता है। जहाँ तक इसका सम्बन्ध है, वह केवल विचारो को लेकर चलता है, और ऐसा करते समय वह उन्हे बिना परीक्षा किये विचारो की ही उपज मान लेता है। इसके आगे कोई प्रक्रिया विचार से स्वतन्त्र भी है, वह इसकी खोज नही करता। सच तो यह है कि उसे इसका मूल्य बिलकुल स्पष्ट ज्ञात होता है, क्योकि प्रत्येक क्रिया उसे विचार के माध्यम से मालूम होती है, इसलिए यह भी उसे अन्तिम तौर पर विचार पर आधारित मालूम होती है। इतिहास को लेकर आलोचना करनेवाले (Ideologists) लोग (यहाँ पर इतिहास मे राजनैतिक, कानूनी, दार्शनिक, आध्यात्मिक सभी क्षेत्र जो समाज से न केवल स्वाभाविक रूप से ताल्लुक रखते है, आ जाते है) अपने-अपने विज्ञान के क्षेत्र मे ऐसे मसाले प्राप्त करते है, जो पूर्ववर्ती प्रश्नो

के विचारो से स्वतन्त्र रूप से बने है, और बाद की पुश्तो के दिमागो मे विकास के स्वतन्त्र सिलसिलो के जरिये गुजरे है। यह सच है कि इसके क्षेत्र या दूसरे क्षेत्र के बाहरी तथ्यो का भी इस विकास पर कुछ सहनिर्णयकारी प्रभाव पडा होगा, किन्तु यह मान लिया जाता है कि स्वय यह तथ्य विचार की प्रक्रिया का परिणाम है। इसलिए हम अब भी उस विशुद्ध विचार के दायरे मे रह जाते है, जिसने कठिन से कठिन तथ्यो को सफलतापूर्वक हजम किया है। यह जो राष्ट्रो के विधान, कानून की पद्धतियाँ तथा प्रत्येक पृथक् क्षेत्र मे विभिन्न विचारधाराओ का स्वतन्त्र इतिहास दीख पडता है, उससे लोग चकाचौंध हो जाते है।'

इसके बाद एंगेल्स इसी विषय को उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करते है—'यदि लूथर और कैल्विन प्रामाणिक कैथोलिक धर्म से आगे बढते हुए दिखाये जाते है, या हेगेल फिख्ते और कैंट मे आगे बढते हुए दिखाये जाते है, या रूसो अपने सामाजिक ठहराव के सिद्धान्त के द्वारा विधानवादी योतस्कियें से आगे बढते हुए दिखाये जाते है, तो इस प्रकार की प्रत्येक व्याख्या अध्यात्म विद्या, दर्शन या राजनीति के दायरे के अन्दर ही इन विशेष विचारो के इतिहास मे एक सोपान के ही रूप मे दृष्टिगोचर होती है, और इस प्रकार की व्याख्या कभी विचार के क्षेत्र से बाहर नही जाती। पूँजीवादियो की यह भी एक भ्रान्त धारणा है कि पूँजीवादी उत्पादन अन्तिम और चिरन्तन है। इस विचार को उपरोक्त प्रकार की व्याख्या के साथ जोडने पर यह दिखाई देता है कि सौदागरी युग के अर्थशास्त्रियो पर फिजियोक्रेट और एडम स्मिथ की विजय हुई है। इस प्रकार इसे केवल एक विचार की विजय के रूप मे दिखलाया जाता है, न कि इस रूप मे कि मौजूदा परिस्थितियो को सही रूप मे समझकर कुछ कहा जाय। तथ्य तो यह है कि यदि सिंह हृदय रिचर्ड या फिलिप अगस्टस क्रूसेडो मे (ईसाइयो के धार्मिक जहाद) मे फँसने के बजाय मुक्त व्यापार का प्रवर्तन करते, तो हम लोग पाँच सौ वर्ष के दुःख तथा बेहूदगी से बच जाते। इस दिशा को, जिसका मैने यहाँ इशारा कर दिया है, हम सभी ने उचित से कही कम महत्त्व दिया और उसकी अवहेला की। यह वही पुरानी कथा है कि पहले-पहल वस्तु के बजाय स्वरूप की अवहेला की जाती है। जैसा कि मै कह रहा हूँ, मैने भी ऐसा ही किया है, और यह भूल हमें बाद को बराबर खटकी।'

११—शासकवर्ग की विचारधारा सामाजिक विचारधारा का रूप ग्रहण करती है—इस प्रकार आर्थिक नीव के साथ विचारधारा का क्या सम्बन्ध है, यह बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। उत्पादन प्रत्येक युग मे (आदिम साम्यवाद को छोडकर) वर्ग-सघर्ष के आधार पर चलता रहा है। इस वर्ग-सघर्ष मे जो दो मुख्य वर्ग एक दूसरे के आमने-सामने शोषक और शोषित के रूप मे खडे होते है, स्वाभाविक तौर पर उनकी विचारधारा अलग-अलग होती है; किन्तु प्रचार कार्य, शिक्षा, धर्म आदि विचारधारा के अगो पर प्रभाव डालनेवाले सब साधनो पर शासक वर्ग का एकाधिकार होने के कारण एक हद तक शोषित वर्ग अपने अनजान मे चिरन्तन सत्य समझकर शोषक वर्ग की विचारधारा को अपनी समझ बैठता है, और वह उसी के अनुसार चलता है। इस प्रकार प्रत्येक युग मे शासक वर्ग की विचारधारा यानी साहित्य, कला, कानून, राजनीति, सदाचार सम्बन्धी धारणा सारे समाज की धारणा का रूप प्राप्त कर लेती है।

१२—विचारो का अस्तित्व हवा में नही, बल्कि सामाजिक शक्तियो में—हेगेल ऐसे उडान भरनेवाले, शुद्ध भाव पर चलनेवाले दार्शनिक, मैकाले ऐसे अहमन्य, सर्वज्ञता का दावा करनेवाले साहित्यिक, लाक तथा हाव्स ने अपने ही युग की परिस्थितियो से उत्पन्न विचारो को अपनाया, और उसे ऐसे पेश किया मानो उनके विचार विशुद्ध तर्क से उत्पन्न हुए हो। इस सम्बन्ध मे यह भी द्रष्टव्य है कि जो अरस्तू अक्सर मामलो मे बहुत से आधुनिक विज्ञानो के भी पुरोधा और जनक माने जाते है, वे समाज के कल्याण के लिए दासत्व प्रथा को अनिवार्य समझते थे। यो तो कोई भी व्यक्ति कुछ भी वक सकता है, और कोई भी ऊलजलूल सिद्धान्त पेश कर सकता है, किन्तु जब तक वह विचार या सिद्धान्त उस युग की भौतिक जरूरतो से उत्पन्न इच्छाओ के कारण अपने को ग्रथित नही कर पाता, तब तक वह पुस्तको मे बन्द पडा रहता है। एक विचार एक समय मे अपनी ओर कुछ भी ध्यान आकर्षित क्यो नही कर पाता, और क्यो वही विचार दूसरे समय लोगो को पागल कर उनसे अधिक से अधिक कुरबानी यहाँ तक कि क्रान्तियाँ करवा लेता है, यह इसी से समझ मे आवेगा कि विचारो के साथ जब सामाजिक शक्तियो का गठबन्धन हो जाता है, तभी वे तगडे हो जाते है।

१३—देशभक्ति के नारे के पीछे वर्गहित भी—एक छोटे से उदाहरण को

लिया जाय। किसी युग मे क्रूसेड, जहाद या धर्मयुद्ध जनप्रिय विचार थे, (अवश्य इनकी तह मे आर्थिक सामाजिक शक्तियाँ थी, इसके ब्यौरे मे हमे जाने की आवश्यकता नही है), उस युग में इनका नारा देकर हजारो लोगो को कटवा-मरवा देना सम्भव था, किन्तु अव यदि कोई ऐसे नारे दे, तो वह हास्याम्पद समझा जावेगा। सामन्तवादी युग मे सारे युद्ध मुख्यत धर्म के नारे पर ही लडे गये। पूँजीवादी युग के आगमन के साथ-साथ जव आधुनिक अर्थ मे पृथक् जातियाँ वनी, तव लडाइयाँ देशभक्ति के नारे पर लडी गई। हम इस पहलू पर आलोचना करने समय यह दिखलायेगे कि किस प्रकार धर्म के झगडे तथा सम्प्रदायो के झगडो के जरिये आर्थिक राजनैतिक लडाइयाँ लडी गई है। पूँजीवादी वर्ग ने देशभक्ति का नारा लगाकर अपनी मव लडाइयाँ लडी है। देशभक्ति के अन्तर्गत वस्तु का विश्लेपण करने पर यह ज्ञात होगा कि उसमे समाज के सब वर्गो को यह कहा जाता है कि तुम आपसी झगडे छोडकर जाति के लिए कुर्बानी करो तथा लडो। इस प्रकार देशभक्ति प्रकारान्तर से वर्गमघर्प को छिपाकर वर्ग-समन्वय का नारा लगाकर पूँजीवादी वर्ग का कल्याण करती रही है। अवश्य कही गलतफहमी न हो, इसलिए यह बता दिया जाय कि औपनिवेशिक देशो मे जिस देशभक्ति का नारा लगाकर साम्राज्यवाद के विरुद्ध सग्राम किया जाता है, उसका चरित्र मौलिक रूप से वर्ग समन्वयात्मक होने पर भी तथा उससे मुख्यत. औपनिवेशिक देगो के पूँजीवादी वर्ग को आर्थिक राजनैतिक फायदा होने पर भी देशभक्ति का नारा इन देगो मे तब तक प्रगतिगील है, जव तक उस नारे के नीचे साम्राज्यवाद से युद्ध किया जा रहा है। कई मामलो मे, जैसे स्वदेशी के प्रचार मे, जो देशभक्ति का एक अग है, देशी कल-कारखाने को फायदा होता है, यह तो प्रत्यक्ष है, क्योकि स्वदेशी का वक्तव्य यह है कि देशी माल चाहे घटिया भी हो, उसे विदेशी माल के मुकाविले मे अधिक दाम देकर लेना चाहिए। इस प्रकार स्वदेशी का नारा देशी पूँजीवादी वर्ग को विदेशी पूँजीवादियो की प्रतियोगिता के विरुद्ध एक बहुत जवरदस्त अस्त्र देता है।

इस युग मे देशभक्ति का नारा देकर लडाइयाँ हो रही है, और होती है। इस युग मे यदि कोई धर्मवादी धर्म का नारा देकर अँगरेजो के विरुद्ध लडाई करना चाहे, तो उसे अधिक अनुयायी नही मिलेगे। साथ ही हम यह भी जानते है कि

प्राच्य देशो मे पहले-पहल जब साम्राज्यवाद के विरुद्ध युद्ध छेडा गया, तो वह धर्म और धार्मिक नारो की आड मे चला। क्रमश सग्राम की यह प्रकृति बदल गई और खुलकर देशभक्ति के नारे दिये जाने लगे। अब तो सीधे-सीधे आर्थिक नारे देकर शोषित जनता को उद्बुद्ध किया जाता है। हम यहाँ इस विषय पर नही लिखने जा रहे है कि किस प्रकार साम्राज्यवाद के विरुद्ध युद्ध मे नारे बदले, हमे केवल यही दिखाना था कि स्वय विचारधारा मे कुछ शक्ति नही होती। जब वह उस युग की समस्याओ के साथ आवयविक रूप से अपने को युक्त कर पाती है, तभी वह शक्तिशाली हो जाती है।

१४——आतकवाद तथा इक्के-दुक्के पूजीपतियो पर हमले की विचारधारा—— इसी से यह भी साफ हो जाता है कि हमेशा ऐसा क्यो हुआ कि आनेवाले युग के क्रान्तिकारी वर्ग की विचारधारा को हर युग मे बाधाओ के पहाडो का सामना करना पडा, और हर युग के क्रान्तिकारी वर्ग की विचारधारा को क्यो बाधा प्राप्त हुई तथा सघर्षो के बीच से होकर आत्म-प्रसार करना पडा। ज्योही शोषित वर्ग मे कुछ भी असन्तोष की सृष्टि होती है, ज्योही वह कुछ अस्पष्ट रूप से ही सही, यह समझने लगता है कि ईश्वर ने ऐसा उनके माथे पर नही लिख दिया है कि वे पददलित ही रहे, त्योही उनमे एक अस्पष्ट विद्रोह भावना उत्पन्न होती है। पहले यह विद्रोह भावना उस पद्धति को नही देख पाती जो उसे सता रही है, इसलिए इक्के-दुक्के पूँजीपतियो पर या साम्राज्यवादियो पर हमले होते है। पूँजीपतियो की सम्पत्ति या सरकारी सम्पत्ति नष्ट की जाती है। स्वाभाविक रूप से ऐसे इक्के-दुक्के हमलो से पद्धति को कुछ क्षति नही पहुँचती, अवश्य इन हमलो के कारण भी पद्धति को कुछ सँभलना पडता है और एक तरफ भयकर जुल्म करते हुए भी दूसरी तरफ वह अपने मे कुछ सुधार करने के लिए बाध्य होती है। राजनैतिक स्वाधीनता सग्राम की भाषा मे इस विचारधारा को आतकवाद कह सकते है, तथा समाजवादी सग्राम की दृष्टि से यह युग कल-कारखानो पर तथा पूजीपतियो पर इक्के-दुक्के हमलो का युग है। इस युग मे यही विचारधारा होती है, तथा इसके अनुसार काम करनेवाले राष्ट्रीय वीर तथा कर्मवीर समझे जाते है। जहाँ तक वीरता का सम्बन्ध है, इनमे इसकी कमी नही होती, किन्तु इनके कार्यो के दायरे मे कुछ अधिक अग्र-

गति नही हो सकती, यह स्पष्ट है। ऐसे युग की विचारधारा मे एक विचार यह भी होता है कि हमे सफलता मे कोई मतलव नही, हमे तो कुर्बानी करनी है, आत्मवलिदान करना है, मिट जाना है। इस युग मे यह विचार स्वाभाविक रूप मे एक वहुत जरूरी विचार होता है, यदि इस प्रकार के विचार न हो तो अन्धाधुंध इक्के-दुक्के हमले भी न हो पावे।

धीरे धीरे यह अस्पष्टता का युग चला जाता है। जुल्म करनेवाले पुलिस-वाले के पीछे, कल कारखाने के वैयक्तिक मालिक तथा मेनेजर के पीछे साम्राज्य-वादी राष्ट्र तथा पूँजीवादी पद्धति दिखलाई पडने लगती है, तदनुसार सग्राम की पद्धति मे और विचारो मे परिवर्तन होता है। इस प्रकार समाजवादी विचारो की उत्पत्ति होती है, जो हमे सर्वहारा के अधिनायकत्व के जरिये होते हुए वर्ग-हीन समाज तक सोचने मे समर्थ करती है।

१५—विचारधारा का सर्वाग सुन्दर विश्लेषण क्या है ? इसी प्रकार विचार सामाजिक परिस्थितियो के साथ सयुक्त होकर वलशाली होते हुए आगे वढते चले जाते है, किन्तु जैसा कि एगेल्स के पत्र से ज्ञात होता है, इन विचारो को एक तरफ तो सामाजिक आर्थिक परिस्थितियो से सयुक्त करके दिखाना सम्भव है, दूसरी तरफ विलकुल इन परिस्थितियो से वेखवर होकर और उन्हे न छूकर पूर्वतन विचारो से ही इनको प्राप्त करना सम्भव है। वुर्जुआ लेखको ने वरा-वर विचारो का जो इतिहास लिखा है, उसमे विचारो को विचारो से ही सयुक्त कर तथा उन्ही से उद्भूत करके दिखलाया है। इसके विपरीत पूर्वतन विचारो की विलकुल अवज्ञा कर विचारो को उस समय की आर्थिक, सामाजिक परिस्थि-तियो मे ही उद्भूत करके दिखलाने का प्रयत्न किया जा सकता है; किन्तु सच तो यह है कि मामला इतना सीधा नही है। जो नया विचार आता है, वह चाहे कानून मे हो, चाहे कला मे, चाहे साहित्य मे, और वह चाहे अपने लिए सर्व-वन्धन विमुक्ति का कितना ही दावा करे, और अपने को सोलहो आने वुन-नियादी वतलावे, फिर भी उसे अपने को पहले की विचारधाराओ के परिप्रेक्षित मे दिखलाना पडता है, यदि वह ऐसा न करे तो वह उस युग मे किसी की समझ मे नही आ सकता। वताया गया है कि आइन्स्टाइन का सापेक्षवाद वहुत ही क्रान्तिकारी सिद्धान्त है, किन्तु कल्पना की जाय कि यदि न्यूटन और आइन्स-

स्टाइन के बीच मे जो कुछ भी आविष्कार हुए, उन्हे यदि भुला दिया जाय तो क्या आइनस्टाइन के सिद्धान्त को कोई समझ सकता था? सच तो यह है कि उस हालत मे इस सिद्धान्त के प्रतिपादन की नौबत ही न आती। इसलिए यदि कोई वैज्ञानिक, कलाकार, साहित्यिक समाजशास्त्री, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियो को भूल जावे, किन्तु अपने विचार के पहले आये हुए विचारो के परिप्रेक्षित मे अपने विचार को स्पष्ट करके खड़ा कर सके, तो उसे लोग समझ लेगे। उस हालत मे वह वैज्ञानिक कलाकार, साहित्यिक, समाजशास्त्री अपने अनजान मे बहुत सम्भव है अपने युग की आर्थिक सामाजिक परिस्थितियो के प्रति भी सच्चा रहे, क्योकि आखिर पूर्वतन विचार क्या थे? वे पहले की आर्थिक सामाजिक परिस्थितियो के तथा उन परिस्थितियो से उठनेवाले विचारो के प्रतिफलन तो थे। इसलिए किसी विचार का सही और सर्वांग सुन्दर विश्लेषण वही होगा जिसमे उस विचार की समकालीन सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियो के साथ उस विचार का मिलान किया जाय, साथ ही पहले के जो विचार थे, उनसे भी उसको सयुक्त किया जाय।

१६—विचारधारा के स्वरूप को समझने के लिए पहले के विचारो को समझना जरूरी—किन्तु असल मे वास्तविकता और भी जटिल है। एक विचार के लिए यह जरूरी नही कि वह केवल अपनी लाइन के पूर्वतन विचारो से सयुक्त हो। विचारधारा वाला ऊपरी ढाँचा हमारे मन मे भले ही प्रकोष्ठो में बटा हुआ हो, सजीव रूप मे वह एक दूसरे मे इतना अनुप्रविष्ट है कि उसे बिलकुल अलग करने की चेष्टा करना बहुत कुछ काल्पनिक है। कानून को लिया जाय, इसका सदाचार की धारणा से विशेषकर शासकवर्ग के सदाचार की धारणा से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वाभाविक रूप से सदाचार अर्थात् शासकवर्ग के सदाचार की धारणा मे प्रत्येक तब्दीली के साथ साथ इसे अपने पैतरे बदल देने पडते है, किन्तु यह प्रक्रिया हमेशा जल्दी जल्दी नही होती। किसी क्षेत्र मे यह परिवर्तन जल्दी होता है और किसी क्षेत्र मे रुक रुककर। जिस समय शासकवर्ग किसी बडी विपत्ति मे, जैसे लडाई या क्रान्ति के भँवर मे, फँस जाता है, उस समय बहुत जल्दी वह अपने कानून को सदाचार के सिर पर से होकर बदल लेता है। आम तौर से शान्ति के समय पूँजीवादी वर्ग सम्पत्ति तथा जीवन की पवित्रता

को स्वीकार करता है; किन्तु लडाइयो तथा क्रान्तियो मे जो तरह तरह के रेगुलेशन आर्डिनेस, सामरिक कानून आदि काम मे आते है, उनमे सम्पत्ति और जीवन सम्बन्धी, शातिकालीन सदाचार को नही माना जाता। उस समय राष्ट्र किसी भी व्यक्ति के मकान पर कब्ज़ा कर सकता है, किसी व्यक्ति की एकत्र की हुई रसद को जब्त कर सकता है। इस प्रकार कानून के रूप मे जो रेगुलेशन आदि आते हैं वे शान्तिकालीन अपने मानदण्ड से भी कोई कानून नही होते। इन रेगुलेशनो के समर्थन मे जो विचारधारा पेश की जाती है, उसमे शान्तिकालीन तत्सम्बन्धी विचारधाराओ का निराकरण होना है। किन्तु फिर भी इन रेगुलेशनो, आर्डिनेस आदि को समझने के लिए हमे शासकवर्ग की आर्थिक, सामाजिक परिस्थिति के साथ साथ उसके सदाचार तथा अन्य बहुत सी बातो को समझना पडेगा। बात यह है, शासकवर्ग का सबसे मूलगत सदाचार या यो कहिये उसके सदाचार का मूलगत आधार यह है कि वह अपने को शासकवर्ग के रूप मे कायम रख सके। यह सब होते हुए भी उसे जो आर्डिनेन्स आदि के रूप मे कानून का ढकोसला रचना पड़ता है, और विशेष अदालत आदि की स्थापना करनी पडती है, उसका कारण यह है कि ऐसे समयो मे बहुत कुछ नग्न रूप मे सामने आने पर भी शासकवर्ग को अपने ही द्वारा सृजित पहले के तौर तरीको, रीति रिवाजो, कानूनी नुक्तो का कुछ न कुछ खयाल जरूर रखना पडता है। यदि हम इन आर्डिनेसो को केवल शासकवर्ग के ऊपर आई हुई विपत्ति से समझने की चेष्टा करे, तो वह ठीक है, किन्तु ऐसी हालत मे भी वह जो भरसक अपने कानूनी तरीको या Formalities को निभाने की कोशिश करता है, इसे हमे उसके इस सम्बन्धी पहले के तौर तरीको तथा Formalities के जरिये समझना पडेगा। विचारधारा अर्थात् सजीव विचारधारा से अवश्य ही उस काल की आर्थिक, सामाजिक परिस्थिति तथा किसी न किसी सजीव वर्ग का सम्बन्ध होता है, किन्तु विचारधारा को जो किसी विशेष स्वरूप प्राप्त होता है, उसके साथ पहले की विचारधाराओ के स्वरूपो का सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध को जानने पर ही स्वरूप पूरे तरीके से समझ मे आयेगा।

१७—गूढ शब्दजाल की आड़ में उदीयमान विचारधारा आ सकती है—जैसे समाज मे दो प्रधानवर्ग होते है, उसी तरह किसी देश और काल मे दो

विचारधाराएँ भी होगी। फिर भी प्रत्येक वर्ग मे उपवर्ग है, इसलिए इन दो विचारधाराओ के अन्दर बहुत सी अन्य विचारधाराएँ भी होगी। शासकवर्ग शासितो के पक्ष की विचारधाराओ को दबायेगा, यह कोई आश्चर्य की बात नही है। इसलिए अक्सर क्रान्तिकारी विचारधारा को गूढ शब्दजाल के आवरण मे छिपकर आना पडा। एगेल्स ने इसका एक अच्छा उदाहरण दिया है। वे लिखते है 'हेगेल के शिष्यो ने एक ओर तो प्रत्येक धार्मिक विश्वास को तीव्र समालोचना की कसौटी पर कसकर उसकी अग्नि परीक्षा ली, और इस प्रकार ईसाई धर्म की प्राचीन इमारत को जड तक हिला दिया, और दूसरी तरफ उन्होने जर्मनवालो के सामने ऐसे साहसपूर्ण राजनैतिक सिद्धान्त लाकर रखे, जिनको सुनने का अभी उन्हे मौका नही मिला था, और प्रथम फ्रेन्च राज्यक्रान्ति के वीरो की स्मृति की गरिमा के पुनरुद्धार करने की चेष्टा की। जिस गूढ दार्शनिक भाषा मे ये विचार व्यक्त किये जाते थे, वे एक तरफ लेखक तथा पाठक दोनो को कुछ भ्रम मे डाल देते थे, फिर भी साथ ही उनमे समान रूप से सरकारी सेन्सरो की आँखो मे धूल झोकने की सामर्थ्य होती थी, और इस तरकीब से नवीन हेगेलीय लेखको को लिखने की वह स्वाधीनता प्राप्त हुई, जो साहित्य की दूसरी सभी शाखाओ के लिए अज्ञात थी।'[१] कहना न होगा कि इस प्रकार जो क्रान्तिकारी विचारो को पहले पहल आड लेकर आना पडता है, इसका कारण शासकवर्ग का विरोध है।

१८—सरकारी धर्म पर हमले की आड मे राजनैतिक युद्ध—इस प्रकार नवयुग की विचारधारा के प्रचारक का एक कर्तव्य यह भी हो जाता है कि वह क्रान्तिकारी वर्ग को शासक और शोषक वर्ग की विचारधारा तथा दृष्टिकोण से काटकर अलग कर दे, और उसे ऐसा समर्थ कर दे कि वह अपने दृष्टिकोण से सारी बातो को देखे, न कि शासको के दृष्टिकोण से। चूँकि ऐसा करने मे शासकवर्ग बाधक होता है, इसलिए प्रत्येक देश मे प्रगतिशील विचार को न मालूम कौन कौन सी आड लेकर आना पडता है। जैसा कि बताया गया है, वह धर्म की आड लेता है, तो कभी पुनरुज्जीवनवाद (Revivalism) की, तो कभी गूढ वाग्जाल की। जो हो, इसीलिए प्रत्येक राजनैतिक आर्थिक लड़ाई अनिवार्यत

१ R C R p 20

से विचारों के क्षेत्र में लड़ाई होने के लिए बाध्य हैं। जिस समय लोगों में धर्म विश्वास बहुत प्रबल होता है, उस समय धर्म के अन्दर से भी यह लड़ाई चलाई जाती है, क्योंकि इसी उपाय से लड़ाई जल्दी जोर पकड़ती है। एंगेल्स ने यह दिखलाया है कि 'इतिहास में ऐसे बहुत से उदाहरण हैं कि ऐसे देशों में जहाँ एक सरकारी धर्म था, साथ ही राजनैतिक आन्दोलन पर रोक-टोक थी, वहाँ सरकारी शक्ति के विरुद्ध अधार्मिक तथा खतरनाक विरोध ने आध्यात्मिक तानाशाही के विरुद्ध स्वार्थ-लेशहीन धार्मिक विचारों के संघर्ष का पवित्र बाना पहनकर लड़ाई छेड़ी। बात यह है कि ऐसी बहुत सी सरकारें जो अपनी कार्रवाइयों पर जरा भी समालोचना नहीं बर्दाश्त कर सकती, वे भी जनता के धार्मिक पागलपन को उभाड़ने और शहीद पैदा करने के पहले हिचकिचाती हैं। इस प्रकार १८४५ में प्रत्येक राष्ट्र में या तो रोमन कैथोलिक या प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय या दोनों उस देश के कानून के अपरिहार्य अंग समझे जाते थे। फिर प्रत्येक राष्ट्र में इन दोनों में से किसी सम्प्रदाय के पादरी या दोनों के पादरी सरकार की नौकरशाही तामझाम के अनिवार्य अंग थे। इसलिए प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक कट्टरता पर हमला या पुरोहितवाद पर हमला करना उस जमाने में स्वयं सरकार के विरुद्ध एक छिपा हमला था।'

१९—**समाज की उत्पादन शक्तियाँ महत्त्वपूर्ण**—विचारधाराओं का चाहे कितना भी महत्त्व हो, और जो कुछ हमने ऊपर लिखा उससे स्पष्ट है कि उनका महत्त्व बहुत अधिक है, किन्तु फिर भी आधारगत तथ्य यह है कि 'समाज का आन्तरिक गठन कैसा होगा, इसका निर्णय बाह्य प्रकृति और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध यानी समाज की भौतिक उत्पादन-शक्तियों की अवस्था से निर्णीत होता है। उसमें जो स्वरूप परिवर्तन होता है वह भी उत्पादन की शक्तियों की गति से होता है। हम उससे भी आगे बढ़कर कह सकते हैं कि केवल पारस्परिक सम्बन्धों का ही अस्तित्व नहीं है बल्कि वे सारी स्थायी प्रक्रियाएँ तथा पारस्परिक प्रतिक्रियाएँ, एक शक्ति के सामने से ही होती रहती हैं, और यह बाह्य प्रकृति तथा समाज के बीच पारस्परिक सम्बन्ध से निर्मित है।'[1] इसके अर्थों में यों कहना चाहिए कि विचारधाराओं का असर आर्थिक भौतिक दायरे के ही अन्दर हो

१. H. M. p. 226

सकता है, किन्तु जैसा कि हम पहले बता चुके है, एक विचारधारा जनता य
वर्गविशेष द्वारा गृहीत हो जाने पर आर्थिक नीव को भी प्रभावित कर सकती ह
और उसकी प्रगति मे बाधक या साधक हो सकती है।

२०—राजतत्रवादियो की गुटबन्दी की पृष्ठभूमि में वर्ग स्वार्थ—मार्क्स
अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक '१८वी ब्रूमेर' मे उस समय के राजतत्रवादियो के अन्दर
दो गुटो अर्थात् कानूनवादी (Legitimist) जो लोग ब्र्बन वश का पुनरुद्धा
चाहते थे, और ओरलियनवादियो का विश्लेषण करते हुए विचारधारा और आर्थि
हितो का क्या सम्बन्ध होता है, इसका सुन्दर दिग्दर्शन कराया है। उन्होने उस
बहुत स्पष्ट तरीके मे प्रमाणित कर दिया कि जिस कारण से राज्य के दो दावे
दारो के ये दो गुट अलग थे, वह उनकी विभिन्न शैली की राजभक्ति नही, बलि
इनके पीछे विभिन्न वर्गहित था। 'ब्रुर्बन वश के जमाने मे विशाल भूसम्पत्तिशाल
लोगो ने अपने पुरोहितो तथा अन्य पिछलगुओ के साथ शासन किया था। ओर
लियन्स वश के अधीन उच्च बैक पूँजीवादी, थोक व्यापारी, बडे पैमाने के उद्योग
धन्धो के मालिको ने यानी पूँजीपतियो ने अपने वकीलो तथा वक्ताओ के सा
राज्य किया था। इस प्रकार कानूनवादी राजतत्रवादी जमीन के मालिको अर्था
ताल्लुकेदारो के पुस्त-दरपुस्त चले आनेवाले शासन के प्रतिनिधि थे। इस
प्रकार जूलाई राजतत्र उन नये पूँजीवादियो के जो एकाएक धनी हो गये थे, अन
धिकारी शासन का प्रतिनिधित्व करता था। इसलिए जो बात इन दोनो राजतत्रवा
गुटो को आपस मे मिलने नही देती थी, उसका आधार कोई कथित सिद्धान
नही था, बल्कि इसके लिए उनके अस्तित्व की भौतिक अवस्थाएँ, दो विभि
तरह की सम्पत्तियाँ, शहर और देहात की पुरानी दुश्मनी तथा पूँजी और भूसम्पा
के बीच की होड जिम्मेदार थी। हाँ, इसी के साथ इस बात से कौन इन्का
करता है कि पुरानी स्मृतियाँ, वैयक्तिक दुश्मनियाँ, भय और आशाएँ, कुसस्का
और भ्रान्तियाँ, सहानुभूति और विरोध की अनुभूतियाँ, विश्वास, धर्म औ
सिद्धान्त की बाते (जिनके द्वारा वे राजतत्रवादी होते हुए भी विभिन्न राजव
से बंधे हुए थे) भी अपनी जगह पर काम करती थी। सम्पत्ति के विभि
स्वरूपो तथा अस्तित्व की सामाजिक अवस्थाओ पर भ्रान्तियो, विचारशैलियो तथ
दृष्टिकोणो का एक विशेषरूप से बना हुआ, और स्पष्ट ढाँचा खडा होता है

पर वर्ग सघर्ष केवल आर्थिक, राजनैतिक क्षेत्र मे ही नही बल्कि विचारधारा के सभी क्षेत्रो मे व्याप्त है। लेखकगण, सिद्धान्तवादीगण कलाकारगण—सभी विचारधारा के क्षेत्र मे चलनेवाले वर्ग युद्ध मे प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से, छिपे या खुले रूप मे हिस्सा लेते है।"ऐसा समझना गलत है कि कोई भी लेखक कलाकार या साहित्यिक विचारधारा के क्षेत्र मे चलनेवाला इस सघर्ष मे निरपेक्ष रह सकता है। 'जीवित विज्ञान, जीवनप्रद कला, तथा वस्तुवादी दर्शन सभी अपने अपने ढग से परिवर्तन के लिए चलनेवाले इस सघर्ष मे हिस्सा लेते है। जो भिन्न भिन्न वाद-विवाद चलते रहते है, उनके स्पष्टीकरण की प्रक्रिया मे विचारधाराएँ एक न एक रूप मे हिस्सा लेती है।' इसलिए सामाजिक जीवन के एक सन्धिक्षण मे (ओर बारीकी से द्वन्द्वात्मक न्याय के तरीके से देखा जाय तो प्रत्येक क्षण ही सन्धिक्षण है) कला, साहित्य, विज्ञान, दर्शन सभी के दो हिस्से हो जाते है। एक हिस्सा तो पुराना राग अलापता है, अपने स्वर्ग को पीछे देखता है, दूसरा नये युग का गीत गाता है।

२२—**प्रतिक्रियावादी विचारो के रूप**—पुराने की तरफ घसीटने के कई तरीके है। एक तो साफ साफ यह कहा जा सकता है कि नये युग का नारा गलत है, क्योकि पुराने जमानो मे जो कुछ भी भला हो सकता है, सब आ चुका है, आगे के युग का आवाहन करना उच्छृङ्खलता है। इसको हम विचारधारा के क्षेत्र मे Laiscez fairez (चलने दो) का सिद्धान्त कह सकते है। दूसरा मत यह मानता है कि इस युग मे कुछ त्रुटियाँ है, बल्कि वह इस असन्तोष को स्वर भी देता है जो समाज के अन्तस्तल मे उबल रहा है, किन्तु वह किसी न किसी प्रकार के पलायनवाद का अवलम्बन कर प्रचलित विषमता तथा असन्तोष की ओर से मुह फेर लेने का नारा देता है। निम्नमध्यवित्तवर्ग मे जो 'बंगला बनेगा न्यारा' या कही हम अलग जाकर अपनी झोपडी किसी नदी के किनारे बनायेगे—जन कोलाहल से दूर शान्ति मे रहेगे, चिड़ियाँ हमे जगायेगी और वे ही हमे थपकियाँ देकर सुला देगी—इस प्रकार के जो विचार काव्य के रूप मे प्रिय है वह इसी प्रकार के मतवाद का एक नमूना अथवा अभिव्यक्ति है।

इसी प्रकार के एक मतवाद मे वास्तविक जगत् को ही अस्वीकार कर—

माया बताकर--संतोष के परमसुख का प्रचार किया जाता है। इसी तरह की एक दूसरी विचारधारा यह है कि दुनिया में जो कुछ विषमता है, वह रहेगी, किसी न किसी रूप में लोग एक दूसरे के अधीन रहेंगे, 'चेरी छोडि न होइब रानी,' अतएव चलो हम इस टटा प्रधान दुनिया में उदासीन हो जायँ, हमें इससे क्या करना है। ये विचार देखने में तो दार्शनिक दायरे के मालूम होते हैं, किन्तु इनकी अन्तर्गत वस्तु के रगों के विश्लेषण में यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि ये विचार वर्गयुद्ध के हथियारों में हैं।

२३—प्रतिक्रियावादी विचारों के साथ लड़ाई ज़रूरी--इसलिए एक क्रान्तिकारी समाजशास्त्री इनकी ओर से न तो बेखबर ही रह सकता है, और न इसकी अवहेला ही कर सकता है। प्रगति के लिए लड़ाई एक तरफ जहाँ समाज के आर्थिक, राजनैतिक ढाँचों को बदलने के लिए है, दूसरी तरफ वह वर्तमान शासकवर्ग की विचारधारा को सिंहासनच्युत कर उसकी जगह पर नये युग की क्रान्तिकारी विचारधारा तथा दृष्टिकोण को अभिषिक्त करने के लिए है। अक्सर यह कहा जाता है कि जब कोई क्रान्ति होने को होती है, तो उसके अग्रदूत के रूप में नई विचारधारा आती है, वह विचारधारा नये युग पर अपना सिक्का धीरे धीरे जब बैठाकर जमीन तैयार कर लेती है, तभी सारी अव्यवस्था तथा अनियमितता को चीरकर क्रान्ति का पौ फटता है। इसके उदाहरणस्वरूप न मालूम क्या क्या कहा जाता है। उनमें से एक बात ली जाय। १७८९ की फ्रेंच राज्यक्रान्ति के पहले वाल्टेयर, रूसो, दिदरो इत्यादि आये थे। जब इनके विचार जनता में प्रचारित हो गये, तभी फ्रेंच राज्यक्रान्ति हुई। ऊपर से तो ऐसा ही मालूम होता है, किन्तु वस्तुस्थिति कुछ और ही है। १७८९ के बहुत पहले ही फ्रांस में उत्पादन-पद्धति सामन्तवादी से बदलकर पूँजीवादी हो चुकी थी यानी होती जा रही थी। वाल्टेयर, रूसो इत्यादि केवल उसी के फलस्वरूप तथा मानो उसी नई उत्पादन पद्धति या उत्पादकवर्ग का प्रतिनिधित्व करने के लिए उत्पन्न हुए थे। उनको जो अश्रुतपूर्व जनप्रियता प्राप्त हुई, उसका कारण यही था कि उन्होंने उस समय के उदीयमान किन्तु अभी तक पददलित-वर्ग के विचारों को एक सुन्दर स्वरूप में रख दिया। आर्थिक क्षेत्र में जो बातें स्वीकृत तथ्य के रूप में हो चुकी थीं, किन्तु फिर भी जो अभी सामन्तवादी अड़े

के छिलके के अन्दर पडी पडी कराह रही थी कि विस्फोट हो, वाल्टेयर आदि ने उन्ही की दुन्दुभि साहित्य और दर्शन के क्षेत्र मे वजा दी। इस प्रकार उन्होने पुरानी विचारधारा के साथ लोहा लेने का मोर्चा सँभाल लिया।

२४——आक्सफोर्ड गोष्ठी की प्रतिक्रियावादी विचारधारा——सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक लेवी ने सामाजिक विकास का वैज्ञानिक विवेचन करते हुए वर्तमान योरप पर उपरोक्त विचारो को लागू किया। वे लिखते है कि आक्सफोर्ड गोष्ठी ऐसे लोगो का समूह है जो वर्तमान सामाजिक शक्तियो को किसी सही तथा बुद्धिसगत रूप मे योजनात्मक तरीके से चलाने के विषय मे हार मान चुके है, और अब वे रहस्यवादी नियत्रण की प्रतीक्षा कर रहे है। समाज मे जो विषमता, गरीबी तथा दु ख है, उनसे मुँह मोडकर वे निष्क्रिय रूप से 'एक ऐसी शक्ति से जो वुद्धिमान् तो है, किन्तु जिसने हमे लाकर इस आफत मे पटक दिया है' पथ-प्रदर्शन चाहते है। ऐसे ही लोग 'नेता का अनुसरण करो' नारे को आसानी से ग्रहण कर लेते है। ऊपर हमने प्रतिक्रियावाद की जिन विचारधाराओ को गिनाया है, उनमे लेवीवर्णित आक्सफोर्ड गोष्ठी की विचारधारा भी आ जाती है, क्योकि यह एक तरफ तो अकर्मण्यता और दूसरी तरफ असहायता का प्रचार करती है। स्पष्ट रूप से आक्सफोर्ड गोष्ठी की विचारधारा ह्रासशील पूँजीवादी वर्ग की विचारधारा है। उच्च विचारो की आड मे यह एक तरफ तो पूँजीवादी वर्ग की आत्मप्रवचना का प्रतीक है, दूसरी तरफ यह शोषित वर्गो की विद्रोह भावना को वाक्यो के मेघजाल मे आवृत कर देना चाहती है।

२५——क्रान्तिकारी विचार निष्पक्ष नही——इसलिए जिस समय समाज मे परिवर्तन की आवश्यकता वहुत जोर से अनुभूत हो रही हो, उस समय विचारधारा के नेताओ अर्थात् लेखको, कवियो, कलाकारो, सम्पादको आदि के कर्त्तव्य स्पष्ट है। उन्ही पर इस बात का भार है कि वे सही तौर पर भूतकाल को पढे, भविष्य के सम्वन्ध मे परिष्कृत दृष्टिकोण पोषण करे, और तदनुसार वर्तमान मे अपनी वाणी सुनावे (अपनी से मतलव व्यक्तिविशेष की नही है——वह तो वहुत ही गलत होगी) वल्कि अपने विशेप मुकुर मे प्रतिफलित प्रगतिशीलधारा की वाणी सुनावे। जैसे क्रान्तिकारी का यह कार्य नही है कि वह केवल दुनिया की व्याख्या करता फिरे, उसी प्रकार प्रगतिशील, कला, विज्ञान, साहित्य, सगीत सभी

का कर्त्तव्य इतना ही नही है कि वह समाज की व्याख्या करे, बल्कि उसको परिवर्तित करने मे हाथ भी बटावे। ऐसी हालत मे विचार विचार के लिए वाला विचारविलास हमारे लिए उपयोगी नही हो सकता। कला कला के लिए इत्यादि नारे भी इसी कसौटी पर कसने पर गलत साबित होगे। जीवन के कुरूप तथ्यो से मुँह फेरकर कल्पना-राज्य मे रगीन बादलो के पृष्ठ पर विचरण करना क्रान्तिकारी कला अथवा साहित्य का उद्देश्य नही हो सकता। जीवन मे सौन्दर्य के साथ साथ कुरूपता की स्वीकृति क्रान्तिकारी कला मे अनिवार्य है। केवल शेषोक्त स्वीकृति से ही काम नही चलेगा, क्रान्तिकारी कला और साहित्य मे इस कुरूपता के विरुद्ध लड़ने की, उससे लोहा लेने की तथा उसको परिवर्तित करने की अनुप्रेरणा आवश्यक है। इन बातो के बगैर न तो कोई क्रान्तिकारी कला ही हो सकती है, और न क्रान्तिकारी विचारधारा ही। जीवन के अँधेरे पहलू से इन्कार करना, या जबर्दस्ती उसे अस्वीकार करना क्रान्तिकारी विचारधारा या कला का कार्य नही है।

२६—शुद्ध गणित के सिद्धान्तो के पीछे भी सामाजिक परिस्थितियाँ—कदाचित् हम अपने विषय से कुछ दूर चले गये, किन्तु यह बात स्पष्ट ही हो गई कि नीव के साथ ऊपरी ढाँचे का सम्बन्ध क्या है, तथा ऊपरी ढाँचा किस प्रकार तरह तरह का रूप ले सकता है। विचारधाराएँ, यहाँ तक कि अत्यत वैज्ञानिक सूक्ष्म विचारधाराएँ, कैसे आर्थिक, सामाजिक कारणो से उत्पन्न होती है, इसका एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण उदाहरण विशुद्ध विज्ञान के क्षेत्र से लेवी ने दिया है। कहा जाता है कि गणित एक बहुत सूक्ष्म विज्ञान है, और उसमे चूँकि केवल प्रतीको से सम्बन्ध रहता है, इसलिए गणितज्ञ पर किसी प्रकार का बाहरी प्रभाव नही पडता। वह तो एक निस्पृह तपस्वी है, जिसे देशकाल से कोई सम्बन्ध नही। यह बात कहाँ तक सही है, यह देखा जाय। इसी गणित विज्ञान का एक सिद्धान्त है, जिसे सम्भावना का सिद्धान्त कहते है। सक्षेप मे यह सिद्धान्त इस सम्बन्ध का एक औसत सिद्धान्त है कि क्या होने जा रहा है, और क्या होगा। इसलिए यह कहा जाता है कि यह सिद्धान्त तर्कशास्त्र का एक अग है, और कैसे क्या होगा, इसका एक दृष्टिगत सिद्धान्त है। लेवी ने दिखलाया है कि नुकसान के लिए बीमा एक स्वीकृत तरीका था। 'ईसा के पूर्व पाँचवी सदी मे एथेन्स मे बैक थे, और ख़ास

खास व्यवहार मे सूद की दर बँधी हुई थी। बीमा का जो पहला उदाहरण इतिहास मे पाया जाता है, वह ३२४ ई० पू० का है। एक ग्रीक एन्टीमिनिम ने गुलाम के मालिको से गुलामो के भाग जाने से होनेवाले नुकसान का बीमा कराया इसके लिए उसने हरसाल उन गुलामो के बाजार-दर की आठ फी सदी का 'प्रिमियम' रक्खा। ग्रीको मे इसी प्रकार समुद्र यात्रा-सम्बन्धी बीमा का उद्भव हुआ। इसके अनुसार जब कोई जहाज माल लेकर रवाना होता, तो उसका मालिक बैंकवाले को एक रकम दे देता था। यदि वह जहाज सही सलामत अपने यात्रा-स्थल को पहुँच जाता था, तो माल के मालिक को वह रकम सूद के साथ लौटानी पडती थी, और यदि वह जहाज डूब जाता था, तो वह रकम माल के मालिक की हो जाती थी। रोमनयुग मे कलेजियम या गिल्ड मे जीवन बीमा की नियमित पद्धति थी, जिसमे यदि गिल्ड का कोई सदस्य मर जाता था, तो उसके परिवारवाले को गिल्ड की ओर से एक निश्चित रकम दी जाती थी। औसत शब्द के अर्थ मे जो अँगरेजी मे Average शब्द है, उसकी उत्पत्ति लैटिन शब्द Averagium से हुई है। इस शब्द का अर्थ भी बडा अजीब है। यदि किसी जहाज की यात्रा के समय तूफान आता था, तो जहाज को हल्का कर देने के लिए जिस अनुपात मे उस पर लदे हुए प्रत्येक सौदागर के माल को समुद्र मे डाल दिया जाता था, उसको Averagium कहा जाता था।' यह पता नही कि किस प्रकार इन अनुपातो का पता उस युग मे लगाया जाता था, किन्तु इससे स्पष्ट है कि जिसको हम सम्भावना का इतिहास कहते हैं, और जिसने पदार्थ-विज्ञान मे बहुत गूढरूप धारण किया है, उसकी उत्पत्ति बिलकुल मामूली भौतिक जरूरत से हुई थी। लेवी ने इस पर एक लम्बा-चौडा इतिहास दिया है। हमे इतिहास के ब्यौरे मे जाने की जरूरत नही है। सारी बात का सार यह है कि जब सम्भावना के सिद्धान्त की तरह एक बिलकुल सूक्ष्म सिद्धान्त की जड भौतिक कारण मे है, तब दूसरी विचारधाराओ की बात क्या है। लेवी ने इसको भी स्पष्ट कर दिया है कि जिन भौतिक आवश्यकताओ मे होकर युगो के दौरान मे सम्भावना के सिद्धान्त का विकास हुआ है, उनको यदि कोई व्यक्ति स्वीकार करने से इन्कार करे और इस सिद्धान्त को केवल गणित के तर्को के एक सिलसिलेवार विकास के रूप मे देखे, तो भी उसे यह सिलसिला

बिलकुल सही और कार्य-कारण-रूप से सम्बद्ध ज्ञात होगा। उस हालत मे भौतिक, आर्थिक, सामाजिक कारणो की जरूरत न होगी।

२७—केवल पूर्ववर्ती विचारो से विकास स्पष्ट नही होता—इसी प्रकार हम प्रत्येक विचारधारा को उसकी पूर्ववर्ती विचारधाराओ से सयुक्त सिलसिलेवार रूप मे देख सकते है, और उसमे हमे किसी कडी की कमी नही ज्ञात होगी। उदाहरणार्थ मार्क्स के ही विचारो को लिया जाय। यदि हम कैन्ट से गिने (कोई चाहे तो इस गिनती को अफलातून के पहले से शुरू कर सकता है), तो उसका रूप यो होगा—काट—शेलिंग, फिख्ते—हेगेल—फायरबाख—मार्क्स। इसी रूप मे यदि विचार किया जाय तो मार्क्स के आर्थिक विचारो को भी इसी प्रकार देख सकते है। इस प्रकार हम चाहे तो मार्क्स की विचारधारा को उदीयमान सर्वहारावर्ग से अलग करके केवल विचार जगत् मे ही सिलसिले के रूप मे समझ सकते है। ऐसा करने मे हमे कही किसी कडी की कमी ज्ञात न होगी, किन्तु प्रश्न तो यह है कि एक विचार के विकास के बाद उसका आगे विकास कई तरह से हो सकता है, किन्तु ऐसा न होकर एक खास तरीके का विकास क्यो हुआ, इसको हम देखना चाहे तो हमे आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियो के प्रभाव को मानना पडेगा। कम से कम वे विचार जो अपने युग मे सर्वमान्य हुए, उनकी तह मे तो हमे स्पष्ट रूप से आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियाँ ज्ञात होगी। प्रत्येक क्षेत्र मे अभी यह सम्भव नही है कि हम यह बता सके कि अमुक विचार का सम्बन्ध अमुक वर्ग अथवा उपवर्ग के स्वार्थ से है। इसका कारण ज्ञान की कमी है, न कि और कुछ। ज्यो ज्यो हम एक विषय मे अधिक जावेगे त्यो त्यो हमारे लिए अधिकाधिक सम्भव होगा कि हम उस युग के विचारो को अच्छी तरह समझ सके, और उनका मिलान समाज से कर सके।

दर्शन की पृष्ठभूमि और भौतिकवाद

१--**दर्शन से समाज का सबध**--दर्शनशास्त्र भी एक प्रकार की विचार-धारामात्र है, इसलिए जो बाते आमतौर से विचारधारा के सम्बन्ध मे कही जा सकती है, उन्ही को दर्शनशास्त्र के सम्बन्ध मे भी कहा जा सकता है। विचारधारा सामाजिक परिस्थितियो मे उत्पन्न होती है, यही बात दर्शन पर भी लागू है। फिर कोई भी दर्शनशास्त्र तब तक जीवित दर्शनशास्त्र नही हो सकता जब तक उसके पीछे जीवित सामाजिक, आर्थिक शक्तियाँ अर्थात् समाज का कोई न कोई वर्ग प्रत्यक्ष या परोक्षरूप मे हो। यह समझना महज भूल है कि दर्शनशास्त्र उडानो के समूहमात्र से बन सकता है। बनने को एक मानी मे बन सकता है, किन्तु वह तब तक कोई जीवित दर्शनशास्त्र नही हो सकता जब तक उसका सम्बन्ध किसी न किसी गिरोह, गुट या वर्ग से न हो। विभिन्न वर्गो का दर्शनशास्त्र विभिन्न होता है। दिदरो ने हाब्स पर, विश्व-कोष मे लिखते हुए, यह जो कहा था कि 'विभिन्न युगो मे विभिन्न सम्बन्ध और विभिन्न दार्शनिक होते है,' यह प्रत्येक दर्शन और दार्शनिक पर लागू है। १८९० की २७ अक्टूबर को एक मित्र सी० स्मिट को लिखते हुए एगेल्स ने ठीक ही लिखा था कि 'दर्शनशास्त्र अविच्छेद रूप से राजनीति से सम्बद्ध है।'

२--**हाब्स से कांट तक सरसरी दृष्टि**--इसी पत्र मे एगेल्स ने हाब्स के विषय मे यह दिखलाया था कि उनका दर्शनशास्त्र उनकी राजनीति से बँधा हुआ था। उस युग मे सारे योरप मे निरकुश राजतत्र का बहुत जोर था, इसलिए हाब्स ने अपने दर्शनशास्त्र मे निरकुश सत्ता की प्रधानता का प्रतिपादन किया। इसी प्रकार लाक के दार्शनिक विचार अपने युग से बँधे हुए थे। वे १६८८ के वर्ग-समझौते के युग के व्यक्ति थे, इसलिए उन्होने निरकुश राज्यसत्ता के समर्थन के बजाय वैधानिक राज्यतत्र का समर्थन का समर्थन किया। इसी तरह फ्रेंच भौतिक-वादीगण उदीयमान पूँजीवादीवर्ग के दार्शनिक थे। यह बहुत मजेदार ऐतिहासिक तथ्य है कि जिस समय पूँजीवाद रगमच पर आया तो वह भौतिकवादी बाना

पहनकर आया। बात यह है कि उस समय तक धर्म सम्पूर्णरूप से सामन्तवादियो के हाथो का कठपुतला था। सच तो यह है कि गिर्जो के पास बहुत बडी बडी भूसम्पत्तिया हो गई थी, और उनका हित इसी मे था कि सामन्तवादी सम्बन्ध कायम रहे। पूँजीवादीवर्ग का हित इस सामन्तवादी साम्पत्तिक बल्कि श्रम-सम्बन्धो को तोडकर नये पूँजीवादी श्रम सम्बन्ध को कायम करने मे था। भला उस समय का धर्म इसे कैसे स्वीकार करता, इसलिए पूँजीवादीवर्ग ने धर्म-विरोधी भौतिकवाद को अपनाया। वाल्टेयर के हाथो मे धर्म बिल्कुल खतम नही हुआ। उन्होने कहा था कि यदि सचमुच ईश्वर न भी हो तो भी हम उसकी कल्पना कर ले, किन्तु फिर भी उन्होने जिस मानी मे ईश्वर को स्वीकार किया, उसमे सामन्तवादी गिर्जो तथा पुरोहितो के लिए कोई जगह नही रह जाती थी। जब राजनैतिक क्षेत्र मे पूँजीवादीवर्ग की विजय हुई, और पुराने धर्म ने किसी न किसी रूप मे अपने इस नये प्रभु को स्वीकार कर लिया, उस समय के सबसे बडे दार्शनिक काट हुए। जिस समय पूँजीवादीवर्ग सामन्तवादीवर्ग के अधीन एक निर्यातित तथा शोषितवर्ग था, उस समय उसकी बातचीत दूसरी थी उस समय वह तो समाज का मुक्तिदाता बना हुआ था, और वाकई था, किन्तु ज्यो ही राजनैतिक क्षेत्र मे उसने सामन्तवादी शासन को उन्मूलित कर अपना वर्ग-शासन स्थापित किया ज्यो ही उसे भौतिकवाद की आवश्यकता नही रही। अब उसे अपने अधीन वर्गो के शोषण पर ईश्वर और धर्म के ठप्पे की आवश्यकता हुई, साथ ही वह व्यावहारिक जगत् मे भौतिकवाद को या विज्ञान को छोड नही सकता था। काट ने अपने दर्शन मे इन दो आवश्यकताओ की पूर्ति की, इसलिए काट अपने युग के सबसे बडे प्रतिभाशाली दार्शनिक माने गये, क्योंकि उन्होने अपनी अद्भुत प्रतिभा के द्वारा एक साथ इन दो आवश्यकताओ की पूर्ति कर दी।

३—गुन्थर भी धर्म और दर्शन के वर्गचरित्र में विश्वासी—जान गुन्थर ऐसे उच्छवृत्तिवादी लेखक भी कुछ नही तो अपनी वस्तु अनुयायी वर्णनशैली के कारण यह मानने के लिए बाध्य है कि दर्शन और धर्म का सम्बन्ध सीधे सीधे जेब से होता है। वे लिखते है 'अँगरेज छ दिन तो बैंक आफ इंगलैंड मे पूजा करता है, और सातवे दिन चर्च आफ इंगलैंड मे पूजा करता है। शासक वर्गो के पक्ष मे धर्म एक जबरदस्त शक्ति है। आधुनिक जातियो ने बिलकुल भिन्न रूप

से इँगलैंड का एक अलग ही जातीय गिर्जा या धर्म है। इंगलैंड का धर्म एक टापू धर्म है, जो उसी के काम आता है। इस गिर्जे के साथ संयुक्त होकर तथा इसकी शीतल छाया में देश का विशेष सदाचार चालू है।' धर्म और दर्शन की निष्पक्षता के सम्बन्ध में जो आमधारणा है, वह गुन्थर की स्वीकारोक्ति से सम्पूर्ण से खटाई में पड जाती है।

दर्शनशास्त्र की बात करते हुए अनिवार्यरूप से धार्मिक विचारो की समालोचना आ ही गई। क्योंकि दर्शन ने व्यावहारिक रूप में जीवन पर धर्म के नाम ही से प्रभाव जमाया है। फिर भी हम यह चेष्टा करेंगे कि इस लेख में केवल उन दर्शनो पर विचार करे जिनको धर्म की मर्यादा प्राप्त नहीं हुई, या जो केवल उसके पिछलगुए या विरोधी की श्रेणी में आते है।

४--मामूली अवसरो पर भी दर्शन का महत्त्व--दर्शन का प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। कर्तव्यशास्त्र की दृष्टि से इस बात को बहुत स्पष्ट तरीके से समझ लेना चाहिए कि दर्शन की अवहेला नहीं की जा सकती। यदि अवहेला की जायगी तो उसका नतीजा यही होगा कि जिस प्रकार का दर्शनशास्त्र अवाञ्छनीय है, उसी का बोलवाला रहेगा। इस प्रकार भौतिक क्षेत्र में नही, विचारो के क्षेत्र में शासकवर्ग की विचारधारा का ही बोलवाला रहेगा। उस हालत में शासकवर्ग की बेड़ी के रूप में अवाञ्छनीय दर्शन का प्रचार रहेगा। यह प्राय कहा जाता है कि साधारण व्यक्ति को दर्शन की कोई जरूरत नहीं, किन्तु जब यह बता दिया जाय कि दर्शन मानी घटत्वावच्छिन्न पटत्वावच्छिन्न का घोखना नही है, बल्कि Weltanschaining यानी जो जिस प्रकार से जीवन तथा विश्व को देखता है, वह उसका दर्शन है, तो समझ में आयेगा कि दर्शन कितना महत्त्वपूर्ण है। यह ठीक ही कहा गया है कि जिस समय कोई सम्भव किरायेदार मकान-मालिक के पास मकान या कमरा भाडे पर लेने के लिए जाता है, उस समय मकानमालिक सबसे पहले यह जानने की कोशिश करता है कि इस व्यक्ति का दर्शनशास्त्र क्या है। इसका मतलब यह नही है कि वह उसके साथ न्याय, दर्शन के तर्कों में पड जाता है, बल्कि वह इतना ही जान लेना चाहता है कि यह शख्स ढग से मकान का इस्तेमाल करेगा या नही, किराया ठीक समय पर देगा या नही, कही रात को उठकर भाग तो न जायगा। किरायेदार के इसी

दर्शन के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त करने के लिए मकान-मालिक उससे ऐसे प्रश्न पूछता है कि तुम बीबीवाले हो या नही, इत्यादि। यदि मकान-मालिक को किसी व्यक्ति के सम्बन्ध मे यह मालूम हो कि अमुक व्यक्ति ईमानदार है, किसी हालत मे भी धोखा नही देगा, तो वह यह देखकर भी कि यह व्यक्ति दो-चार महीने तक किराया न दे पावेगा, उसे बेखटके मकान किराये पर देगा, किन्तु किसी हालत मे वह ऐसे धनी को भी अपना किरायेदार बनाना स्वीकार न करेगा जिसके जीवन के दर्शन के सम्बन्ध मे वह यह जानता है कि इससे किराया वसूल करने के लिए मुकदमेबाजी की जरूरत पडेगी।

हम जब किसी अजनबी से मिलते है, और उससे कोई व्यवहार करने की बात होती है तो सबसे पहले उसे घूर कर देखते है, और इस प्रकार मानो उसके चेहरे से पढ डालने की चेष्टा करते हैं कि उसके जीवन का दर्शन क्या है। हम नित्य इस प्रक्रिया को सौ बार करते है, यहाँ तक कि अत्यन्त आजमाये हुए प्रियजनो पर भी इस प्रक्रिया को चालू कर यह जानने की चेष्टा करते है कि यह व्यक्ति जहाँ का तहाँ है न, कही कुछ बदल तो नही गया। इस प्रकार दिन-रात हमे जिस चीज की जरूरत पडती है, उसे हम केवल नैयायिको के तर्क का विषय समझे तो इससे बढकर अज्ञता कुछ नही हो सकती। मन शून्य नही रह सकता। यदि उसमे सही दृष्टिकोण को आने का मौका नही मिलेगा, तो स्वाभाविक रूप से उसमे गलत दृष्टिकोण का सिक्का बैठ जायगा। इस दृष्टि से देखने पर प्रत्येक आमूल परिवर्तन चाहनेवाले का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह और बातो के अतिरिक्त एक दार्शनिक योद्धा भी हो। यदि कोई व्यक्ति या दल आमूल परिवर्तन का नारा दे, साथ ही केवल अपने सग्राम को राजनैतिक क्षेत्र तक सीमित रखे, तो यह निश्चित है कि उसकी चेष्टा विडम्बना मे पर्यवसित होगी। एक क्रान्तिकारी को दर्शन के क्षेत्र मे प्रतिगामियो के दर्शनो से लोहा लेना पडेगा। यदि कोई व्यक्ति राष्ट्रीय या अन्य राजनैतिक सग्राम मे बहादुरी के साथ लडता है, किन्तु उसका दर्शनशास्त्र ठीक नही है, तो इसमे सन्देह नही कि कुछ दूर जाकर वह कही न कही गडबडी कर बैठेगा। यह गडबडी इस हद तक हो सकती है कि उसके सारे किये पर ही पानी फिर जाय।

५—प्रत्येक आन्दोलन के साथ एक दर्शन—इसी कारण इतिहास मे जितने

भी आन्दोलन हुए, वे चाहे क्रान्तिकारी आन्दोलन रहे हो या प्रतिगामी, उन्हे एक न एक दर्शनशास्त्र के साथ अपना गठबन्धन करना पडा। उन्हे दर्शनशास्त्र का साथ लेना पडा, यानी जीवन को देखने के सम्बन्ध मे एक विशेष दृष्टि-कोण का प्रचार नये आन्दोलन के द्वारा हुआ। जैसा समाज और वर्ग होगा वैसा ही दर्शन होगा। यह नही हो सकता कि व्यवहार तो पूरब को जाय, और दर्शन पश्चिम को। अवश्य ऐसी धाँधली कुछ देर तक चल सकती है, किन्तु अधिक देर नही। समाजवादी राष्ट्र मे सबका दृष्टिकोण कम से कम शासनारूढ सर्वहारा का दृष्टिकोण कुछ और ही होगा, और पूँजीवादी राष्ट्रो मे पूँजीवादियो का दृष्टिकोण और ही होगा। यह कोई आकस्मिक बात नही है कि इंगलैंड की मजदूर पार्टी भी साम्राज्यवाद विरोधी विचारो को समझ नही पाती। किन्तु एक भारतीय या अन्य पराधीन देश निवासी के लिए साम्राज्यवाद का खूँखार-पन अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है। एक ब्राह्मण कितने स्वाभाविक रूप मे यह समझता है कि वह बडा है, और अछूत जाति के लोग उससे छोटे हैं। ट्रेजडी इस बात मे नही है कि ब्राह्मण अपने को भूसुर समझे, ट्रेजडी तो इस बात मे है कि अछूत भी अपने को अछूत समझे। इसके लिए प्रत्येक प्रगतिवादी का यह स्पष्ट कर्त्तव्य हो जाता है कि वह शोषितो और शासितो को शोषको और शासको के दर्शन मे बचावे।

६—अलौकिक दर्शनशास्त्र का स्वरूप—आमतौर मे जिसे लोग दर्शनशास्त्र कहते है, वह Metaphysics या अलौकिक दर्शनशास्त्र है। इस दर्शन मे स्वीकृत किसी भी बात की प्रयोगात्मक रूप से तस्दीक होनी असम्भव है, फिर भी इसके प्रतिपादकगण इसे विज्ञान बल्कि अतिविज्ञान की पदवी देना चाहते है। इनकी कही हुई बातो को दर्शन न कहकर यदि दावा कहा जाय तो अधिक उचित होगा। फायरबाख ने इन्ही सब बातो को समझकर इस प्रकार के दर्शनशास्त्र की तुलना एक ऐसे भूखे जानवर से की है, 'जो चारो तरफ हरियाली से घिरे होने पर भी भूताविष्ट सा ऊसर मे चक्कर काट रहा है।' सच तो यह है कि इस प्रकार के दर्शन दर्शन ही नही है, इनको अधिक से अधिक उडान ही कहा जा सकता है। अवश्य यह कहना गलत होगा कि इन उडानो का भौतिक परिस्थितियो से कोई सम्बन्ध नही है। इसके विपरीत भौतिक परिस्थितियो से इन दर्शनो

का बहुत बडा सम्बन्ध है, यही कारण है कि वे सामयिक तौर पर ही सही एक गुट, गिरोह या वर्ग को अपने साथ कर ले सकते है, और इस प्रकार शक्तिशाली हो जाते है। हाब्स, लाक आदि के जीवन-सम्बन्धी दर्शन की जो सक्षिप्त आलोचना हमने की है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शनशास्त्र जीवनसग्राम बल्कि वर्गसग्राम मे एक सग्राम का काम देना है।

७—शासकवर्ग द्वारा सही दर्शन का विरोध—ग्रीस का उदारहण—मेहनत करनेवाले वर्ग को अपने सग्राम के लिए जिस दर्शनशास्त्र की आवश्यकता है, उसमे अवास्तविक उडान की कोई गुजाइश नही है। हम जीवन के सही दृष्टिकोण मे देखना चाहते है। ऐसा हम तभी कर सकते है जब वास्तविकता को लेकर चले, किन्तु अलौकिक दर्शनशास्त्रो की दृष्टि वास्तविक जगत् मे निबद्ध न रहकर न मालूम कहाँ कहाँ किस किस रहस्यमय लोक की खाक छानती फिरती है। जब भी दार्शनिको ने उडान छोडकर वास्तविक जगत् मे उतरने की चेष्टा की, तब तब शासकवर्ग की तरफ से नियुक्त या स्वय नियुक्त उनके पिठ्ठुओ ने इसकी हँसी उडाई। दर्शन दुरूहता का एक दूसरा नाम बराबर रहा है, और जहाँ किसी दार्शनिक ने इस 'आदर्श' से अपने को च्युत किया, बस उस पर अपने सहकर्मियो का वज्र टूट पडा। ज्यो ही दर्शन ने यह चेष्टा की कि जीवन की कुरूप वास्तविकताओ पर मुलम्मा न चढाकर उनको स्वीकार किया जाय तथा उनका प्रतिकार किया जाय, त्यो ही समाज के शासको का लौह हस्त उसके विरुद्ध उठा, उसका गला घोट दिया गया, ऐसे दर्शनशास्त्र की पोथियाँ जला दी गई। सुकरात को जहर का प्याला पिलाया गया था, बेचारे अरस्तू को एथेन्स से भागकर अपेक्षाकृत कम सभ्य मेसीडोनियनो की शरण लेनी पडी थी, प्रोटागोरस (ई० पू० चतुर्थ शताब्दी) को भागना पडा था, और उनकी सब पुस्तके जला दी गई थी। एनेक्सागोरस गिरफ्तार कर लिये गये थे, किन्तु मित्रो ने भगा कर उनकी जान बचा दी। एपोलोनिया के डायोजिनिस पर मुकदमा चलाया गया। थेल्स, डिमोक्रीटस आदि पर न मालूम क्या क्या लाछन लगाये गये। यह तो प्राचीन ग्रीस की बाते हुई। मध्ययुग के यूरोप मे सैकडो व्यक्ति अपने मत के लिए जिन्दा जला दिये गये, इसके अतिरिक्त बहुत से लोगों का अन्य तरीको से निर्यातन हुआ। ऐसे निर्यातित लोगो मे गैलिलियो (१५६४—१६४२) जिन्होने

कहा था कि पृथ्वी सूर्य के चारो ओर घूमती है न कि सूर्य पृथ्वी का परिभ्रमण करता है, तथा जियोरडानो ब्रूनो का नाम विशेष उल्लेख योग्य है।

७--भारतवर्ष में विरोधी दर्शनो का दमन--ऐसा समझना गलत होगा कि भारतवर्ष मे इस प्रकार का निर्यातन नही हुआ। हम यहाँ पर शशाक और खारवेल का उल्लेख नही करेंगे, ये तो बहुत मामूली बाते है, किन्तु द्रष्टव्य यह है कि भारतवर्ष मे शासकवर्ग के विरोधियो की पुस्तके तक दबा दी गई। तथा उनका कुछ पता नही लगता। चारवाक, बृहस्पति आदि विद्वानो के अनीश्वरवादी विचार, जो अनिवार्यरूप से उच्च वर्ण के विशेष कर ब्राह्मणो के विरुद्ध जाते थे, आज हमे केवल उनके विरोधियो की पुस्तको से ज्ञात हो सकते है, और सो भी जहाँ तक मालूम हुआ है बहुत ही विकृत रूप मे। कर्मकाड प्रधान प्राचीन वैदिक दर्शनशास्त्र के विरुद्ध विद्रोह के रूप मे एक के बाद एक साख्य, वैशेषिक तथा वैदिक दर्शन का उद्‌भव हुआ। ये सभी भौतिकवाद की ओर झुके हुए थे। जैसे पूँजीवादीवर्ग ने भौतिकवाद का नारा देकर विश्व रगमच मे प्रवेश किया था उसी प्रकार ये सब विद्रोही दर्शन कमोबेश भौतिकवाद की ओर झुके हुए थे। ये विद्रोह, विशेषकर ऐसा ज्ञात है कि साख्य और वैशेषिक के विद्रोह, केवल शासकवर्ग के अन्दर के कुछ व्यक्तियो के असन्तोष का परिणाम था, इसलिए ये विद्रोह कुछ अधिक जोर न पकड पाये, और मजे की बात यह है कि साख्य ऐसा मौलिक रूप से निरीश्वरवादी मतवाद, जिसके शुद्धरूप का कुछ परिचय हमे ईश्वर कृष्ण की रचना से मिलता है, ईश्वरवादी दर्शन के रूप मे हो गया। हम इसके ब्यौरे मे नही जायँगे, केवल साख्य और वैशेषिक ही नही, हिन्दुओ मे मान्य कथित षड्‌दर्शन मे से प्रत्येक दर्शन पहले भौतिकवादी था, किन्तु कट्टर ब्राह्मणवाद की प्रतिक्रिया की विजय के कारण ये सभी मतवाद ईश्वरवाद के अग के रूप मे हो गये। इस प्रकार नाम को तो साख्य आदि दर्शन कायम रहे, किन्तु असल बात यह है कि एक सूक्ष्मतर तरीके से इन दर्शनो का गला घोट दिया गया। रहा बौद्धदर्शन, उसकी कथा कुछ दूसरी तरह की है। इतिहास के सभी घनिष्ठ विद्यार्थियो को ज्ञात है कि बौद्धो को तथा बुद्धि को उदीयमान सौदागरवर्ग से सहायता मिली। यही कारण है कि साख्य आदि की तरह बौद्ध धर्म एक बबूले की तरह प्रकट होकर ही विलीन नही हो गया, बल्कि उसने

बहुत जोर पकड़ा। यदि यह सौदागरवर्ग विजयी हो पाता तो बौद्धधर्म की विजय होती, अवश्य सौदागरवर्ग विजयी होने के बाद बौद्धधर्म को बदल न देता यानी उसे उसके विद्रोही रूप से वंचित न कर देता, ऐसा हम नहीं कह सकते जैसा कि पूँजीवाद ने सामन्तवाद पर विजय प्राप्त करने के बाद किया। जो भी हो, तथ्य यह है कि यही बौद्ध धर्म जो एक विद्रोही के रूप मे आया था, धीरे धीरे सम्पूर्णरूप से ब्राह्मण धर्म की तरह हो गया। उसमे वे सब बात आ गई जो ब्राह्मण धर्म मे मौजूद थी। सच तो यह है कि जिस समय भारतवर्ष से बौद्ध धर्म का लोप हुआ, उस समय बौद्ध और अबौद्ध आर्य धर्म के अन्तर्गत वस्तु और साथ ही आचार आदि की दृष्टि से अभिन्न हो चुके थे। इस प्रकार बौद्ध धर्म भी एक विद्रोही धर्म से वल्कि एक विद्रोही मतवाद से बिलकुल प्रतिक्रिया-वादी मतवाद मे परिणत हो गया। अवश्य इस बीच मे पहले का जो ब्राह्मण धर्म था वह भी बहुत कुछ बदल चुका था। यह तो स्वाभाविक है, किन्तु इस क्षेत्र मे हम केवल इस ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते है कि यहाँ के शासकवर्गो ने एक-आध व्यक्ति को मारने की बात तो दूर रही पूरे मतवाद को ही लुप्त कर दिया, या उसे इस प्रकार ग्रस लिया कि उसकी हालत और भी खराब हो गई, क्योकि वह शासकवर्ग के हाथो का ही एक हथियार हो गया। इससे बढकर शासकवर्ग द्वारा शासितो की विचारधारा के निर्यातन का और क्या उदाहरण हो सकता है?

८—**ग्रीक दर्शनो के पीछे कोई न कोई वर्ग**—यह बहुत ही दिलचस्प है कि प्राचीन ग्रीस में जो नये और महत्पूर्ण विचार उठे थे, उनके पीछे भी वहाँ का सौदागरवर्ग था। प्राचीन ग्रीस मे एशियाईकोचक और योरप के बीच जो आयोनिक शहर पडते थे, उन्ही मे विशेपकर दर्शनशास्त्र का उद्भव हुआ। ई० पू० षष्ठ तथा पंचम शताब्दी मे ये शहर व्यापार, शिल्प तथा गुलाम व्यव-साय के केन्द्र थे। योरोपीय विज्ञान, ज्योतिष, रेखागणित, चिकित्साशास्त्र तथा अंकगणित का यही से प्रारम्भ होता है। ये दार्शनिक योरोपीय विज्ञान, दर्शन के भी जनक है, और साथ ही भौतिकवाद के भी। इसके सम्बन्ध मे कुछ ब्यौरा यो है। थेल्स (जन्म ६३९ ई० पू० एशियाई कोचक के ग्रीक उपनिवेश मिलेटस मे) ने विश्व की उत्पत्ति जल मे एनाक्सीमीनिस (छठी शताब्दी ई० पू०, जन्म

मिलटस) ने वायु से, एनेक्सीमेन्डर (करीब ६१० ई० पू०) ने अनन्त सूर्य ने, हेराक्लिटस (करीब ५०३ ई० पू०) ने अग्नि से, एमपेडोक्लिस (पचम शताब्दी ई०) ने मृत्तिका, जल, वायु, अग्नि से मानी है। इन व्यापारी शहरो मे विदेशो से पण्य और गुलामो के साथ साथ ज्ञान और विज्ञान भी आता था। ये दार्शनिक अपने समय मे किस प्रकार बँधे हुए थे, इसका भी यहाँ कुछ विवरण दे दिया जाय।

९—**भूसम्पत्तिवाले वर्ग का दार्शनिक हेराक्लिटस**—एफिसस के हेराक्लिटस को लिया जाय। यहाँ पर यह पता देना आवश्यक है कि एफिसस उस युग म होनेवाले युद्धो, गृह-युद्धो आदि के जरिये गुजर चुका था, तथा इस प्रकार के अन्य शहरो की तरह राज्यशक्ति मुख्यत व्यापारियो के हाथ मे आ चुकी थी, कृषि अर्थात् जमीदारी पर निर्भर बडे लोग दोयम दर्जे के हो चुके थे। हेराक्लिटस स्वय पुराने बडे लोगो के खानदान के थे, इसलिए जगत् की उत्पत्ति अग्नि से मानने पर भी वे प्रजातत्र को अच्छी जनता का राज्य बताकर उसकी निन्दा करते थे। उन्होने इसी के समर्थन मे यह भी मत पेश किया कि हमारी आँखो मे एक आँख अन्य दस हजार आँखो के बनिस्बत सही हो सकती है, यदि वह सही हो और बाकी गलत। हेराक्लिटस की सारी दार्शनिकता का रुख़ जनता के विरुद्ध इसलिए था कि जनता व्यापारीवर्ग के साथ थी, और व्यापारीवर्ग तथा पुराने घरानो के बीच मे होनेवाली लडाई मे जनता व्यापारीवर्ग का साथ इसलिए देती थी कि इसमे उसका फायदा था। यह फायदा आर्थिक तो था ही किन्तु इसके अतिरिक्त यह नया वर्ग जनता की मुक्ति का नारा देकर आगे आया था, और कुछ हद तक उसने जनता को मुक्ति दी भी थी। हेराक्लिटस ने समुद्र की भी निन्दा की थी, और कहा था कि मछलियो के लिए समुद्र भले ही अच्छा हो, किन्तु मनुष्य के लिए इसका प्रभाव विनाशकारी है। यह अनुसन्धानयोग्य है कि भारतीय हिन्दुओ मे जो एक मतवाद बराबर समुद्र-यात्रा को बुरा समझता था, उसके पीछे वर्गयुद्ध का कोई प्रस्तरीभूत रूप नही है। जो भी हो, हेराक्लिटस के मतवाद मे हम बहुत स्पष्टरूप से सामाजिक विचारो की छाप देख सकते है। वे सौदागरो के राज्य से इतने नाराज थे कि उन्होने कहा था कि ऐसा दिन आयेगा, जब वर्तमान अन्यायपूर्ण पद्धति टिक न सकेगी, और अग्नि

सब पर अपना फैसला दे देगी। अग्नि को किसी प्रकार से इस मतवाद में स्वर्ण के साथ भी जोडा गया है। हेराक्लिटस ने यह भी प्रचार किया कि जगत् परिवर्तनशील है। ऐसा कहने मे उनका मतलब यह था कि सौदागरवर्ग की यह चादी हमेशा न रहेगी।

१०--अन्य ग्रीक रोमन दार्शनिक भी वर्ग दार्शनिक--इस मत के विपरीत व्यापारीवर्ग के दार्शनिक एनक्सागोरस ने यह प्रचार किया कि उन्नति समाज को एकदम बदलकर नही बल्कि क्रमिक रूप से बदलकर होती है। इस मतवाद का अमली वक्तव्य क्या था, इसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता नही है। ग्रीक बडे दार्शनिको मे से अफलातून गुलाम प्रथा के समर्थक थे, यह मत भी उस समाज का प्रतिफल है जिसमे वे रहते थे। दार्शनिक शिरोमणि अरस्तू ने भी गुलामी प्रथा को समाज-व्यवस्था के लिए अनिवार्य बताया था। ग्रीक दार्शनिको को छोडकर हम जब रोमन दार्शनिको की ओर आते है, तो देखते है कि सेनेका ने क्षीयमाण अभिजातवर्ग की विचारधारा का प्रचार करते हुए, यह कहा था कि मृत्यु से मनुष्य जो बचना चाहता है, इसके लिए कोई कारण नही है, क्योकि हमने सब तरह के सुखो का उपभोग कर लिया, सब रग देख लिये, सब मजे उडा लिये, सब ऐश्वर्य भोग लिये। बुखारिन ने इस पर उचित रूप से टीका करते हुए, यह लिखा है कि 'यह निरवच्छिन्न व्यक्तिवाद का दर्शन है, ऐसे व्यक्तियो का दर्शन है जो किसी सामाजिक बन्धन को नही मानते, यह निराशावाद का, मृत्य की पैरवी का, सभी सामाजिक सस्थाओ की व्यर्थ समालोचना का तथा ऐसी सूक्ष्म बुद्धि का जो सब तरह के कामो से भागती है, दर्शन है। क्या यह एक ऐसे परोपजीवी क्षीयमाण, अति सन्तुष्ट वर्ग की चित्तवृत्ति को प्रतिफलित नही करता जिसको अब जीवन मे कोई दिलचस्पी रह ही नही गई? यह मनोवृत्ति उस युग की सामाजिक, आर्थिक अवस्थाओ का परिणाम है।'

११--टामस एक्वीनस का दर्शन और सामन्तवादी भक्तिवाद--मध्ययुग के दार्शनिको मे टामस एक्वीनस (१२२५-७४) की समालोचना करते हुए भी बुखारिन इस नतीजे पर पहुँचते है कि उनके दर्शनशास्त्र मे सामन्तवादी समाज का प्रतिफलन है। 'विश्व दो भागो मे विभक्त है, एक रोजमर्रा का दृश्यमान जगत्, और दूसरा इसमे रहनेवाले स्वरूप। सबसे उच्च तथा विशुद्ध स्वरूप

ईश्वर है। ईश्वर के अतिरिक्त कुछ खास और विशिष्ट स्वरूप भी हैं। ये स्वरूप मर्यादा और पद के अनुसार सज्जित है, जैसे फरिश्ते, मनुष्यो की आत्माएँ इत्यादि।'[१] सामन्तवादी युग के दर्शन की विशेषता यह है कि ईश्वर की कल्पना गुलाम अथवा अर्द्धगुलाम के रूप मे की जाती है, भक्त ईश्वर का दासानुदास है, उसकी अपनी कोई इच्छा नही है। वह जैसा नियुक्त होता है, वैसा करता है। इस युग के दर्शन मे ईश्वर की इच्छा मे अपनी इच्छा का निमज्जन सबसे उच्च अवस्था है। भक्ति मार्ग ही इस युग का प्रधान मार्ग है। मुस्लिम तथा हिन्दू दशन का एक बहुत बडा हिस्सा इसी प्रकार के भक्तिमार्ग मे आ जाता है। सामन्तवादी भक्तिवाद की एक विशेषता यह भी है कि इसमे परलोक, वैकुण्ठ या वहिश्त मे उसी प्रकार की सीढी-दर-सीढी, दर्जा-ब-दर्जा से स्थित (hierarchical) देवमण्डली की कल्पना की जाती है। परलोक की कल्पना इहलोक से सम्बन्धित होती है, तभी ऐसी कल्पनाएँ थी। अत्यन्त आधुनिक युग मे अध्यात्मवादीगण ईश्वर के सम्बन्ध मे जो कल्पना रखते है उसमे भी दासता का पुट है, किन्तु इसकी दासता उस प्रकार की है जिस प्रकार से एक आदर्श मजदूर से यह उम्मीद की जाती है कि वह उदाहरणार्थ अमेरिका के राष्ट्रपति के हुक्मो को मानेगा। अस्तु।

१२—धर्म से मुक्तदर्शन का सूत्रपात—जर्मनी में दर्शन की उन्नति क्यो?—टामस एक्वीनस का दर्शन सम्पूर्णरूप से धर्म पर अवलम्बित है, किन्तु डेकार्ट और स्पीनोजा दर्शन मे ईसाई धर्म के विचारो को छोडकर स्वतत्र रूप धारण करता है। फिर तो इसी प्रवृत्ति की धूम हो जाती है। १७८९ की महान् फ्रेच राज्यक्रान्ति के पहले विश्वकोष गोष्ठी के लेखको ने जीवन के सम्बन्ध मे जिस प्रकार के दर्शनशास्त्र का प्रचार किया, वह ईसाई कट्टरता से मुक्त था। सच तो यह है कि इस समय से पश्चिमी योरप मे प्रथम बार दर्शन की सृष्टि हुई। जर्मनी मे दार्शनिको की एक बाढ सी आ गई। किन्तु यह जो बाढ आई वह कोई आकस्मिक घटना नही है। ट्राटस्की ने बहुत सुन्दर रूप से यह दिखलाया है कि खासकर जर्मनी मे इस प्रकार के दर्शनो का उद्भव किस कारण हुआ, अँगरेज और फ्रेच पूँजीवादीवर्ग जर्मन पूँजीवादी-

१ H M p 182—86

वर्ग के बनिस्बत दौड मे आगे रहे। जर्मन पूँजीवादीगण बाद को क्षेत्र मे आये, इसलिए एकाएक फ्रेंच और अँगरेज पूँजीवादियो का मुकाबिला करना उनके लिए सम्भव नही हुआ, इसलिए उन्हे बहुत दिनो तक दर्शनशास्त्र का मॉड पीकर जीवन धारण करना पडा। जर्मनो ने अटकलो की दुनिया का आविष्कार किया। यह दुनिया अँगरेजो और फ्रेंचो के लिए नही थी। अँगरेज और फ्रेंच जिस समय एक नवीन जगत् का निर्माण कर रहे थे, उस समय जर्मनगण कल्पना राज्य मे एक नवीन जगत् की सृष्टि कर रहे थे। जर्मन पूँजीवादीवर्ग राजनैतिक क्रियाशीलता की दृष्टि से कही का नही था, किन्तु इसने क्लासिकल दर्शनशास्त्र की सृष्टि की और यह कोई तुच्छ सफलता नही थी।[1]

१३—कान्ट पर और विचार—कान्ट के सम्बन्ध मे हम बता चुके है कि उन्होने जिस दर्शनशास्त्र का प्रतिपादन किया, उसमे साथ ही साथ भाववाद और वस्तुवाद या भौतिकवाद को अलग अलग क्षेत्र के लिए सत्य बताकर उन दोनो मे एक समझौता सा करा दिया, और इसी मे उनका महत्त्व है। कान्ट ने भौतिकवाद और भाववाद मे समझौता कराने की जो चेष्टा की, वह बहुत ही अजीब तरीके से कार्यान्वित हुई। वह तरीका यो था कि व्यावहारिक क्षेत्र मे बिलकुल प्रयोगात्मक विज्ञान की सत्यता को मानकर भौतिकवाद माना गया, और धर्म तथा अन्य क्षेत्रो मे भाववाद को अपनाया गया। यह द्रष्टव्य है कि पूँजीवादी सभ्यता की यह विशेषता है कि वह व्यावहारिक क्षेत्र मे अपनी बारूद ठीक रखता है, किन्तु काल्पनिक या मानसिक क्षेत्र मे ईश्वर पर भरोसा रखता है। वह रोजमर्रा के काम मे ईश्वर पर चीजो को न छोडकर रेल, तार, रेडियो, तरह तरह के अस्त्र-शस्त्र से काम लेता है—स्मरण रहे कि गिनाई हुई चीजो मे कोई भी वस्तु विशुद्ध भाव की श्रेणी मे नही आती,—किन्तु विचार के क्षेत्र मे जाते ही पूँजीवाद, कही भाववाद, कही रहस्यवाद को और बहुत हुआ तो अज्ञेयवाद को अपनाकर बैठा रहता है। ऐसी हालत मे कान्ट का द्विधाविभक्त दर्शनशास्त्र पूँजीवादीवर्ग के लिए बहुत ही रुचिकर साबित हुआ। कान्ट के एक युग प्रवर्तक दार्शनिक रूप मे स्वीकृत होने के पीछे यही रहस्य है।

१४—हेगेलीय दर्शन की पृष्ठभूमि—इसके बाद हेगेल के दर्शन मे हम

---

१ R. R p. 204—5

देखते है कि विकास को एक सदा चलनेवाली प्रक्रिया के रूप मे स्वीकार किया गया। अभी पूँजीवाद की समृद्धि का युग था, इसलिए उसे सब हरा ही हरा दिखलाई पडा। हम यहाँ पर दर्शनशास्त्र का इतिहास नही दे रहे है, किन्तु जो कुछ थोडे बहुत तथ्य हम दे रहे है, वह केवल इसलिए कि दर्शनो को जीवन से ऊपर स्थित विचारधारा के रूप मे देखने की परिपाटी का पोलापन दिखाई पड जाय।

१५—मार्क्सीय दर्शन में सर्वहारा के विचार मूर्त—हेगेल के बाद फायरबाख से होते हुए हम मार्क्स मे पहुँचते है। मार्क्स की विचारधारा शासकवर्ग की नही, बल्कि ऐसे शासितवर्ग की विचारधारा के रूप मे आई जो बाद को उत्पादन की शक्तियो की अग्रगति के कारण शासकवर्ग होनेवाला है। यह स्वाभाविक था कि इस युग मे सर्वहारावर्ग का कोई दार्शनिक पैदा होता, और वह दुनिया के सबसे बडे उत्पादकवर्ग के दृष्टिकोण से समस्त जगत् व्यापार को देखता। यदि मार्क्स पैदा न होते तो भी, इस विचारधारा का आना अनिवार्य था। उस समय तक सर्वहारावर्ग बहुत तगडा हो ुका था। स्वाभाविक रूप से उसे पूँजीपतियो के साथ विचारधारा के क्षेत्र मे लोहा लेने के लिए एक जगजू वैज्ञानिक विचारधारा की आवश्यकता थी। इसी आवश्यकता की पूर्ति करते हुए मार्क्सवाद का उदय आ। मार्क्स के अनन्यहृदय मित्र और सहकर्मी यह मानते है कि जोसफ डिटेस्गन नामक एक जर्मन चर्मकार के रूप मे एक ऐसे व्यक्ति का उदय हो चुका था जो मार्क्स एगेल्स से स्वतत्ररूप से मार्क्सवाद के मुख्य सिद्धान्तो पर पहुँच चुका था। फिर इस सम्बन्ध मे यह बात भी स्मरण रखने योग्य है कि मार्क्स से स्वतत्ररूप से एगेल्स ही, जिसे हम आज मार्क्सवाद कहने है, उसके सिद्धान्तो का आविष्कार कर चुके थे। अतएव सर्वहारा की विचारधारा के आविष्कारक के रूप मे केवल मार्क्स के व्यक्तित्व को ही सारा क्षेत्र देना गलत होगा। यहाँ पर जो आविष्कारक शब्द व्यवहृत है, उससे गलतफहमी हो सकती है, इसलिए स्पष्ट कर दिया जाय कि मार्क्स उसी अर्थ मे मार्क्सवाद के नाम से परिचित, सामाजिक नियमो के आविष्कारक थे जिस अर्थ मे न्यूटन माध्याकर्षण के, प्लाक क्वान्टम के या आइनस्टाइन सापेक्षवाद के आविष्कारक है। जैसे न्यूटन आदि के पहले ये नियम प्रकृति मे कार्यशील थे, इन्होने इसका आविष्कार मात्र किया,

उसी प्रकार मार्क्स ने सामाजिक तथा विचारधारा-सम्बन्धी विकास के जिन नियमो का आविष्कार किया, वे मार्क्स के जन्म के हजारो वर्ष पहले भी क्रियाशील थे।

१६––वर्गसो का दर्शन और उसकी पृष्ठभूमि––कान्ट और हेगेल आदि बुर्जुआ दार्शनिको के बाद मार्क्स का आना हमने दिखाया है, इससे यह न समझा जाय कि हमारा यह मतलव है कि हेगेल के बाद से पूँजीवादी दर्शन का तॉता समाप्त हो गया। नही, ऐसा बिल्कुल नही। तथ्य तो यह है कि आज तक पूँजीवादी दर्शन एक पर एक निकलते चले जा रहे है। यह सम्भव नही है, न हमसे यह आशा की जाती है कि हम इन सब दर्शनो को गिना जावे। हम तो कुछ मोटे मोटे तथ्य देगे। वर्गसो ने यह कहा कि हमारे जीवन का उत्सस्थल elan vital है। आत्मा न कहकर इस दूसरे शब्द का प्रयोग किया गया। इससे कुछ आया गया नही, क्योकि उसकी अन्तर्गत वस्तु वही रही। वर्गसों का कहना है कि हम वास्तविकता की सच्ची प्रकृति को अन्तर्दृष्टि से जान सकते है। वर्गसो के दर्शन की सबसे बडी विशेषता यह है कि वे बुद्धि के मुकाबिले मे हमारी प्रकृति की सहजातवाली दिशा को अधिक महत्त्व देते हुए यह कहते है कि यह वह वस्तु है जिसके द्वारा हम विश्व को बुद्धि से अधिक सही तौर पर समझ सकते है। इस प्रकार बुद्धि के वजाय अन्तर्दृष्टि तथा सहजातवाली दिशा पर जो अधिक महत्त्व दिया गया है, तथा उसे अधिक विश्वास्य वताया गया है, उसका आशय स्पष्ट है। अव पूँजीवाद क्षीणता की ओर जा रहा है। इसलिए स्वाभाविक है कि उसे अब बुद्धि पर भरोसा नही है। उसके पैर के नीचे से जमीन खिसकती जा रही है, अर्थ-सकट के वाद अर्थ-सकट हो रहे है, और परवर्ती प्रत्येक अर्थ-सकट पूर्ववर्ती से घोरतर होता जा रहा है। वह वहुत हाथ-पैर मार रहा है कि इसे रोके, किन्तु प्रकृति के अलघनीय नियम की तरह वह ह्रास के पहियो के खिचाव मे आता चला जा रहा है, फिर उसे अपनी बुद्धि पर कैसे भरोसा हो। वर्गसो का दर्शन भाववाद का ही एक रूप है। यह दर्शन सर्वहारा विरोधी है, इसमे कोई सन्देह नही, क्योकि कोई भी दर्शन जो बुद्धि तथा प्रयोग पर विश्वास नही करता, जो यह नही समझता कि इनके द्वारा मनुष्य वरावर अपनी परिस्थितियों तथा अन्य कठिनाइयो पर विजय प्राप्त करता जा रहा है, वह दर्शन सर्वहारा के काम का नही हो सकता।

१७--एकाधिकारमूलक पूँजीवाद का दर्शन प्रेगमेटिकवाद--वर्ट्रेन्ड रसेल, अध्यापक जी मोर, अध्यापक सी० डी० ब्राड अध्यापक एक्लेजेंडर यद्यपि नाम के लिए तो वस्तुवादी है, किन्तु एक तो वे विश्व को जिस प्रकार देखते है, उसमे एक दूसरे मे प्रभेद है, और दूसरा साधारण व्यक्ति जिस तरह से विश्व को देखता है उनकी तसवीरे हू-वहू उसमे नही मिलती। इसलिए इन दर्शनो के सम्बन्ध मे यह मानते हुए भी कि ये दर्शन बहुत कुछ भौतिकवाद की ओर झुके हुए है--और इससे यह सूचित होता है कि शासकवर्ग के बुद्धिवादियो मे भी दो हिस्से हो चुके है, जैसा होना शासकवर्ग की ह्रासशीलता का एक प्रमाण है, फिर भी इन्हे भौतिकवादी दर्शन नही माना जा सकता। वे बाह्य जगत् के सम्बन्ध मे जो विचार प्रकट करते है, वह भौतिकवाद से भिन्न है।[1]

एकाधिकारमूलक (monopolystie) पूँजीवाद के युग का सबसे महत्त्वपूर्ण दर्शन प्रेगमेटिकवाद है। यह एक ऐसी विचारधारा है जिसमे जाकर एकाधिकारमूलक पूँजीवाद की कलई बिलकुल खुल जाती है। इसमे सत्य की चिरन्तन धारण को ताक पर रखकर यह कहा गया है कि सत्य वही है जिनसे काम निकलता हो। इसका अर्थ यह हुआ कि सत्य वही है जिससे पूँजीवाद का काम बनता हो। प्रेगमेटिकवाद के प्रवर्तक विलियम जेम्स कहते है 'मेरे लिए तो सत्य वही है जो व्यावहारिक रूप से उपयोगी है। सत्य वास्तविकता मे या चिन्तन मे प्रतिफलित नही होता, बल्कि सत्य वही है जो व्यक्ति-विशेष की जरूरतो तथा भावनाओ के हक मे हो।' कहना न होगा कि ज्ञान तथा सत्य के सम्बन्ध मे इस धारणा मे पूँजीवाद अपने नग्नरूप मे सामने आ जाता है। 'ब्रिटिश प्रेगमेटिकवादी शिलर सत्य की कई परिभाषाएँ करते है। सत्य आवश्यकता के रूप मे, किसी वस्तु के साथ एकाकार होने के रूप मे, स्वय सिद्ध के रूप मे और प्रामाणिक रूप मे हो सकता है। शिलर के दृष्टिकोण से सत्य के ये दृष्टिकोण केवल द्रष्टा की विभिन्न मानसिक अवस्थाओ की अभिव्यक्तियाँ है। सत्य की सृष्टि मनुष्य स्वय करता है, इत्यादि इत्यादि।'[2] स्पष्टरूप से यह दर्शनशास्त्र ह्रासशील साम्राज्यवाद का दर्शनशास्त्र है, अब इसको किन्ही आदर्शो

१ G R. W २ D M S H 85

मे विश्वास नही रह गया। अब इसके सामने केवल एक प्रश्न है—वह यह है कि जैसे तैसे अपने अस्तित्व को कायम रक्खो।

१८—प्रेगमेटिकवाद पर लेनिन—लेनिन ने इस दर्शन के विषय मे लिखा है 'इस दर्शनशास्त्र के विषय मे दार्शनिक पत्रिकाएँ न मालूम क्या क्या कहती है। प्रेगमेटिकवाद अलौकिक दर्शनशास्त्र, भौतिकवाद तथा भाववाद सभी का मजाक उडाता है, अभिज्ञता और केवल अभिज्ञता को सराहता है, व्यवहार को एकमात्र कसौटी के रूप मे मानता है, धनात्मक परिवर्तन को आमरूप से मानता है, कहता है कि विज्ञान वास्तविकता की निरवच्छिन्न नकल नही है, और इन सब बातो के कहने के बाद भी बडे मजे मे है, एक ईश्वर को निकाल लेता है, जो मनुष्य के व्यावहारिक उद्देश्यो के लिए काम मे आता है। यह दर्शन केवल व्यवहार के लिए है। इसमे न तो कोई दार्शनिकता है, न कोई वास्तविकता है और साथ ही अभिज्ञता की हद के बाहर है।' इस दर्शनशास्त्र मे जिस अभिज्ञता को सराहा गया है, तथा जिस व्यवहार को एकमात्र कसौटी बताया गया है, वह अभिज्ञता तथा व्यवहार एक ह्रासशील शोषकवर्ग की अभिज्ञता और व्यवहार है।

१९—इन्स्ट्रूमेन्टलिज्म—इसी प्रकार (Instrumentalism) नाम से एक दर्शनशास्त्र प्रचलित है। यदि कहा जाय तो यह जान डेवे के मार्के का प्रेगमेटिकवाद मात्र है। इसमे कहा जाता है कि सत्य एक औजार है, न कि भौतिक प्रक्रिया का प्रतिफलन। इस प्रकार सत्य का सिद्धान्त एक औजार का सिद्धान्त हो जाता है। यह औजार किस वर्ग का औजार है, इसे बताने की आवश्यकता नही।

२०—पालएर्नेस्ट और केसरलिग का दर्शन-पूँजीवादी ह्रास का द्योतक—१९१४-१८ की लडाई से पूजीवाद का बिलकुल पर्दाफाश हो गया, और इसके सम्बन्ध मे जो भ्रम उत्पन्न किये गये थे, वे बुर्जुआ दार्शनिको के सबसे अनुभूतिशील दार्शनिको के सामने इस रूप मे आये कि वे उसे अस्वीकार न कर सके। स्वाभाविक रूप से जर्मनी के दार्शनिको मे यह भ्रान्तिभग विशेष स्पष्ट हो गया। कारण यह था कि लडाई मे जर्मनी की हार हुई थी, और उसके लिए तो

सभ्यता (पूँजीवादीगण सभ्यता से अपनी सभ्यता का ही अर्थ लेते हैं) का नन्ज्र वाग उजड चुका था। युद्ध ममाप्ति के वाद पालएर्नेस्ट, हरवान कैसरलिग तथा आस्वाल्ड स्पेनालेर की पुस्तको मे यह धारा विलकुल स्पष्ट हो गई। पालएर्नेस्ट ने यह कहा कि पूँजीवादी सगठन के कारण लडाई इसलिए हुई कि इस सगठन ने मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्यातन किया। उन्होने कहा कि वस्तुस्थिति मे तभी परिवर्तन हो सकता है जव मनुष्य जाति को सोच-समझकर ईश्वर ने उन पर जो महान् कार्य सौपा है, उसे अन्जाम दे यानी अपने लिए तथा अपने कार्यो के लिए एक लक्ष्य स्थापित करे। एर्नेस्ट की यह कितनी वडी स्वीकृति है, और इसमे पूँजीवादी सभ्यता का कितना विराट दिवालियापन जाहिर होता है कि सैकडो वर्षो से यह पद्धति जारी है, और अव यह मालूम पड रहा है कि उसके सामने कोई लक्ष्य नही है। जहाँ तक समस्या को समझने की वात है, एर्नेस्ट ठीक ठीक समझते है कि यह पद्धति लक्ष्यहीन है, किन्तु जव इस समस्या का सामना करने का प्रश्न उठता है तव वे गडवडा जाते हैं, किन्तु असली गलती जहाँ है यानी मुनाफा से परिचालित होकर चलना (पूँजीवादीवर्ग का यही लक्ष्य है), उस पर एर्नेस्ट दृष्टि दौडाने का साहस नही करते। तदनुसार वे रहस्यवाद मे भटककर यह कहते हैं कि चीनी किसानो से शिक्षा लेनी चाहिए क्योकि ये लोग थोडे मे सतुष्ट रहते है। वे भारतीय फकीरो पर लोलुप दृष्टि दौडाकर यह कहते है कि इन्ही के अनुकरण से सभ्यता का सकट दूर होगा। स्पष्ट ही सभ्यता के सकट मे यहाँ पूँजीवाद का विशेषकर जर्मन पूँजीवाद का सकट लिया गया है, और चीनी किसान तथा भारतीय फकीरो का दृष्टान्त देकर जर्मन जनता से कहा गया है कि वे इनका अनुकरण करे, पूँजीवादियो को अधिक से अधिक मुनाफा प्राप्त करने दे, तभी सभ्यता वच सकेगी। सभ्यता की क्या सुन्दर धारणा है। हरवान कैसरलिग के अनुसार भी इसी प्रकार हिन्दू फकीर को ही जीवन का आदर्श वनाना चाहिए। इसका मतलव वताने की आवश्यकता नही।

२१—स्पेनालेर और पाश्चात्य का पतन—आस्वल्ड स्पेनालेर तो इतने निराश है कि वे किसी प्रकार की आशा की रूप-रेखा देखने मे असमर्थ हैं। वे समझते हैं कि रोमन साम्राज्य की तरह पाश्चात्य का नाश होनेवाला है। स्पेनालेर ने १९११ मे पाश्चात्य का ह्रास नामक अपनी पुस्तक लिखनी शुरु की

थी। इस पर ट्यूमिनियेफ ने ठीक ही लिखा है कि आगाडीर दुर्घटना के कारण पश्चिम में जो भीषण युद्ध छिड़ते छिड़ते रह गया था, वह उनके दिमाग में ताजा रहा होगा, तभी उन्होंने इस ग्रन्थ को लिखना शुरू किया होगा, फिर ज्यों ज्यों आगे लिखते गये होंगे त्यों त्यों वे जिस पद्धति में थे, उस पद्धति की दारुण असंगतियाँ उनके सामने आती गई होंगी। सोनालेर के मत की आलोचना करते हुए बुखारिन कहते हैं कि प्राचीन युग में निम्नतर श्रेणियाँ केवल ईसाई धर्म का दर्शनशास्त्र 'उत्पन्न कर सकी थीं, किन्तु अब मार्क्सीय दर्शनशास्त्र 'पाश्चात्य' के खण्डहर से कुछ ताकत ही प्राप्त करेगा।

सोवियट् रूस मे पहली बार वास्तविक पाश्चात्य सभ्यता इसलिए विश्व सभ्यता का उदय हो रहा था। कम से कम इस सभ्यता मे पाश्चात्य के जनगण का अश्रुतपूर्व बल्कि अकल्पितपूर्ण सहयोग था।

२२--पाश्चात्य में विवेकानन्द, रवीन्द्र आदि की कदर का कारण--योरप की पूँजीवादी सभ्यता--स्पेनाल्गेर के शब्दो मे पाश्चात्य सभ्यता अपने अन्तिम चरण पर खडी रहकर करीब इस शताब्दी के प्रारम्भ से लडखडा रही है। विस्फोट तो १९१४ मे हुआ, किन्तु इसके बहुत पहले ही इसके आसार ज्ञात हो चुके थे। पूँजीवादी सभ्यता की इस ह्रासशीलता के दृष्टिकोण से देखने पर यह बात समझ मे आती है कि इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारत के विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहस, रवीन्द्रनाथ, अरविन्द और उनके टीकाकार तथा भाष्यकार के रूप मे आल्काट, ऐनीबेसेंट, राधाकृष्णन्, भगवानदास आदि का पाश्चात्य जगत् मे क्यो सम्मान हुआ। जिन कारणो से एर्नेस्ट तथा कैसर्गलिंग ने चीनी किसानो और भारतीय फकीरो के अनुकरण का नारा दिया था, उन्ही कारणो से इन भारतीय प्रतिपादको का पाश्चात्य बुद्धिजीवियो मे सम्मान हुआ। तभी तो पालब्राटन आदि की लिखी हुई मूर्खतापूर्ण पुस्तको की (जिसमे शायद झूठ का एक बहुत बडा अश है) माँग हुई, और है। तभी योग के सम्बन्ध मे योरोपीय बुद्धिजीवियो मे बहुत दिलचस्पी है। भारतीयगण जो कैसर्गलिंग या अन्य किसी पूजीवादी दार्शनिक के मुँह से हिन्दू फकीरो की प्रशसा सुनकर खुश होते हैं, और फूले नही समाते कि आखिर उनके प्रभुओ के देशो मे इन लोगो की कदर हो रही है, उसमे खुश होने की कोई बात नही है। इन प्रशसाओ का अर्थ इतना ही है कि योरप ह्रासशील है, इसलिए उसकी दृष्टि काशी, गया, निनवे और गाजा पर पड रही है, जहाँ से उसकी सब समस्याओ का समाधान होगा, वह काशी नही बल्कि ऐसा देश है जिसमे जनगण को सचमुच राज्यशक्ति मिली हुई है।

२३--विविध ह्रासशीलता सूचक मतवाद--हम देख चुके कि किस प्रकार पूँजीवाद के अभ्युदय के युग मे बुर्जुआ लेखको तथा दार्शनिको को सब हरा ही हरा सूझता था, तथा उसके ह्रास के युग मे किस प्रकार उन्हे कयामत ही कयामत सूझ रही है। केवल जर्मनी मे ही नही यह ह्रासवाद तथा निराशावाद आज सभी पूँजीवादी लेखको की विशेषता हो चुका है। अब तो अध्यापक बरी ऐसे विद्वान्

का यह कहना है कि प्रगति का जो विचार है, यह एक अभिनव विचार है, प्राचीन या मध्ययुग मे इतिहास के जो लेखक हो गये है, वे इस विचार से सर्वथा अपरिचित थे। गार्डेन चाइल्ड ने दिखलाया है कि इस समय लोग प्राचीन ग्रीको और रोमनो की तरह पीछे मुडकर आदिम सरलता के स्वर्ण युग की ओर हसरतभरी निगाह दौडा रहे है। 'रोमन कैथोलिक पादरियो का यह सिद्धान्त था कि मनुष्य का पतन निषिद्ध फल चखने के कारण हुआ था, उसे बदलकर यो कर दिया गया है, और इसमे जर्मन इतिहासवेत्ता सम्प्रदाय तथा उनके पुरातात्त्विक और नृतात्त्विक शिक्षको का सहयोग प्राप्त है कि मनुष्य का पतन ज्ञानवृक्ष के फल चखने के कारण हुआ है। इसी प्रकार का एक दृष्टिकोण अँगरेज (diffusionists) मे दृष्टिगोचर हो रहा है।'[१] फासिस्टवादी दार्शनिक जेनटाइल आदि तो इस बात को खुल्लमखुल्ला कहते थे कि प्रगति एक गलत दृष्टिकोण है। ठीक ही है। प्रगति एक गलत दृष्टिकोण है, किन्तु वह मनुष्य जाति की प्रगति नही, बल्कि पूँजीवादीवर्ग की प्रगति है।

हम कदाचित् कुछ अधिक कह गये, किन्तु हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि सभी दर्शनो का सम्बन्ध सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियो से होता है। स्वय द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसी प्रकार का एक दर्शन है। वह आगामी युग की सूचना देता है, तथा आगामी युग के साथ जिस वर्ग का सम्बन्ध है, उसी से उसका सम्बन्ध है। यह दर्शन केवल सर्वहारा वर्ग के हाथो मे एक तगडा हथियार ही नही देता, बल्कि वह सब शोषितो के हाथो मे एक तगडा हथियार है क्योकि सर्वहारावर्ग की ऐसी अजीब परिस्थिति है कि वह सब वर्गो की मुक्ति किये बगैर अपनी मुक्ति नही प्राप्त कर सकता। हम इस पर आगे और विचार करेंगे।

२४—न्यूट्रल मानिज्म—ऊपर हमने जिन बुर्जुआ दर्शनो को गिनाया है उनके अतिरिक्त हम केवल एक और बुर्जुआ दार्शनिक बर्ट्रेन्डरसेल के neutral monism का जिक्र करेंगे, क्योकि यह भी अपने युग के बुर्जुआ समाज का अच्छा प्रतिफलन है। इस मतवाद के अनुसार चित् और वस्तु (mind and

१ M M. H p. 1-2

matter) एक ऐमे आदिमतर द्रव्य से उद्भूत है जो न तो वास्तविक है न मानसिक है। यह निरा रहस्यवाद है, और ज्ञान की आड मे अज्ञान को छिपाने की चेष्टामात्र है। जैमा कि रमेल ने म्वय लिखा है, माख के 'इन्द्रियानुभूति के विश्लेषण मे इसका बीज निहित है। विलियम जेम्स के Essays in radical empiricism मे इसको विकसित किया गया है, तथा जान डेवे, बी० मेरी तथा अन्य अमेरिकन लेखकों ने इसका प्रतिपादन किया है। ह्रासशील बुर्जुआ जगत् की मारी प्रतिभा का खिचाव रहस्यवाद की ओर है। हमने यह देख लिया कि यह रहस्यवाद बुर्जुआ पद्धति की ह्रासशीलता से उद्भूत है। हम यहाँ पर ब्योरे मे नही जायेंगे, किन्तु छायावाद इमी रहस्य-वाद का एक रूप है, फिर भी जो लोग छायावाद को साहित्य, कला या कविता मे प्रगतिशीलता का द्योतक समझते हैं, उनकी बुद्धि पर तरस आता है। रहस्य-वाद और छायावाद ह्रासशीलता का ही द्योतक है।

२५—फासिवाद और रहस्यवाद—ह्रासशील पूँजीवाद ने हमेशा रहस्यवाद की सहायता लेकर काम चलाना चाहा है, यह बात नही। कम से कम फासि-वादी दार्शनिकगण तो चीजो के साफ साफ रख देने के पक्षपाती हैं, अर्थात् वे प्रगति के अभाव को न छिपाकर यह दावा करते हैं कि फिर भी पूँजीवाद रह सकता है। इस प्रकार रहस्यवाद की तरह किमी बात को जबर्दस्ती कहकर कदाचित् जबर्दस्ती विश्वास कराने का भी एक तरीका है। ऐसे मतवाद मे और रहस्यवाद मे वही फर्क है जो पूँजीवादी लोकतन्त्र और फासिवादी अधि-नायकत्व मे है। एक मे शासन की बात को छिपाने की चेष्टा है, दूसरे मे नग्न-रूप मे कहा जाता है कि हम शासन कर रहे है, हम इसी के योग्य हैं, तुम उसी के योग्य हो।

२६—पूँजीवाद के ह्रास के विभिन्न विचारो से फासिवादी दर्शन निर्मित—पूँजीवाद मे उत्पादन की अग्रगति इस कारण रुक गई है कि इसमे उत्पादन के साधनो तथा उत्पादन के सम्बन्धो मे अमिट असगति उत्पन्न हो चुकी है। इस उलझन से बचने के लिए फासिवादी लेखको ने यह नही कहा कि नही, बात ऐसी नही है, पूँजीवाद अब भी प्रगतिशील है, बल्कि उन्होने एक नये दर्शन-शास्त्र को जन्म दिया जिसमे यह कहा गया कि गतिशीलता की कोई आवश्यकता

नही। स्थितिशील (Static) होकर भी पूँजीवाद जी सकता है। वाल्टर आयकन का कहना है कि पूँजीवाद बिलकुल स्थितिशील हो जाय, उसे लकवा भी मार दे, उद्योग-धन्धो पर एक नौकरशाही का नियत्रण हो, सब आविष्कार तथा उन्नति करीब-करीब रुक जाय, फिर भी पूँजीवाद जी सकता है। वे लिखते है 'मार्क्स के समय से एक धारणा की उत्पत्ति हुई कि विस्तारोन्मुख गतिशीलता (ever-widening dynamic) ही पूँजीवाद का प्राण (vital law) है। इस गतिशीलता या विकास का अन्त हुआ कि पूँजीवाद का अन्त हुआ। बात यह है कि मार्क्स १९वी सदी के मध्यभाग मे थे जिस समय पूँजीवाद की दिन दूनी रात चौगुनी तरक्की हो रही थी, इसीलिए उक्त प्रवाद की उत्पत्ति हुई। इसके बाद मे रहनेवालो के लिए मार्क्स की सिद्धान्त की भूल को समझना कठिन न होगा।' आइकन के इस दार्शनिक सिद्धान्त को जीवन के सभी क्षेत्रो मे लागू किया गया है, और सभी क्षेत्रो मे विकास को अनावश्यक करार दिया गया है। फासिवादीगण नित्से और स्पेनालेर को अपने दार्शनिक नेता मानते है। स्पेनालेर का मत तो हम पहले ही बता चुके, किन्तु उनके विचारो को फासिवादियो ने अब दूसरा ही रूप दिया है। उनके दर्शन से यह जो ध्वनि निकलती है कि अब हम (ऊपर से कहने का पाश्चात्य और भीतर से असल मे पूँजीवादीवर्ग) आगे नही जा सकते, उसका यह अर्थ लगाया गया कि आगे जाने की कोई आवश्यकता ही नही। नित्से ने अतिमानव सिद्धान्त (Superman theory) का प्रचार किया था। फासिवादियो ने उसको किस प्रकार अपनाया यह अभी बहुत ताजे इतिहास की बात है। नवकान्टवाद (मैक्स, एडलर इत्यादि) फासिवाद का दर्शनशास्त्र इसलिए बन सका है कि कान्ट के दर्शनशास्त्र मे ही पूँजीवाद के लिए अनुकूल ऐसे उपादान मौजूद थे जिनको आसानी से फासिवाद का रूप देना सम्भव था, क्योकि यदि हमारे दृश्यमान जगत् को अतिमानव की अतिबुद्धि के अधीन करार दिया गया तो फिर क्या कसर रही, यह तो फासिवाद हो ही गया।

२७—विद्रोह के विरुद्ध विभिन्न दर्शन और भौतिकवाद—इस प्रकार जरा भी गहराई से देखने पर प्रत्येक दर्शन का जीवन के साथ सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। जिस प्रकार शासक तथा शोषक वर्ग के दर्शनशास्त्र शासितो और

शोपितो के लिए विषरूप है, उसी प्रकार हर युग मे शासितो और शोपितो के भी—विशेषकर इस युग में जब वे शासको के शब्दजाल से मुक्त होने लगें—अपने निजी दर्शनशास्त्र होते है। एक तरफ जनता की विद्रोह-भावना को दबानेवाले दर्शनशास्त्र है, दूसरी तरफ उनको उठानेवाले तथा उनके सग्राम मे हथियार के रूप मे साबित होनेवाले दर्शनशास्त्र भी है। एकमात्र द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही जगत् के मजदूर वर्ग का दर्शनशास्त्र हो सकता है, बाकी सभी दर्शनशास्त्र किसी न किसी तरह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पूँजीवादीवर्ग को बल पहुँचाते है। शोपक वर्ग को बल पहुँचाने का यह कार्य कई तरह से हो सकता है। उदाहरणस्वरूप यह कहा जा सकता है कि पूँजीवादीवर्ग सर्वहारा का तथा जमीदारवर्ग किसानो का ट्रस्टी है। यह कहा जा सकता है कि कुछ लोगो का धनी होना और कुछ लोगो का गरीब होना स्वाभाविक है, जैसा स्पेन्सर ने योग्यतम के बच रहनेवाले (survival of the fittest) जीव विज्ञान के सिद्धान्त को समाज पर लागू करते हुए कहा था कि जैसे जगल मे दो तरह के जानवर होते है, एक शेर और एक बकरी, उसी प्रकार मनुष्यो मे दो तरह के लोग स्वाभाविक होगे, यह भी कहा जा सकता है। सचमुच नित्से ने ऐसा ही कहा था, बल्कि इससे भी आगे बढकर यह कहा था कि मनुष्यो मे शेर किस्म के लोगो की बढती मे मनुष्य जाति का कल्याण होगा। यह कहा जा सकता है कि सुख बुरा है, क्योंकि सुखी होने पर भी दुःख का भय बना रहता है, इसलिए सुख-दुःख के परे हो जाना ही अच्छा है। यह कहा जा सकता है कि इहलोक मे सुख भोगने मे कुछ रक्खा नही है, परलोक अगर बन रहा तो सब कुछ है, जीत उसी की है जिसका परलोक बना हुआ है। भौतिकवादी दर्शन ऐसी सब धारणाओ के विरुद्ध यह कहता है कि इस बात की कोई आवश्यकता नही है, कि हम ख्वामख्वाह निराशा के गर्त मे पडे रहे, वर्तमान समाजपद्धति चिरस्थायी नही है, आगे मानवता के लिए और मजदूर के लिए स्वर्णयुग है। अवश्य इसके साथ ही वह यह भी कहता है कि यह स्वर्णयुग एक शुभ घडी मे टपक नही पडेगा, बल्कि मजदूर को अपने सग्रामो से इसका निर्माण करना पडेगा।

२८—**स्तालिन द्वारा भौतिकवाद का सरल प्रतिपादन**—'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का नाम इसलिए पडा है कि प्रकृति की घटनाओ को निरीक्षण करने का

इसका तरीका, उनको अध्ययन करने तथा उनका पता लगाने का तरीका द्वन्द्वात्मक है, साथ ही प्रकृति की घटनाओ की व्याख्या और इन घटनाओ की धारणा तथा इसका सिद्धान्त भौतिकवादी है।' स्टालिन ने बहुत सक्षेप मे भौतिकवादी दर्शन तथा जिस प्रकार उसे इतिहास पर लागू किया जाता है, इसका वर्णन किया है। इस विषय मे इतने सक्षेप मे सब बातो को कहना सम्भव नही है, इसलिए हम स्टालिन की ही रचना से यह उद्धृत करेंगे—

'द्वन्द्वात्मक पद्धति अलौकिक दर्शनशास्त्र के बिलकुल विपरीत है। मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक तरीके की मुख्य विशेषताएँ ये हैं—

(क) अलौकिक दर्शनशास्त्र के मतवाद के विपरीत द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रकृति को वस्तुओ तथा घटनाओ का एक आकस्मिक ऐसा समूह-मात्र नही समझता, जो एक दूसरे से असम्बद्ध, पृथक् तथा स्वतन्त्र हैं, बल्कि वह इनको एक ऐसे सम्बद्ध तथा अविच्छेद्य रूप से सम्पूर्ण रूप मे देखता है जिसमे वस्तुएँ तथा घटनाएँ एक दूसरे से सम्बद्ध, एक दूसरे पर निर्भर तथा एक दूसरे से निर्णीत होती है।

(ख) अलौकिक दर्शनशास्त्र के विपरीत द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का यह कहना है कि प्रकृति विराम, स्थिरता, आबद्धता तथा अपरिवर्तनीयता की एक अवस्था नही है, बल्कि यह एक ऐसी अवस्था है जिसमे निरन्तर गति, परिवर्तन, नवीकरण तथा विकास जारी है, जिसमे हर समय कुछ न कुछ उठ रहा है, विकसित हो रहा है, और कुछ न कुछ हमेशा बिखर रहा है, मर रहा है।

(ग) अलौकिक दर्शन के मतवाद के विपरीत द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद विकास की प्रक्रिया को वृद्धि की एक ऐसी सरल प्रक्रिया नही मानता जिसमे परिमाणगत परिवर्तन से गुणगत परिवर्तन नही होते, बल्कि एक ऐसे विकास के रूप मे मानता है जिसमे तुच्छ तथा अदृश्य परिमाणगत परिवर्तन से होते हुए खुले मौलिक परिवर्तन, गुणगत परिवर्तन होते हैं। यह एक ऐसा विकास है जिसमे गुणगत परिवर्तन धीरे धीरे नही होते, बल्कि तेजी से और एकाएक एक अवस्था से दूसरी अवस्था मे छलाँग लेने के रूप मे होते हैं। ये परिवर्तन

आकस्मिक रूप से नही होते, बल्कि अदृश्य तथा क्रमिक परिमाणगत परिवर्तनो के सग्रह के स्वाभाविक परिणाम के रूप मे होते है।

(घ) अलौकिक दर्शनशास्त्र के मतवाद के विपरीत द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद समझता है कि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु तथा घटना मे आन्तरिक असगतियाँ अन्तर्निहित है, क्योकि उनमे से सभी का एक धनात्मक तथा एक ऋणात्मक पहलू, एक भूतकाल और एक भविष्यकाल, कुछ म्रियमाण तथा कुछ विकसमान होता है। साथ ही विपरीतो के बीच सघर्ष, प्राचीन और नवीन के बीच सग्राम, जो मर रहा है और जो पैदा हो रहा है उनमे टक्कर; जो अन्तर्हित हो रहा है और जो विकसित हो रहा है उसमे होनेवाला सघर्ष ही विकास की प्रक्रिया तथा परिमाणगत परिवर्तन से गुणगत परिवर्तन मे तब्दीली का आन्तरिक स्वरूप है।

इन्ही चार नियमो को जब समाजशास्त्र या सामाजिक जीवन के अध्ययन पर तथा समाज के इतिहास पर लागू किया जाता है, तो उनका जो रूप होता है, उसके विषय मे पहले ही बताया जा चुका है, फिर भी सक्षेप मे उनका वर्णन यहाँ किया जायगा—

(क) यदि विश्व मे कोई पृथक् घटना नही है, यदि सभी घटनाएँ पारस्परिक सम्बन्धयुक्त है तथा एक दूसरी पर निर्भर है, तो यह स्पष्ट है कि प्रत्येक सामाजिक पद्धति तथा इतिहास मे होनेवाले प्रत्येक सामाजिक आन्दोलन का मूल्य चिरस्थायी न्याय या दूसरे किसी पहले से सोचे हुए विचार के दृष्टिकोण से (जैसा अकसर इतिहास-लेखक करते है) नही कूतना चाहिए, बल्कि उन अवस्थाओ के दृष्टिकोण से उनको देखना चाहिए जिनसे उस पद्धति या उस सामाजिक आन्दोलन का उद्भव हुआ था जिनसे वे सयुक्त है। वर्तमान अवस्था मे दासता की प्रथा अर्थहीन होगी, किन्तु बिखरती हुई आदिम साम्यवादी पद्धति की अवस्था मे इस प्रथा की उत्पत्ति समझ मे आ सकती है। उस समय वह स्वाभाविक ज्ञात होती है, केवल यही नही, उस समय दासता की पद्धति आदिम साम्यवादी

पद्धति की उन्नति समझी जाती है। १९०५ के रूस मे पूँजीवादी लोकतन्त्र की माँग समझ मे आ सकती थी। उस समय यह माँग सही और क्रान्तिकारी थी, किन्तु सोवियट रूस मे ऐसी माँग रखना पीछे की ओर हटना होगा। प्रत्येक बात अवस्थाओ, देश तथा काल पर निर्भर रहती है।

(ख) यदि विश्व धारावाहिक अवस्था की गति मे है, तो न तो कोई अपरिवर्तनीय समाज पद्धति हो सकती है, न वैयक्तिक सम्पत्ति ओर न शोषण के चिरस्थायी सिद्धान्त हो सकते हे, न जमीदारो के अधीन किसान तथा पूँजीपतियो के अधीन सर्वहारा के रहने का कोई चिरस्थायी विचार ही मान्य हो सकता है।

(ग) यदि विकास का यह एक नियम है कि मन्थर परिमाणगत परिवर्तन से द्रुत और आकस्मिक गुणगत परिवर्तन होते है, तो यह स्पष्ट है कि उत्पीडित वर्गो द्वारा की गई क्रान्तियाँ बिलकुल स्वाभाविक तथा अनिवार्य घटनाएँ है। इसलिए गुमराही से बचने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को क्रान्तिकारी होना चाहिए न कि सुधारवादी।

(घ) यदि विपरीतो के सघर्ष की प्रक्रिया के रूप मे विकास चलता है, तो वर्गसघर्ष को तीव्र करना चाहिए।

इन्ही चार नियमो को जब दर्शन के क्षेत्र मे लागू किया जाता है, तो उनका रूप यो होता है—

(क) भाववाद समझता है कि यह विश्व Absolute Idea या Universal Idea अर्थात् निरवच्छिन्न भाव अथवा सार्व-देशिक भाव का मूर्तरूप है। इसके विपरीत मार्क्स प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का यह कहना है कि यह विश्व अपनी प्रकृति से ही भौतिक है, विश्व की विभिन्न घटनाएँ केवल गतिशील भूत के विभिन्न रूप है। द्वन्द्वात्मक न्याय से प्रमाणित घटनाओ का पारस्परिक सम्बन्ध तथा पारस्परिक निर्भरता गतिशील भूत के विकास का एक नियम है, और गतिशील भूत तथा विश्व भूत की

गति के नियमानुसार विकसित होता है, और उसे Universal soul या सार्वदेशिक आत्मा की कोई आवश्यकता नहीं है।

(ख) भाववाद यह समझता है कि हमारा मन ही वास्तविक रूप से वर्तमान है, तथा यह भौतिक विश्व, अस्तित्व, प्रकृति केवल हमारे ही मन, इन्द्रियानुभवो, विचारो तथा धारणाओ मे मौजूद है। इसके विपरीत मार्क्सवादी भौतिकवादी दर्शन का यह कहना है कि भूत-प्रकृति तथा अस्तित्व एक ऐसी दृश्यगत वास्तविकता है जो हमारे मन के बाहर उससे स्वतन्त्र रूप से वर्तमान है। भूत ही प्राथमिक है, क्योकि यही तमाम इन्द्रियानुभवो, भावो तथा मन का उत्स है, और मन *गौण* तथा उससे उत्पन्न है क्योकि यह भूत तथा अस्तित्व का प्रतिफलन है। विचार या भाव भूत का ऐसा रूप है जो विकास के दौरान मे अनुभूति की एक उच्च कोटि यानी मस्तिष्क के रूप मे पहुँच चुका है। मस्तिष्क ही विचार का साधन है। इसलिए यह नि सशय कहा जा सकता है कि विचार को भूत से अलग नही किया जा सकता।

(ग) भाववाद विश्व तथा उसके नियमो के सम्बन्ध मे ज्ञान की सम्भावना को अस्वीकार करता है। वह हमारे ज्ञान की प्रामाणिकता पर विश्वास नही करता। वह दृश्यगत सत्य को नही मानता। वह कहता है कि यह विश्व ऐसी अन्तिम सत्ता—Things in themselves—से पूर्ण है जिसे विज्ञान कभी नही जान सकता। इसके विपरीत मार्क्सवादी दार्शनिक भौतिकवाद यह कहता है कि यह विश्व तथा इसके नियम सम्पूर्ण रूप से ज्ञातव्य हैं। प्रकृति के नियमो के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान, जिसकी परीक्षा व्यवहार तथा प्रयोगो से हो चुकी है, प्रामाणिक ज्ञान है। इस ज्ञान को दृश्यगत सत्य के रूप मे सही कहा जा सकता है। विश्व मे कोई ऐसी वस्तु नही है जो जानी न जा सके। हाँ, ऐसी वस्तुएँ है जो अभी तक जानी नही गई है, तथा विज्ञान और प्रयोगो से जानी जायँगी और उनके रहस्य उद्घाटित होगे।'

२९—**मार्क्सीय दर्शन में व्यवहार पर जोर**—मार्क्सवादी दर्शन मे बार-बार व्यवहार पर क्यो जोर दिया गया है, यह स्टालिन के उद्धृत प्रतिपादन से स्पष्ट हो गया होगा। मार्क्स के दर्शन मे हवा मे उडने के लिए कोई स्थान नही है। फायरबाख पर द्वितीय सूत्र मे मार्क्स कहते है कि व्यवहार के दायरे के बाहर यह पूछना कि दृश्यगत सत्य मानवीय बुद्धि के साथ सगत है या नही, स्कालस्टिकवाद (मध्ययुग मे ईसाई पादरियो द्वारा विज्ञान और धर्म मे समन्वय करने की धार्मिक चेष्टा के फलस्वरूप जिस मतवाद का उदय हुआ था—ले०) है। एगेल्स ने मानो इसी की पुनरावृत्ति करते हुए कहा है कि काण्ट के दर्शन, ह्यूम अज्ञेयवाद तथा अन्य दार्शनिक उडानो का सबसे अच्छा निराकरण व्यवहार है।[1] इसका अर्थ यह है कि जो लोग दर्शन मे भाववादी अथवा अज्ञेयवादी होने का दावा करते है, वे भी व्यावहारिक जगत् मे रोटी को रोटी और पत्थर को पत्थर समझते है और वैसा व्यवहार करते है। उनके मतवाद से उनके व्यवहार मे कोई फर्क नही आता। भाववादी भाव से पेट नही भरता, न अज्ञेयवादी, ऐसा शक ही करता है कि रोटी रोटी ही है या नही।

स्वय लेनिन ने यह कहा है कि क्रान्तिकारी सिद्धान्त कोई कठमुल्ला सिद्धान्त नही है तथा जब यह सिद्धान्त जनता और वास्तविक क्रान्तिकारी आन्दोलन के साथ सस्पर्श प्राप्त कर व्यावहारिक जगत् मे अपनी सत्यता प्रतिपन्न करता है तभी यह कहा जा सकता है कि अमुक सिद्धान्त सही है।[2] लेनिन ने और भी कहा है कि सिद्धान्त को उन सब प्रश्नो का उत्तर देना चाहिए जो व्यवहार मे पैदा होते है। स्टालिन का इस पर यह कहना है कि सिद्धान्त का समर्थन व्यावहारिकता मे होना चाहिए।

३०—**दर्शन और व्यवहार की एकरूपता**—एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त या दर्शन का होना केवल जरूरी ही नही, अपरिहार्य है। लेनिन ने तो स्पष्ट ही कर दिया है कि क्रान्तिकारी सिद्धान्त के बगैर कोई क्रान्तिकारी आन्दोलन हो ही नही सकता। हम इस विषय पर मार्क्सवाद के सर्वमान्य प्रतिपादकों का मत

---

1 M. E. L., 2 L. C.

दे चुके हैं। अब हम केवल स्टालिन के एक और कथन को उद्धृत कर इस विषय को समाप्त करेंगे। वे कहते हैं कि जो सिद्धान्त (या हमारे क्षेत्र में दर्शन) क्रान्तिकारी व्यवहार से सम्पर्कहीन हैं वे एक ऐसी पनचक्की की तरह हैं जो बिना अनाज के चल रही है। 'व्यवहार क्रान्तिकारी सिद्धान्त के बगैर अँधेरे में टटोलता रहता है, क्योंकि यही उसके मार्ग को आलोकित करता है। सिद्धान्त तभी महत्तम शक्ति बन जाता है जब वह क्रान्तिकारी व्यवहार से संयुक्त हो जाता है।'[१] स्पष्ट है कि इस प्रकार हमारा दर्शन क्रान्तिकारी व्यवहार से प्रत्यक्ष रूप में सम्बद्ध होगा। व्यवहार के बगैर हम किसी दर्शनशास्त्र की कल्पना नहीं कर सकते। हमारे लिए दर्शन घटत्वावच्छिन्न, पटत्वावच्छिन्न, तैलाधार पात्र या पात्राधार तैल अथवा केवल बाल की खाल निकालने के लिए नहीं है, बल्कि एक व्यावहारिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए है। 'सही सिद्धान्त व्यवहार की आँख है, और व्यवहार इसके बगैर अन्धा है। जैसे एक डाक्टर के लिए शरीर विज्ञान के सर्वांगपूर्ण ज्ञान के साथ साथ व्यावहारिक तजर्बे का होना आवश्यक है, वैसे ही एक राजनीतिज्ञ या क्रान्तिकारी को सामाजिक परिवर्तन तथा सामाजिक गठन के सम्बन्ध में पूरी पूरी जानकारी होनी चाहिए, तभी वह अपने काम को ठीक ठीक कर सकेगा। सच तो यह है कि व्यवहार और दर्शन दो चीजें नहीं हैं। वे परस्पर सम्बन्धयुक्त ही नहीं हैं, उनमें केवल एक बन्धन है, ऐसी बात नहीं, बल्कि वे एक और अभिन्न हैं।'[२]

३१—ज्ञान क्यों? मार्क्सवाद अदृष्टवाद के विरुद्ध—मार्क्सवादी दर्शन के साथ व्यवहार की इस प्रकार एकरूपता दर्शाने के बाद यह प्रश्न स्वतः पैदा हो जाता है कि आखिर इस सिद्धान्त को, यानी प्रकृति तथा समाज की गति, नियम इत्यादि, जानने से क्या फायदा है, क्योंकि 'होइ है वही जो राम रचि राखा'—जो कुछ होना है वह होगा ही, फिर उसके जानने या न जानने से क्या आता-जाता है? इसके साथ ही समाज की गति के निर्दिष्ट नियम हैं तथा एक के बाद एक समाज पद्धति कैसे आयेगी, और किस क्रम से आयेगी, यह भी मालूम है। इससे कुछ लोगों को यह भी प्रश्न करने का मौका मिलता है

---

१ L S p 91 २. D M. S p 28

कि क्या इतिहास-सम्बन्धी यह मार्क्सवादी धारणा अदृष्टवादी नही है। प्रथम प्रश्न के उत्तर मे हमारा वक्तव्य यह है कि प्रकृति तथा समाज की गति के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान केवल एक रोगग्रस्त कौतूहल की परितृप्ति के लिए नही, बल्कि गति को जानकर उसको इच्छानुरूप नियन्त्रित करना ही हमारा उद्देश्य है। द्वितीय प्रश्न के उत्तर मे हमारा यह कहना है कि आदिम समाजवादी पद्धति मे कोई ऐसी बात अनिवार्य रूप से अन्तर्निहित नही थी, जिससे यह कहा जा सके कि अमुक समाज कई मंजिलो से गुजरता हुआ समाजवाद मे पहुँचकर ही रहेगा। इतिहास की गवाही तो यह है कि बहुत से समाज अपनी अन्तर्निहित असगतियो को सुलझाने मे असमर्थ होकर बीच ही मे लुप्त हो गये है। मार्क्सवाद अदृष्ट-वाद का पोषण नही करता। कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो मे ही मार्क्स-एगेल्स ने यह स्पष्ट कर दिया था कि समाज या तो इस ओर जायगा या उसका विनाश होगा। किसी समाज-विशेष के सम्बन्ध मे यह नही कहा जा सकता कि वह अन्त तक समाजवाद मे पहुँच ही जायगा, केवल इतना ही निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यदि वह प्रगति करेगा तो समाजवाद की ओर उसे जाना पडेगा, किन्तु यह भी तो हो सकता है कि कोई समाज प्रगति की ओर जाने मे असमर्थ रहकर बीच ही मे अपनी असगतियो के कारण विनष्ट हो जाय। कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो मे मार्क्स-एगेल्स ने यह जो 'या' लगाकर कहा कि या तो ऐसा होगा या वह समाज विनष्ट होगा, इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि पहले से कोई मार्ग निश्चित नही है। यदि उत्पादन शक्तियो के मार्ग मे मौजूदा उत्पादन पद्धति बाधक सिद्ध हुई, किन्तु साथ ही परिस्थितियाँ ऐसी न हुई कि उत्पादन शक्तियो के पैरो को ये बेडियाँ टूट जायँ तो उस समाज का ह्रास ही होगा।

बुखारिन ने 'साम्राज्यवाद और विश्व आर्थिक पद्धति' मे इस प्रश्न पर रोशनी डालते हुए लिखा है 'मार्क्सवाद हमे यह सिखलाता है कि ऐतिहासिक प्रक्रिया और इसके फलस्वरूप ऐतिहासिक घटनाओ की शृंखला मे प्रत्येक कडी आवश्यक है। इस आधार पर इससे अदृष्टवाद का उपसहार निकालना ऊलजलूल है, क्योकि साफ बात यह है कि ऐतिहासिक घटनाएँ मनुष्यो की इच्छा, तथा यदि हम वर्ग-समाज के विषय मे कह रहे है तो वर्गयुद्ध के जरिये ही घटित हो रही है न कि उनके बाहर। वर्गो की इच्छा प्रत्येक क्षेत्र मे उस खास परिस्थिति

से निर्णीत होती है। इस मानी मे तो वह बिलकुल ही कोई शक्ति नही है। जो भी हो, यह इच्छा ऐतिहासिक प्रक्रिया का एक कारणीभूत तथ्य होती है। यदि हम मनुष्यो की क्रिया तथा वर्गसघर्ष इत्यादि को निकाल दे तो सारी ऐतिहासिक प्रक्रिया ही गायब हो जाती है।'[१]

जो लोग मार्क्सवादी दर्शन पर अदृष्टवादी होने का आरोप लगाते है, उन्ही की ओर से यह भी प्रश्न उठाया जाता है कि अच्छा, मान लिया कि समाज की गति और नियम ज्ञेय है। किन्तु इससे क्या व्यावहारिक फायदा है ? हम इसका उत्तर पहले ही दे चुके है, किन्तु चूंकि इस प्रश्न के सदुत्तर पर मार्क्सवाद का भाग्य बहुत कुछ निर्भर है, इसलिए कुछ ब्यौरे के साथ इस पर आलोचना करना उचित होगा। ऐसे लोगो का कहना है कि मार्क्स के पहले जब ये नियम किसी को ज्ञात नही थे, जिन युगो मे किसी ने सज्ञान रूप से इन नियमो का प्रयोग कर प्रगति के वेग को द्रुतीकृत नही किया, इन युगो मे भी प्रगति होती रही, फिर इतनी दन्त-कटाकटी की क्या आवश्यकता है। ऐसे लोगो का यह कहना है कि मार्क्स के पहले समाज एक के बाद एक आदिम समाजवाद से गुलामी के युग मे, गुलामी से सामन्तवाद मे, तथा सामन्तवाद मे पूंजीवाद मे पहुंचा। फिर इस बात की क्या जरूरत है कि मार्क्सीय दर्शन का ज्ञान प्राप्त किया जाय। यह प्रश्न बहुत टेढा अवश्य है, किन्तु इस प्रश्न का उत्तर देने मे हमे विज्ञान से सहायता मिलती है। किसी वैज्ञानिक आविष्कार के पहले वे वैज्ञानिक नियम, जिनका आविष्कार हुआ, क्रियाशील थे। उदाहरणस्वरूप प्लेक द्वारा क्वान्टम सिद्धान्त के आविष्कार के पहले वह सिद्धान्त प्रकृति मे क्रियाशील था। तो क्या इन सिद्धातो के आविष्कार से कुछ फायदा नही हुआ, अर्थात् जो कुछ फायदा हुआ क्या वह केवल इतना ही था कि हमने प्रकृति के एक सुरक्षित रहस्य को जान लिया ? इस विषय मे हमे, तर्क मे जाने की आवश्यकता नही। हम जानते है कि प्रत्येक वैज्ञानिक आविष्कार के साथ व्यावहारिक फायदे हुए, क्योकि अब आगे से उन नियमो का पालन कर प्रकृति को उतने क्षेत्र मे नाक पकडकर चलाना सम्भव हुआ। यही बात सामाजिक विकास के नियमो के सम्बन्ध मे भी लागू

---

१ I. W E p 131

है। हम ज्यो ज्यो समाज के नियमो को अच्छी तरह समझते जा रहे है त्यो त्यों हमारे लिए यह सम्भव होता जा रहा है कि हम एक आदर्श (काल्पनिक नही) समाज का गठन करे, और ऐसा सज्ञान तरीके से जल्दी से जल्दी करे। यो तो मनुष्य-समाज मे तथा प्रकृति मे बराबर विकास हुए है, अवश्य कही कही जैसा कि हम बता चुके कि समाज की गाडी विकास की पटरी से उतर गई, और समाज वही पर खतम हो गया, किन्तु जिस घडी से मनुष्य को अपनी परिस्थितियो तथा वह जिस समाज मे रहता है उसके सम्बन्ध मे एक पद्धतिगत ज्ञान हुआ है, उसी दिन से उसके लिए यह सम्भव हुआ है कि वह समाज के विकास मे सहायक हो। यदि मार्क्सवादी दर्शन के वैज्ञानिक अग को अर्थात् उस अग को कोई जान ले जिसमे समाज के विकास के नियम उद्घाटित किये गये है, और उस अश से अपरिचित रहा जाय जो इन नियमो को इस्तेमाल कर समाज के विकास को द्रुतीकृत करने के लिए उद्वुद्ध करता है, तो वह ज्ञान अधूरा होगा। केवल यही नही, वह ज्ञान एक अध्यापक का ज्ञान होगा जो केवल वाग्विलास के लिए है, वह कोई क्रान्तिकारी ज्ञान न होगा, और न वह क्रान्ति के उपयोग मे आयेगा। जब मार्क्सवाद के इन दोनो पहलुओ से कोई परिचित हो जाय अर्थात् जिसका ज्ञान व्यवहार मे रूपान्तरित हो, वही सही अर्थ मे मार्क्सवादी दर्शन को समझता है, ऐसा कहा जा सकता है। लेवी ने इसी को स्पष्ट करते हुए कहा है 'मनुष्य इस प्रकार से अपने भविष्य के सम्बन्ध मे सचेतन योजना का निर्माता बन जायगा, वह इस अर्थ मे कि वह अपनी भौतिक तथा ऐतिहासिक आवश्यकताओ को हिसाब मे रखकर चलेगा। क्या जरूरत है यानी क्या तकाजा है, इसे बिना जाने मनुष्य स्वतत्रता प्राप्त नही कर सकता, और सामाजिक प्राणी के रूप मे मनुष्य की जरूरत यह है कि समाज का परिवर्तन हो। इस परिवर्तन के तकाजे को पूरा करते हुए ही मनुष्य स्वतत्र हो सकता है। यदि वह इसका विरोध करता है, तो वह अपने पैरो मे बेडियाँ डाल लेता है।'[१] इसका अर्थ यह हुआ कि नियम का जानना ही तथा उनको जानकर क्रियाशील होना ही यथेष्ट नही है। यदि एक पूँजीपति समाज-शास्त्र को पढकर

---

१. P M. M. p 224

विकास की विरोधी शक्तियो को सगठित करने मे अपनी सारी शक्ति लगा दे, तो उसे न तो मार्क्सवादी कहा जा सकेगा और न यह कहा जा सकेगा कि वह व्यावहारिक है, क्योकि वह अव्यापार मे व्यापार करता है, और इसका जो नतीजा होना है, वह मालूम ही है। सच्चा मार्क्सवादी वह है जो प्रगति की शक्तियो को जानकर उनको द्रुतीकृत करने मे कुछ उठा नही रखता।

३२—नियम-ज्ञान से लाभ—१८६८ मे २५ जुलाई को 'पूँजी' के प्रथम सस्करण की भूमिका लिखते हुए मार्क्स ने नियम जानकर क्या फायदा हो सकता है, इस सम्बन्ध मे रोशनी डाली है। वे लिखते है 'जब कोई समाज उन प्राकृतिक नियमो का आविष्कार कर लेता है जिनसे उनकी गति परिचालित होती है, तो वह न तो विकास की स्वाभाविक मजिलो को छलाँग मारकर कूद सकता है, और न हुक्मनामे निकालकर उनको हटा ही सकता है, किन्तु इतना तो वह कर ही सकता है कि वह प्रसव-वेदना को घटा सके और उसके समय को कम कर सके।'

३३—फासिवाद ने दर्शन का महत्त्व समझा था—दर्शन तथा जनता का दृष्टिकोण कितने महत्त्व का है, इस बात को—प्रचारकार्य को अति तक पहुँचा देनेवाले, बल्कि एकमात्र उसी पर भरोसा कर समाज की घडी की सुई को पीछे की ओर ले जाने की चेष्टा करनेवाले—फासिवादियो ने इस सम्बन्ध मे जो कुछ किया है, वह द्रष्टव्य है। हिटलरी जर्मनी मे दार्शनिक दृष्टिकोण पर नियत्रण रखने के लिए एक विभाग ही था। हिटलर का राजनैतिक गुरु (यदि उसका कोई गुरु हो सकता है) रोजनवर्ग था। यह नात्सीदल के राजनैतिक दफ्तर के वैदेशिक विभाग का प्रधान तथा सुप्रसिद्ध नात्सीपत्र (Volkische Beobachter) का सम्पादक था। किन्तु इन सबसे कही महत्त्वपूर्ण उसका वह ओहदा था जिसके अनुसार वह जर्मन राष्ट्र के दार्शनिक विचारो का नियत्रक था।

अर्थात् वह राष्ट्रीय समाजवादी आन्दोलन की दार्शनिक शिक्षा पर देख-रेख करने के लिए फुरेर (नेता) का परामर्शदाता था। इस प्रकार नात्सियो ने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया था कि दर्शन या दुनिया को देखने का दृष्टिकोण

बहुत महत्त्वपूर्ण बात है, इसी लिए उसने उसे पूँजीवादी वर्ग के पक्ष मे नियन्त्रित करने की चेष्टा की थी।

इस प्रकार नात्सियो ने परोक्षरूप से मार्क्सवाद के इस सिद्धात को कि दर्शन और जीवन अन्योन्याश्रित है, बहुत मर्यादा दी थी। कोई चेतना सम्पन्न क्रान्तिकारी व्यक्ति या दल इसलिए दर्शन के प्रति न तो उदासीन ही रह सकता है, और न यह कह सकता है कि दर्शन तो वैयक्तिक विषय है, जिसका जो जी चाहे वह उस दर्शन को माने। दर्शन और धर्म बहुत कुछ मिले हुये है, इसलिए केवल दर्शन पर कहते हुए हमारी आलोचना बहुत कुछ असम्पूर्ण रह जाती है। किन्तु धर्म पर विस्तृत आलोचना मे यह असम्पूर्णता दूर हो जायगी।

धर्म और भौतिकवाद

१—दर्शन और विश्वास से धर्म उत्पन्न—विचारधारा मे धर्म का स्थान बहुत ऊँचा रहा है। समाज के ऊपरी ढाँचे का धर्म एक प्रधान अग है। दर्शन के मुकाबिले मे धर्म कही अधिक प्रभावशाली इसलिए रहा है कि किसी एक दर्शन को अर्थात् जीवन तथा जगत् के देखने के तरीके को हम धर्म तभी कहते है जब दर्शन या वह किसी जाति के विश्वास का रूपधारण कर लेता है। जिस समय कोई भी सिद्धान्त विश्वास का रूपधारण कर अकाट्यता प्राप्त कर लेता है, उसी समय वह धर्मपद वाच्य होता है। चाहे यह विश्वास गलत हो या सही मनुष्य जाति का यह दुर्भाग्य रहा है, या यो कहिए कि उसके विकास का यह एक अग रहा है कि अक्सर गलत दर्शन ही यानी जीवन तथा विश्व के बारे मे गलत दृष्टिकोण मनुष्य के विश्वास का रूप धारण करता रहा है।

२—धर्म में भौतिक परिस्थितियाँ प्रतिफलित—धर्म का भौतिक परिस्थितियो से बहुत ही अविच्छेद्य सम्बन्ध है। बात यह है कि धर्म भी विचारधारा का एक अग है, इसलिए जब विचारधारा ही परिस्थितियो से उत्पन्न होती है तब धर्म उसका एक अग होकर इस नियम से बाहर कैसे हो सकता है। मनुष्य के द्वारा की गई ईश्वर की कल्पना मनुष्य ही की तरह होगी, इसमे आश्चर्य क्या है। सगुण ईश्वर पूजा मे तो यह बात बिलकुल स्पष्ट है। अवतार तो हमारे ही अपने आदमी है। यह दिखलाया जा सकता है कि जितने भी देवता है, वे चाहे वैदिक इन्द्र, यम, वरुण, अर्यमा, अश्विनी-कुमार, भग कोई भी क्यो न हो, वे सभी देहधारी मनुष्य थे, और पराक्रम या और किसी कारण से देवत्व को प्राप्त हो गये। केवल यही नही, उपनिषद् के सूक्ष्म ब्रह्म तथा यहूदियो के जिहोवा, जो ईसाइयो के ईश्वर तथा मुसलमानो के अल्लाहताला के पूर्ववर्ती थे, पहले से सूक्ष्म नही थे। स्थूल देहधारी ईश्वरो का सूक्ष्मीकरण होते-होते इस प्रकार निरुपाधिक, निरवयव, निर्गुण साथ ही सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी ब्रह्म आदि की उत्पत्ति हुई। इस पहलू के स्पष्टीकरण के लिए हमने एक बडी पुस्तक लिखी

है। हम इस प्रसग के लिए इतना ही यथेष्ट समझते है कि कुछ बिलकुल मोटी बातो को दिखला दे जिससे पाठको को इस सम्बन्ध मे दिलचस्पी पैदा हो और वे इस सम्बन्ध मे और आगे खोज करे।

३—हिमालय की डोम जाति के चन्द्र-सूर्य सम्बन्धी विश्वास में पुरुष प्रधानता प्रतिफलित—हिमालय की तराई के डोम लोग, सभी आदिम और पिछडी हुई जातियो की तरह, खुल्लमखुल्ला पितृ-पूजा या पूर्वपुरुष-पूजा करते हैं। खुल्लम-खुल्ला हमने इसलिए कहा कि सभ्य जातियाँ इमी काम को इतना खुलकर नही करती, नही तो श्राद्ध, तर्पण, चहल्लुम आदि का स्वरूप यही है। तराई की ये जातियाँ पूर्वपुरुष-पूजा के साथ-साथ चाँद, सूर्य आदि की भी पूजा करती हैं। इन लोगो मे कोढ बहुत होता है। यह बात इनके देवताओ की कल्पनाओ मे किस प्रकार प्रतिफलित है, यह द्रष्टव्य है। इन लोगो मे यूरोपीय लोगो की तरह सूर्य पुरुष और चन्द्र स्त्री माना जाता है। यह कहा जाता है चन्द्रदेवी बहुत सुन्दरी है, इसलिए वह अपने सौन्दर्य पर बहुत इतराती रहती है और सूर्य के साथ उसका व्यवहार अच्छा नही रहता, इसलिए उसको कोढ हो गया है। चाँद के ऊपर जो धब्बे है वे इन लोगो मे कोढ के धब्बे माने जाते है। वहाँ के धर्मशास्त्र के अनुसार चाँद के धब्बे सुन्दरी स्त्रियो को सबक देने के लिए है।

४—मुंडा जाति के ग्रहण सम्बंधी विश्वास की पृष्ठभूमि में साहूकारी—भारतीय आदिम जातियो मे से एक दूसरी जाति—मुडा को लिया जाय। ये लोग डोमो के बहुत ज्यादा कर्जदार होते है। यह बात इनके धर्म विश्वास मे किस प्रकार प्रतिफलित हुई है, यह द्रष्टव्य है। कहा जाता है कि चाँद और सूर्य ने डोमो से रुपये उधार लिए थे, वे चुका नही पाये, इसलिए ये डोम महाजन आकर उनको परेशान करते है, उन्हे घेरते है, तथा उनके चेहरे पर चमडा डाल देते है, इसी से ग्रहण लगता है। डाक्टर मजूमदार ने लिखा है कि सभी भारतीय आस्ट्रिक कबीलो मे इस प्रकार की धारणा प्रचलित है।[१] हमे इसमे कोई आश्चर्य नही है, क्योकि बहुत आदिम काल से ही इन जातियो को दूसरी सभ्य जातियाँ महाजन के रूप मे लूटती रही है।

५—ब्रशमैन और ब्लैकफेलो जाति के विश्वास की पृष्ठभूमि में उनकी

---

१ F. P. T. p. 150

परिस्थितियाँ—नृतत्त्वविदो ने यह भी बतलाया है कि कई शिकार पर निर्भर जातियो मे जो पुराण प्रचलित हैं, वे पशुओ के इतिवृत्त मे भरे हुए हैं। एण्ड्रू लैग ने लिखा है कि बुशमैनो मे जो पुराण प्रचलित है, उनमे पशुओ का ही बोलबाला है। हाँ, उनके पुराण मे एक वृद्धा स्त्री का उल्लेख भी आता है। इस वृद्धा के अतिरिक्त करीब-करीब उनके सारे पुराण पशुओ की कहानी मे भरे हुए है। इस वृद्धा स्त्री का इस प्रकार अस्तित्व समझना कठिन नही है, क्योकि यह सब जातियाँ मातृकुल-मूलक थी अर्थात् मा से ही कुल चलते थे। यह अनुमान करना गलत न होगा कि यह वृद्धा स्त्री उस जाति की आदिम माता थी जिसे देवीत्व प्राप्त हो गया होगा। स्मिथ ने लिखा है कि आस्ट्रेलिया के ब्लैक फेलोगण, जो निरीक्षण के समय तक शिकारी अवस्था मे थे, मुख्यत पशु पक्षियो के उपासक थे। प्रत्येक जाति मे यहाँ तक कि सभ्य जातियो मे भी कमोवेश पशु-प्रतीक-पूजा या टोटम-वाद क्यो प्रचलित है, इसका सुराग हमे बहुत कुछ इस बात से मिल सकता है कि प्रत्येक जाति आदिम अवस्था मे शिकारी हालत मे थी।

६—सभ्य जातियो के धर्मो की पृष्ठभूमि को जानना कठिन—तराई की पूर्वोक्त डोम तथा मुंडा जातियो और बुशमैनो तथा ब्लैकफेलोगणो मे हमने जितनी आसानी से उनके धर्म विश्वासो को उनकी भौतिक परिस्थितियो से सम्बद्ध देख लिया, सभ्य जातियो के धर्म विश्वासो मे उतनी आसानी से उनकी भौतिक परिस्थितियो को प्रतिफलित देखना सम्भव नही है। सभ्य जातियो के धर्म विश्वासो मे सैकडो कारणो से चीजे जटिल हो गई है, और सभी क्षेत्रो मे भौतिक कारण को ढूंढने पर भी पाना सम्भव नही होता, क्योकि बहुत-सी परिस्थितियाँ ऐसी थी और है जो बिना चिह्न के लुप्त हो गई है।

७—धर्म विश्वासो का शोषणमूलक चरित्र—इस सम्बन्ध मे आगे विचार करने के पहले हम यह देख ले कि तराई की उल्लिखित जातियो मे जो वर्णित कुसस्कार प्रचलित है, उनका चरित्र क्या है। चन्द्र के कलक के विषय मे उनका जो विश्वास है, उसके द्वारा पुरुष स्त्रियो को शोषण करने मे तथा उन पर अपना अखण्ड शासन कायम रखने मे समर्थ होता है। इसी प्रकार चन्द्र और सूर्य के कर्जदार होने की जो बात है, उसका यह असर है कि इन जातियो मे कोई भी व्यक्ति कर्ज़ा चुकाने से इन्कार नही करता, चाहे इस मनोवृत्ति के कारण

उसे साहूकार का गुलाम ही हो जाना पडे। डाक्टर डि० एन० मजूमदार ने लिखा है कि तराई की कोल्टा जाति मे कोई स्वप्न मे भी कर्ज से इन्कार नही करता, क्योकि यह समझा जाता है कि ऐसा करने से देवता नाराज होते है। कहना न होगा कि इस क्षेत्र मे धर्म विश्वास साहूकारी प्रथा के सहायक रूप मे है।

८—धर्म परिवर्तनशील—धर्म को किसी एक व्यक्ति से या किसी एक पुस्तक से उत्पन्न हुआ मानना गलत है। यो तो देखने मे बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद क्रमश बौद्ध, जैन, ईसाई, मुसलमान धर्म के प्रवर्तक माने जाते है, किन्तु यदि हम गहराई के साथ देखे तो वैदिक धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम, बौद्ध धर्म या जैन-धर्म अपने-अपने समय की उपजे थी। केवल यही नही, इन धर्मो के पीछे इतिहास का एक पूरा सिलसिला छिपा हुआ है। ईसाई धर्म की बात ही ली जाय। जिस रूप मे वह हमारे सामने मौजूद है, उस रूप मे उसकी उत्पत्ति नही हुई थी। बदलते-बदलते इसका चेहरा काफी बदल चुका है। यरूशलम, ऐंट्रियोक, एलेक्जेड्रिया, रोम, एथेन्स सभी का ईसाई धर्म को उत्पन्न करने मे भाग रहा है। ३०० वर्ष तक पारिपार्श्विक परिस्थितियो के दबाव के कारण विकसित होने के बाद इसने पवित्र कैथोलिक गिर्जे का रूप धारण किया, किन्तु इसके बाद भी इसमे बराबर परिवर्तन, सशोधन, नवीकरण इत्यादि जारी रहे। अमेरिका मे आज भी रोज-रोज नये सम्प्रदाय पैदा होते चले जा रहे है। यो तो ईसामसीह के नाम पर ही यह धर्म प्रचलित है, किन्तु ईसा के बाद भी बराबर इसमे पैगम्बर होते गये है। ईसा के बाद प्रथम बडे पैगम्बर साल या पाल नामक कोई व्यक्ति थे जो स्वय रोमन साम्राज्य के नागरिक थे। इसके प्रथम बडे गिर्जे का उदय लिवेन्ट के बाजारो तथा बन्दरगाहो मे हुआ। यहाँ तक कि इसको जो क्रिश्चियन नाम प्राप्त हुआ, यह भी एटियाक नामक नगर मे।[१] ग्रेन्टएलेन के मतानुसार तो ईसाइयो का धार्मिक चिह्न कानस्टैनटाइन के पहले प्रचलित नही था, और यह चिह्न गाल के सूर्यदेवता के पूजको के सौरचक्र से लिया गया था, क्योकि इस सफल सम्राट् की सेनाओ मे इन सूर्य पूजको की ही प्रधानता थी।[२] इसलिए यह समझना बिलकुल

१. E. I. G. 250-5, २ Ibid p 58

गलत है कि एक व्यक्ति आया या एक वही उतरा और धर्म एकाएक प्रवर्तित हो गया । वस्तुस्थिति यह है कि धर्मों के पीछे विकास की एक पूरी लडी है, कथित वही या पैगम्बर केवल उसका तात्कालिक उत्तेजना कारण मात्र है, या थे । इसलिए किसी धर्म का अध्ययन करने के लिए यह जरूरी है कि उसके पीछे जो पूरी लडी मोजूद है उसका अध्ययन किया जाय ।

यह समझना भूल हे कि धर्म अर्थात् जीवित धर्म अपरिवर्तित रहते हैं। सच तो यह हे कि कट्टर से कट्टर अपरिवर्तनवादी धर्म को भी अपने मे बराबर इतिहास की शक्तियो के दबाव के कारण सूक्ष्म परिवर्तन करने पडे हैं। हक्सले ने लिखा हे कि 'तमाम सामाजिक क्रियाशीलताओ की तरह धर्म भी विकसित होने गये हैं। इसका यह विकास दो तरह की बातो मे निर्णीत होता है। एक इसकी अपनी भावुकतापूर्ण तथा बौद्धिक वेगशक्ति, उसका आन्तरिक तर्क, दूसरा उस युग की भौतिक तथा सामाजिक अवस्था है।'[१] हक्सले के बताये हुए दूसरे कारण मे पहला कारण आ जाता है। भावुकता और बौद्धिक वेगशक्ति अन्तिम रूप मे भौतिक कारणो से ही उद्भूत होती है, यह हम पहले ही बता चुके है।

९—कट्टर से कट्टर धर्म में परिवर्तन—यद्यपि धर्म, विशेषकर वे धर्म जो किसी विशेष पुस्तक या महापुरुष की वाणी से (अक्सर यह वाणी अपौरुपेय रूप मे सामने आती है, जैसे वेद, कुरान इत्यादि) अपनी उत्पत्ति बतलाते है, और यह वाणी लिपिबद्ध हो जाती है तो उस हालत मे विकास टेढी खीर हो जाता है। धर्म स्वय एक बहुत अपरिवर्तनवादी शक्ति है, क्योकि प्रत्येक धर्म चिरन्तन सत्य, अपौरुपेयता या आखिरुलम्बिया का दावा लेकर सामने आता है, फिर भी यह मजेदार बात है कि कट्टर से कट्टर धर्म मे भी कुछ न कुछ सशोधन तथा परिवर्तन होते रहे है। यदि धर्मो के मूल सिद्धान्तो मे परिवर्तन नही भी हुए है तो भी व्यवहार मे किस अश पर, जोर दिया जाय, और किस पर न दिया जाय, इस सम्बन्ध मे विचारो मे बराबर परिवर्तन हुए है। डाक्टर इन्ज ने लिखा है कि 'विभिन्न युगो मे ईसाइयत के विभिन्न आदर्श सामने आये है। किसी शताब्दी मे ईसाई भिक्षु आदर्श धार्मिक समझा गया, किसी युग मे

१ U M I. p 227

धर्मयुद्धकारी क्रूसेडर आदर्श ईसाई समझा गया। फिर परोपकारी व्यक्ति ईसाइयत का आदर्श समझा गया। इसी प्रकार तमाम धार्मिक संस्थाएँ शायद अदृश्य मंजिलो से होकर अपने विश्वास तथा विचारो को बदलती रहती है। वे निर्वाचन करती है अर्थात् किसी चीज को रख लेती है और किसी को धीरे से निकाल लेती है।'[१] इसी प्रकार सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक मैगडूगल ने Authropology and History मे लिखा है 'आम तौर से एक तरफ तो यह समझा जाता है कि धर्म बिलकुल व्यक्तिगत मामला है, जिसमे प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा अपनी विशेष प्रकृति के अनुसार त्राण का मार्ग ढूँढ लेती है, किन्तु इसके विपरीत हम सभी जानते है कि अधिकाश मनुष्यो के धार्मिक विश्वासो तथा व्यवहारो के स्वरूप वे जिस समाज मे पैदा होते है, उसके द्वारा निर्णीत होते है।' इस प्रकार कोई धर्म कहाँ तक सफल होगा या चलेगा, इसका निर्णय सामाजिक अवस्था मे होता है। मैगडूगल ऐसे भौतिकवाद के विरोधी वैज्ञानिक की इस बात को मानने के लिए विवश हुए है। यो तो किसी युग मे कोई भी कुछ प्रचार कर सकता है, और सच तो यह है कि एक ही समय मे दस तरह के धार्मिक मतवाद के प्रचारक मिलेगे, किन्तु मुहम्मद, ईसा, बुद्ध, महावीर और शकराचार्य के विचार अपने समय मे प्रचारित अन्य सैकडो विचारो के मुकाबिले मे क्यो सफल हुए, इसका रहस्य वहाँ की सामाजिक, आर्थिक विशेष परिस्थिति मे ही निहित है। इस प्रकार मनुष्य धर्म को बनाता है, न कि धर्म मनुष्य को। अवश्य शेषोक्त बात सत्य का केवल एक अश है। दूसरा अश यह है कि धर्म एक बार बन जाने के बाद मनुष्य को भी बनाता है।

१०—एक धर्म का विभिन्न देशों में विभिन्नरूप—धर्म की परिवर्तनशीलता के सम्बन्ध मे यह बात भी द्रष्टव्य है कि एक धर्म का एक देश मे जो रूप होता है, उसका ठीक ठीक वही रूप दूसरे देश मे नही होता। देश बदल देने पर धर्म को नवीन देश के साथ अपने को खपाना पड़ता है। जगत् के बहुत से देशो मे ईसाई धर्म प्रचलित होने पर भी प्रत्येक देश के ईसाई धर्म के साथ बहुत से स्थानीय सेन्ट तथा शहीद भी सयुक्त दृष्टिगोचर होगे। यही बात इस्लाम

---

१ B. A.. p. 75

के सम्बध मे भी कही जा सकती है। सभी इस्लामी देशो मे ताजियादारी प्रचलित नही है। भारतवर्ष मे नाम के लिए सर्वत्र हिन्दू धर्म का प्रसार होने पर भी प्रत्येक स्थान के धर्म मे वहुत फर्क है। ये पार्थक्य स्थानीय लोगो के इतिहास तथा उनके विश्वासो,रीत रिवाजो से अविच्छेद्य रूप से सम्बद्ध है।

११—धर्म ग्रन्थो की नई व्याख्या के द्वारा धर्म में सुधार—जीवित धर्मो मे ये सूक्ष्म परिवर्तन कई तरह से होते रहते हैं। एक तो पुरानी वाणी की नई व्याख्या करके उसको युगानुयायी बनाया जाता है। यह बहुत ही आम तरीका है, और धर्म-पुस्तक अक्सर गूढ दुर्वोध्य तथा मृत भाषा मे लिखी होने के करण इस प्रक्रिया मे आसानी होती है। लूथर ने जब ईसाई धर्म मे सुधार करने का आन्दोलन चलाया तो उसका सूत्रपात बाइबिल के नये अनुवाद से किया। इँगलैड मे जब इसी प्रकार सुधारात्मक इवेजलिस्ट आन्दोलन चला तो उसमे भी Retuin to the gospels अर्थात् असली धर्म पुस्तक मे लौट जाओ का नारा दिया गया, यानी धर्म-पुस्तको का जो प्रचलित अर्थ लोगो मे मान्य था, उसे गलत बताकर 'सही' अर्थ पर चलने के लिए लोगो से कहा गया। जिसे हाईचर्च आन्दोलन कहते है, वह भी प्रारम्भिक युग के गिर्जो के ढगो मे लौट चलो (ietuin to the early churcn) यानी उस आदिम युग के गिर्जे के पिताओ तथा उनके आचार्यो व वाणियो मे लौट जाने के आन्दोलन के रूप मे आया। ऐसे ही भारतवर्ष मे जब कोई नया धार्मिक सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ तो उसने अपने मतानुसार कुछ मुख्य धर्म ग्रन्थो की नई व्याख्या से काम शुरू किया। यह प्रक्रिया आधुनिक युग मे स्वामी दयानन्द तक जारी रही। उन्होने वेदो की एक बिलकुल नई व्याख्या की जो न तो यास्क-सम्मत है और न शकरानुयायी। स्वामी जी ने वेदो मे लौट चलो का नारा देकर आर्य समाज के आन्दोलन का सूत्रपात किया। उन्होने अपने सत्यार्थप्रकाश मे वैदिक ऋषियो के प्रतिपादिक मतो के पुनरुद्धार करने का दावा किया। हमे यहाँ इस पचडे मे नही पडना है कि उनके ये दावे कहाँ तक सही थे, और कहाँ तक गलत, हमे तो इस अवसर पर इतना ही दिखलाना है कि आर्यसमाज के आन्दोलन का सूत्रपात मान्य धर्मग्रन्थो की एक नई व्यारया से हुआ।

१ F. S. G p. 58

१२—अवतारो और पैगम्बरों के द्वारा धर्म का नवीकरण—फिर धर्म मे नई बात प्रचलित कर उसे युगानुगामी बनाने का एक तरीका यह भी रहा कि कोई नया अवतार या महापुरुष आये। उन्होने देखने मे तो पुराने धर्म को ही किन्तु असल मे उसे बहुत कुछ बदलकर प्रवर्तित किया। यह अवतार या महापुरुष पुरानी शब्दावली का प्रयोग करते हुए भी कुछ परिवर्तन कर देता है। वह महापुरुष यह नारा देता है कि प्राचीन धर्म तो शुद्ध था, किन्तु बीच मे लोगो ने उसे बिगाड दिया, इसलिए चलो हम लोग उस प्राचीन युग मे लौट चले। इस प्रकार वह प्राचीन युग की ऐसे रूप मे कल्पना करता है जैसा कि वह कभी नही था। इस प्रकार नये युग के तकाजे को पूरा करता है।

दूर न जाकर यदि हिन्दू धर्म को ही देखे तो इसमे हमे इन दोनो तरीको के सैकडो उदाहरण मिलेगे। विशेष ज्ञान के उत्सुक पाठक इस विषय मे और भी अध्ययन कर सकते है, किन्तु इस अवसर के लिए इतना ही बताना यथेष्ट होगा कि कट्टर से कट्टर धर्म भी यदि वे जीवित जाति के धर्म है—और प्रत्येक मौजूद जाति जीवित जाति होती है—तो उन्हे परिवर्तित होना ही पडता है, चाहे वे परिवर्तन कितने ही सूक्ष्म और जल्दी मे दृष्टिगोचर न होने वाले हो। अवतारो ने किस प्रकार धर्म को युगानुयायी बना दिया, इसे हम सिक्खो के इतिहास मे बहुत अच्छी तरह देख सकते है। गुरु नानक ने एक सरल सदाचारमूलक धर्म का प्रवर्तन किया था, किन्तु बाद को चलकर अन्तिम गुरुओ के हाथो मे यही धर्म एक जगजू धर्म हो गया।

१३—आदिमवैदिक धर्म सरल तथा ऐहिक था—हिन्दू धर्म का इतिहास तो बहुत बडे परिवर्तनो से भरा पडा है। वेद मे धर्म का जो रूप हमे मिलता है (स्मरण रहे कि वेद पौरुषेय नही है, केवल यही नही बहुपौरुषेय है, और विभिन्न युगो मे जो करीब करीब एक सहस्राब्दी तक फैला हुआ है, रचित है) उसे प्राकृतिक धर्म कहेगे। उस युग मे आर्यो को परलोक की चिन्ता नही थी। वे इहलोक की सुख समृद्धि, युद्ध मे विजय, रोग से मुक्ति, शत्रुओ का विनाश आदि के लिए विभिन्न देवताओ से प्रार्थना करते थे। इन देवताओ के साथ आर्यो का सम्बन्ध बहुत कुछ लेनदेन मूलक है यानी ऐसा कि मै तुम्हे सोमरस पिलाता हूँ तुम्हारे लिए यज्ञ मे आहुति देता हूँ तुम हमारे लिए यह करो वह करो इत्यादि। इन

समय तक जीवन मे पारलौकिक दृष्टिकोण की प्रधानता नही हुई थी। वेदो का युग एक तरह से आत्मतृप्ति का युग था। बात यह है कि अभी तक आर्यो को बराबर नई नई जमीने मिलती जा रही थी, वृद्धिशील साम्राज्य के कारण आपसी वर्ग-सघर्ष बहुत कुछ छिपा हुआ था, इसलिए उस युग मे लोगो को मुक्ति या निर्वाण की कोई जरूरत नही जान पडती थी। इन्द्र, वरुण, अर्यमा, भग, यम आदि जो थोडे से देवता थे, वे कोई बाहरी व्यक्ति नही थे, वे आर्यो के ही पूर्वपुरुष तथा उन्ही के वीर थे। आदिम वैदिक धर्म मे आत्मत्याग का कोई विशेष स्थान न था। यह कुछ तो पितृ-पूजा और कुछ प्राकृति शक्तियो के विषय मे अत्यन्त अल्प ज्ञान या अज्ञान होने के कारण तिलस्म मे विश्वास का युग था। ऐसा ज्ञात होता है कि वैदिक युग मे भी कई स्तर हुए। समय बीतने के साथ साथ धर्म मे जो कडाई आती गई और वह जटिल अनुष्ठान मूलक होता गया, किन्तु वैदिकधर्म के प्रथम स्तर मे धर्म बिलकुल सरल था, देवताओ को जो सोमपान कराया जाता था, या उनकी जो प्रार्थना की जाती थी, वह भी प्रथम युग मे कट्टर अनुष्ठान के रूप मे नही था, बल्कि जैसे हम वृद्ध अपाहिज पिता को खाना पहुँचाते है, कमोवेश उसी रूप मे था। सर जेम्स फ्रेजर ने धर्म की यह जो व्याख्या की है कि 'धर्म से मै मनुष्य के द्वारा ऐसी श्रेष्ठ शक्तियो की तुष्टि तथा अनुकूलता प्राप्त करना समझता हूँ,जिनके विषय मे यह विश्वास किया जाता है कि वे मनुष्य जीवन तथा प्राकृति की गति को नियन्त्रित तथा परिचालित करती है'—यह कहाँ तक आदिम वैदिक धर्म पर लागू होती हे इसमे सन्देह है, क्योकि वरुण, इन्द्र, यम, अर्यमा और भग निस्सन्देह श्रेष्ठ शक्तियाँ समझी जाती थी, किन्तु उनकी यह श्रेष्ठता अभी तक उसी प्रकार की थी जैसी पुत्र के सामने पिता या माता की होती है, या उससे अधिक, इसका निर्णय करने मे हम असमर्थ है। जो भी हो, इसमे सन्देह नही कि आदिमतम वैदिक धर्म बहुत सरल था। कालक्रम से यही वैदिक धर्म बहुत ही जटिल अनुष्ठान-युक्त हो गया, और उसकी वह आदिम सरलता जाती रही।

१४—वैदिक धर्म से असन्तोष—न्याय, वैशेषिक, जैन, बौद्धमत—यो तो वेदो मे ही कुछ-कुछ विद्रोह की आवाज उठ चुकी है, किन्तु जब वैदिक-धर्म जटिल हो गया, और उसका रूप सोलहो आने शासक वर्ग का स्वार्थसाधक

हो गया, तथा इसके जरिये अन्य लोगो का शोषण होने लगा, तब इसके विरुद्ध विद्रोह की आवाज उठी। ईसा पूर्व नवम तथा अप्टम शताब्दी मे यह विद्रोहमूर्त हो गया। बाद को हमे इन विद्रोहो का परिचय यत्र-तत्र उपनिषदो मे मिलता है। इन्ही विद्रोहो के फलस्वरूप वैशेषिक, साख्य, न्याय आदि दर्शन बने। असल मे ये सभी दर्शन वैदिक युग के जटिल धर्म के विरोधी थे, और चाहते थे कि विश्वास और अनुष्ठान के बूते पर नही बल्कि भौतिक रूप से चीज़ो की गहराई तक पहुँचा जाय। ये विद्रोह इस कारण अधिक सफल नही हो सके कि इनके पीछे कोई उत्पादक वर्ग स्थायी तौर पर नही था। फिर भी ये ही दर्शन बौद्ध, जैन विद्रोह को अनुप्रेरित करने के कारण हुए। बौद्ध और जैन विद्रोह इसलिए अधिक सफल रहे कि उनको उठती हुई सौदागर श्रेणी ने अपनाया। बुद्ध और महावीर—ऐसे ससार-त्यागी महापुरुषो के मतवाद पर वर्ग सिद्धान्त को लागू करना शायद कुछ लोगो को खटके किन्तु इन मतो के वर्ग चरित्र के सम्बन्ध मे कुछ ऐसे अकाट्य प्रमाण है जिनको कोई भी सही दिमाग व्यक्ति टाल नही सकता। बुद्ध के युग मे दास प्रथा प्रचलित थी। बुद्ध को जब उपहार मे दास दिये जाते थे तो वे उन्हे स्वीकार नही करते थे, किन्तु वे दास पर मालिक के अधिकार को इतना स्पष्ट रूप से स्वीकार करते थे कि सघ मे ऐसे दास का, जो अपने मालिक के द्वारा मुक्त नही किया गया है, लेना निषिद्ध था। यो तो बौद्ध और जैन-धर्म का सामाजिक आधार बहुत कुछ एक ही था, और उनके सिद्धान्त भी बहुत कुछ मिलते-जुलते थे फिर भी बौद्ध-धर्म का जो अधिक प्रचार हुआ, उसकी तह मे बुद्ध के जीवन का अधिकतर भावुकतामूलक आवेदन मालूम होता है। आगे चलकर बौद्ध धर्म का पतन हुआ, और प्रतिक्रिया की ताकतो ने यानी पुरोहित-प्रधान प्राचीन धर्म ने उसका गला दबा दिया। प्रतिक्रिया की इस विजय का यह कारण था कि आत्मयथेष्ठ आर्थिक पद्धति के अन्दर व्यापार की एक हद तक ही उन्नति हो सकती थी। धीरे-धीरे बौद्ध-धर्म मे ऐसी बाते सम्मिलित होती गई, जिनके कारण उसमे और ब्राह्मण-धर्म मे कोई फर्क नही रह गया। इधर ब्राह्मण-धर्म ने हाथ बढाकर बुद्ध को अवतार मान लिया। ब्राह्मणो का सारा पुराण बुद्ध के नाम से मढकर आ गया। ये ही अलौकिक चमत्कार आ गये। अवतारवाद के रूप मे बुद्ध के पूर्वजन्मो का

वर्णन करते हुए जातक कथाओं का निर्माण हुआ। बौद्ध-धर्म का महायान मत ब्राह्मण-धर्म से किसी प्रकार भिन्न न रहा। ऐसी हालत मे प्राचीनतर मर्यादा-प्राप्त ब्राह्मण-धर्म की विजय कोई आश्चर्य की बात नही रही।

१५—आदिम वैदिक धर्म के अलावा सभी भारतीय धर्मो में आत्मविलोप की इच्छा—इसके बाद तो प्रतिक्रिया की चक्की चली। इस प्रतिक्रिया का क्या रूप हुआ, इसे हम सबसे अच्छी तरह मनुस्मृति मे देख सकते है। दर्शन मे जो कुछ कसर रही, उसे शकराचार्य ने पूरा कर दिया। यहाँ पर इसके आगे हिन्दू-धर्म के इतिहास के अनुसरण की आवश्यकता नही है। हमे यहाँ पर इतना ही प्रतिपाद्य है कि धर्म अपरिवर्तनवादी शक्ति होते हुए भी उसकी जडे आर्थिक सामाजिक जडो मे होती है। केवल यही नही, बराबर बदलती हुई आर्थिक सामाजिक नीव का उस पर असर—चाहे वह युग की जरूरत को देखते हुए कितना भी कम हो—पडता ही रहता है।

भारतीय धर्मो के विषय को छोडने के पहले एक खास बात यह बता देना जरूरी है कि यहाँ आदिम वैदिक-धर्म के बाद चाहे कोई भी धर्म पनपा हो—यहाँ तक कि वे धर्म जो भौतिकवाद की ओर कुछ झुके हुए भी थे, उनमे भी हमे इस जगत् तथा जीवन से छुटकारा पाने की लालसा सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। यदि इसके कारण का अनुसन्धान किया जाय तो ज्ञात होगा कि यहाँ की उत्पादन शक्तियाँ उन्नत नही हो पाती थी, और घूम-फिरकर उसी आत्म यथेष्टता के दायरे मे रह जाती थी, इससे तरक्की के लिए कोई उत्तेजना नही थी, और समाज पिछडा हुआ रह जाता था। यहाँ वह स्फूर्ति कभी दृष्टिगोचर नही हुई जो नई उन्नततर उत्पादन-पद्धति को अपनाने से होती है। प्रकृति के रहस्यो को जानकर उनके जरिये अपनी अवस्था को उन्नत करने की बात लोगो को जैसे रुचती ही नही थी। इसके बजाय वे प्रकृति को बन्धन का जरिया समझते थे। इसलिए पलायनवाद, वानप्रस्थ, सन्यास, मुक्ति, निर्वाण और न मालूम साम्राज्य, सामीप्य और किस-किस प्रकार की बात ही लोगो को सूझती थी। इस कारण जैसे बताया गया, उत्पादन की शक्तियो मे उन्नति की कमी थी, फलस्वरूप यहाँ उस किस्म की भारी क्रान्तियाँ, जो

उत्पादन पद्धति मे परिवर्तन होने के कारण वर्गो के सम्बन्ध मे गहरी तब्दीली से ही हो सकती है, कभी नही हुई।

१६—मनुस्मृति और गृह्यसूत्रो का धर्म प्रतिक्रियावादी—इस प्रकार के आत्म विलोप के इच्छा मूलक धर्म की सामाजिक अन्तर्गत वस्तु बिल्कुल स्पष्ट है। इस प्रकार संसार की असारता तथा इस जीवन की नश्वरता के प्रचार के द्वारा लोगो मे उठती हुई विद्रोहाग्नि पर पानी छिडक दिया जाता था। स्पष्ट रूप से ऐसे धर्म शोषण के वाहन थे। यह केवल कपोल कल्पना नही है। इसे हम मनुस्मृति तथा गृह्यसूत्रो के अध्ययन से जान सकते है। डाक्टर भगवानदास ऐसे कृतविध हिन्दू तत्त्ववेत्ताओ ने मनु के धर्मशास्त्र को मानव धर्मशास्त्र करके दिखाने की चेष्टा की है, किन्तु मनु ने एक ही अपराध करने पर शूद्र के लिए तो बहुत अधिक सजा तथा ब्राह्मण के लिए लघु दण्ड अथवा क्षमा का विधान किया है। यदि शूद्र ब्राह्मणी पर बलात्कार करे तो उसके लिए प्राणदण्ड है, किन्तु ब्राह्मण शूद्रा पर बलात्कार करे तो उसके लिए बहुत ही लघुदण्ड का विधान है। ऐसा ही हरएक मामले म पक्षपात है। स्त्रियो के लिए इस कथित आदर्श धर्मशास्त्र मे वे ही सब विधान है जो पुरुष-प्रधान समाज की विशेषताएँ है। नारी की प्रशंसा मे जो एकाध श्लोक इधर-उधर है, वे या तो धोखे की टट्टी है, प्रक्षिप्त है अथवा अति आदिम युग मे नारी का जो सम्मान था, उसकी स्मृति के छिटपुट अवशिष्ट द्योतक मात्र है। कुछ भी हो, वे प्रयोग मे नही लाये जाते थे, इसमे कोई सन्देह नही। विस्तारभय से हम इस पर अधिक विचार नही करेगे, किन्तु इतना नि सन्देह है, और इसमे कोई विशेष लज्जा की बात भी नही। सभी सामन्तवादी समाजो की यही विशेषता थी कि धर्म सोलहो आने सामन्तवादी वर्ग की सेवा मे उपस्थित था। दर्शन मे जो बढ-बढकर अखिल विश्वात्मा की एकता तथा 'ब्राह्मणे गविहस्तिनि' समदर्शिता की बात कही जाती थी, वह केवल धोखे की टट्टी थी, जिसकी आड मे रहकर शासक वर्ग अपना शिकार खेला करते थे। हम यह साफ कर दे कि धर्म ने इस प्रकार का हिस्सा सचेतन रूप मे अदा किया, यह सब क्षेत्रो मे कहना कठिन और शायद एक हद तक अनुचित होगा, किन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि प्रयोग के तरीके Trial and error मे जो धर्म-शासक वर्ग के लिए अधिक लाभजनक सिद्ध

हुआ वही उस वर्ग की पृष्ठ पोषकता प्राप्त कर सका। इस प्रकार वही सरकारी या स्वीकृत धर्म हो गया, बाकी धर्मो को पीछे हट जाना पडा।

१७—शोषितो की विचारधारा के रूप में ईसाईमत का उदय—धर्म प्रत्येक युग मे एक प्रतिक्रियावादी शक्ति रहा हो, ऐसी बात नही है। १७०० वर्ष पहले जिस समय ईसाई-धर्म पहले-पहल रोम के रगमच पर आया था, उस समय वह एक क्रान्तिकारी शक्ति के रूप मे प्रकट हुआ था। ईसाई-धर्म मे यह जो कहा गया था कि सभी मनुष्य खुदा के बेटे है, इसलिए परस्पर भाई है, यह रोमन जुआ के नीचे पिसते हुए गुलामो के लिए बहुत आगे बढी हुई आशा की वाणी थी। अब तक उन्होने जो कुछ सुना था उसके मुकाबिले मे यह वाणी बहुत क्रान्तिकारी थी। इस वाणी ने गुलामो की बढती हुई विद्रोहाग्नि मे घृत की आहुति दी। स्वाभाविक रूप मे ऐसा धर्म, जिसमे ऐसी आपत्तिजनक बात कही गई थी, शासको को नापसन्द था। इसलिए ईसाई-धर्म एक प्रकार से गुलामो की गुप्त समितियो के जरिये फैला। ईसाईयो मे जो क्रूस चिह्न प्रचलित है, उसके सम्बन्ध मे एक सिद्धान्त यह भी है कि रोमन गुलाम लोग रात के अँधेरे मे अपने कामो से छुट्टी पाकर लुक-छिपकर कब्रिस्तानो मे एकत्र होते थे। चूँकि ये कब्रिस्तान ऐसे थे कि उनमे क्रूस चिह्न की सूचना होती थी, इसलिए ईसाइयो के लिए क्रूस चिह्न पवित्र हो गया। इसी प्रकार गिर्जो की मेहराबदार बनावट के सम्बन्ध मे भी यह बताया गया है कि चूकि आदिम ईसाई लोग मेहराबदार कब्रिस्तानो के भीतर जमा होकर ईश उपासना करते थे, इसलिए बाद को ईश प्रार्थना-स्थान के साथ मेहराबो का सम्बन्ध हो गया, और गिर्जे उसी नमूने पर बने।

आदिम ईसाई धर्म ने रोमन गुलामो मे किस प्रकार प्रवेश किया, इसका अत्यन्त सुन्दर वर्णन एगेल्स ने किया है। वे लिखते है 'प्रचलित रोमनो के धर्म या धार्मिक विश्वासो के लिए, साथ ही उनके राष्ट्र की जडो के लिए ईसाई-धर्म बहुत ही खतरनाक था, क्योकि यह सम्राट् की इच्छा को उच्चतम नियम मानने के लिए तैयार न था। इस धर्म की कोई पितृ-भूमि नही थी। यह अन्तर्राष्ट्रीय था, और फ्रास से लेकर एशिया तक सारे रोमन साम्राज्य मे, यहाँ तक कि साम्राज्य के बाहर, फैल गया था। बहुत दिनो तक यह धर्म

जमीन के नीचे चुपचाप अपना काम करता रहा, किन्तु कुछ दिनो से यह अपने को इतना दृढ अनुभव करता था कि अब यह दिन की रोशनी मे मुँह दिखाने की हिम्मत करने लगा था। यह एक क्रान्तिकारी दल था जो ईसाइयो के नाम से चल रहा था। सेना मे भी बहुत से लोग इसके माननेवाले हो चुके थे। कही-कही तो सेना की समूची टुकडियाँ ही इसके प्रभाव मे आ चुकी थी। जब इन सैनिको से यह कहा जाता था कि पैगन (ईसा के पहले यूरोप मे प्रचलित धर्मो का साधारण नाम) धर्म की कुर्बानी-सम्बन्धी अनुष्ठानो मे उपस्थित होकर गार्ड आफ आनर या सलामी दे तो ये क्रान्तिकारी सिपाही अब इतने गुस्ताख होने लगे थे कि अपनी फौजी टोपियो पर अपना विशेष प्रतीक अर्थात् क्रूस लगाकर उपस्थित होते थे। बैरको के अन्दर अनुशासन कायम रखने के लिए इनके अफसर आमतौर पर जो तरीके काम मे लाते थे, वे अब इस मामले मे बिलकुल व्यर्थ साबित हो चुके थे। सम्राट् डाओक्लिटियन इस अव्यवस्था, हुक्मउदूली तथा अनुशासनहीनता को देखते-देखते इतने नाराज हो गये थे कि उन्होने एक समाजवादी विरोधी—बल्कि कहना चाहिए ईसाई-विरोधी कानून चलाया। क्रान्तिकारियो की सभाएँ बन्द कर दी गई। उनके सभास्थल या तो बन्द कर दिये गये या ढहा दिये गये। ईसाई प्रतीको को—जैसे क्रूसो को—उसी प्रकार मना कर दिया गया जैसे सैक्सनी मे लाल रूमाल निषिद्ध करार दिये गये है।' (स्मरण रहे कि एगेल्स ने यह वर्णन १८९५ मे लिखा था, और उन्होने जो उल्लेख किये है, वे उस समय के जर्मनी मे प्रचलित समाजवाद विरोधी कानूनो की तरफ इशारा करते है) 'ईसाइयो को राष्ट्र के सभी पदो के अयोग्य घोषित किया गया, यहाँ तक कि वे सेना मे कारपोरल या नायक भी नही हो सकते थे। ईसाइयो को यह भी अधिकार न रहा कि वे अदालतो मे जाकर अपने हको के लिए मुकदमा लडे। किन्तु यह कडा कानून बेकार रहा। इसके विरोध मे ईसाइयो ने दीवार पर चिपके हुए सरकारी फर्मानो को फाड डाला। कहा तो यहाँ तक जाता है कि निकोमेडिया मे उन्होने सम्राट् के राजप्रासाद मे आग लगा दी थी। इसके फलस्वरूप सम्राट् ने ३०३ ईस्वी मे बहुत ही भीषण कत्लेआम किया, किन्तु यह अपने ढग का अन्तिम अत्याचार साबित हुआ। ईसाई धर्म का प्रभाव फिर भी इतना बढता गया कि

१७ साल में सेना मुख्यत-ईसाइयो द्वारा बन गई, और सारे रोमन साम्राज्य के अगले तानाशाह कानस्टनटाइन ने जिसको पादरियो ने महान् की उपाधि दे रक्खी है, ईसाइयत को राष्ट्रीय धर्म करके घोषित किया।'[१]

१८—राष्ट्रीय धर्मरूप में ईसाई धर्म का क्रान्तिकारित्व समाप्त—कानस्टनटाइन इस अर्थ मे महान् जरूर साबित हुए कि उन्होने ईसाई धर्म को राष्ट्रीय धर्म के रूप मे स्वीकार कर एक ही बार मे उसके क्रान्तिकारित्व को समाप्त कर दिया। अब वह गुलामो की गुप्त समितियो का धर्म न रहकर राजराजेश्वर रोमन सम्राट् का धर्म हो गया। इसके बाद तो ईसाई धर्म की कायापलट हो गई। अब तो वह शासक वर्ग के हाथो मे एक अस्त्र हो गया। अवश्य गुलामी का वह रूप अब नही रहा, उसमे कुछ उन्नति हुई, फिर भी इसके बाद मे जिस सामन्तवादी युग का सूत्रपात हुआ, उसमे ईसाई-धर्म न केवल सामन्तवाद का मित्र, पथ-प्रदर्शक तथा दार्शनिक ही रहा, बल्कि वह स्वय सोलहो आने सामन्तवादी हो गया। सामन्तवादी शासक वर्ग के समर्थन मे सन्तुष्ट न रहकर ईसाई धर्म के गुरु लोग स्वय सामन्तवादी सम्पत्ति के अधिकारी हो गये, और इस प्रकार की सम्पत्तियो के अधिकारी होने के बाद उनका यह प्रत्यक्ष स्वार्थ हो गया कि सामन्तवादी साम्पत्तिक सम्बन्ध चिरस्थायी रहे, नही तो उनकी सारी जमीन-जायदाद की जब्ती की आशका थी। मध्ययुग मे यूरोप मे ईसाई चर्च तथा राजशक्ति का सघर्ष होता रहा। वह कोई क्रान्तिकारी सघर्ष नही था, बल्कि मोटे तौर पर वह सामन्तवाद का आपसी युद्धमात्र था। कही-कही तो ऐसा भी देखने मे आया कि राजशक्ति ईसाई चर्च से कही अधिक प्रगतिशील थी।

१९—धर्म द्वारा विज्ञान का विरोध—गैलिलियो का निर्यातन—मध्ययुग मे जिस समय विज्ञान धीरे-धीरे घुटनो के बल चलने लगा था, उस समय हम ईसाई-धर्म को पूतना की तरह बार-बार उसका गला घोटने के लिए उत्सुक पाते हैं। ईसाई धर्म पृथ्वी को विश्व का केन्द्र समझता था, क्योकि उसे तो यही दिखलाना था कि मनुष्य के लिए ही ईश्वर ने सारी सृष्टि की रचना की

१ C. S. F. भूमिका

है। सूर्य उसी के लिए नित्य प्रात काल उदित होता है। चन्द्र उसकी यामिनियो को मधुरतर बनाने के लिए शीतल किरणो की वर्षा करता है। इस मतानुसार यह माना जाता था कि पृथ्वी विश्व के मध्य मे स्थित है, और सारे ग्रह, उपग्रह घूम-घूमकर उसी की प्रदक्षिणा करते है। ज्योही विज्ञान ने अटकलपच्चू तथा उडानो के क्षेत्र मे निकलकर अभिज्ञता तथा प्रयोदर्शन के क्षेत्र मे पदार्पण किया, त्योही विश्व-सम्बन्धी पहले की धारणा के नीचे से जमीन खिसकने लगी। कोपरनिकस (१४७३–१५४३) के सौ साल पहले ही डिमुसा ने इस सिद्धान्त पर सन्देह प्रकट किया था और इससे भी पहले ग्रीको मे पाइथागोरस तथा अरिस्टार्कस (३१०-२३० ई०पू०) ने पृथ्वी को विश्व का केन्द्र मानने से इन्कार किया था. किन्तु गैलिलियो (१५६४–१६४२) ने ही पहले-पहल अपने दूरबीक्षण यत्र से यह साबित कर दिया कि न तो पृथ्वी स्थिर है, और न वह विश्व का केन्द्र ही है। अब तक धर्मो ने लोगो को यह शिक्षा दी थी कि जब भी वे आकाश की ओर आख उठावे, तो वे ईश्वर की अपरम्पार लीला को सराहने के लिए ही ऐसा करे, किन्तु गैलिलियो ने केवल स्वय दूरबीन से आकाश के रहस्यो को जानने की चेष्टा की, बल्कि उन्होने जोश मे आकर साधारण लोगो को भी बुलाकर दूरबीन के जरिये यह दिखला दिया कि अब तक धर्मध्वजी लोग जो कुछ कहते आये है, वह गलत है, और हम जो कुछ कह रहे है वही सही है। इस पर ईसाई चर्च के रोष की सीमा न रही, और उसके प्रहार से बचने के लिए गैलिलियो जान लेकर इधर से उधर भागते फिरे।

पुस्तक लिखी। इसमे वापस ली हुई बाते केवल दुहराई ही नही गई थी, बल्कि बहुत-सी ऐसी नई बाते कही गई थी जो ईसाई धर्मशास्त्र के विरुद्ध पड़ती थी। इस पर फिर वे पकडे गये। फिर एक बार उन्होने अपनी बातो को वापस लिया किन्तु अबकी बार पोप ने उनका पिण्ड न छोडा। वे आजन्म कारावास मे डाल दिये गये। कई साल जेल मे रहने के बाद मित्रो के हस्तक्षेप से उनको अपने घर मे कैद रक्खा गया। बेचारे मरते समय तक बिलकुल बहरे हो गये थे, किन्तु बराबर वैज्ञानिक खोज करते रहे।

२०—धर्म ने ब्रूनो को जिन्दा जला दिया—गैलिलियो तो बहुत सस्ते बचे, जिओरडानो ब्रूनो तो अपने विचारो के कारण ईसाइयमत की बलिवेदी पर चढा दिये गये। ब्रूनो के विरुद्ध केवल एक ही आरोप नही था, बल्कि उनके विरुद्ध बहुत से आरोप थे। बिलकुल कट्टर अर्थ मे वैज्ञानिक न होने पर भी उनमे विज्ञान का आधारभूत जो स्वतन्त्र विचार है, वह मूर्त सा हो गया था। उनकी सारी चेष्टा तथा सारा जीवन इसी मे व्यतीत हुआ कि मनुष्य स्वतन्त्रता-पूर्वक सोचना सीखे, न कि बाबावाक्यम् प्रमाणम् मानकर चले। ब्रूनो का सबसे बडा अपराध यह था कि उन्होने अरस्तू को सभी बातो मे निर्भ्रान्त मानने से इन्कार किया। अरस्तू ईसाई मत के दर्शन के उत्सस्थल थे, इसलिए उन पर आक्रमण करना ईसाइयत पर आक्रमण करना था। यह मज़े की बात है कि अरस्तू ईसा के कई सौ वर्ष पहले पैदा हुए थे, और वे एक पैगन दार्शनिक थे; किन्तु फिर भी इस समय तक ईसाई मत के साथ उनका सम्बन्ध इतना अविच्छेद रूप से जोड दिया गया था कि ईसाई धर्म अरस्तू पर हुए किसी आक्रमण को सहन करने के लिए तैयार नही था। ब्रूनो को इसी अरस्तू के विचारो का विरोध करने के लिए प्राणदण्ड दिया गया।

ब्रूनो की शहादत के बाद भी १६२४ मे पेरिस मे जो ईसाई धर्म की धार्मिक पार्लियामेंट बैठी थी, उसमे ऐसे लोगो को देशनिकाले की सजा दी गई जिनकी राय खुल्लमखुल्ला अरस्तू के वक्तव्यो के विरुद्ध थी। १६२९ मे सरबान के ज़रूरी तकाज़े पर फिर एक बार यह साफ-साफ घोषित किया गया कि अरस्तू का विरोध करना ईसाई धर्म के विरुद्ध बगावत का झण्डा बुलन्द करना है। इन बातो से यह स्पष्ट हो जाता है कि अरस्तू के विरुद्ध विद्रोह करना जिओर-

डानों के लिए कितना गर्हित अपराध समझा गया। अरस्तू के चेले कहते थे कि जगत् शान्त है। ब्रूनो ने कहा था कि जगत् अनन्त है, और उसमें बराबर परिवर्तन होते रहते हैं। अरस्तुवादियों ने पृथ्वी को अचल कहा था पर ब्रूनो ने इसे भ्राम्यमान बतलाया। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रत्येक क्षेत्र में ईसाइयत के मूल तत्वों को चुनौती दी थी। वे बहुत दिनों तक धार्मिक लोगों के हाथों से बचकर देश-विदेशों में भटकते रहे, किन्तु अन्त में पकड़ लिए गये और पोप की आज्ञा से जिन्दा जला दिये गये। यों तो शायद लोग यह जान भी न पाते कि जिओरडानो कौन महाशय हैं, और उनका क्या कहना है, किन्तु जिस अग्निकुण्ड में वे जलाये गये उससे उठी हुई लपटों ने मानो उनके यश को दसों दिशाओं में फैला दिया। वे जानते थे कि ऐसा ही होगा इसी लिए उन्होंने निर्भीक रूप से मृत्यु का सामना किया।

२१—धर्म द्वारा बेकन, केपलर का निर्यातन—रोजर बेकन ने आकाश में समय-समय पर घटित होनेवाले ग्रहण आदि के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करने लिए एक ज्योतिष की सारणी (astronomical table) बनाई। इस तथा इसी प्रकार के अपराधों के कारण उनको दस साल की सजा उस समय मिली जिस समय उनकी उम्र ७० के लगभग थी। केपलर ने आकाश का मानचित्र बनाया, और यह आविष्कार किया कि ग्रहगण सूर्य के चारों ओर वृत्ताकार में नहीं, बल्कि अण्डे की लम्बाई के आकार में घूमते हैं। इस प्रकार के अपराधों के कारण उनको धर्म ने सजा देनी चाही, किन्तु वे हाथ नहीं आये। तब उनकी वृद्धा माता पर जादूगरनी होने का अभियोग लगाकर शारीरिक निर्यातन किया गया, और उनको मृत्युदण्ड भी दिया जानेवाला था, किन्तु मित्रों के कोशिश करने के कारण आजन्म कारावास का दण्ड मिला।

२२—धर्म के कारण डेकार्ट पूर्ण विकसित नहीं हो सके—इसी प्रकार बहुत से और वैज्ञानिकों का निर्यातन हुआ, और उनको धर्मविरोध के अपराध में जिन्दा जला दिया गया। मध्ययुग का इतिहास धर्म द्वारा विज्ञान के निर्यातन के इतिहास से भरा पड़ा है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि धर्म इस प्रकार विज्ञान का विरोध न करता तो विज्ञान की उन्नति और भी आसान होती और बहुत

से लोग, जो डर के मारे विज्ञान के पथ से च्युत हो गये, च्युत न होते। डेकार्ट ऐसे वैज्ञानिक के सम्बन्ध मे यह कहा गया कि वे धर्म-द्वारा निर्यातित होने के भय के कारण अपने विचार को समग्र रूप मे न रख सके, तथा उन्होने विश्व-पद्धति की जो यान्त्रिक कल्पना की थी, उस पर डर के मारे खामख्वाह एक ईश्वर को लाद दिया। हम समझते हैं कि केवल डर ही इसका कारण नही था, बल्कि जिस यान्त्रिक रूप मे उन्होने विश्व की कल्पना की थी, उसमे अन्त तक पहले-पहल जिसने उस यन्त्र को चलाया उसकी कल्पना को भी उस विश्व कल्पना मे सम्मिलित करना जरूरी था। डेकार्ट इस प्रकार विभिन्न असरो के कारण विज्ञान के साथ विश्व स्रष्टा ईश्वर के समन्वय करने की व्यर्थ चेष्टा मे रह गये। यही बात कान्ट के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है।

जो भी हो, जब से ईसाई-धर्म ने गुलामो का पल्ला छोडकर शासको का पल्ला पकडा, और जब से वह सामन्तवादी हो गया, तभी से उसने इतिहास मे बराबर एक प्रतिक्रियावादी हिस्सा ही अदा किया है। ईसाइयत ने वैज्ञानिको को केवल जिन्दा जलकर ही अपना काम नही चलाया, उसने साम, दाम, दण्ड, भेद सभी उपायो से काम लिया। कही वैज्ञानिको को नौकर रख लिया, तो कही बडा ओहदा दिया। इस प्रकार उसने बारबार विज्ञान के रास्ते मे रोडे अटकाने की कोशिश की। हमारे देश मे भी मतवादो का निर्यातन कुछ कम नही हुआ। वैदिक युग मे चार्वाक, बृहस्पति आदि भौतिकवादी विद्वान् हो गये है। यह पता लगता है कि अपेक्षाकृत आधुनिक काल तक—कौटिल्य आदि के समय तक—इनके मतो का अच्छा प्रचार था, किन्तु इन विद्वानो के ग्रन्थ भी इस प्रकार जला दिये गये कि उनके विरोधियो के ग्रन्थो मे उनके मतो की जो समालोचना है, उसके अतिरिक्त उनका कोई पता नही मिलता।

२३—नये वर्ग के कारण नये सम्प्रदाय—अलबीजेन्सस और प्रोटेस्टेन्टवाद— मध्ययुग मे, सामन्तवाद के युग मे, एक नये वर्ग की उत्पत्ति के साथ-साथ यूरोप मे ईसाइयत के अन्दर एक विद्रोही धारा चल निकली। इसको प्रोटेस्टेन्ट-वाद कहते है, और मार्टिन लूथर इस वाद के मुख्य प्रवर्तक माने गये है। इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रहे कि लूथर के बहुत पहले ही अलबीजेन्सस

नामक एक विद्रोही सम्प्रदाय का उदय हुआ था। यह सम्प्रदाय १२ वी तथा १३ वी शताब्दी मे मौजूद था। फ्रास के दक्षिण मे अल्वी नामक एक शहर से इस सम्प्रदाय का नामकरण हुआ। इस सम्प्रदाय का वर्ग चरित्र इससे स्पष्ट हो जाता है कि इसमे सौदागर वर्ग, कारीगर, शहर के गरीब तथा किसान शामिल थे। यह आन्दोलन धार्मिक था, किन्तु इसमे इसका वर्ग चरित्र छिपता नही, वल्कि जो लोग इसमे शामिल थे, उससे वह चरित्र और भी स्पष्ट हो जाता है। यह आन्दोलन धार्मिक रूप मे आने पर भी सामन्तवादी वर्ग के विरुद्ध भ्रूण रूप मे स्थित पूँजीवादी वर्ग और उसके मित्र किसान वर्ग (इस वर्ग का स्वार्थ इसमे था कि सामन्तवादी जूआ हट जाय, और अर्द्ध गुलामी दूर हो) के उत्थान का आन्दोलन था, किन्तु ये वर्ग अभी बहुत कमजोर थे। फिर भी इसको दबाने के लिए पोप को बीस साल तक युद्ध करना पडा। अन्त मे यह आन्दोलन दबा दिया गया। आगे चलकर जब विभिन्न कारणो से सौदागर वर्ग की वृद्धि हुई, तब प्रोटेस्टेन्टवाद की लहर चल निकली। प्राचीन रोमन कैथोलिक धर्म ने प्रोटेस्टेन्टो के साथ जो अत्याचार किये हे, उनकी कहानी इतिहास का एक अत्यन्त हत्यारा अध्याय है। फिर भी इस नवीन मतवाद ने बढते हुए सर्वतोमुखी विद्रोह को मूर्त किया, इसलिए इसकी जययात्रा को रोकने मे ये अत्याचार असमर्थ रहे। यह बात ध्यान देने योग्य है कि यूरोप के जिन देशो मे प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय का बोलबाला हुआ, वे ये ही देश हे जिनमे दूसरे देशो के मुकाविले प्रगति अधिक हुई अर्थात् उन्ही देशो मे पूँजीवाद सबसे पहले उद्भूत हुआ। ऐसे देश रोमन कैथोलिक देशो के आगे निकल गये।

२४—इँगलैंड का राष्ट्र गिर्जा—इंगलैंड का राष्ट्रीय गिर्जा यूरोप के सब गिर्जो से बिलकुल ही अलग हो गया। इस प्रकार इँगलैंड का धर्म एक 'द्वीप धर्म' हो गया। कदाचित् यह भी एक कारण हे कि इँगलैंड की उन्नति मे बाहरी शक्तियाँ हस्तक्षेप न कर सकी। इँगलैंड का गिर्जा जिन आर्थिक, सामाजिक कारणो से रोम के गिर्जे से अलग होकर फूट गया, वे कोई मतवाद-सम्बन्धी झगडे नही, बल्कि इनके पीछे बिलकुल ऐहिक लाभालाभ थे। कैथोलिक गिर्जो के अधिकार मे इंगलैंड की जमीन का बहुत बडा हिस्सा आ चुका था। अब ऊन पैदा करने के लिए उदीयमान पूँजीवादी वर्ग को इन ज़मीनो की जरूरत

थी। स्वाभाविक रूप से गिर्जे इन जमीनो को अपने अधिकार से जाने देना नही चाहते थे। केवल यही नही, वे अपने इस अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए प्राचीन सामन्तवादी सम्बन्धो की अच्छेद्यता का गीत गाया करते थे। नये गिर्जे अर्थात् नये मत के अनुसार मनुष्य केवल विश्वास के ही द्वारा अपना त्राण कर सकता था। इस प्रकार नये मत मे प्राचीन पादरी वर्ग को बिलकुल कन्नी काटकर उसकी आमदनी का जरिया खतम कर दिया गया था। जनता गरीब थी, जब इस प्रकार पादरियो की व्यय सापेक्ष मध्यस्थता को नये मतवाद मे हटा दिया गया, तो जनता ने भी इसको ग्रहण कर लिया। यह भी एक कारण था कि कैथोलिक चर्च का ह्रास हुआ, और नये मतवाद का अभ्युदय हुआ। टामस क्रामवेल ने जिस क्रान्ति का नेतृत्व किया, उसके द्वारा गिर्जो की तमाम ज़मीने गृहस्थ जमीदारो को दे दी गई। इस प्रकार जिन लोगो के हाथो मे जमीने आई, वे जमीन का उपयोग गतानुगतिक तरीके से न कर अधिक मुनाफे के लिए तैयार थे। परिणाम यह हुआ कि नई आर्थिक शक्तियो को उत्तेजना मिली। १५५९ मे ही ब्रिटिश पार्लियामेट ने पोप की शक्ति को खतम कर दिया था, और ऐहिक तथा पारलौकिक दोनो क्षेत्रो मे महारानी एलिजाबेथ को मुख्य अधिकारिणी करार दिया था। इस प्रकार अपनी प्रार्थना-पुस्तक के अनुसार प्रार्थना करने के लिए जो सघर्ष हुआ, उसकी पृष्ठभूमि मे वर्ग सघर्ष और सम्पूर्ण रूप से ऐहिक हित काम कर रहे थे। ट्राटस्की ने ठीक ही लिखा है कि 'ये नये वर्ग जिन हितो के लिए लड रहे थे, वे उनके मन मे अपरिहार्य रूप से बाइबिल के वाक्यो तथा गिर्जे सम्बन्धी अनुष्ठानो से खिरतमिलत हो गये, तभी तो ईसाई धर्म की व्याख्या ने एग्लो सेक्सनो मे इतना जबर्दस्त पौरुष दिखलाया।'[१]

२५—अन्य देशो मे कैथोलिक सम्प्रदाय—राइनलैड मे कैथोलिक गिर्जा न तो उदीयमान आर्थिक-सामाजिक शक्तियो के सामने झुका और न टूटा ही। ऐसा इसलिए हुआ कि वहाँ कैथोलिक गिरजे ने अपने को करीब-करीब आत्म-शासित करार दे दिया। स्थानीय बिशप अपनी-अपनी जगह पर पूर्ण प्रभु हो

---

१ R. R. p. 36

गये। उन्होने धीरे-धीरे गिर्जे की जमीने वैयक्तिक जमीदारो को सौप दीं। इसके फलस्वरूप राइनलैंड मे रोम की शक्ति का अन्त हुआ, किन्तु कैथोलिक गिर्जे की शक्ति ज्यो की त्यो रह गई। पहले कैथोलिक गिर्जे के अनुसार सूदखोरी वहुत बडा अपराध था। इसी कारण महाजनी और साथ-साथ व्यापार यहूदियो के हाथ मे चला गया, किन्तु धीरे-धीरे कैथोलिक गिर्जे ने इस पर भी राय बदल दी। स्पेन मे कैथोलिक गिर्जे का दबदबा कभी घटा ही नही, और न वहाँ रोम का आधिपत्य ही घटा। बात यह है कि वहाँ पूँजीवाद का सही अर्थ मे उत्थान हुआ ही नही। १९३१ मे स्पेन मे जो लोकतात्रिक क्रान्ति हुई, जिससे पूँजीवाद के अभ्युदय के लिए मार्ग खुल गया था, वह भी कैथोलिक गिर्जे के दबाव के कारण टिक न सकी। स्पेन मे कैथोलिक गिर्जे का यह दबाव इस कारण था कि वहाँ उत्पादन पद्धति मे उन्नति हुई ही नही।

२६—फ्रास की राज्यक्रान्ति और धर्म-विरोध—फ्रास की राज्यक्रान्ति (१७८९) के अवसर पर कैथोलिक धर्म ने सामन्तवाद का साथ दिया था। इस कारण उठते हुए पूँजीवादी वर्ग ने इसकी बहुत खिल्लियाँ उडाई। इसी कारण राज्यक्रान्ति को एक धर्म-विरोधी चरित्र प्राप्त हुआ। बात यह है कि पादरियो ने ईश्वर को सामन्तवादी वर्ग के पक्ष मे दिखलाया, इसलिए पूँजीवादीवर्ग ने ईश्वर के स्थान पर युक्ति या वुद्धि को रक्खा। पेरिस के सबसे बड़े गिर्जे को युक्ति का मन्दिर करार दिया गया। धर्म के समान्तराल उत्सवो का सूत्रपात किया गया। १७९० की १४ वी जुलाई को क्रान्ति का सबसे प्रथम उत्सव मनाया गया। इस अवसर पर शॉ-द-मार नामक मैदान के ठीक मध्यस्थल मे बीस फुट ऊँची मातृभूमि की वेदी वनाई गई। यह कहा गया कि इसमे लोग अपनी अर्जियाँ रक्खेगे, और लोग यही पर शपथ लिया करेगे। इस अवसर पर १६०००० व्यक्तियो को बैठने के लिए जगह दी गई, और डेढ लाख व्यक्ति खडे रहे। इस अवसर पर जनता मे अपूर्व उत्साह रहा। असल मे यह वेदी गिर्जे की प्रतिद्वन्द्वी के रूप मे वनाई गई थी। बाद को सारे देश मे इस प्रकार की वेदियाँ बनाई गई। इस पर ससार मे सबसे निर्दोष वस्तु बच्चे, यहाँ तक कि सद्योजात शिशु रक्खे जाते थे। तरह-तरह के अन्य प्रतीको से इस वेदी को लोगो की आँखों मे महत्त्व देने की चेष्टा की जाती थी। इस प्रकार धर्म के

विरुद्ध निरन्तर प्रचार जारी रक्खा गया। पहले धर्म के विरुद्ध प्रचार मे उदीयमान पूँजीवादी वर्ग तथा शहरी मजदूर जनता दोनो बराबर जोश दिखाती थी, किन्तु यह गठबन्धन अधिक दिन न चल सका, क्योकि एक तो धर्म ने नये शासक वर्ग के साथ समझौता करने का रुख दिखलाया, दूसरे अब पूँजीवादी वर्ग मजदूर वर्ग के साथ क्योकर चलता ? जहाँ तक सामन्तवाद को उखाड फेंकने का प्रश्न था, वहाँ तक तो दोनो साथ-साथ चले, किन्तु अब आगे उनका क्या साथ हो सकता था। 'कम्युन खुल्लमखुल्ला ईसाई धर्म को दबाने का अपना उद्देश्य घोपित कर रहा था, और युक्ति तथा स्वतन्त्रता की पूजा कराने पर तुला हुआ था। इस आन्दोलन के मुख्य नेता शौमेत थे।'[१] शौमेत के अतिरिक्त एबेर (Hebert) आदि अन्य नेता भी थे। अब निरी बातो से ये लोग व्यावहारिक कार्यों मे उतरने लगे। ईसाई महीनो का तो पहले ही बहिष्कार हो चुका था। उनकी जगह पर ऋतु नाममूलक महीनो का प्रवर्तन हो चुका था। पेरिस मे अब यह कदम उठाया गया कि ईश्वर के नाम से गिर्जो मे जो बड़े-बडे घटे लगे है, उन्हे तोड लिया जाय, और उन्हे गलाकर तोप तथा सिक्के बनाये जायँ। रगमच ने इस प्रवृत्ति का साथ दिया, और 'ढोगियो की कब्रे' तथा 'सत्य के मन्दिर का प्रवर्तन' नामक नाटको मे ईसाइयो की सबसे बडी प्रार्थना (High mass) का उपहास किया गया। कन्वेन्शन ने इस बात पर कोई ख्याल नही किया, किन्तु जब ऐसी बाते होने लगी, साथ ही साथ इसमे यह भी कारण आ मिला कि राबसपियर कट्टर ईश्वरवादी थे, लोगो का ध्यान इस ओर गया। फूसे नामक एक नेता ने नेवर (Nevers) के एक केथड्रल से बोलते हुए कहा कि लोकतांत्रिक कार्यक्रम से अध्यात्मवाद को बिलकुल निकाल दिया जाय। इसके साथ उन्होने यह फतवा भी निकाल दिया कि अब ईश्वर की चिरनिद्रा होती है, इसलिए न तो अब स्वर्ग ही रहा और न नरक। कई जगह गिर्जो को सत्य के मन्दिर मे तब्दील कर दिया गया। बहुत से स्थानो की माता मरियम की मूर्ति के सम्बध मे यह समझा जाता था कि इसमे अलौकिक शक्ति है। ऐसी मूर्तियो को क्रान्तिकारी जनता

१ F. R. L. M. p. 387

ने सार्वजनिक रूप से जला दिया। लोग गिर्जो की कीमत तश्तरियाँ लेकर चलता हो गये। एलियेर के विशप ने फूस के सामने धर्म त्याग कर दिया। कई व्यक्तियो ने बहुत से लोगो के सामने स्नान किया, और कहा कि अब हम ईसाइयत से अलग हो गये। अब तो रासपियर की सहन शक्ति खतम हो गई। बात यह है कि अब सारे देश मे, जहॉ देखो तहाँ, स्वतत्रता और युक्ति की देवियो के रूप मे सुन्दरी स्त्रियो की पूजा हो रही थी। ये उत्सव वैसे ही थे जैमे हमारे यहॉ रामलीला मे किसी भी साधारण वालक को, राम बनाकर, पूजा की जाती है। जो भी हो, लोगो मे बहुत जोश था और सब समझ रहे थे कि ईश्वर को निकाल बाहर किया गया।

२७—पूँजीवादीवर्ग ने धर्म को अपनाया—रावसपियर ने स्वय इन अनुष्ठानो के विरुद्ध आवाज़ नही उठाई, किन्तु पाइयाँ (Payan) ने जब यह कहा कि ये देवियॉ दन्तकथा की कहानियो की देवियो से कही अधिक पतिता है, तब रावसपियर ने उसकी प्रशसा की। कोलो नामक एक व्यक्ति ने भी इसी प्रकार युक्ति देवी के विरुद्ध आक्षेप किये।

रावसपियर के साथी कूथो ने विजय के त्योहार के अवसर पर ईश्वरवादी के रूप मे भाषण दिया। दॉतो भी इस आन्दोलन से असन्तुष्ट थे। यदि हम स्मरण रक्खे कि ये अनीश्वरवादी लोग ईश्वर के साथ साथ सम्पत्ति तथा शासक वर्ग के सदाचार के विरूद्ध थे, तो हमे यह समझने मे देर न होगी कि क्यो यह अनीश्वरवादी आन्दोलन मध्यवित्त श्रेणी तथा उच्चश्रेणी की ऑखो की किरकिरी हो गया। तथा क्यो जूलियन से लेकर उनके छोटेभाई अगुस्ताँ रावसपियर 'पतित' तथा अनीश्वरवादी डियूटियो के विरूद्ध लड़ाई लडने लगे। थोडे ही दिन मे परिस्थितियो का इतना स्पष्टीकरण हुआ कि इस आन्दोलन के नेतागण गिरफ्तार किये जाने लगे, और इनमे से कइयो पर पिट तथा कोवुर्ग के एजेट होने का आरोप लगाया गया। इस क्षेत्र मे रावसपियर कूथो से अनुप्रेरणा लेते थे। इसके वाद वे साथ साथ आ गये, और कहना शुरू किया कि यदि ईश्वर न भी होते तो हमे मजबूरन ईश्वर का आविष्कार करना पड़ता। उन्होने कहा कि ऐसे एक ईश्वर की कल्पना जरूरी है जो सताये हुए निर्दोष लोगो पर अपनी देखरेख रखते है, तथा जो अपराध विजयी हो जाता

है, उसको सजा देते हैं। १७ जरमिनाल को कन्वेन्शन के 'पापी' सदस्य मौत के घाट उतार दिये गये। इसके बाद ईश्वर के त्योहार की तैयारी होने लगी। रावसपियर ने कहा 'पवित्र आत्माओ को इस बात की अवश्यकता का अनुभव हो रहा है कि वे ईश्वर को माने तथा उनकी पूजा करे।' साथ ही यह भी कहा गया कि जो कोई ऐसा महसूस नही करता, वह बडा अभागा है। १८ फ्लोरियाल को रावसपियर ने एक वक्तृता दी जिसमे उन्होने कहा कि धार्मिक तथा नैतिक विचार और लोकतान्त्रिक सिद्धान्तो मे अटूट सम्बन्ध है। इस अवसर पर एक कानून भी बनाया गया जिसमे यही बात कही गई। लेस्को नामक सदस्य ने इस कानून पर एक रहस्यवादी पुट लगाते हुए कहा कि इस प्रकार के कानून को पास करने के कारण कि ईश्वर फ्रास पर बहुत खुश होगे, और अबकी बार बहुत जबर्दस्त फसल होगी। इस प्रकार ईश्वर का त्योहार मनाया गया। रावसपियर ने इस अवसर पर प्रधान ऋत्विक् का काम किया। कहा जाता है कि इस अवसर पर उन्होने जो लम्बा भाषण दिया था, उसे उन्होने एक कृतविद्य पादरी आवेपोरके से लिखवाया था। ईश्वर का गुणगान लाखो ने किया। इस अवसर पर धूपबत्ती जलाई गई, और जिस प्रतीक स्वरूप पहाड पर मैक्समिलियन रावसपयिर खडे थे, वह धूप लोहबान आदि के धुएँ के बादल से ढँक गया। लुई माडला ने लिखा है कि कदाचित् ऐसे ईश्वर को रावसपियर मुद्दत के लिए भूल गये कि वे केवल ईश्वर के पुरोहित का काम कर रहे हैं, स्वय ईश्वर नही हैं। यह द्रष्टव्य है कि बाद को रावसपियर मारे गये, किन्तु उसके कारण और हैं। सारांश यह कि जब फ्रेन्च राज्य क्रान्ति के फलस्वरूप पूँजीवादी वर्ग अन्य वर्गो के साथ मिलकर सामन्तवादी वर्ग को निकाल बाहर करने मे समर्थ हुआ, और उसकी शक्ति अच्छी तगडी हो गई, तो उन्होने शरणागत-धर्म को अभयदान दिया, और अपने वर्ग स्वार्थ के लिए उसका इस्तेमाल करना शुरू किया। धीरे धीरे ईसाई धर्म की फिर से स्थापना हुई, तथा भागे हुए पुरोहित लोग लौट आये। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैसे धर्म एक विशेष ऐतिहासिक परिप्रेक्षित मे, एक विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए, उदित हुआ उसी प्रकार धर्म का विरोध भी एक ऐतिहासिक उद्देश्य को लेकर फ्रास की राज्य क्रान्ति के समय तथा उसके कुछ दिन बाद तक चला। जिन वर्गो ने धर्म

विरोध को सामन्तवाद विरोध के एक हथियार के रूप मे अपनाया था, उनमे से जो वर्ग अब शासक वर्ग हो गया आर्थात् पूँजीवाद वर्ग जब धर्म के विरुद्ध इस सयुक्त मोर्चे से निकल गया, केवल यही नही जब धर्म के साथ उसका समझौता हो जाने के कारण उसने धर्मविरोधियो को मारना शुरू किया, तो धर्मविरोधी आन्दोलन दब गया। मैक्समिलियन रावसपियर अपने वैयक्तिक विश्वासो के कारण केवल इसमे पूँजीवादी वर्ग के हाथो मे एक हथियार के रूप मे सिद्ध हुये। अन्य तरीके से शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूति शील होने पर भी पूरी हद तक शोषितवर्ग का साथ न दे सकने के कारण ही अजीब परिस्थितियो मे उनका पतन हुआ।

२८—**वर्तमान युग में धर्म राष्ट्र का पिछलगुआ**—इस सम्बन्ध मे यह द्रष्टव्य है कि पूँजीवादी वर्ग ने दबकर धर्म से समझौता नही किया, बल्कि धर्म ने ही दबकर पूँजीवादी वर्ग की शरण ली। जहॉ वह पहले सामन्तवादी समाज तथा उसके साम्पत्तिक सम्बन्धो का समर्थक था, वहॉ अब वह पूँजीवादी समाज और उसके साम्पत्तिक सम्बन्धो बल्कि श्रम सम्बन्धो को आशीर्वाद देने लगा। वर्तमान यूरोप मे धर्म को राष्ट्र के मुकाविले मे विलकुल पीछे हट जाना पडा है। मध्ययुग मे यह कहा जा सकता था कि धर्म और राष्ट्र कुछ-कुछ बरावर पड़ते थे, किन्तु अब तो जितने गिर्जे है वे स्पष्ट रूप से राष्ट्र के पिछलगुये मात्र है। मध्य युग मे उनका कुछ सास्कृतिक महत्त्व था, किन्तु अब तो उनका इस सम्वन्ध मे कोई भी महत्त्व नही है।

२९—**आधुनिककाल में धर्म का अन्तर्राष्ट्रीय सस्कृति में कोई स्थान नही**—ग्लास्गो विश्वविद्यालय के डाक्टर वर्नस यह मानने पर विवश हुए है कि वर्तमान युग मे धर्म का कोई सास्कृतिक अन्तर्राष्ट्रीय हिस्सा नही है। स्मरण रहे कि वे धर्म को भूतकाल की इतनी वडी प्रगतिशील शक्ति मानते है, जितना कि वह कभी नही था। उन्होने लिखा है 'रोमन गिर्जे ने अन्धकार युग की यूरोपीय जातियो को सभ्य वनाने मे मदद दी। वाद के युग मे लूथर ओर कैल्विन ने कुछ दूसरी जातियो पर प्रभाव डाला। इसी प्रकार यूरोपीय परम्परा के वाहर वौद्ध धर्म चीन और जापान मे फैल गया, और इस्लाम ने अरवो, तुर्कों, ईरानियो तथा मूरो को सम्वद्ध कर दिया, किन्तु वर्तमान युग मे जो

अन्तर्राष्ट्रीय सम्वन्ध है, उनके वनाने मे धर्म का कोई स्थान नही है। अव तो विज्ञान और कला ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्वन्धो को कायम करती है। वर्तमान युग का गणित अन्तर्राष्ट्रीय है, यहाँ तक कि उसकी भाषा भी सव राष्ट्रो के लिए एक है ' इत्यादि। डाक्टर वर्नस ने यह जो लिखा है कि रोमन गिर्जे ने अन्वकार युग की यूरोपीय जातियो को सभ्य वनाया, इस वात पर हम ज्यो का त्यो विश्वास करने के लिए तैयार नही है। आखिर गिर्जो के पहले के जमाने मे अरस्तू, अफलातून आदि कितने ही विद्वान् पैदा ए। जैसा हम लिख चुके है, ईसाई धर्म ने अरस्तू की ही सारी वातो को अपना लिया, इसलिए यह दावा स्वाभाविक रूप से फीका पड जाता है कि ईसाई धर्म ने या रोमन गिर्जे न जातियो को सभ्य वनाया। यदि उन्होने इसमे कुछ वँटाया तो इसके कारण अन्यत्र ूढने पडेगे। चीन मे वौद्ध धर्म के जाने से वहाँ कुछ विशेष अन्तर्राष्ट्रीयता वढी हो, ऐसा नही ज्ञात होता। इस्लाम ने अरवो, तुर्कों, ईरानियो इत्यादि को उसी प्रकार सयुक्त किया, जिस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य ने भारत, मिस्र, मलाया, आदि को सयुक्त किया। यो तो इस्लाम ने कुछ सास्कृतिक सेवाएँ की इसमे कोई सन्देह नही।

३०–प्रत्येक देश का ईश्वर अपने देश के शासक वर्ग के हाथो का कठ-पुतला–नगुची-रवीन्द्र मे पत्र-व्यवहार—जिस समय कोई महायुद्ध छिडता है, उस समय प्रत्येक राष्ट्र का गिर्जा किस प्रकार अपने देश की विजय के लिए लोगो को धर्म के नाम पर भडकाता है, यह सभी को ज्ञात है। इस प्रकार जर्मनी का ईश्वर इँगलैंड के ईश्वर के विरुद्ध आशीर्वाद देता हुआ, दृष्टिगोचर होता है। इस तथ्य से धर्म का पिछलगुआ चरित्र स्पष्ट हो जाता है। १९३८ मे चीन पर जापान द्वारा आक्रमण के सम्बन्ध मे जापान के प्रसिद्ध कवि योने नगुची और रवीन्द्रनाथ मे जो पत्र-व्यवहार हुआ था, उसमे योने नगुची ने किस प्रकार धर्म को घसीट कर चीन पर जापानी आक्रमण का समर्थन किया था, यह द्रष्टव्य है। उन्होने लिखा 'मैने कलकत्ते के कालीघाट मे काली की उन्मत्त और रक्त-चर्चित त्रिनयना मूर्ति के सम्मुख सर झुकाया, क्योकि इसने हमे आनेवाली शान्ति की सूचना दी। इसी प्रकार बम्बई के निकट एलिफेन्टा द्वीप मे मैने त्रिमुण्ड युक्त

शिव से यह बात सीखी कि विनाश जीवन का एक अनिवार्य सत्य है। उस समय मैंने लिखा था—

'तुम्हारी हत्यारी तलवार हमे उतनी निष्ठुर
प्रतीत नही होती, जितनी वह दिखाई पडती है,
सृष्टि महान् है, किन्तु विनाश इससे भी महत्तर है
क्योकि राखो के ढेर से
नवीन आशाओ का उद्भव होता है।'

इस प्रकार योने नगुची ने जापानी आक्रमण के लिए भारतीय धर्म मे ही समर्थन प्राप्त किया था। इसके उत्तर मे रवीन्द्रनाथ ने लिखा था—'मै आपको इस बात के लिए धन्यवाद देता हूँ कि आपने भारतीय दर्शन का अर्थ मुझे समझाया, और यह कहा कि काली और शिव की सही व्याख्या करने पर चीन के वक्ष स्थल पर जापान इस समय जो ताण्डव नृत्य कर रहा है, उसका समर्थन हमे करना ही पड़ेगा। मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि आप यदि एक ऐसे धर्म से जो आपके और करीब है शिक्षा लेते, और बुद्ध से अपना समर्थन प्राप्त करते तो अधिक शोभन रहता। हाँ, मै तो भूल ही गया कि आपके देश के पुरोहित तथा कलाकारो ने इस युद्ध मे बुद्ध का समर्थन प्राप्त कर लिया है, क्योकि मैंने 'ओसवकामाईनीची' और 'टोकियो नीचीनीची' (१६ सितम्बर १९३८) मे बुद्ध की एक विराट् मूर्ति का चित्र देखा जो आपको अपने पडोसियो के कत्ले-आम के लिए आशीर्वाद देते है।'

३१—धर्म हमेशा से संकुचित स्थिर स्वार्थ का पैरोकार—इस पर कुछ कहने की आवश्यकता नही है। धर्म के दो जगत्-प्रसिद्ध व्याख्याता किस प्रकार धर्म को अपने-अपने मत की ओर खीचते है, यह द्रष्टव्य है। इनमे से कौन सही है, यह हमारे वर्तमान विषय की दृष्टि से अनावश्यक है। हमे इसमे इतना ही जोडना है कि कवीन्द्र के पत्र से यह जो झलक आती है, मानो जापानियो ने ही अपनी साम्राज्यवादी उच्चकांक्षाओ की पूर्ति के लिए धर्म का इस प्रकार इस्तेमाल किया है, तो यह गलत होगा। यदि जापानियो ने साम्राज्यवादी युद्ध मे बुद्ध का समर्थन प्राप्त किया, तो दूसरी जातियो ने अपने साम्राज्यवादी उद्देश्यो के लिए उन ईसा का समर्थन प्राप्त किया जिन्होने यह कहा था कि यदि तुम्हारे गाल पर

कोई थप्पड मारे तो दूसरा गाल भी आगे बढा दो। रवीन्द्रनाथ जिनका अधिक गौरव करते थे, वे वैदिक आर्य भी इस प्रकार की चेष्टा से बरी नही थे, बल्कि सच तो यह है कि उनके वरुण, इन्द्र, अश्विनीकुमार आदि देवता यहूदियो की जेहवा की तरह बिलकुल एक कबीले के देवता थे, और दूसरे कबीलो के दाम पर अपने कबीले या कबीलो की भलाई चाहते थे।

३२—धर्म प्रगति विरोधी—धर्म आज किसी भी महत्त्वपूर्ण मामले मे राष्ट्र-शक्ति का अर्थात् देश के शासक वर्ग का विरोध नही कर सकता। केवल यही नही, धर्म जब कभी किसी मामले मे किसी कानून के विरुद्ध जैसे जन्मनिरोध, तलाक (विशेषकर कैथोलिक देशो मे, हिन्दू इस सम्बन्ध मे इतने पिछडे है कि उनकी तो यहाँ गिनती ही नही हो सकती) आदि के विरुद्ध आवाज़ उठाता है, तो हम उसे एक प्रतिक्रियावादी हिस्सा अदा करते पाते है। धर्म आज किसी भी अर्थ मे प्रगतिशील शक्ति नही है। आधुनिक युग मे धर्म का प्रगति विरोधी चरित्र इतना स्पष्ट तथा निर्विवाद सिद्ध है कि विलियम मैकडूगल ऐसे व्यक्ति को, जो धर्म को मनुष्य जाति के लिए आवश्यक समझते है, विवश होकर मानना पडा है कि 'गत तेइस शताब्दियो से लगातार मनुष्य की प्रकृति, उसकी शक्तियो तथा सम्भावनाओ के सम्बन्ध मे तर्क होते रहे है, किन्तु हम इनको बहुत कम जानते रहे है। विज्ञान ने इन समस्याओ को सुलझाने की ओर रुख किया है, और उसे सफलता मिलने की कुछ थोडी आशा भी है, किन्तु इस सम्बन्ध मे धर्म बराबर सही समाधान प्राप्त करने के मार्ग मे रोडे अटकाता रहा है।'[१]

३३—हिटलरवाद और धर्म—धर्म की प्रतिक्रियावादिता का यह एक बहुत बडा प्रमाण है कि फासिवाद ने धर्म का पूर्ण समर्थन किया था। फासिवाद ने ऐसा केवल आवेश मे या परम्परा की दासता मे आकर नही किया है, बल्कि फासिवाद और धर्म के हितो मे समता है, इसी लिए यह गठबन्धन सम्भव हुआ था। हिटलर यो तो नार्डिक जाति की श्रेष्ठता के प्रतिपादक थे, किन्तु ईसामसीह नार्डिक जाति के नही थे, बल्कि उस जाति के थे जो हिटलरवाद की दृष्टि मे सबसे घृणित जाति थी। नात्सीवाद के लिए यह एक बहुत बडी पहेली थी,

[१] R S L. p VI

और इसको किस प्रकार सुलझाया जाय, यह उनकी समझ मे नही आता था। मजे की बात यह है कि जनता को ईसाइयत से हटाना बहुत कठिन था, साथ ही ईसा के यहूदी होने से नार्डिक जाति की श्रेष्ठतावाले नारे पर बहुत ज़बर्दस्त आँच आती थी। अत इस असगति को दूर करने के लिए सरकारी तौर पर यह कह दिया गया कि ईसामसीह यहूदी नही थे। शुरू-शुरू मे जर्मनी के चर्च ने कुछ स्वतन्त्रता दिखाने की चेष्टा की थी। उस समय हिटलर के कुछ भक्तो ने यह भी कोशिश की थी कि हिटलर को पैगम्बर बनाकर एक धर्म चलाया जाय। यह योजना जल्पना की मात्रा से कही आगे बढ चुकी थी, किन्तु व्यावहारिक रूप से आशु फलप्रद ज्ञात न होने के कारण इस योजना को एक तरह से छोड देना पडा। उधर गिर्जो के नेतागण रुख को समझ गये, तदनुसार जर्मन गिर्जे ने सम्पूर्ण रूप से हिटलरवाद का वाहन, प्रचारक, पिछलगुआ होना स्वीकार किया। इस प्रकार धर्म और नात्सी राष्ट्र मे जो कथित समझौता हुआ, उसमे धर्म ने हिटलरवाद के सामने सम्पूर्ण रूप से घुटना टेक दिया।

३४--धर्म और मुसोलिनी—यही बात इटली के फासिवादी नेता मुसोलिनी के सम्बन्ध मे भी लागू है। पहले मुसोलिनी का भी वहाँ के धर्म के साथ बहुत जबर्दस्त सघर्ष हुआ, किन्तु धर्म ने शीघ्र ही मुसोलिनी की अधीनता स्वीकार कर ली। रोम पहले पोप के राज्य मे समझा जाता था, किन्तु १८७१ मे रोम नवनिर्मित इटलीय राष्ट्र की राजधानी हो गया। पोप रोम मे किसी राष्ट्र का शासन मानने के लिए तैयार न थे, अतएव तब से जितने पोप हुए, वे 'वेटिकन' के दायरे से निकलते नही थे। मुसोलिनी के शासनारूढ हो जाने के बाद भी यह नियम ज्यो का त्यो जारी रहा, किन्तु जब मुसोलिनी ने देखा कि धर्म ने सम्पूर्ण रूप से आत्म समर्पण कर दिया है, तब उसने कैथोलिको पर प्रभाव डालने के लिए पोप से सन्धि कर ली। तब से पोप 'वेटिकन' से बाहर भी जाते है। इस प्रकार जब धर्म के साथ अर्थात् धर्मगुरु पोप के साथ मुसोलिनी का 'समझौता' हो गया, तब उन्होने धर्म की तारीफ शुरू की। यो तो वे पहले यह नारा दे रहे थे कि पोप फजूल के पचडो मे पडे रहते है इत्यादि, किन्तु उन्होने बाद को जो बयान दिये, उनमे से एक यो है—'धर्म केवल साधारण जनता के लिए नही बल्कि ुने हुए लोगो के लिए भी ज़रूरी है, क्योकि धर्म के बगैर ज्ञान पूर्ण

नही होता। बच्चो को गुरु-शिष्य-सवाद के रूप मे जो धार्मिक शिक्षा दी जाती है, वह जारी रहेगी। मै पादरियो को इजाजत देता हूँ कि वे धर्म के लिए बच्चो को इस प्रकार की शिक्षा दे। धर्म के लिए जो कुछ है, वह राजनीति है, और मै राजनीति हूँ। मै इस बात को कभी सहन नही करूँगा कि कोई भी व्यक्ति—वह चाहे कितना भी दावा रखता हो, राष्ट्र से जिस बात का सम्बन्ध है, उसमे हस्तक्षेप करे।' सोलिनी के इस बयान में धर्म का पृष्ठ-पोषण है, किन्तु साथ ही धर्मगुरु पोप को यह धमकी भी है कि वे याद रक्खे कि उनकी हैसियत क्या है। मुसोलिनी ने जो इस प्रकार धर्म को मान लिया, उसमे धर्म के प्रति उसका कोई प्रेम सूचित नही होता, बल्कि इससे यह ज्ञात होता है कि वह धर्म को जनता की अफीम के रूप मे इस्तेमाल करना चाहता था, और उसने ऐसा किया।

३५—स्पेन की प्रतिक्रान्ति में धर्म का प्रतिक्रान्तिकारी हिस्सा—आधुनिक इतिहास मे हम एक जगह यानी स्पेन की प्रतिक्रान्ति मे धर्म को स्पष्ट रूप से प्रतिक्रान्ति के पक्ष मे एक शक्ति के रूप में देखते है। स्पेन के पिछडे हुए लोगो के जीवन मे धर्म एक प्रमुख शक्ति थी। यह केवल धार्मिक भावना की बात नही है, इसमे और भी ऐहिक तथा स्थूल बाते थी। 'वहाँ कोई ४० हज़ार पादरी तथा धर्मयाजक थे। ये सबके सब राष्ट्र की तनख्वाह मे और राष्ट्र के अग के रूप मे थे। ये सब भावुकता की दृष्टि से ही नही, राजनीति मे सामन्तवादी ज़मीदारो तथा सेना के साथ थे।' गिर्जो के पास स्पेन मे न केवल बडी-बडी ताल्लुकेदारियाँ थी, बल्कि खानो, उद्योगधन्धो, जहाजो, बैको आदि पर उनका कब्ज़ा था। १९३६ तक तो स्पेन की सारी ट्रेनो का मालिक वहाँ का चर्च था। प्रतिक्रान्ति मे गिर्जो ने फ्रेको का क्यो साथ दिया, यह समझना कठिन नही है। आइबीरीय प्रायद्वीप के सबसे बडे पाँच बैको मे Banco Espiritu Santo (परमात्मा का बैक) था।[१] यह बैक सीधा-सीधा गिर्जो के अधीन था। फ्रेको के विद्रोह के लिए इस बैक ने मदद मे बहुत रुपये दिये। स्पेन मे, लोकतन्त्र के लिए लडाई इसी कारण आवश्यक रूप से गिर्जो के विरुद्ध लडाई

१ S. T. A. p. 44

के रूप मे परिणत हो जाती थी। इसी लिए जब फ्रेको ने प्रजातन्त्र के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा की तो फौरन गिर्जो ने इन विद्रोहियो को अपनी शरण मे ले लिया। गिर्जो ने न केवल इन्हे नैतिक सहायता दी, बल्कि हर प्रकार से उनकी आर्थिक सहायता भी की। इस प्रकार धर्म जब राजनीति मे भाग लेते है, तो वे हमेशा प्रतिक्रिया का ही साथ देते पाये जाते है। यह तो हुई उस समय की बात जिस समय धर्म प्रत्यक्ष रूप से रोजमर्रा की घटनाओ मे हस्तक्षेप करता है, किन्तु जिन क्षेत्रो मे वह ऐसा नही भी करता, वहाँ भी वह कम से कम इतना तो करता ही है कि लोगो मे एक स्वास्थ्यकर प्रवृत्ति को बढने नही देता, उनको या तो जगत् की ओर से उदासीन कर देता है, या उनका ध्यान बिलकुल ऐसी बातो मे बँटा देता है जिससे उसका उपयोग सृजनशील तरीके से न हो सके।

३६—नये सम्प्रदायो के जरिये वर्ग युद्ध—एक नये धर्म या सम्प्रदाय की उत्पत्ति के द्वारा प्रचलित धर्म का विरोध नई सामाजिक शक्तियो के अभ्युदय की सूचना करता है। कैथोलिक धर्म के विरुद्ध प्रोटेस्टेन्ट धर्म का उदय इसी प्रकार की शक्तियो की क्रिया का एक उदाहरण है। स्मरण रहे कि हम नये धर्म या सम्प्रदाय से ऐसे धर्मो तथा सम्प्रदायो को ले रहे है जो केवल प्रवर्तक के दिमाग मे या उसके वैयक्तिक पुस्तकालय मे सीमित न रहकर कम से कम जनता के एक अश के द्वारा गृहीत हुए है। जारशाही रूस के प्रचलित धर्म ग्रीक गिर्जे के विरुद्ध स्टुन्डवादी, फ्लेगेलेन्ट, मोलेकन आदि सम्प्रदायो का उदय हुआ। इन सम्प्रदायो का उदित होना कोई आश्चर्य की बात नही थी, क्योकि रूस का प्रचलित धर्म सही मानो मे बाइजेन्टाइन साम्राज्य तथा जारशाही का धार्मिक प्रतिफलन था। इस धर्म का ईश्वर रूसी जार की ही तरह निरकुश था। भाषा-विज्ञान भी इस प्रकार की भाषा के पक्ष मे गवाही देता है। रूसी मे ईश्वर के लिए जो गास्पाड शब्द आता है, वह गास्पाडीन या मालिक से अभिन्न है। रूसी मे बाग शब्द ईश्वरवाची है, और बगारी का अर्थ धनी है। मैक्सवेबर ने भारतीय धर्मो का विवरण देते हुए एक स्थान पर लिखा है कि दक्षिण मे ब्राह्मणो के विरुद्ध विद्रोह हुआ। वह वलनगाई या इडेनगाई अर्थात् दाहिनी ओर की जाति और बाई ओर की जाति आन्दोलन मे परिणत हुआ। उसके पीछे भी वर्ग-शक्तियाँ थी,

तथा यह आन्दोलन उच्चवर्ग के विरुद्ध निम्नवर्ग का विद्रोह था।[१] मैक्सवेबर को भारतवर्ष के सम्बन्ध मे एक यही उदाहरण ज्ञात था, किन्तु यदि खोजा जाय तो बुद्ध और चार्वाक से लेकर राममोहन तथा दयानन्द सभी के सम्प्रदायो के पीछे इस प्रकार की नई वर्ग-शक्तियाँ दृष्टिगोचर होगी जो धर्म की आड मे अपने को प्रकट करती है।

३७—इस्लाम का प्रगतिशील शक्ति के रूप में अरब में उत्थान—इस्लाम के अभ्युत्थान तथा उसके बाद के इतिहास को देखने से हम उन्ही नतीजो पर पहुँचते है जिन पर हम मुख्यत ईसाइयत के इतिहास की आलोचना के बाद पहुँच चुके है। इस्लाम का सितारा एक बार बड़े जोरो के साथ ऐतिहासिक गगन पर चमका, और शताब्दियो तक वह मध्य गगन मे स्थिर रहा इसके कारण को जब हम ढूंढते है तो ज्ञात होता है कि वह अरब के कबीलो मे एक प्रगतिशील शक्ति के रूप मे आया था। हज़रत मुहम्मद के जन्म के पहले के युग को मुसलिम धर्म- याजको ने बहुत कुछ सही तौर पर जहालत का युग कहा है। उस समय अरब मे लोग एक अजीब हालत मे रहते थे। प्रत्येक कबीले का अलग अलग बुत था। उन बुत की पूजा अपने कबीले के अन्दर ही हुआ करती थी। साल मे एक बार सार्वजनिक युद्ध विराम होता था उस समय लोग काबे की जियारत को जाते थे। काबे मे उन दिनो ३६० बुत थे। साथ ही संग असवद की भी पूजा होती थी। कबीलो की शासन प्रणाली यो थी कि प्रत्येक कबीले का सरदार ही उस कबीले का प्रधान व्यक्ति होता था। उन दिनो भाषा की दृष्टि से अरब का अस्तित्व अवश्य था यानी लोग मिलती-जुलती बोलियाँ बोलते थे, किन्तु और किसी दृष्टि से कबीलो मे कोई भी एका नही था। सच तो यह है कि सब लोग दूसरे कबीलो की लूट-पाट मे ही अपना जीवन व्यतीत करते थे। स्पष्ट है कि ऐसी अवस्था मे किसी प्रकार के धन्धे या व्यापार की उन्नति नही हो सकती थी। यो तो हज़रत मुहम्मद के बहुत पहले से ही अरब लोग दूर देशों मे भी अच्छे व्यापारी तथा कवि के रूप मे ख्याति प्राप्त कर चुके थे,

---

१ H. M.

किन्तु उनका व्यापार सैकडो असुविधाओ के अन्दर से होता हुआ चलता था। सौदागर अक्सर रास्ते मे लूट लिए जाते थे, और उनको अपनी रक्षा के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान मे जाने के लिए वडे-से वडा काफिला लेकर चलना पडता था। फिर जिन लोगो के इलाको मे से ये सौदागर गुज़रते थे, वे इनके साथ मनमाना व्यवहार करते थे। व्यापार के लिए ऐसी परिस्थिति वहुत ही प्रतिकूल थी स्वय हजरत ने नवोवत पाने के पहले सौदागरो के साथ ऐसी वहुत सी यात्राएँ की थी, और वे अच्छी तरह समझते थे कि सौदागरो को क्या क्या असुविधाएँ है। कहा जाता है, इन्ही यात्राओ के दौरान मे उन्होने वाहरी दुनिया से सस्पर्श प्राप्त किया, सौदागरो की असुविधाओं से वे भली भाँति परिचित तो थे ही। स्मरण रहे कवीलो के सरदारो के मुकाविले मे ये सौदागर एक उदीयमान वर्ग के थे।

३८—इस्लाम की उत्पत्ति पर एगेल्स—एगेल्स ने १८५३ की ६ जून को मैनचेस्टर से मार्क्स को एक पत्र लिखते हुए मुसलिम धर्म की उत्पत्ति के सम्वन्ध मे जो कुछ लिखा था, वह इस सम्वन्ध मे विशेष ध्यान देने योग्य है—'मै समझता हूँ, मुहम्मद के पहले दक्षिण अरव के व्यापार का जो विनाश हो चुका था, उसकी वात यहाँ पर आती है। इसे आप वहुत सही तरह से मुसलिम क्रान्ति के अन्यतम प्रधान कारणो मे समझते है। ईसा के वाद की छ शताब्दियो मे व्यापार का क्या इतिहास रहा, इसे मै इतनी अच्छी तरह नही जानता कि यह वता सकूँ कि किस हद तक आम भौतिक विश्व परिस्थिति के कारण ईरान से कृष्णसागर और ईरान की खाड़ी से शाम और एशियाई कोचक के जरिये जो मार्ग था, उसे लालसागर से होते हुए मार्ग पर तरजीह दी गई। किन्तु किसी भी हालत मे सासानियो के व्यवस्थित ईरानी साम्राज्य मे काफिलो को जो अधिक सरक्षण प्राप्त था, इसका जरूर वहुत भारी असर पडा होगा। इतना तो मालूम है कि २०० से लेकर ६०० ई० तक यमन वारवार अवीसीनियो के द्वारा पराजित हुआ, लूटा गया, और उन पर हमले हुए। रोमनो के समय दक्षिण अरव के जो हिस्से समृद्धशाली थे, वे सातवी शताब्दी मे उजडे हुए खँडहर से हो रहे थे। गत पाच सौ वर्षो मे पडोसी वद्दुओ ने अपनी उत्पत्ति के सम्वन्ध मे वहुत ही ऊटपटाग पौराणिक तरीके की वाते मान ली थी [देखिए

कुरान और अरब इतिहास लेखक नोवाइरी (Novairi)]और इस भूभाग मे जिस वर्णमाला मे अभिलेख लिखित है, वे बिलकुल अज्ञात थी, यद्यपि उस समय और कोई वर्णमाला नही थी। इस प्रकार लिखना भी विस्मृत हो चुका था। इन बातो से यह सूचित होता है कि आम व्यापारिक परिस्थितियो मे अवनति के कारण जो गडबडियाँ हुई होगी, वे तो हुई ही होगी, किन्तु इनके अतिरिक्त अवश्य कोई न कोई भयकर विनाश भी प्रत्यक्ष रूप से हुआ होगा, जिसको हम केवल एथियोपीय आक्रमण से ही समझ सकते है। अबीसीनियो को मुहम्मद से कोई चालीस वर्ष पहले निकाल बाहर किया गया। यह जागरणशील अरब जातीय चेतना का प्रथम स्फुरण था। इस जागृति को उत्तर से ईरानी हमलो से उत्तेजना मिली। ये हमले करीब-करीब मक्के के द्वार तक पहुँच रहे थे। कुछ दिनो के अन्दर मै मुहम्मद के इतिहास को पढनेवाला हूँ, किन्तु अब तक मैने जो कुछ समझा है, उससे यह ज्ञात होता है कि यह शहरो के पतनशील, किन्तु बस्ती मे रहनेवाले फल्लाहीन के विरुद्ध बद्दू प्रतिक्रिया के रूप मे था। फल्लाहीन अपने धर्म मे भी बहुत ह्रासशील हो चुके थे। इनका धर्म एक प्रकृति पूजा के साथ पतित यहूदिय और ईसाइयत का सम्मिश्रण था।'[१]

३९–इस्लाम के लिए परिस्थितियाँ परिपक्व थीं—यह कहना गलत होगा कि हजरत मुहम्मद ने इस्लाम को अपनी ही बुद्धि से स्थापित किया। सच तो यह है कि उनकी प्रतिभा केवल इस बात मे थी कि उहोने उस युग की जो सब मे बडी आवश्यकता थी, उसको इस्लाम के ज़रिये मूर्त किया। अरबो के सामने जीवन मरण का प्रश्न था। यदि वे आगे उसी प्रकार कबीले की जिन्दगी व्यतीत करते तो उनका विनाश अनिवार्य था। अब यह अत्यावश्यक था कि वे अपने पडोसियो की तरह एक जाति के रूप मे सगठित हो जायँ। गिबन ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक रोमन साम्राज्य का 'ह्रास और पतन' मे शाहमुहम्मद युग के अरबो के सम्बन्ध मे लिखा है 'प्रत्येक अरब अपनी बरछी को अपने ही देश वासी के विरुद्ध बेधडक चला सकता था। इसमे उसकी नामवरी ही थी। अनुश्रुति के अनुसार जहालत के युग की १७००लडाइयो का विवरण है।.. किसी भी झगडे का गडा मुर्दा किसी भी समय उखड सकता था, और फिर पारस्परिक युद्ध का सूत्रपात हो सकता

१ M. E. C. p 67—8

था। वैयक्तिक जीवन मे प्रत्येक व्यक्ति, कम से कम प्रत्येक परिवार अपने झगडो का निपटारा करता था। ' डाक्टर हेल ने इसी युग का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'बहुत प्राचीन काल से अरब मे पानी और चरागाह पर कबीलो मे लडाइयाँ होती चली आई थी। इन झगडो के कारण राष्ट्रीय एकता का ज्ञान बिलकुल नष्ट हो चुका था। प्रत्येक कबीला अपने को आत्म-यथेष्ट समझता, और यह समझता था कि मुझे दूसरे कबीलो के सदस्यो की हत्या करने तथा उन्हे लूटने का अधिकार है। अरबो मे राष्ट्रीय एकता के ज्ञान की कमी थी। एक अरब के लिए केवल कबीला और परिवार था। अरब जाति का उसके निकट कोई अस्तित्व नही था ।'

४०—मुहम्मद से पहले हनीफो ने एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया— मुस्लिम धर्म मे जो विचार प्रतिपादित है, उनमे वहदत या एकेश्वरवाद को सबसे मुख्य बताया गया है, बल्कि कई बार मुसलिम लेखकगण अपने धर्म का उल्लेख एकेश्वरवादी धर्म के रूप मे करते है। इस सम्बन्ध मे सबसे पहली बात यह है कि हजरत से सैकडो वर्ष पहले यहूदियो मे एकेश्वरवाद का विकास हो चुका था, तथा ईसाइयत मे यह विचार गृहीत था। इनके अतिरिक्त अरब मे और कुछ व्यक्ति ऐसे हो गये थे जिन्होने हजरत के पहले ही एकेश्वरवाद का नारा दिया था। ऐसे लोग हनीफ कहलाये। इब्न खाल्दुन ने चार हनीफो के नाम गिनाये है। अध्यापक इलियास अहमद ने दिखलाया है कि "खुदाबख्श Essays Indian and Islamic मे इससे बडी सूची देते है। इब्न खाल्दुन ने जो चार हनीफो के नाम गिनाये है, उनमे से तीन ईसाई हो गये थे, केवल जैद ऐसे थे जिन्होने किसी धर्म को नही अपनाया। जैद ने अपनी कविताओ मे इस प्रकार भाव व्यक्त किये थे—

'मैने लात और ऊज्जा नामक बुतो को त्याग दिया है। बुद्धिमान् और धैर्यशाली व्यक्ति को ऐसा ही करना चाहिए। मैने गनाम की पूजा छोड दी है, यद्यपि जिन दिनो मेरा ज्ञान कम था, उन दिनो मै उन्हे अपना रब्ब या विधाता समझता था। हे ईश्वर, मै तुझसे सन्तुष्ट हूँ, और मै नही समझता कि तेरे अतिरिक्त किसी के धर्म को मै क्यो मानूं।'[१]

---

१. S. C. I. S. p. 29

किसी भी दृष्टि से देखा जाय, हम यह नही कह सकते कि हज़रत मुहम्मद ने केवल शून्य से इस्लाम को चला दिया। सब परिस्थितियाँ परिपक्व थी, उन्होने उसको एक गति भर दे दी।

४१—धार्मिक विचार और राष्ट्र व्यवस्था का समान्तरालवाद—ऊपर जो कुछ बताया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि इस्लाम धार्मिक से कही बढकर एक सामाजिक और राजनैतिक आन्दोलन था। इस्लाम की सबसे बडी सफलता यह थी कि उसने अरबी लोगो को एक सूत्र मे बाँधकर एक जाति मे परिणत कर दिया। इस्लाम का कट्टर एकेश्वरवाद राष्ट्र शक्ति के केन्द्रीकरण के लिए सहायक सिद्ध हुआ। जिस समय अरब लोग कबीलो मे विभक्त थे, उस समय प्रत्येक कबीला अपने देवता को ही मानता था, किन्तु राष्ट्र शक्ति के केन्द्रीकरण की पूर्व सूचना के रूप मे एक अल्लाह की धारणा स्वीकृत हुई। बहुदेव देवी-वाद अनिवार्य रूप से छोटे-छोटे राज्यो की सूचना करता है। जहाँ एक प्रधान ईश्वर के साथ-साथ बहुदेव देवीवाद रहा है, वहाँ के समाज मे सम्पूर्ण रूप से स्वतन्त्र छोटे-छोटे राज्यो के साथ, एक नाम के वास्ते ही सही, चक्रवर्ती राजा भी रहा है। इस प्रकार से राष्ट्र-व्यवस्था और धार्मिक विचार के समान्तरालवाद को समझना बहुत ही दिलचस्प है। जो भी हो, इस दृष्टि से देखने पर इस्लाम मे अपनाया हुआ एकेश्वरवाद अपने से पहले के युग के अरब के मुकाबिले मे एक प्रगतिशील धारणा थी।

४२—इस्लाम तलवार से फैला ?—यह बात गलत है कि इस्लाम तेग के ज़ोर से फैला। केवल तलवार से ही वह न तो अरब मे फैला, और न उसके बाहर। इसमे सन्देह नही कि जब छोटे-छोटे कबीलो से अरब के लोग इस्लाम के कारण एक धार्मिक जाति के रूप मे सगठित हो गये, तो उनकी सामरिक ताकत बहुत बढ गई, और जो जातियाँ अभी इस प्रकार एक सूत्रता मे बँध नही सकी थी, उनके मुकाबिले मे अरब जाति जबर्दस्त साबित हुई। धर्म-प्रचार करना एक ऊपरी आवरण था, किन्तु उसके नीचे आर्थिक शक्तियाँ काम कर रही थीं। किसी नये देश के एक हिस्से को मुसलमान बना लेने का अर्थ उस देश मे अपनी शासन-प्रणाली के उतने मित्र पैदा कर लेना था। राजशक्तियो ने जब भी धर्मप्रचार करने मे भाग लिया तो इसी रूप मे लिया, अवश्य वे

प्रत्येक अवसर पर सचेतन रूप से प्रचारित धर्म के साथ अपनी शासन-प्रणाली के सम्बन्ध को समझते ही थे, ऐसी बात नही ह। जब किसी विजित देश की अल्प-सख्या इस्लाम ग्रहण करती थी, तो स्वाभाविक रूप से इस प्रकार से मुसलमान होनेवाले लोग एक बडी हद तक शासक वर्ग के अन्तर्गत हो जाते थे। इस प्रकार शासक वर्ग के अन्तर्गत हो जाने का प्रलोभन कोई मामूली प्रलोभन नही था, विशेषकर वे लोग जो पहले की शासन-प्रणाली मे शोषित तथा निर्यातित थे उनके लिए इस प्रकार धर्म-परिवर्तन के द्वारा सामाजिक उन्नति करने का प्रलोभन बहुत भारी होता था। अवश्य जब किसी विजित देश मे लोग इतनी सख्या में मुसलमान हो जाते थे कि अब यह सम्भव नही होता था कि वे सबके सब शासक-वर्ग के अन्दर खप सके, तब ऊपर बताये हुए नियम की कार्यकारिता समाप्त हो जाती थी। उस हालत मे मुसलमानो मे भी शासित और शोषित तबको का होना अनिवार्य हो जाता था। अवश्य इस शासित तथा शोषित तबके के मुसलमानों को अन्य धर्मावलम्बियो के मुकाबिले मे फिर भी कुछ फायदे रहते थे, जैसे उन पर जजिया नही लगता था, तथा उनको धार्मिक स्वतन्त्रता रहती थी।

४३--भारत में मुस्लिम राज्य किस अर्थ में था और किस अर्थ में नहीं था-- भारतवर्ष के ही उदाहरण को लिया जाय। जिस समय यहॉ थोडे से मुसलमान आये थे, उस समय विजेता के रूप मे उन मुसलमानो मे जो लोग अपने देश में रहते समय शोषित तबके के थे, और कदाचित् केवल रोटी के लिए ही इतने दूर देश मे आने के लिए मजबूर हुए थे, वे भारतवर्ष मे विजेता के रूप मे आते ही एकदम शासक वर्ग मे हो गये। यह बात तभी तक चली जब तक भारतवर्ष मे मुसलमानो की सख्या कम थी। ज्योही उनकी सख्या अधिक हो गई, त्योही उनमे स्वाभाविक रूप से शोषक और शोषित दो तबके हो गये। आगे से शोषित मुसलमानो की हालत उसी देश मे रहनेवाले अन्य धर्मावलम्बियो से किसी तरह अच्छी नही रही। हॉ, जैसा हम बता चुके है, जजिया आदि से छुटकारा तथा धार्मिक स्वतन्त्रता उन्हे अधिक प्राप्त रही। इसी अर्थ मे हम यह कह सकते है कि भारतवर्ष के इतिहास मे मुस्लिम काल नाम का कोई काल नही रहा या रहा तो वह तभी तक जब तक यहॉ पर मुसलमान बहुत ही थोडी तादाद मे थे। उसके बाद (हम इस पचडे मे नही पडेगे कि इतिहास के किस बिन्दु पर आकर

यह सोपान खतम हुआ) किसी भी अर्थ मे यह नही कहा जा सकता कि भारतवर्ष मे सब मुसलमानो का राज्य था। जिस समय भारतवर्ष मे कथित मुस्लिम राज्य खतम हुआ, उस समय तो गरीब मुसलमानो की हालत गरीब हिन्दुओ से किसी प्रकार अच्छी नही थी। शासकवर्ग मे सभी मुसलमान बहुत थोडे दिन के अतिरिक्त कभी शामिल नही रहे। साम्प्रदायिक कारणो से ही इस दन्तकथा को इतिहास का रूप दिया गया कि भारतवर्ष मे इतने सौ वर्ष तक मुसलमानो का राज्य था। असल मे कल्लू, रहीम आदि साधारण मुसलमानो का कभी भी राज्य नही रहा।

४४—स्पेन में इस्लाम प्रचार का कारण—स्पेन की मुस्लिम विजय के पीछे कौन से आर्थिक कारण थे, यह हमे अमीरअली के विवरण से ज्ञात हो जाता है। वे History of the Saracen मे लिखते है 'मुस्लिम विजय से सबसे अधिक लाभ स्पेन के दासो तथा अर्द्धदासो को हुआ। अब तक इनके साथ मामूली जानवरो की तरह व्यवहार होता था, बल्कि इससे भी खराब किन्तु अब इन दासो को मनुष्यता की मर्यादा प्राप्त हो गई। जिन राज्यो पर मुसलमानो का अधिकार होता गया, उनमे फौरन गुलाम और अर्द्धगुलाम आज़ाद होते गये। अब वे ऐसे किसान के रूप मे हो गये जो अपनी जमीनो के मालिक थे, इसलिए अब उनको खेती मे दिलचस्पी भी हुई। अब व्यावहारिक रूप से जमीन के मालिक वे ही हुए। हाँ, उन्हे अब नये मुसलमान जमीदारो को उपज का एक हिस्सा देना पडता था। इसके अतिरिक्त जो गुलाम या अर्द्धगुलाम ईसाई मालिको के अधीन भी रह गये, उनकी भी हालत पहले से कही अधिक सुधर गई, क्योकि यदि किसी प्रकार के दुर्व्यवहार की शिकायत विजेताओ तक पहुँचती थी या गुलाम अथवा अर्द्धगुलाम मुसलमान हो जाता था तो सतानेवाले पर कानून के अनुसार दबाव पडता था। नतीजा यह होता था कि वह गुलाम या अर्द्धगुलाम आजाद हो जाता था। गुलाम या अर्द्धगुलामो ने इस्लाम इसलिए कबूल किया कि स्वतन्त्रता तथा जीवन के आशीर्वादो को प्राप्त करे। ये ऐसे आशीर्वाद थे जो उन्हे इसके पहले के राज्यकाल मे अप्राप्य थे।'

४५—बगाल में मुसलमानो की सख्या तलवार के ही कारण नही—इस प्रकार स्पेन मे इस्लाम का जो प्रचार हुआ, वह इस कारण हुआ कि इस्लाम नये

श्रम-सम्बन्धो को लेकर आया था। मोटे तौर पर इसी कारण इस्लाम की सफलता हुई। बगाल मे मुसलमानो को 'नेडे' यानी सिरमु डा कहते हैं। इसके पीछे एक दीर्घ इतिहास है। एक बार समग्र भारत बौद्ध हो गया था, किन्तु वाद को जब हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान (अवश्य नये रूप मे) हुआ, तव कुछ थोडे से लोग ही बौद्ध रह गये। परन्तु बगाल मे बौद्धो की सख्या वहुत काफी वनी रही। ये लोग नेडे या सिरमुंडा होते थे, अर्थात् इनके भिक्षुओ का सिर मुँड़ा हुआ होता था। इन लोगो को बहुत अधिक सताया जाता था, तथा इन्हे एक तरह से अछूत करार दिया गया था। इसलिए जब बाहर से मुसलमान आये तो इन्होने इस्लाम ग्रहण कर लिया। आपात दृष्टि से यह बात समझ मे नही आती कि मुसलमान धर्म पश्चिम से आया, पजाब आदि मे उसका अधिक प्रचार हुआ, बीच के हिस्से सयुक्त प्रान्त और बिहार मे इसका कम प्रचार हुआ, किन्तु बगाल मे क्यो अधिक लोग मुसलमान हो गये। इसको जव हम इस दृष्टि से देखेगे, तो समझ मे अच्छी तरह आ जायगा कि बगाल मे मुसलमानो की सख्या क्यो अधिक हो गई। वगाली मुसलमान क्यो नेडे कहलाते है, उसके पीछे कौन-सा ऐतिहासिक कारण है, यह भी स्पष्ट हो जाता है। इतना तो साफ है कि वगाल मे जो लोग अधिक तादाद मे मुसलमान वने, इसका कारण हिन्दुओ द्वारा बौद्धो का निर्यातन है, न कि केवल तलवार।

४६—धर्म में भी तलवार का प्रयोग—इसमे सन्देह नही कि वैयक्तिक क्षेत्रो मे जोशीले धर्म प्रचारको ने हमेशा तलवार की सहायता ली है। किसी धर्म के प्रचारको ने अधिक ली है किसी ने कम, किन्तु केवल तलवार से ही किसी धर्म का प्रचार होना अविश्वास्य है। हाँ, तलवार की शक्ति के साथ-साथ जव अन्य आर्थिक कारण आकर जुड गये, तो वात दूसरी है। हमे यह भी मानने मे कोई हिचकिचाहट नही कि वहुत निष्पक्ष रूप से विचार करन पर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि धर्मप्रचार मे मुसलमानो ने हिन्दुओ से अधिक तलवार का प्रयोग किया (हिन्दुओ मे भी शशाक आदि हुए है) किन्तु हिन्दू धर्म तो वहुत कम हद तक प्रचारक धर्म था, इसलिए इन दोनो की तुलना करना ठीक नही। दुनिया के कई धर्म नये लोगो को भर्ती करने मे विश्वास नही करते। उदाहरणार्थ यहूदी धर्म ऐसा ही धर्म है (अवश्य विलकुल ऐतिहासिक दृष्टि मे देखने पर

इस नियम मे कही व्यतिक्रम नही हुआ है, ऐसा नही कहा जा सकता)। इस्लाम तथा ईसाई धर्म प्रचारमूलक धर्म है अर्थात् ये बाहरी लोगो को भर्ती कर लेने मे विश्वास करते है, भारतीय धर्मो मे बौद्ध और जैन-धर्म भी इसी श्रेणी मे आते है। बौद्ध और जैन धर्म प्रचार मे विश्वास तो करते है फिर भी इनका इतिहास अपेक्षाकृत शान्तिमूलक रहा है, किन्तु कैथोलिक धर्म और इस्लाम के सम्बन्ध मे यह बात नही कही जा सकती। (Inquisition) या धार्मिक न्यायालयो मे सैकडो की तादाद मे लोगो को जिन्दा जला दिया गया। इस्लाम के सम्बन्ध मे कितना भी कहा जाय, कैथोलिको के मुकाबिले मे वह बहुत ही शान्तिमूलक धर्म रहा। लेकिन यह भी स्पष्ट कर दिया जाय कि कोई धर्म शान्तिमूलक रहा और कोई नही, इसके पीछे भी आर्थिक शक्तियाँ थी। जहाँ पर विवदमान आर्थिक शक्तियाँ बहुत तगडी थी, वहाँ पर यह सघर्ष अधिक रक्तपात-मूलक हुआ, जहाँ ऐसा नही था, वहाँ रक्तपात कम हुआ। जैसा कि हम दिखा चुके है, रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट धर्मो के पीछे की वर्ग शक्तियाँ बहुत ही उग्र थी, दोनो बहुत तगडी थी, इसीलिए धर्म मे उनके सघर्ष का रूप बहुत तीव्र हुआ। यो ऊपरी दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि धर्म के नाम पर जितने अत्याचार और रक्तपात हुए है, इतने शायद ही किसी अन्य विचार के नाम पर हुए हो।

४७—इस्लाम और दासता—अमीरअली ने स्पेन के सम्बन्ध मे जो यह लिखा है कि वहाँ इस्लाम गुलामी से मुक्ति दिलानेवाले के रूप मे गया, इससे यह गलतफहमी हो सकती है कि इस्लाम ने प्रत्येक क्षेत्र मे गुलामी का अन्त कर दिया। सत्य इससे बहुत दूर है। अवश्य यह ठीक है कि कुरान मे यह कहा गया है कि मुसलमान होने पर दास बराबरी के दर्जे पर आ जाता है। यह भी सच है कि हजरत मुहम्मद के पास जैद नामक एक गुलाम था, जब वह मुसलमान हो गया, तो न केवल दासता से मुक्त कर दिया गया बल्कि हजरत ने उसे गोद लेकर उसका विवाह अपनी फूफी उमैया की लडकी जैनब से कर दिया,— यह सब सच है, किन्तु फिर भी यह ऐतिहासिक तथ्य है कि अरब मे इस्लामी शासन मे बराबर दास प्रथा रही। अरब के अधीन जो दूसरे देश आ गये, उनकी भी यही हालत रही। इस्लाम ने प्रारम्भिक युग मे नये रँगरूट प्राप्त करने के लिए

वर्गभेद पर पर्दा डालकर गुलाम आदि सबकी बराबरी का आध्यात्मिक नारा दिया था, किन्तु कार्यक्षेत्र मे ऐसा बहुत कम हुआ। तथ्य यह है कि मुसलमानी देशो मे गुलामी प्रथा सबसे बाद तक रही, और कदाचित सऊदी अरब में अब भी है। इस प्रकार हम देखते है कि इस्लाम जिस देश मे उत्पन्न हुआ, उस देश मे और ही आर्थिक सामाजिक कारणो मे जयी हुआ, और जिन बाहरी देशो मे वह गया, उनमे उसने दूसरी तरह के नारे दिये। स्पेन या कुछ अन्य स्थानो मे जैसे बगाल मे वह जनता के एक बडे हिस्से के मुक्तिदाता के रूप मे आया, किन्तु उसका यह चरित्र स्थायी नही हुआ और न हो सकता था, क्योकि वर्गो का अन्त किये बिना शोषितवर्ग को स्थायी रूप से लाभ पहुचाना सम्भव नही था। यह इस्लाम की कोई निन्दा नही है। हम देख चुके कि ईसाई धर्म भी मुक्तिदाता के रूप मे रोमन गुलामो मे स्वीकृत हुआ, किन्तु बाद को उसका यह रूप बदल गया। अब धर्म दृष्टि से देखने पर दुनिया के सबसे बडे शोषक ईसाई देश के शासक वर्ग है। जो धर्म जब आया, वह सामाजिक शक्तियो के साथ आया। जब वह बदला तो सामाजिक शक्तियो के कारण बदला।

४८--अब इस्लाम प्रतिक्रियावादी है--इस्लाम अपने अभ्युदय के युग मे एक प्रगतिशील शक्ति के रूप मे आने पर भी अब वह ईसाई धर्म की तरह कोई प्रगतिशील शक्ति नही है। इस शताब्दी के प्रारम्भ मे पैन इस्लामवाद नाम से अनवर पाशा आदि ने जो आन्दोलन चलाया था, उसमे प्रगति का कोई उपादान नही था। यह पैन जर्मनवाद और पैनस्लाववाद* की तरह एक प्रतिक्रियावादी

आन्दोलन था। ऐसे आन्दोलन शोषित तबके को यह भ्रम दिलाकर कि वे ओर शासक एक ही हैं, उनको धोखे मे डालते है। कमालपाशा (१८८०–१९३८) ने टर्की मे राष्ट्र के आधुनिक करण के लिए जो चेष्टा की उसमे उनके मार्ग मे मुल्लाओ की ओर से सबसे अधिक रोडे अटकाये गये, और उन्हे विवश होकर मुल्लाओ का दमन करना पडा जिनमे से सैकडो फाँसी के तख्ते पर भेज दिये गये। मुल्लाओ का कट्टर विरोध होते हुए भी तुर्की भाषा से अरबी शब्द निकाल बाहर किये गये, और तुर्की रोमन मे लिखी जाने लगी। कमालपाशा ने दुर्बोध्य अरबी भाषा को 'अजान' से भी निकाल दिया। इस पर भी उनका विरोध धार्मिकोकी ओर से हुआ। अमानुल्ला ने अफगानिस्तान को घोर सामन्तवाद के युग से निकालकर आधुनिक राष्ट्रो की कतार मे लाने की चेष्टा की, किन्तु मुल्लाओ के विरोध के कारण (अवश्य इसके पीछे बाहर की साम्राज्यवादी शक्तियो का भी हाथ था) उनकी चेष्टा व्यर्थ हो गई, और उन्हे जान लेकर अफगानिस्तान से भाग जाना पडा। १९२५ मे रजाशाह पहलवी ने ईरान मे जो क्रान्ति की उसकी प्रेरणा इस्लाम से नही बल्कि २,००० वर्ष पहले के प्राक् इस्लामी युग से ली गई थी। रजाशाह ने जो पहलवी नाम ग्रहण किया था, वह प्राक् इस्लामी युग की वशगत उपाधि है। ईरानी भाषा को भी अरबी भाषा से पाक करने का आन्दोलन हुआ।

दूसरे देशो मे भी इस्लाम ने प्रगति की अनुकूलता की, ऐसा नही कहा जा सकता। भारतवर्ष मे देवबन्द आदि के मुल्लाओ तथा जमायत-उल-उलेमा का रुख शुरू से ही साम्राज्यवाद विरोधी रहा है, इसका कारण हम आगे बतायेगे।

४९—प्राच्य देशो में धर्म ने एक हद तक प्रगतिशील हिस्सा अदा किया— प्राच्य देशो मे जातीयता तथा साम्राज्यवाद विरोध का उदय एक बडी हद तक धर्म की छत्रछाया और पृष्ठपोषण मे हुआ, क्या इससे हमारे इस कथन मे कुछ फर्क आता है कि वर्तमान युग मे धर्म एक प्रगति-विरोधी शक्ति है? यदि देखा जाय तो प्राच्य देशो मे जातीयता और साम्राज्यवाद विरोध के साथ धर्म का गठबन्धन बहुत कुछ आकस्मिक है,—आकस्मिक इस अर्थ मे नही कि वह कार्य-कारण के नियमो से बाहर है, बल्कि आकस्मिक इस अर्थ मे कि प्राच्य देशो पर जो ईसाई जातियाँ शासनारूढ थी, उनके धर्म मे और शासितो के धर्म मे प्रभेद

होने के कारण ही एक हद तक धर्म के नाम पर उल्लिखित आन्दोलन पनपे। राष्ट्रीय स्वाधीनता की लडाई के लिए इन्ही कारणो मे यह सम्भव हुआ कि वह एक हद तक धर्मयुद्ध का रूप धारण करे। अलमेहदी, चाफेकर वन्धु, खुदीराम, तिलक, गाधी आदि की धार्मिकता इस प्रकार समझ मे आ जाती है। भारत मे गदर से लेकर या उससे भी पहले से जितने भी आन्दोलन विदेशी शासन के विरुद्ध हुए उनमे हम धर्म को प्रगति की तरफ एक शक्ति के रूप मे देखते है। लोकमान्य तिलक के इर्द-गिर्द महाराष्ट्र मे जो राष्ट्रीय आन्दोलन गत शताब्दी के अन्तिम दशक मे उठा, या वगाल तथा अन्य स्थानो के क्रान्तिकारियो ने स्वदेशी युग, १९१४–१८ की लडाई के युग, यहाँ तक कि प्राक् भगतसिह युग के क्रान्तिकारी आन्दोलनो मे भी धर्म की दुहाई वरावर दी जाती थी। लोग गीता को लेकर फाँसी के तख्ते पर हँसते-हँसते चढ गये। १९२७ मे अशफाकुल्लाह नामक एक क्रान्तिकारी शहीद ने गले मे कुरान वाँधकर फाँसी को वरण किया, और साम्राज्यवाद विरोधी नारे लगाते हुआ फाँसी पर चढ गया।

५०—**केवल प्राच्य देशो में ही नही**—धर्म के साथ आधुनिक काल मे प्रगतिशील आन्दोलनो का गठवन्धन केवल प्राच्यदेशो मे ही हुआ हो, ऐसी वात नही है। पिछडे हुए देशो मे जव कारण अनुकूल हुए तो कही कही धर्म के साथ प्रगतिशील आन्दोलन यहाँ तक कि स्वाप्निक समाजवाद के गठवन्धन के एक से अधिक उदाहरण मौजूद है। ईसाई समाजवाद नाम से एक समाजवादाभिमुखी आन्दोलन पाश्चात्य मे उठा था। इस मत के मानने वाले लोगो को द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय मे जगह भी दी जाती थी। ईसाई समाजवादी गण वाईविल, विशेषकर ईसा द्वारा पर्वत मे दिये गये उपदेश से समाजवाद की अनुप्रेरणा प्राप्त करने का दावा करते है।

देवताओ को पुनरुज्जीवित करने की चेष्टा की गई। साथ ही यह भी चेष्टा हुई कि माता मरियम को मैक्सिको की राष्ट्रीय देवी का रूप दिया जाय। विशेषकर ग्वाडालूयेहिडालगो के मन्दिर मे माता मरियम को यह रूप देने की चेष्टा की गई। इस देवी की पूजा के साथ वहाँ के प्राचीन नृत्यो तथा विशेष नैवेद्यो को सम्मिलित करने की चेष्टा हुई। भवद्वीप मे राम तथा पाण्डवो को वही के वीर रूप मे स्वीकृत किया गया है, यह भी एक बाहरी धर्म को राष्ट्रीयता के साथ सयुक्त करने की प्रक्रिया का परिणाम है।

५२—भारतीय उलमाओ की प्रगतिशीलता कहाँ तक और कहाँ तक नहीं— भारतवर्ष मे उलमागण बहुत कुछ साम्राज्य विरोधी रहे है, किन्तु वे कहाँ तक मुस्लिम जनता का प्रतिनिधित्व करते है, इसमे सन्देह है। इस सम्बन्ध मे यह तुलना विशेष दिलचस्प है कि जहाँ हिन्दुओ मे कट्टर धर्मवादीगण बिलकुल प्रतिक्रियावादी रहे है, (धार्मिक सामाजिक रूप मे तो दोनो ही प्रतिक्रियावादी रहे है, यहाँ केवल राजनैतिक क्षेत्र की बात हो रही है), वहाँ उलमा लोग राजनैतिक रूप से बराबर साम्राज्यवाद-विरोधी रहे है। ऐसा क्यो हुआ, इसके लिए हमे इतिहास मे जाना पडेगा। जिस समय भारतवर्ष मे अँगरेजो का शासन कायम हुआ, उस समय तक यह दन्तकथा करीब-करीब मुस्लिम जनता तक स्वीकृत हो चुकी थी (और इसे मुस्लिम जनता को समझा देने मे असली शासक वर्ग को फायदा ही था) कि राज्य मुसलमानो का है। इस धारणा के फलस्वरूप सभी मुसलमान, विशेषकर मुस्लिम धर्मगुरुगण, अँगरेजो से फिरन्ट रहे। मुसलमानो मे जिस तबके ने धीरे-धीरे अँगरेजी शिक्षा प्राप्त की, ब्रिटिश शासन के प्रति उनका आक्रोश अलीगढ विश्वविद्यालय तथा मार्ले मिन्टो सुधार के ज़रिये अँगरेजी शिक्षित मुसलमानो को अधिक नौकरियाँ मिलने के कारण खतम हो गया, किन्तु पुराने ढर्रे के अरबी फारसी पढनेवाले मुसलमानो और धर्मगुरुओ का विद्वेष ज्यो का त्यो बना रहा। इस प्रकार ये लोग हमेशा हर प्रकार के साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन मे शिरकत करते रहे। जैसे औरो ने क्रान्तिकारी आन्दोलन को अपनाया वैसे ही देवबन्द के ओबेदुल्ला सिन्धी आदि ने साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन के नाते क्रान्तिकारी आन्दोलन मे हिस्सा लिया। सच तो यह है कि रेशमी चिट्ठियो का षड्यन्त्र नामक आन्दोलन इन्ही उलमाओ के द्वारा चलाया हुआ था, और

इसकी शाखाएँ मध्यपूर्व के सब देशो मे थी। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि इन उलमाओ का असर मुसलिम जनता पर अपेक्षाकृत कम है, और भारत वर्ष मे मुसलमान उच्चवर्ग तथा मध्यवित्तवर्ग ने इस्लाम का इस्तेमाल प्रति- क्रियावादी रूप्र मे ही किया है। इस्लाम खतरे मे है नारा देकर बराबर एक ऐसा वातावरण बनाया गया है। और इसमे सफलता भी मिली है जिसमे हर तरीके के प्रगतिशील आन्दोलन का पनपना टेढी खीर है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की मनोवृति का डटकर बिना विरोध किये भारतवर्ष मे समाजवाद को सम्भावना बहुत कम होगी, अवश्य यह विरोध स्वय मुसलमान प्रगतिशीलो की ओर से होना चाहिए, यह दूसरी वात है। यदि हम खूब ध्यान से देखे तो य उलमा भी अपने साम्राज्यवाद विरोध के वावजूद हिन्दूधार्मिको की तरह पुनरूज्जीवनवादी है। इसलिए वे एक हद तक ही प्रगति के उपादन हो सकते है। फिर भारतवर्ष ऐसे देग के लिए जहाँ हिन्दू और मुसलमान दोनो बडी सख्या मे है, यह एक बडी सम्मस्या है कि चूँकि मुसलमान पुनरूज्जीवनवादी कुछ और चाहते है और हिन्दू पुनरूज्जीवनवादी कुछ और चाहते है, इसलिए भले ही कुछ दिनो के लिए क्रियाशील पुनरूज्जीवनवादीगण साम्राज्यवाद विरोध करे, फिर भी अन्ततक जाकर वे अपना प्रति क्रियावादी स्वरूप प्रकट करेगे। इसलिए ऐसी शक्तियो को प्रगति के रथ मे जोतने के समय इन बातो को सोच लेना चाहिये।

५३––आर्यसमाज का पुनरुज्जीवनवाद कहाँ तक प्रगतिशील––पुनरुज्जीवन- वाद के किस्म के आन्दोलनो मे जहाँ तक वर्तमान सड़ीगली पद्धति तथा वि- चारो को छोडने की बात है, वहाँ तक तो वह प्रगतिशील है, किन्तु उनसे छुटकारा प्राप्त कर एक दूसरी देवमण्डली या पद्धति मे फँस जाने की वात है। इस प्रकार का आन्दोलन प्रतिक्रियावादी है। फिर भी प्रगतिशीलता जिस युग मे जोरो पर है, उस युग के प्रारम्भ मे एक हद तक पुनरूज्जीवनवाद का आन्दोलन प्रगति- शीलता का सहायक होता है। यदि एकाएक यह कहा जाय कि विलकुल इस समय के धार्मिक विचारो को छोड दो, तो वह शायद वहुत कम लोगो को मान्य हो किन्तु जब इसी बात को इस रूप मे कहा जाता है कि वर्तमान युग मे प्रचलित धर्म विचार अपने विशुद्ध रुप मे मौजूद नही है, उन्हे विशुद्ध रूप मे मानना चाहिए

तो ऐसे कथन की मान्यता बढ जाती है। भारतवर्ष मे आर्यसमाज आन्दोलन ने इसी प्रकार पुनरुज्जीवनवाद का नारा देकर अपने को खडा किया, और इसमे कोई सन्देह नही कि अपने अभ्युदय के युग मे इसका हिस्सा प्रगतिशील रहा। फिर भी इस सम्बन्ध मे द्रष्टव्य यह है कि आर्यसमाज मे जिस वैदिक युग को आदर्श मानकर उसमे लौट जाने का नारा दिया गया उस रूप मे वैदिक युग कभी इतिहास मे था ही नही। संस्कृतभाषा के पाडित्य की सहायता से स्वामी दयानन्द ने इस आदर्श युग को वेदो से ही खडा कर दिया। यहाँ इस विषय मे व्यौरे मे जाने का कोई अवसर नही है कि किस अर्थ मे हम यह कह रहे है कि स्वामी दयानन्द परिकल्पित वैदिक युग कभी मौजूद ही नही था, किन्तु फिर भी उदाहरण के तौर पर एक-दो बाते बताई जा सकती है। स्वामी दयानन्द ने यह दिखलाया है कि यज्ञ मे पशुहिसा नही होती थी। यह बात बिल्कुल इतिहास विरुद्ध है तथा विकासवाद के विरुद्ध पडती है। सच तो यह है कि वैदिकयुग मे तो नही किन्तु प्राक्‌वैदिक युग मे नरमेध तक होता था। शुन शेप की कथा मे इस प्रथा की स्मृति वैदिक युग मे बाकी थी। यह सच है कि धीरे धीरे यज्ञ मे दी जानेवाली बलि का सूक्ष्मीकरण हुआ, उपनिषदो मे आकर इन्द्रियो तथा वासनाओ की आहुति देने की बात कही गई, किन्तु यह तो सूक्ष्मीकरण है। असल मे वैदिकयुग मे पशुबलि प्रचलित थी, किन्तु स्वामी दयानन्द ने अपने अद्भुत पाडित्य से वेदो मे पशुबलि के अस्तित्व को ही अस्वीकार कर दिया। ऐसा ही उन्होने और मामलो मे भी किया।

जोभी हो, उन्होने डटकर सनातनियो मे प्रचलित कुछ कुसस्कारो तथा कुप्रथाओ का बहुत ज़बरदस्त विरोध किया। इस प्रकार आर्यसमाज आन्दोलन एक हद तक बहुत ही प्रगतिशील आन्दोलन रहा। सन्देह नही कि आर्यसमाज ने जहाँ तक एक तरफ सनातनी रूढियो पर आघात करने की बात है, और दूसरी तरफ सम्पूर्णरूप मे पाश्चात्यो के समाने घुटना टेक देने की बात है, इनसे उद्धारकर एक प्रगतिशील हिस्सा अदा किया। यहाँ पर पाश्चात्यो के सामने घुटना टेकना किसी अन्ध जातीयता के अर्थ मे अभिप्रेत नही है। उस युग मे जो लोग पाश्चात्य रहन सहन, तौर तरीके को अपना रहे थे, वे लोग उसके आन्तरिक गुणो के कारण ऐसा नही कर रहे थे, बल्कि उनके ऐसे अनुकरण मे गुलामी का एक

वहुत वडा उपादान था। वे लोग यह समझते थे कि हम कुछ नही हैं, और पाश्चात्य के हमारे प्रभु ही सब कुछ है। दूसरे शब्दो में उनकी मनोवृत्ति साम्राज्यवाद की समर्थक थी। जब इस मनोवृत्ति का विरोध किया गया, वह चाहे पुनरूज्जीवनवाद के झडे को उठाकर ही किया गया हो, और चाहे एक ऐसे युग की दोहाई देकर किया गया हो जो कि इतिहास मे कभी था ही नही, किन्तु फिर भी इस मनोवृत्ति मे अन्तर्निहितदासता के उपादान का विरोध करने के लिए इस अन्दोलन को प्रगतिशील मानना ही पडेगा।

फिर भी काल्पनिक या गलत नीति पर स्थापित होने के कारण इस प्रकार के पुनरूज्जीवनवाद-मूलक आन्दोलन एक हद तक ही प्रगतिशील हो सकते हैं। आर्य समाज का भी ऐसा ही हुआ। सनातन धर्म की कुप्रथाओ का विरोध जिस रूप मे आर्यसमाज ने किया था, उसके अन्तर्गत बहुत से विचार आर्यसमाज के बाहर भी आम हो गये। कही गलतफहमी न हो इसलिए यह बता दिया जाय कि इन विचारो के आम होने मे आर्यसमाज के अतिरिक्त और भी शक्तियो ने काम किया। जो भी हो, ऐसा हो जाने पर आर्यसमाज का आन्दोलन चूँकि एक कल्पित और प्रस्तरीभूत वैदिक युग के पुनरुज्जीवन की नीव पर स्थित था, इसलिए यह आन्दोलन उस सीमा के वाद स्वय रूढिवादी हो गया। आर्यसमाज ने जहाँ वहुत से कुसस्कारो का विरोध किया था, वहाँ उसने नित्य यज्ञ आदि वहुत से कुसस्कारो को बिना कारण अपनाया था, इसलिए वह एक हद तक ही क्रान्तिकारी हो सकता था। हमने यहाँ कुछ विस्तार के साथ आर्य समाज पर लिखा इसलिए इतना और वता दे कि आमतौर पर उसकी प्रगतिशीलता खतम हो जाने पर भी जो लोग अव तक मानसिक रूप मे एक शताब्दी या उससे अधिक पीछे पडे हुए है, विशेषकर आम सनातनियो के मुकाबिले मे यह सम्प्रदाय प्रगति के लिए अधिक अच्छा उपादान सावित हो सकता है।

५४—सनातनी पंडित और प्रगति—भारतवर्ष के कट्टर उलमाओ के सम्बन्ध मे हम वता चुके। हम यह भी दिखा चुके कि कैसे और क्यो उनका चरित्र साम्राज्यवाद विरोधी है। जब हम सनातनियो की ओर देखते हैं, और उनके उलमाओ या महामहोपाध्यायो की जाँच करते है, तो हम बिलकुल एक दूसरे ही जगत् मे पहुँच जाते हैं। ये लोग

न केवल धर्म की ठेकेदारी का दावा करते है, बल्कि ये उसके स्वीकृत ठेकेदार है। भले ही ऊपरी तौर पर उनका कोई असर न मालूम होता हो, किन्तु रोजमर्रा के जीवन मे इनका असर बहुत अधिक रहता है। इनके सम्बन्ध मे यह द्रष्टव्य है कि इनसे कभी किसी प्रगतिशील या क्रान्तिकारी आन्दोलन को समर्थन का फतवा नही मिला। काशी,पूना या नवद्वीप के पडितो ने कभी किसी अच्छे आन्दोलन को अपना आशीर्वाद नही दिया। पग पग पर धर्म को लेकर चलने वाले गान्धी जी को भी बराबर इनके विरोध का सामना करना पडा। भारतीय सस्कृति के ये ठेकेदार हमेशा राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग ही रहे। कोई महामहोपाध्याय कभी किसी राष्ट्रीय आन्दोलन मे जेल गया हो ऐसा सुनने मे नही आया। अतएव यह जो एक तरफ तिलक, चापेकर बन्धु, खुदीराम, शचीन्द्रनाथ सान्याल आदि ने धर्म का उपयोग राष्ट्रीय अभ्युत्थान के पक्ष मे किया वह इन महापडितो के बावजूद तथा एक तरह से उनकी इच्छा के विरुद्ध हुआ। यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि भारतीय सस्कृति के ठेकेदार बनने पर भी इन्होने भारतीय सस्कृति के लिए कोई भी त्याग नही किया, बल्कि जब देखो तब इन्होने विदेशी सरकार को ही अपना आशीर्वाद दिया।

५५--अब प्राच्य देशो में भी धर्म प्रगति विरोधी--जिस समय भारतवर्ष का साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन बिल्कुल एक भावुकता के आधार पर चल रहा था, उस समय तो धर्म का इस प्रकार का उपयोग स्वाभाविक था, क्योकि उस समय राष्ट्रीय आन्दोलन की सारी पूँजी कुछ अस्पष्ट भावुकता भरी बाते ही थी, किन्तु ज्यो ज्यो साम्राज्यवाद-विरोध का आर्थिक सामाजिक आधार उद्घाटित होता जा रहा है, ज्यो ज्यो धर्म का वर्गचरित्र खुलता जा रहा है, त्यो त्यो अब धर्म के साथ साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन की दूरी बढती जा रही है। हमने यह बताया है कि साम्राज्यवाद-विरोध के प्रारम्भिक युगो मे यहाँ तक कि प्राक भगतसिह युग तक क्रान्तिकारीगण भी धर्म की दुहाई देकर क्रान्तिकारी आन्दोलन को चलाते थे, किन्तु १९४५ मे कोई भी ऐसा क्रान्तिकारी दल शायद नही है जो धर्म से अनुप्रेरणा लेता हो। अवश्य गान्धीजी अब भी धर्म तथा अन्दरूनी रोशनी से अनुप्रेरणा लेते है, किन्तु वह कमोवेश उनकी

निर्जीवात हो चुकी है। फिर अन्दरूनी रोशनी या भीतरी आवाज के रूप में जिस जिस बात को वे उठाते हैं, उसके विश्लेषण से यह ज्ञात हो सकता है कि यह उनके कहने का एक तरीका मात्र है, असल में वे उस बात की ऊँचाई निचाई बिल्कुल भौतिक रूप से सोचकर तभी उसे उठाते हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि प्राच्यदेशों में भी अब धर्म किसी भी अर्थ में प्रगतिशील शक्ति नहीं रह गया है।

५६—भारतवर्ष में धर्म और साम्राज्यवाद-विरोध का पृथक्करण अत्यन्त आवश्यक—साम्राज्यविरोध के साथ धर्म के सम्बन्ध-विच्छेद के इस बीच में कुछ कारण ऐसे सामने आ चुके हैं, जिनसे अब आगे इनको किसी प्रकार एक साथ चलाने की चेष्टा अव्यवहारिक होगी। भारतवर्ष में मुसलमानों की बहुत बड़ी सख्या है, इस कारण जैसे महाराष्ट्र में गणपति उत्सव, बंगाल के स्वदेशी आन्दोलन में रक्षाबन्धन तथा गान्धीवाद में रामराज्य की परिकल्पना के जरिये राष्ट्रीय आन्दोलन अग्रसर हुआ था, वैसा अब आगे होना कठिन है, बल्कि इन उत्सवों तथा विचारों के साथ साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन का गठबन्धन होना अव्यावहारिक ही नहीं खतरनाक हो गया है। यह एक तथ्य है और इसे जितना जल्दी मान लिया जाय, उतना ही अच्छा कि बंकिमचन्द्र के 'आनन्दमठ' से लेकर गान्धी जी की रामराज्य सम्बन्धी परिकल्पना में कुछ ऐसे उपादान हैं जो साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चों में मुसलमानों को आने से रोकते हैं। कम से कम इन उपादानों के कारण वे इस वायुमण्डल में (At Home) महसूस नहीं करते, यह सत्य है। अवश्य यह कहा जा सकता है कि अब धर्म को एक सर्व धर्म समन्वय का रूप देकर साम्प्रदायिक पुट से शुद्ध कर दिया जाय, और उसके आधार पर राष्ट्रीय आन्दोलन या साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन चलाया जाय,—सच तो यह है कि बाबू भगवानदास आदि कुछ विद्वान् इस दिशा में बराबर यत्नशील रहे हैं, किन्तु हम जानते हैं कि कार्यकाल में अर्थात् व्यावहारिक रूप में धर्म का चित्र जब किसी के सामने आता है, तो वह उस व्यक्ति के द्वारा माने हुए विशेष मार्केवाले धर्म के रूप में ही आता है और तो और छोटी-सी थियो-सोफिकल सोसाइटी के सदस्य भी अपने घरों में अपने विशेष धर्म का ही

आचरण करते है, इसलिए वावू भगवानदास ऐसे व्यक्तियो के द्वारा उठाये हुए सर्वधर्म समन्वय का नारा भले ही सदिच्छा प्रणोदित हो, किन्तु वह व्यावहारिक नही है। ऐसी हालत मे अव यह जरूरी है कि और कारणो के अलावा हिन्दू-मुस्लिम सिक्ख ईसाई सभी के लिए समान रूप से ग्रहणीय वनाने के लिए राष्ट्रीय, आन्दोलन वल्कि साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन को धर्म ने सम्पूर्ण रूप से अलग कर देना पडेगा। यह विल्कुल निश्चित है कि आगे यह आन्दोलन—यदि इसे एक अखिल भारतीय सयुक्त आन्दोलन रहना है—धर्म के साथ अपना सम्वन्ध कायम नही रख सकता। साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन के नेतागण इस पहलू को जितना शीघ्र समझ ले, आन्दोलन के लिए उतना ही अच्छा है। हमे वहुत निम्न सतह पर जाने की आवश्यकता नही है, किन्तु फिर भी एक सार्वजनिक रूप से ज्ञात तथ्य की ओर यहाँ पर ध्यान आकृष्ट किये बगैर नही रह सकते। वह तथ्य यह है कि सर्वधर्म समन्वय, राम-रहीम एक है इत्यादि नारो के वावजूद एक ही सस्था के सदस्य हिन्दू और मुसलमान पारस्परिक दगो के समय कैसा आचरण करते है, यह सर्वजन विदित है। सच तो यह है कि कथित हिन्दू-मुस्लिम समस्या का एक ही अन्तिम समाधान हो सकता है, ओर वह यह है कि हिन्दू ओर मुसलमानो को अपना अपना धर्म छोडकर किसी उच्चतर सतह पर—उमे चाहे मानवता कह लीजिए या समाजवाद—एक होना पडेगा।

५७—क्या धर्म इस युग में प्रगतिशील नही हो सकता? —हमने धर्म का जो विश्लेषण किया उसमे यह वात आ गई कि इस समय किसी धर्म का हिस्सा प्रगतिशील नही है किन्तु साथ ही हमने यह जो माना कि भूतकाल मे कई धर्मो ने एक प्रगतिशील हिस्सा अदा किया, इससे स्वाभाविक रूप से इस प्रश्न की गुजाइश हो जाती है कि माना, कोई प्रचलित धर्म इस समय प्रगतिशील नही है, पर जव भूतकाल मे कुछ धर्म प्रगतिशील माने गये है, तो क्या वर्तमान तथा भविष्य के लिए किसी प्रगतिशील धर्म की सृष्टि नही हो सकती। अवश्य ही यह एक प्रासगिक प्रश्न है, ओर धर्म के सम्वन्ध मे कोई भी विवेचक इसका उत्तर विना दिये आगे नही बढ सकता। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमे 'धर्म क्या है', इस प्रश्न पर गहराई के साथ विचार करना पडेगा।

५८--धर्म के स्वरूप का निर्णय--पहले हम सर जेम्सफ्रेजर की परिभाषा देते हुए यह बता चुके है कि उनके अनुसार धर्म ऐसी श्रेष्ठ शक्तियो की तुष्टि तथा अनुकूलता प्राप्त करना है जिनके विषय मे यह विश्वास किया जाता है कि वे मनुष्य जीवन तथा प्रकृति का नियत्रण करती है। प्रथम दृष्टि मे कदाचित् फ्रेजर की परिभापा असम्पूर्ण जान पडे, किन्तु धर्म की जितनी भी सर्वतोमुखी व्यापक परिभाषाएँ की गई है, उन सभी मे अपने से बाहर की शक्ति पर भरोसा या विश्वासवाला उपादान स्पष्ट हो जाता है। डब्ल्यू० आर० मैथ्यूज ने Outline of modern knowledge मे The idea of God-and introduction to the philosophy of religion नामक अपने विद्वत्तापूर्ण लेख मे धर्म की प्रचलित सब मुख्य परिभाषाओ को लाकर एक जगह कर दिया है। इन परिभाषाओ के वर्गीकरण और विश्लेषण के बाद वे भी इस नतीजे पर पहुँचते है कि बाहरी शक्ति या ऊपर मे विश्वास के बगैर कोई धर्म नही होता। उनके विश्लेषण के अनुसार धर्म को मनुष्य के मानसिक जीवन के तीन पहलू यानी विचार, इच्छा, अनुभूति के अनुसार तीन तरह से समझने की कोशिश की जा सकती है। धर्म के बौद्धिक सिद्धान्त मे धर्म मे ज्ञान के उपादान को ही प्रधानता दी जाती है, और यह समझा जाता है कि प्रत्येक धर्म एक विश्व दृष्टि मात्र है। इस दृष्टि से धर्म दर्शन के बिल्कुल नजदीक हो जाता है। हेगेल के अनुसार धर्म की मर्यादा दर्शन से निम्न दर्जे की थी, और वे धर्म को अन्त करण की एक स्थायी और स्वतन्त्र-क्रिया समझते थे, यानी वे धर्म को दर्शन से स्वतन्त्र अस्तित्वयुक्त मानने के लिए तैयार नही थे। मैथ्यूज ने दिखलाया है कि सुप्रसिद्ध दार्शनिक वेनोडेटेक्रोचे इस मामले मे हेगेल को सही नही समझते। वे धर्म को केवल एक असम्पूर्ण दर्शनमात्र समझते है। क्रोचे का कहना है कि धर्म विश्व को मूर्तरूप मे देखता है। इस प्रकार वह कला की श्रेणी से मिलता-जुलता है। वह धर्म को धारणाओ के रूप मे नही देखता जो दर्शन के सही वाहन है। इसलिए क्रोचे के मतानुसार धर्म केवल एक अस्थायी उपसर्गमात्र है, और यह जरूरी नही कि वह चिरस्थायी हो। इसके विपरीत जो धर्म की बौद्धिक परिभाषा को नही मानते वे कहते है कि यह एक मानसिक रुझान या रुख मात्र नही है, वलिक अधिकाश क्षेत्रो मे यह उससे कही ज्यादा है, यानी उसमे पूजा करने की वृत्ति तथा भाव की आवश्यकता की अनुभूति रहती है। धर्म की नैतिक परिभाषा मे धर्म व्यावहारिक माना

गया है यानी यह समझा गया है कि धर्म का उद्देश्य इच्छा को एक विशेष ढग से नियंत्रित करना है। कान्ट ने ही पहले-पहल इस विचार का अच्छी तरह प्रतिपादन किया था। उनके सिद्धान्त के अनुसार धर्म यह है कि हम अपने सारे कर्त्तव्यो को दैवी आज्ञा के रूप मे करने लगे। इस सिद्धान्त को भी सम्पूर्ण कहना सम्भव नही, क्योकि प्रत्येक धर्म मे एक विशेष व्यवहार तथा इच्छा को एक विशेष प्रकार से शिक्षित करने की बात है फिर भी धर्म केवल इतना ही नही है। धर्म मे पूजा तथा त्राण का विचार तो है ही, उनको अलग करना सम्भव नही है। धर्म की तीसरी परिभाषा को रोमाचक कहा गया है। इसमे कल्पना को महत्त्व दिया गया है। इस मतवाद के मुख्य प्रतिपादक श्लाइयेर मारवेर हो गये है जिनका कहना है कि धर्म का बौद्धिक अन्तर्दृष्टि या नैतिक व्यवहार से कोई अपरिहार्य सम्बन्ध नही है, वल्कि धर्म तो अनन्त की एक अनुभूति या वाद को जिसे उन्होने परम निर्भरता की अनुभूति कहा, वह है।

५९—धर्म में अपर में विश्वास अपरिहार्य—इस प्रकार इन सब परिभाषाओ का अनुशीलन करने के वाद मैथ्यूज इस निर्णय पर पहुँचते है कि इनमे से कोई भी परिभाषा सम्पूर्ण नही है, और सबमे अव्याप्ति दोष है। वे कहते है कि चाहे धर्म की कोई भी परिभाषा की जाय उसमे अपर मे निर्भरता जरूरी है। यदि अपर मे निर्भरता न हो तो धर्म-धर्म ही न हो। धर्म के साथ त्राण का विचार भी अपरिहार्य रूप से लगा हुआ है। यदि त्राण नही है तो धर्म भी नही है। इस त्राण मे वह बाहरी शक्ति सहायक है। उस शक्ति का नाम ईश्वर हो या न हो, इससे कुछ आता-जाता नही। बौद्ध और जैन-धर्म मे ईश्वर न होते हुए भी धर्म तथा सघ की शरण मे जाना पडता है। इसके अतिरिक्त इन धर्मो मे कर्म को तथा कर्म के भोग को एक रहस्यवादी रूप प्राप्त हो चुका है। वाद को बौद्धधर्म को जो महायान रूप मिला उसमे बुद्ध को जिस प्रकार से कल्पित किया गया, उसमे तो इस धर्म मे और दूसरे इर्द-गिर्द के धर्मो मे कोई फर्क नही रहा। इसलिए अपर मे विश्वास—समस्याओ से घबराकर उनके सही समाधान की ओर न जाकर एक काल्पनिक समाधान का अन्वेषण—यह धर्म की एक विशेषता है।

६०—धर्म की कुछ प्रसिद्ध परिभाषाएँ—धर्म की कुछ अन्य परिभाषाओ को हम

यहाँ उद्धृत करते है। हम इन परिभापाओ की अलग-अलग आलोचना नही करेगे। प्रथम दृष्टि मे ही ज्ञात हो जायगा कि उन पर वही आलोचना लागू होगी जो उद्धृत परिभाषाओ पर लागू है। बेन्जामिन कीड ने इन परिभापाओ का सग्रह किया है। हम उनको ज्यो का त्यो उद्धृत कर रहे है—

सेनेका—ईश्वर को जानना और उसका अनुकरण करना धर्म है।

कान्ट—धर्म का अर्थ यह है कि हम अपने सब कर्त्तव्यो को ईश्वरीय आदेश के रूप मे मान ले।

रस्किन—हमारा जातीय धर्म यह है कि हम गिर्जो के अनुष्ठानो का सम्पादन करते है, और सुला देनेवाले सत्यो (या असत्यो) का प्रचार करते है जिससे जनता चुपचाप अपना काम करती रहे, और हम भी चैन की वशी वजाते रहे।

कोत—मानवता की पूजा धर्म है।

एलेक्जेडर बेन—धार्मिक भाव, कोमल भावुकता, भय तथा मसन् की भावना से बनता है।

एडवर्ड केड—किसी मनुष्य का धर्म विश्व के प्रति उसके अन्तिम रुख का द्योतक है, तथा चीजो के सम्बन्ध मे उसकी जो धारणा है उसे तथा उसके अर्थ को व्यक्त करता है।

हेगेल—शान्त आत्मा (finite spirit) जब अपने को निरवच्छिन्न आत्मा के रूप मे जान लेती है, तो ज्ञान को धर्म कहते है।

हक्सले—सदाचारमूलक, विचार के लिए प्रेम और सम्मान, और इस प्रेम और सम्मान को जीवन मे कार्यान्वित करने की इच्छा धर्म है।

फ्रूड (Froude)—जिस शक्ति ने हमारी सृष्टि की, उसके प्रति उत्तरदायित्व की भावना धर्म है।

मिल—सर्वोत्तम रीति से स्वीकृत तथा इच्छा के स्वार्थमय उद्देश्यो पर सही रूप से एक सर्वश्रेष्ठ आदर्श उद्देश्य की ओर प्रवलता से, साथ ही ईमानदारी के साथ अपनी इच्छाओ पर भावनाओ को चलाना ही धर्म का सार है।

ग्रूये—एक ऐसी अवस्था या सत्ता मे विश्वास को धर्म कहते है जो यदि सच कहा जाय तो मनुष्य की चेप्टा और उसकी प्राप्ति के वाहर है, किन्तु जिसे

इस दायरे में एक विशेष तरीके से यानी त्याग अनुष्ठान प्रार्थना प्रायश्चित्त और आत्मत्याग के द्वारा लाया जा सकता है।

कार्लाइल—एक व्यक्ति का धर्म वही है जिसमें वह व्यावहारिक रूप से विश्वास करता है जिसे वह व्यावहारिक रूप से हृदय में धारण करता है और जिसे इस रहस्यमय जगत् के साथ अपने सबसे जरूरी सम्बन्धों को मन में रखता है।

डाक्टर मार्टिनो—चिरन्तन ईश्वर में अर्थात् विश्व पर शासनकारी दैवी मन और इच्छा में ही विश्वास धर्म है विश्व के साथ मनुष्य का नैतिक सम्बन्ध है।

इनमें से रस्किन की परिभाषा तो दूसरे शब्दों में इस बात की स्वीकृति है कि धर्म जनता के लिए अफीम है। बाकी परिभाषाओं में कोत की मानवतामूलक परिभाषा अस्पष्ट है, क्योंकि मानवता का अर्थ साफ नहीं किया जाता। इस प्रकार से परिभाषा करना एक अज्ञात के द्वारा दूसरे अज्ञात की परिभाषा करना है। अन्य परिभाषाओं में अपर में निर्भरतावाली बात साफ हो जाती है। कुछ परिभाषाओं का तो कोई अर्थ ही नहीं है केवल वागाडम्बर मात्र है।

६०—विज्ञान ने धर्म की पीठ दीवार से लगा दी—वर्तमान युग में विज्ञान की जो उन्नति हुई है उसको देखते हुए इस प्रकार की श्रेष्ठ या अपर शक्ति में विश्वास असम्भव है। धर्म का आधार अति प्राकृतिकता है और विज्ञान का आधार प्राकृतिकता। ऐसी हालत में वैज्ञानिक युग में धर्म न तो ठहर ही सकता है और न उसकी आवश्यकता है। विज्ञान ने अपने दूरवीक्षण अणुवीक्षण आदि यन्त्रों से एक के बाद एक उन पवित्र स्थानों पर धावा किया जो ईश्वरवाद के खास गढ़ समझे जाते थे और यह दिखला दिया कि उनमें साधारण प्राकृतिक नियम ही कार्यशील है, ईश्वर के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। जिन विषयों के सम्बन्ध में समझा जाता था कि उनमें अज्ञात अज्ञेय और अलौकिक शक्तियाँ काम कर रही हैं, उनका जो विश्लेषण किया गया तो ज्ञात हुआ कि वे साधारण प्राकृतिक वस्तु हैं, और उनमें प्राकृतिक नियम काम कर रहे हैं। प्राणयुक्त भूत का विश्लेषण किया गया, तो ज्ञात हुआ कि जिस उपादान पर प्राण प्रकट होता है वह ऐसा उपादान है, जिसमें बहुत बड़ी संख्या में परमाणुओं को जमा करने

का गुण था। अधिकाश ऐटम इस गुण से वंचित है, फिर भी ये ऐटम सम्पूर्णरूप से प्राकृतिक ही हैं। जीवन के सम्बन्ध मे यह ज्ञात हुआ कि वह हमेशा कार्बन के साथ पाया जाता है। कार्बन मे ऐसा कौन-सा प्राकृतिक गुण है कि प्राण का उसमे स्फुरण होता है, इसकी जॉच की गई तो ज्ञात हुआ कि इसके सहारे हजारो नही लाखो परमाणु (molecules) इकट्ठे हो सकते हैं। वहुत दिनो तक ओर खोज करने पर जिसे जीवनी शक्ति कहते थे उसका भी रासायनिक उत्पादन यूरिया के रूप मे ज्ञात हुआ।

६२—नेग्रोवस्की के प्रयोग से जीवन की भौतिकता प्रमाणित—अभी हाल मे American Review of Soviet medicine मे रूसी अध्यापक नेग्रोवस्की के कुछ प्रयोगो का विवरण निकला है जिसमे ज्ञात होता है कि जीवन नाम से जो प्रक्रिया परिचित हैं वह विलकुल भौतिक है। अध्यापक नेग्रोवस्कीमृत्यु की प्रक्रिया को तीन सोपानोमे विभक्त करते हैं। वे प्रथम सोपान को मृत्यु-यत्रणा का नाम देते हैं। दूसरे सोपान को वे चिकित्सा-शास्त्र के अनुसार मृत्यु वताते हैं, तीसरे सोपान को वे जीव वैज्ञानिक मृत्यु कहने हैं। अध्यापक नेग्रोवस्की ने वहुत से मुर्दो को लेकर प्रयोग किये ओर वे इस नतीजे पर पहुँचे कि अभी जीव-वैज्ञानिक मृत्यु के सोपान से किसी मृत व्यक्ति को बचाना सम्भव नही हुआ है, किन्तु मृत्यु के द्वितीय सोपान से वहुत से आदमियो को वचाना सम्भव हुआ है। हम इसके व्यौरे मे नही जायँगे, किन्तु वेलैन्टाइन चेरायनाफ का मामला वहुत ही दिलचस्प है। चेरायनाफ के सम्वन्ध मे डाक्टरो ने घोपित कर दिया कि वे मर चुके, इसके साढे तीन मिनट वाद विशेष रूप से शिक्षा प्राप्त कुछ डाक्टरो ने योजना के अनुसार, उस पर अपनी चिकित्सा-प्रणाली का प्रयोग शुरू किया। एक मिनट के अन्दर उसका हृदय धडकने लगा। तीन मिनट वाद चेरायनाफ श्वास लेने लगा। एक घटे के अन्दर चिरायनाफ ने ऑखे खोल दी, और पीने के लिए पानी मॉगा। जिस समय 'सोवियट चिकित्साशास्त्र के अमेरिकन मासिक' मे यह विवरण निकला था, उस समय तक चिरायनाफ जीवित थे। अध्यापक नेग्रोवस्की के इस प्रयोग से यह सिद्ध हो जाता है कि जीवन की प्रक्रिया मे कोई अलौकिक वात नही है। अवश्य वहुत-सी वाते ऐसी है जिन्हे आज भी हम नही जानते, किन्तु कोई

कारण नही कि कल भी हम उन्हे न जाने। सच तो यह है कि आज भी ईश्वरवाद के जो थोडे-बहुत जड पदार्थ जगत् मे मीना तानकर खडे है, वे विज्ञान की प्रचण्ड गोलाबारी के सामने कल ढह जायँगे। Thing-in-itself या परमतत्त्व का दायरा बराबर पीछे हटता जा रहा है, और अब तो परम तत्त्व विज्ञान के हमलो के सामने दीवार मे पीठ लगाकर खडा है। ऐसी हालत मे किसी अति प्राकृतिक शक्ति मे विश्वास करते रहना, साथ ही यह विश्वास करना कि उसके सामने घुटना टेकने या प्रार्थना करने मे कोई बात हल होगी, बिलकुल भ्रम है।

६३—विश्वधर्म, और सर्वधर्म समन्वय का नारा—इनका विश्लेषण— विज्ञान के मुकाबिले मे धर्मो के इस आम पतन से घबराकर धार्मिको की ओर से विश्वधर्म तथा सर्वधर्म समन्वय का नारा दिया गया है। वह कुछ हद तक लोगो को धोखे मे डाल सकेगा। हम पहले ही बता चुके है कि इस प्रकार विश्वधर्म नारे के ढोल के अन्दर बहुत पोल है। यदि ऐसे नारे वालो के जीवन का अनुशीलन किया जाय, तो हमें ज्ञात होगा कि वे भले ही दार्शनिक रूप से ऊपर से विश्वधर्म का नारा दे, किन्तु वैयक्तिक जीवन मे वे जन्म, विवाह, मृत्यु मे किसी न किसी स्थानीय बल्कि अपने पैतृक धर्म के अनुसार चलते है। ऐसी हालत में उनके इस विश्वधर्म के नारे को लफ्फाजी के अतिरिक्त किसी और रूप मे लेना सम्भव नही है। यदि इनमे से कुछ लोग सचाई के साथ ऐसा नारा दे भी रहे हो तो यह स्पष्ट है कि उनकी बात कोई सुनने नही जा रहा है। फिर हम यह भी तो देखते है कि यूरोप एक धर्म का माननेवाला होने पर भी वहाँ के लोग आपस मे लडते समय एक ही धर्म की दुहाई देकर अपने पक्ष को सही और न्यायपूर्ण बतलाते है। इसलिए यदि विश्वधर्म स्वीकृत भी हो जाय, तो उससे वर्गशक्तियो या साम्राज्यवाद की शक्तियो मे कोई फर्क आयेगा, ऐसा दावे के साथ नही कहा जा सकता। हम तो व्यावहारिक रूप से यह देखते भी है कि प्रत्येक देश के पूँजीवादी वर्ग के भाडे के टट्टू लेखक तथा सावादिकगण मानवता की दुहाई देकर अपने देश के पक्ष को अर्थात् अपने यहाँ के शासक वर्ग के पक्ष को सही बतलाते है, ऐसी हालत मे विश्वधर्म होने से कोई खास बात होगी, यह हमारी समझ मे नही आता।

विश्वधर्म के नारे देनेवाले लोग जितने परोपकारी और मानवतावादी ज्ञात

होते हैं, उतने परोपकारी और मानवतावादी वे है कि नहीं, इसमें सन्देह है। वे बहुत बड़ी-बड़ी बातें कहते हैं, किन्तु उनके निकट ये बातें कोई महत्त्व नही रखती कि एक वर्ग का व्यक्ति तो काम करते-करते मर जाता है, किन्तु फिर भी उसका पेट नही भरता, और दूसरे वर्ग का सदस्य बैठे-बैठे हमेशा, चैन की वंशी बजाया करता है, एक देश को दूसरे देश के कुछ लोग अपने वर्गहित के लिए शोषण करते है, स्त्रियों की हालत गुलामो की तरह है, कुछ लोगो को ही संस्कृति, शिक्षा, चिकित्सा सभी बातों की सुविधाएँ प्राप्त है, दूसरे वर्ग के लोग अज्ञान तथा हर प्रकार की असुविधा में ही मर जाते है, इत्यादि। इन अन्यायो की ओर उनकी उदासीनता, प्रगति के लिए त्याग विमुखता आदि को देखते हुए यही प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि आखिर यह विश्वधर्म है किस मर्ज की दवा। यदि इस शोषणमूलक समाज-पद्धति को खतम करने में इनका विश्वधर्म हमारा सहायक नही होता, यदि यह विश्वधर्म शोषितो के मन मे ऐसी तीव्र अग्नि प्रज्वलित नही करता जो इस पद्धति को नष्ट करके ही दम ले तो यह विश्वधर्म केवल कुछ अलस लोगों के वाग्विलास के लिए भले ही हो, इसकी कोई उपयोगिता नही है। वर्तमान युग मे ऐसे विश्वधर्म से अर्थात् उसके नारे से मनुष्य का कोई कल्याण नही होने का। एकमात्र समाजवाद ही ऐसी विचारधारा है जो मनुष्य के कल्याण के लिए वास्तविक रूप में लाभजनक हो सकती है, क्योंकि समाज के नियमों का जानकार समाज को परिवर्तित करने का मार्ग प्रदर्शन करता है।

के समर्थन मे यह कहा जाता है कि साधारण मनुष्य के लिए तो कोई न कोई बुत चाहिए, उसे सिजदा के लिए कोई न कोई वास्तविक या काल्पनिक माबूद चाहिए, उसे बोसा लेने के लिए कोई न कोई सग अमवद चाहिए। कहा जाता है, साधारण मनुष्य को कितना भी आलोक प्राप्त हो जाय, उसे कभी इस कमज़ोरी से छुटकारा प्राप्त नही होगा। जो लोग सम्पूर्णरूप से बन्धन-मुक्त हो चुके है, उनके सम्बन्ध मे भी इन लोगो का कहना यह है कि वे भी किसी न किसी भी मुहूर्त मे अपने जीवन मे ऐसी चीज़ो का अभाव अनुभव करते है जिनकी वे पूजा कर सके, तथा कमजोरी या दुःख के समय उनकी शरण मे जा सके।

६८—हक्सले कहते हैं रूस में साम्यवाद एक धर्म हो चुका—मनुष्यो मे इस प्रकार की पूजावृत्ति स्वाभाविक है, इसके प्रमाणस्वरूप यह बताया जाता है कि सोवियट रूस की जनता ने लेनिन की लाश को ईश्वर की मर्यादा दे रखी है, किसी बुत या मूर्ति की इतनी मर्यादा नही होगी, जितनी लेनिन की लाश की है। ऐसी बाते कुछ अधकचरे लोगो की तरफ से ही नही कही गई है बल्कि कुछ विद्वानो ने भी यह बताया है कि पूजाभाव मनुष्य स्वभाव का एक अग है, और उसकी पूर्ति धर्म से होती है, इसलिए धर्म आवश्यक है। बर्ट्रेन्ड रसेल ने यह कहा है कि प्रजननेच्छा तथा धर्म की पृष्ठभूमि को सम्पूर्णरूप से बुद्धि के मानदड से समझना सम्भव नही है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक हक्सले (जिनका धर्म सम्बधी मत आगे उद्धृत किया जायगा) यह कहने पर भी कि विज्ञान की सर्च-लाइट के सामने धर्म टिक नही सकता, धर्म से अपना छुटकारा नही कर पाते, और कहते है कि "धर्म के भविष्य के विषय मे विज्ञान की भविष्यवाणी यह है कि आगे चलकर समाज के सगठन के साथ धार्मिक प्रवृत्ति का अधिकाधिक सम्बध रहेगा, जिसका अर्थ यह है कि निकटभविष्य मे जाति या जातियो के भूभागीय समूह के आधार पर समाज का सगठन होगा। यह प्रक्रिया शुरू हो गई है। बहुत से निरीक्षको ने रूसी साम्यवाद मे धार्मिक उपादानो की मौजूदगी बताई है, यानी इसमे वही मतान्धता, कट्टरपन पर जोर, भयकर आध्यात्मिक बाल की खाल निकालने की प्रवृत्ति, आत्मबलिदान की भावना, अपने से भिन्न मतवालो को कष्ट देने की प्रवृत्ति, सार्वजनिक जोश, निष्ठा तथा हर मत को अपने मत की

कसौटी पर कसने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर है।" जिस समय हक्सले ने ये बाते लिखी थी, उस समय फासिवाद जोर पर था। फासिवाद मे भी हक्सले को धार्मिक उपादान दिखलाई पडे। उन्होने यह लिखा कि फासिवाद और रूसी साम्यवाद मे वे ही उपादन दृष्टिगोचर थे, जो ईसाई धर्म की उत्पत्ति के पहले की तथा बाद की शताब्दियो मे दृष्टिगोचर थे। हक्सले ऐसे महाविद्वान् इस बात की सम्भावना देखते है कि साम्यवाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद स्वय एक धर्म होने जा रहा है।

६९—मैक्सइस्टमैन का आरोप—मैक्सइस्टमैन नामक लेखक इसी बात को प्रमाणित करने के लिए कि साम्यवाद भी एक धर्म है, कुछ बहुत तगडे तर्क उपयुक्त करते है। मैक्सइस्टमैन कभी मार्क्सवाद के समर्थक थे, बाद को वे ट्राटस्की के अन्यतम शिष्यो मे हो गये, किन्तु वे यही पर नही रुके। इसके बाद वे स्टालिन के कटु आलोचक हो गये और इसी आलोचना के सिलसिले मे यह बताते है कि स्टालिन के रूस मे साम्यवाद ने धर्म का रूप ग्रहण कर लिया है। उनकी समालोचना केवल लेनिन की लाश के सम्मान पर आधारित नही है, बल्कि उनकी आलोचना मार्क्सवाद की नीव तक को स्पर्श करती है, इसलिए उनका मत और भी विचार्य है।

वे समझते है कि हेगेल के जो दो मूलविचार थे, उनमे से एक यानी 'विचार' (Idea) का आत्मविकास ही परिस्थितियो को तथा भौतिक अवस्थाओ को उत्पन्न करने के लिए जिम्मेदार है, इसको तो मार्क्स ने उलट दिया, किन्तु हेगेल की पद्धति की जो दूसरी मूल बात थी यानी इस जगत् का विकास द्वन्द्वात्मक तरीके से होता है, उसको ग्रहण कर लिया, और उसे एक कुसस्कार की हद तक पहुंचा दिया। इस्टमैन का कहना है कि मार्क्स ने दूसरी बात को अपनाकर भौतिकवादी धार्मिकता उत्पन्न कर दी। इस धार्मिकता का व्यावहारिक रूप इस समाजवादी विश्वास मे अन्तर्निहित है कि समाजवाद तो होगा ही, हम उसे द्रुत या विलम्बित कर सकते है। इस्टमैन कहते है कि चूंकि मनुष्य एक यन्त्र नही है, उसमे भावुकता है, विश्वास का उस पर एक हद तक प्रभाव पडता है, इसलिए इस प्रकार की धार्मिकता के लिए गुंजाइश पैदाकर मार्क्स ने क्रान्तिकारी उद्देश्य के हक मे भलाई की या नही, यह प्रश्न उल्लेखनयुक्त हो सकता है। इस्टमैन कहते है कि इस विश्वास को (उनके शब्दो मे धार्मिक विश्वास को) वैज्ञानिक नही कहा जा सकता। अन्त तक विचार करने के बाद इस्टमैन

इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि सामयिक रूप से पेशेदार क्रान्तिकारियों को अनुप्राणित करने के लिए यह विश्वास भले ही उपयोगी सिद्ध हो, किन्तु कोई भी अवैज्ञानिक मतवाद अन्त तक जाकर कल्याणकर नहीं हो सकता यह निश्चित है।[१]

७०—इस्टमैन के आरोप की जाँच—इस्टमैन ने इस प्रकार विकास का ही मजाक उड़ाया है, दूसरे शब्दों में वे विकासवाद के कायल नहीं हैं। यह सत्य है कि विकासवाद के विपरीत भी बहुत से तथ्य मिले हैं किन्तु फिर भी विकास की ओर आमप्रवृत्ति एक स्वीकृत तथ्य है। फिर मार्क्स ने यह कभी नहीं कहा कि हर हालत में उच्चतर की ओर विकास होगा ही समाजवाद की स्थापना होगी ही बल्कि मार्क्स ने जो कुछ कहा और आमरण उनका प्रचार किया वह यही है कि विकास का क्रम यदि जारी रहेगा, तो वह इस दिशा में जायगा किन्तु ऐसा भी हो सकता है कि विकास की लड़ी टूट जाय, और वह समाज ही लुप्त हो जाय। १८४८ में लिखित कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो में ही मार्क्स-एंगेल्स ने यह बात इसी रूप में कह दी थी। इसलिए मार्क्स के समाज-विकास-सम्बन्धी वक्तव्य को धार्मिक विकास की श्रेणी में रखना ज्यादती होगी। मैक्सइस्टमैन यह भूलते हैं कि वास्तविकता पर आधारित धार्मिक विश्वास के अतिरिक्त वास्तविकता तथा प्रयोगों पर आधारित वैज्ञानिक विश्वास भी हो सकता है। उदाहरणार्थ एक वैज्ञानिक का यह विश्वास कि मामूली परिस्थितियों में दो हिस्से हाइड्रोजन और एक हिस्सा आक्सिजन मिलाने से पानी उत्पन्न होगा एक वैज्ञानिक विश्वास है। मार्क्स का समाज-विकास-सम्बन्धी विचार वैज्ञानिक विश्वास की श्रेणी में आता है न कि धार्मिक विश्वास की श्रेणी में।

७१—बुखारिन-द्वारा प्रगति का स्पष्टीकरण—बुखारिन ने इसी विषय का अनुधावन करते हुए लिखा है 'किसी युग में मैमथ (अतिकाय हस्ती) थे किन्तु अब वे नहीं हैं। हमारे देखते देखते भैंस प्राणीजाति का अन्त हो रहा है। आमतौर पर हम यह सकते हैं कि सैकड़ों किस्म के प्राणी लुप्त हो चुके हैं। रहा मनुष्यों की टुकड़ियों का सो इनका भी यही हाल है। किसी युग में अमेरिका में सर्वेसर्वा इनका और आजटेकगण अब कहाँ हैं। ऐसिरोवैबीलोनीय समाज-

१. M O S

पद्धति अब कहाँ है? क्रीटीय सभ्यता तथा प्राचीन ग्रीक सभ्यता कहाँ है। जगत् पर शासन करनेवाला प्राचीन रोम अब कहाँ है? ये सब समाज अब नष्ट हो चुके हैं। उनका अस्तित्व अब कहानी का विषय हो चुका है। फिर भी अगणित किस्मो मे से कुछ बच भी रही हैं, और उन्होने अपने को पूर्ण कर लिया है। यो प्रगति का अर्थ है—जैसा कि हम कह सकते हे कि—दस हजार विकास के प्रतिकूल सयोगो मे से विकास के अनुकूल एक या दो सयोगो का रह जाना। यदि हम केवल अनुकूल परिस्थितियो तथा अनुकूल परिणामो को स्मरण रक्खे तब तो हमे ऐसा ज्ञात होगा 'मानो इस जगत् का निर्माण अत्यन्त आश्चर्यजनक तथा एक योजना को पहले से मानकर चला है (अहा! यह जगत् कितने सुन्दर तरीके से बनाया गया है!), किन्तु यदि ये अन्तर्निहित उद्देश्यवादीगण (teleologists) सिक्के की दूसरी ओर देखने का कष्ट करे तो उन्हें विनाश के अगणित उदाहरण दिखाई देगे।'[१] अध्यापक एडवर्डमेयर ने फ्रास के खननकार्य मे एक ऐसी सभ्यता का पता पाया जो बिल्कुल निश्चिह्न हो गई। ऐसी प्रगति से मार्क्स का क्या आशय है, यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। मैक्सइस्टमैन थोडी चेष्टा करने पर समझ सकते थे, किन्तु बुर्जुआवर्ग के प्रिय लेखक होने की उच्चाकाक्षा के कारण वे उसका अनर्थ लगाकर यह बताने की धृष्टता करते है कि मार्क्सवाद मे आमतौर से प्रगति मे जो विश्वास है, उसका रूप धार्मिक है।

७२—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद धर्म नही हो सकता—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद व्यक्ति-पूजा को किसी प्रकार प्रोत्साहन नही देता। इस मतवाद के अनुसार बडे से बडा व्यक्ति समाज की उपज है, अतएव व्यक्ति की पूजा का कोई प्रश्न ही नही उठता। यदि फिर भी व्यक्ति पूजा होती है, तो यह नि सन्देह है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसे नही चाहता। इसी के साथ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद यह भी बताता है कि पहले के युगो मे जो मनोवृत्तियाँ मनुष्य मे अन्तर्निहित हो चुकी है—समाज की शक्तियो को प्रधानता न देकर व्यक्तिविशेष की पूजा करने लगना इसी प्रकार की एक मनोवृत्ति है—रातोरात खतम नही हो सकती। इस मनोवृत्ति के लुप्त होने मे कुछ दिन लगेगे। राजनैतिक क्रान्ति जैसे रात

---

१ H. M. p 26

भर मे हो सकती है, उम प्रकार से मानमिक क्रान्ति रात भर मे नही हो सकती। इसके होते होते कुछ समय लगना अनिवार्य है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद धर्म का जामा इसलिए भी नही पहिन सकता कि वह निरन्तर नये सत्यो को अपने अग मे मिलाता रहता है, और किसी भी हालत मे अपने वर्तमान रूप को अन्तिम सत्य नही ममझता। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अपर मे विश्वाम का बिल्कुल विरोधी है। वह तो मनुष्य को ही अपने भाग्य का निर्माता मानता है, अवश्य मनुष्य अपने भाग्य का निर्माण मौजूद परिस्थितियो मे रहकर करता है। ऐसी अवस्था मे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को धर्म के सिंहासन पर बैठाकर अभिषिक्त करने का कोई प्रश्न नही उठता। केवल यही नही कि भौतिकवाद धर्म नही हो सकता बल्कि भौतिकवाद क्रियाशील रूप मे धर्म का विरोधी है। धर्म विज्ञान के विरुद्ध है, और भौतिकवाद विज्ञान के ही महारे चलता है। यह मम-झना ठीक नही कि जोश केवल धार्मिको की ही बपौती है। वर्ग सचेतन मजदूर अपने हक के लिए तथा अपने मजदूर राष्ट्र की रक्षा के लिए जिस जोश के साथ लड सकता है, उसका प्रमाण १९४१-४५ के रूसी-जर्मन युद्ध मे लडते हुए रूसियो को देखकर हम जान चुके। फिर एक नये वर्ग के लिए आत्मसचेतन पर और अपने सन्मुख भविष्य का सारा कैन्वास खुला है, यह देखकर किसे जोश न आवेगा। किसी वर्ग मे आमतौर से जोश का अभाव उस वर्ग की ह्रासशीलता को सूचित करता है।

७३--वर्तमान युग मे भी धर्म एक प्रबल शक्ति--वर्तमान युग मे धर्म का न तो कोई क्रान्तिकारी हिस्सा है, और न हो सकता है। ऐसी हालत मे भी *रूस के अतिरिक्त सारी दुनिया मे धर्म की प्रधानता बनी हुई है। करोडो

---

* हाल मे रूस मे धर्म-प्रचार की सुविधा दी गई है। इससे कुछ लोगो मे बहुत तहलका मचा हुआ है। ऐसे लोगो को यह ज्ञात नही कि रूस के मौलिक विधान मे ही धर्म तथा धर्मविरोधी प्रचार दोनो को पूर्ण स्वतत्रता दी गई थी। रहा आडम्बर के साथ जो गिर्जे आदि अभी कुछ दिनो से खुले है, तथा विशप और आर्क विशप भडकीले वस्त्र पहिनकर रूस मे इधर से उधर घूम रहे है, इसका महत्त्व इतना ही है कि एक तो अब रूस की जनता को धर्म-प्रचार से कोई डर नही, दूसरे केवल थोडे से विशप तथा कुछ अनुष्ठानो को सहन करने पर ही दुनिया के मध्य मार्गवादी (centrist) उपादान की साहनुभूति रूस को

व्यक्ति अभी तक उसके मार्ग का अनुसरण करते है। पुरोहितो मुल्लाओ, पादरियो तथा उनकी उपपत्नियो को करोडो रुपये अब भी मिलते है। इसका क्या कारण है? धर्म आज भी एक सामाजिक शक्ति क्यो बनी हुई है। केवल भारत, चीन आदि देश ही नही, सभ्यता के शिखर पर स्थित योरप मे भी बहुत से स्थानो पर राजनैतिक दल धर्म के विभाजन के अनुसार मौजूद है। अब भी पोप, शकराचार्य आदि का काफी असर है। पोप का तो यह हाल है कि किसी भी विवादास्पद विषय पर उनके विचार जानने के लिए सभ्य जगत् लालायित रहता है। तिब्बत या अफगानिस्तान ऐसे पिछडे हुए स्थानो मे धर्मध्वजियो का राज्य ही है। अब भी धर्म के नाम पर क्रान्तियाँ पीछे हटा दी जाती है, जैसा स्पेन तथा अफगानिस्तान मे हुआ। अवश्य विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होगा कि अफगानिस्तान मे तो धर्म की आडमात्र थी, उसके पीछे वहा का सामन्तवादी वर्ग था, जो पूँजीवाद से बल्कि लोकतत्र से खौफ खाता था।

७४—धर्म का वर्ग चरित्र—लेनिन ने लिखा है कि धर्म का यह जो विश्व-व्यापी प्रभाव है, उसकी केवल यह कहकर व्याख्या करना कि लोगो मे अज्ञान है यथेष्ट नही। यह जरूरी है[१] कि जिन देशो मे ज्ञान विज्ञान का प्रचार कम है, उन्ही देशो मे लोग धर्म को गम्भीरता के साथ लेते है अन्य देशो मे लोग धर्म को जीवन से अलग रखते है। एक अगरेज छ दिन तक तो मैमन या कुवेर के मन्दिर मे उपासना करता है, और सातवे दिन चर्च आफ इगलैड मे हाजिरी देता है, फिर भी यह मानना पडेगा कि सभ्य देशो मे भी धर्म एक महान् शक्ति है। इसी कारण लेनिन ने धर्म के प्रभाव को अज्ञान से उत्पन्न कहकर टालने की चेष्टा को छिछोरा बतलाया है, और कहा है कि यो धर्म के मूल की व्याख्या नही होती। उन्होने यह कहा कि इस प्रकार कहना

प्राप्त हो सकती है, यह समझकर इन बातो को होने दिया गया है। कुछ ऐसे व्यक्तियो को जो सुधर नही सकते धर्माचरण करने देने मे अब कोई आपत्ति नही की जाती। यह मानना पडेगा कि ऐसे धर्म का कोई विशेष प्रचार न होगा क्योंकि जड तो स्कूलो आदि मे काट ही दी गई है और दरअसल काटी जा रही है।

१ R. L. p. 24

कोई भौतिकवादी तरीका नहीं है बल्कि भाववादी तरीका है। लेनिन ने इसी-लिए धर्म के वर्गचरित्र के उद्घाटन पर जोर देने के लिए कहा है।

७५—नेपोलियन-द्वारा धर्म के वर्गचरित्र की स्वीकृति—धर्म का वर्गचरित्र न तो मार्क्सवादियों की कपोलकल्पना है और न शासकवर्ग तथा धर्म का यह गठबन्धन सर्वत्र अनजान में ही होता रहता है। इसका सबसे अच्छा प्रमाण नेपोलियन के मुँह से निकली वह वाणी है जो उन्होंने पोप के साथ पारस्परिक सहायता के समझौते के बाद दी थी। उन्होंने कहा था 'बिना धर्म के भला एक राष्ट्र में सुव्यवस्था कैसे रह सकती है। समाज व्यक्तियों के भाग्यों की विषमताओं के बगैर चल नहीं सकता और धर्म के बिना ये विषमताएँ टिक नहीं सकतीं। जिस समय एक व्यक्ति भूखों मर रहा है, और उसके बगल में ही दूसरा व्यक्ति अति भोजन के कारण बीमार है उस समय पहला व्यक्ति तब तक किसी हालत में अपनी अवस्था को सहन करने के लिए तैयार न होगा जब तक कोई अधिकारी व्यक्ति उसके सामने आकर जोरों से साथ यह न कहे कि ईश्वर की ऐसी ही इच्छा है। जगत् में अमीर और गरीब दोनों का होना अनिवार्य है, किन्तु इस जगत् के बाद परलोक में इस समय जो बटवारे का तरीका है, वह हमेशा के लिए बदल जायगा।'[१]

हमने अपनी आलोचना के दौरान में यह दिखलाया है कि किसी किसी स्थान में धर्म तथा सम्प्रदायों का उत्थान प्रगतिशील उपादानों की प्रेरणा के कारण हुआ था, किन्तु हमने यह भी दिखलाया कि हर बार जल्दी ही धर्म की यह प्रगतिशीलता लुप्त हो गई। तबसे शासकवर्ग साथ ही धर्म के ठेकेदारगण बुद्धिमान् हो चुके हैं और एक दूसरे के साथ पवित्र मित्रता कर चलते हैं। हम यह दिखला चुके हैं कि जिस समय पूँजीवादीवर्ग का अभ्युदय हो रहा था उस समय धर्म सामन्तवादियों के हाथों का एक हथियार मात्र था तभी पूँजीवाद के अभ्युदय के उष काल में इस युग के अग्रदूत स्वरूप पूँजीवादी दार्शनिकों ने धर्म के विरुद्ध बाँग दी, और डटकर सामन्तवादी धर्म का विरोध किया। धर्म को समझने के लिए विशेषकर उसके वर्गचरित्र को समझने के लिए उसके इतिहास के इस पहलू को कुछ विस्तार के साथ बताना जरूरी है। १८वीं

१ O W. H p १३०

सदी मे हालवाख, हेलेवेसियस आदि लेखको ने धर्म के विरुद्ध जो तर्क दिये थे, उनको आज हम पूँजीवादियो-द्वारा पृष्ठपोषित धर्म के विरुद्ध भले ही उपयोग कर सके—और करते ही है—किन्तु उस समय के लेखक पूँजीवादीवर्ग के उदय के मार्ग मे जो खण्डमेघ तथा कोहरे थे, उनको छिन्न-भिन्न करने में बहुत जबरदस्त सावित हुए।

७६—हालवाख का मतवाद—हालवाख ने अपनी पुस्तक प्रकृति की पद्धति मे यो तो दृश्यमान रूप से धर्म तथा ईश्वर की बुराई करते हुए लिखा है, किन्तु यदि हम उसको गहराई तक देखे तो पता लग जायगा कि वे उस समय की शासनप्रणाली अर्थात् सामन्तवादी शासकवर्ग से कितने परेशान है, तथा किस प्रकार लोगो के अधःपतन को उन्ही के सिर पर मढ देते है। हम यहाँ केवल एक उदाहरण देगे। वे लिखते है 'करीब करीब सभी सजा और जजा देनेवाले एक ईश्वर मे विश्वास करते है, फिर भी हम प्रत्येक देश मे यह देखते है कि भले आदमियो के मुकाबिले मे दुष्टो की सख्या कही अधिक है। यदि हम इस व्यापक अधःपतन के सही कारण को जानना चाहे, तो हमारा काम न तो आध्यात्मिक विचारो मे और न धर्मो के द्वारा दिये हुए कपोलकल्पित कारणो से चलेगा। मनुष्य का अधःपतन इसलिए हो रहा है कि वे प्राय सर्वत्र बहुत बुरी तरह शासित हो रहे है और वे बुरी तरह इसलिए शासित हो रहे है कि धर्मो ने इन राजाओ को ईश्वरीय बना रखा है। राजा लोग यह जानते है कि उन्हे कोई सजा नही मिल सकती और उन्होने अनिवार्य रूप से अपनी प्रजा को भी दुष्ट तथा अभागा बना दिया है। बुद्धि के विरुद्ध चलनेवाले लोगो के शासन मे रहने के कारण बुद्धि ने कभी उनका पथप्रदर्शन नही किया। धोखेबाज पुरोहितो-द्वारा अन्ध बनाये जाने के कारण उनकी बुद्धि उनके लिए व्यर्थ हो चुकी है।'[१]

इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि हालवाख ईश्वर और धर्म से विशेषकर इसलिए नाराज है कि इन लोगो ने सामन्तवादी शासको को अपनी छत्र-छाया मे रख छोडा है। यह बताना ठीक न होगा कि हालवाख ने या उस समय के किसी भी फ्रेन्च भौतिकवादी ने जानबूझ कर पूँजीवादीवर्ग के स्वार्थ[illegible]

१ E. H. M p. 65

को सिद्ध किया यानी यह चाहा कि एक शोषणपद्धति जाकर उसके स्थान मे दूसरी शोषणपद्धति आवे। ऐसा कहना तो इन महानुभावो के साथ सरासर अन्याय करना होगा, किन्तु इतना सत्य है कि इन लोगो ने सामन्तवादी वर्ग का जो सर्वतोमुखी विरोध किया (वह चाहे सामन्तवादी धर्म के विरोध के रूप मे ही रहा हो), उससे पूँजीवादीवर्ग को फायदा हुआ, और उसने उनसे फायदा उठाया।

७७—हेलविसियस का धर्म-विरोध—लिफनाव ने हालवाख के सम्बन्ध मे लिखते हुए यह बताया है कि 'हालावख धर्म को अत्यन्त गहरे रूप मे जड पकडा हुआ कुसंस्कारमात्र समझते थे, और इसके विरुद्ध लगातार संग्राम करते थे।' इसी प्रकार उस युग मे हेलवेसियस नामक एक विद्वान् हो गये है जिन्होने यह कहा था कि जो लोग यह समझते है कि धर्म मे कुछ फायदा होता है, वे भ्रम मे है। उन्होने यह भी कहा कि प्रत्येक धर्म का काम मनुष्य की ज्ञानपिपासा को थपकियाँ देकर सुला देना है जिससे वह उन मूर्खतापूर्ण बातो की गहराई तक न पहुँच सके जिनसे धर्म का कारोबार चलता है, इत्यादि।

७८—वाल्टेयर के धर्म-विरोध की विशेषता—फ्रेच राज्यक्रान्ति के पहले के दार्शनिको मे वाल्टेयर का नाम विशेष उल्लेख योग्य है। वे फ्रेंच राज्यक्रान्ति के अग्रदूतो मे माने जाते है। उन्होने धर्म का जोरदार विरोध किया, और अपनी पुस्तको मे साथ ही साथ सामन्तवादी पद्धति की बुद्धि विरुद्धता का पग पग पर पर्दा फाश किया। उनका धर्म-विरोध हालवाख के धर्म-विरोध से दूसरी तरह का था। हालवाख ने तो धर्म के वृक्ष को जडमूल से काट देना चाहा था, किन्तु वाल्टेयर ने गिर्जो के विरुद्ध लोहा लेते समय ईश्वर पर हमला नही किया। हाँ, उन्होने ईश्वर से तर्क करने की चेष्टामात्र की। वाल्टेयर इस प्रकार धर्म मे विधानवादी थे, यानी वे चाहते थे कि ईश्वर जहाँ के तहाँ बने रहे, किन्तु वे लोगो को एक शासन-विधान दे। वे चाहते थे कि परम सत्ता की सर्वशक्तिमत्ता सामन्तवादी राजाओ की तानाशाही की तरह न हो, बल्कि विधान के अन्दर शासन करनेवाले राजा की तरह वे प्रकृति के उन नियमो मे बँध जायँ जिनको दार्शनिको ने सोच रक्खा है। वाल्टेयर के सामाजिक आदर्श क्या थे, इसे जानने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होने धर्म विरोध के साथ ईश्वर-विरोध क्यो नही किया। वे वैयक्तिक स्वतत्रता, टैक्स के बोझो का समीकरण

अर्थात् सामन्तवादी प्रभुओ और अन्य सव लोगो से वरावर टैक्स लिया जाना, अर्द्धगुलामी का खातमा, पादरियो के हाथ से सार्वजनिक शिक्षा विभाग का छुटकारा, सामन्तवादी प्रभुओं के तरह तरह के हकों का उच्छेद आदि चाहते थे। हालवाख और हेलवेसियस जिस प्रकार एक अस्पष्ट तरीके से समसामयिक समाज व्यवस्था का विरोध कर रहे थे, उसके मुकाविले मे वाल्टेयर का विरोध कही अधिक निखरा हुआ तथा आत्मसचेतन था। वे सही सज्ञान रूप से नही, किन्तु सहजाति वृत्ति के द्वारा यह समझते थे कि ईश्वर का विरोध करना खतरे से खाली न होगा। हाँ, ईश्वर के सामन्तवादी जामे को उखाड फेकना ज़रूरी है। वाल्टेयर के मत मे यह वाते थी। इसी कारण वह मत पूँजीवादी वर्ग को कही अधिक ग्रहणीय हुआ। वाल्टेयर ईश्वर के विचार को जरूरी समझते थे। उनका कहना था कि वास्तविक रूप से यदि कोई ईश्वर न हो, तो भी काम चलाने के लिए ईश्वर की कल्पना कर लेनी चाहिए। इस विचार के पीछे प्रभुत्व का उपादान स्पष्ट है।

७९—धर्म के विरुद्ध दियरो के दो हथियार—इस युग के दार्शनिको मे दियरो (१७१३-८४) का स्थान प्रमुख रहा है। उस ज़माने मे विश्वकोष के इर्दगिर्द जितने विद्वान् जमा हुए थे उनमे दियरो सवसे अधिक विद्वान् थे। उन्होने १७७० मे 'प्राकृतिक धर्म की यथेष्टता' नामक एक पुस्तक लिखी जिसमे उन्होने धर्म को अनावश्यक वतलाया। अपने दीर्घ लेखक-जीवन मे उन्होने वरावर ईसाई धर्म की अपौरुषेयता पर हमले किये। प्रचलित अध्यात्मवाद के विरुद्ध लडने के लिए उन्होने दो हथियारो की सहायता ली—एक सन्देहवाद और दूसरा साधारण वुद्धि। उन्होने कहा, जिस मतवाद को इन दोनो कसौटियो पर नही कसा गया, उनको सत्य का दावा करने का कोई हक नही। इस प्रकार उन्होने भी सामन्तवादी धर्म को हटाने मे एक प्रमुख हिस्सा लिया।

८०—जातीयता के उदय के कारण धर्म की शक्ति घट गई—यद्यपि जैसा कि हम पहले वता चुके है, पूँजीवाद के अधिकारारूढ होते ही धर्म ने अपने को पूँजीवाद के अनुकूल कर लिया, इस प्रकार धर्म और पूँजीवाद की पवित्र मित्रता के युग का सूत्रपात हुआ, फिर भी यदि सही रूप मे देखा जाय तो सामन्तवाद के युग के वाद धर्म का ज़ोर वहुत कुछ घट गया। वात यह है कि पूँजीवाद के उदय

के साथ साथ आधुनिक अर्थ मे जातीयता की उत्पत्ति हुई, और जातीयता ध
मे कहीं अधिक बडी शक्ति है, यह थोडे ही दिन मे प्रमाणित हो गया। पहले
युग मे धर्म के नाम पर या धर्म के एक विशेष सम्प्रदाय के नाम पर उन धर्म
माननेवाले सब देशो के लोगो को विधर्मियो के विरुद्ध उत्तेजित कर क्रूसेड कराया ज
सकता था किन्तु पूँजीवाद तथा जातीयता के उदय के साथ साथ धर्म की य
शक्ति लुप्त हो गई। मार्क्स ने १८५३ और १८५६ के बीच क्रीमीय युद्ध प
न्यूयार्क ट्रिब्यून मे कुछ पत्र लिखे थे। इन पत्रो मे धर्म की घटी हुई शक्ति सा
ही जातीयता की वृद्धिशील शक्ति हमारे सामने बहुत अच्छी तरह प्रकट ह
जाती है।

८१—क्रीमीय युद्ध पर मार्क्स का लेख—मार्क्स लिखते है पश्चिमी योर
के युद्धो मे जब धार्मिक पहलू एक प्रधान उपादान की हैसियत मे थे, वे दि
मालूम होता है अब जा चुके। पश्चिमी योरप की दो बडी शक्तियो ने रू
के विरुद्ध इस लडाई मे जो रुख लिया है, वह इस सत्य का द्योतक है। ह
देखते है कि प्रोटेस्टेट इँगलैड और कैथोलिक फ्रास ने मुस्लिम राष्ट्र टर्की क
रक्षा के लिए मित्रता कर ली है, जब कि उनका धार्मिक कर्त्तव्य था उस 'पवित्र
रूस की सफलता चाहना, जो उन्ही की तरह एक ईसाई शक्ति है और टर्क
का विनाश (क्योकि टर्की एक काफिर देश है)। यद्यपि प्रशिया और आस्ट्रिय
का रुख उतना साफ नही है, फिर भी ऐसा ज्ञात होता है कि ईसाई जर्मन
की ये दो ताकते, फ्रास और इँगलैड की तरह मुस्लिम साम्राज्य की समग्रत
को टूटने देना नही चाहती। वे चुप्पी साधे हुए है, और रूस के विरुद्ध युद्ध मे
प्रवृत्त नही हो रहे है इसका कारण और चाहे जो हो, धार्मिक नही है।

"इस परिस्थिति को सम्पूर्णरूप से समझने के लिए हमे क्रूसेडो के युग को
याद करनी चाहिए जब तेरहवी सदी तक पश्चिमी योरप ने पवित्र समाधि-
स्थान पर कब्जा करने के लिए काफिर तुर्कों के विरुद्ध लडाई छेडी थी। अब
पश्चिमी योरप न केवल पवित्र समाधिस्थल पर तुर्कों के अधिकार को स्वीकार
करता है, बल्कि परिस्थिति यहाँ तक पहुँची है कि जब इन दिनों कभी ग्रीक
या लैटिन जातियो के भिक्षु आपस मे इस बात पर तर्क-वितर्क करते है कि
किन लोगो का इस समाधिस्थल पर (जिस पर कभी सारी ईसाई जातियाँ

अपना अधिकार जमाने के लिए लालायित थी) अधिकार होगा, तो लोग इन पर कहकहेबाजी करते हैं। जब ईसाई रूस आज तुर्की साम्राज्य की ईसाई प्रजा की 'रक्षा' के लिए कदम बढाता है तो पश्चिमी योरप आज उसके विरुद्ध सशस्त्र होकर लडाई करता है। मुसलमान देशो मे स्थित ईसाइयो की इस प्रकार पैरवी करना कभी बहुत बडा सराहनीय काम समझा जाता था। किसी युग मे मुस्लिमो को योरप से निकाल देने के नारे पर फ्रास और इँगलेंड जोश मे आ जाते थे, किन्तु अब तुर्की को योरप से न निकालना इन जातियो की सबसे प्रिय आकाक्षा मालूम देती है। तो १९वी सदी के योरप और तेरहवी सदी के योरप मे इतनी भारी खाई है। इसी से स्पष्ट है कि उस ज़माने के मुकाबिले मे धार्मिक सिद्धान्तो का राजनैतिक प्रभाव कितना घट गया है।"

आगे चलकर इसी लेख मे मार्क्स इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते है कि इस यूरोपीय सकट पर विशुद्ध धार्मिक दृष्टि की भले ही न चलती, किन्तु इधर उधर छिटपुट रूप से इस प्रकार के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति 'तो होती। उन्होने इस सम्बन्ध मे अनुसन्धान किया और बहुत खोज करने के बाद उन्हे केम्ब्रिज के एक धर्माचार्य (D D), इँगलैंड के उत्तर के एक आलोचक तथा पेरिस के univers नामक अखबार का एक लेख मिला, जिसमे धार्मिक दृष्टिकोण से क्रीमीय युद्ध पर विचार किया गया था।' इनमे ईसाई जातियो द्वारा मुस्लिम शक्ति की रक्षा को बिल्कुल पापपूर्ण बतलाया गया है। फिर भी इन देशो मे किसी के कानो मे जूँ तक नही रेगी। इसका क्या कारण है? प्रोटेस्टेट सुधार के युग से प्रत्येक योरोपीय जाति के उच्च वर्ग ने चाहे वह प्रोटेस्टेट हो गया हो, और चाहे कैथोलिक रह गया हो, विशेषकर उनके राजनीतिज्ञो, वकीलो, कूटनीतिज्ञो ने व्यक्तिगत रूप से धर्म से अपना पल्ला कटवा लिया, और कथित स्वतत्र विचार-धारी हो गये। फ्रास के लुई १४ वे के जमाने से यह बौद्धिक आन्दोलन उच्चतर-वृत्तो मे खुलकर प्रकट हुआ। इसके परिणाम-स्वरूप उस सार्वजनिक रुझान की सृष्टि हुई जिसे १८वी सदी मे दर्शनशास्त्र कहा गया था। वाल्टेयर ने फ्रास मे रहने मे खतरा देखा, और ऐसा न तो उनके मतो के लिए, और न इसलिए कि मौखिक रूप से उन्होने उन मतो को प्रकट किया था, बल्कि इसलिए कि उन्होने इन विचारो को सारी साक्षर जनता के सामने रख दिया था, तो उन्होने

इँगलैंड मे जाकर आश्रय लिया। इस प्रकार उन्होने मानो इस वात को प्रमाणित कर दिया कि लन्दन के उच्च जीवन के केन्द्र पेरिस के केन्द्रों से अब भी अधिक स्वतन्त्र थे। सच तो यह है कि द्वितीय चार्ल्स के राजसभा के पुरुष, तथा स्त्री जैसे बीलिंग ब्रोक, वाल्पोलगण, ह्यूम, गिबन चार्ल्स फाक्स ये ऐसे नाम है जिनके सुनते ही धर्म मे अविश्वास का प्रचलन प्रकट होता तथा उस जमाने के उच्च-वर्ग—इसके राजनीतिज्ञो तथा राजपुरुषो की उस युग के दर्शन के प्रति आम-तौर से अनुरक्ति ज्ञात होती है। इस युग को हम सामन्तवादग्रस्त पुरोहितवर्ग के शासन के विरुद्ध उदीयमान पूँजीवादी अभिजात वर्ग के विद्रोह का युग कह सकते है। कोत ने एक छोटे से वाक्य मे इस परिस्थिति का सुन्दर दिग्दर्शन कराया है—'सोलहवी सदी के क्रान्तिकारी युग के प्रारम्भ से ढोंग-ढकोसले की यह पद्धति व्यवहार मे और भी व्यापक हो गई है। और यह एक विशेष तरीके के सभी मतो को छुटकारा देने की इजाज़त केवल इस अकथित शर्त पर देती है कि वह जनता को वश मे रखने के काम को दीर्घतर करने मे सहायता दे। यही खास करके जेस्वीरो की नीति थी।'

"अब हम फ्रेंच राज्य क्रान्ति के युग मे पहुँच जाते है जब पहले-पहल तो फ्रांस की जनता और बाद को तमाम पश्चिमी यूरोप की जनता ने राजनैतिक और सामाजिक स्वतन्त्रता की इच्छा के साथ साथ धार्मिक सिद्धान्तो के प्रति बढती हुई घृणा प्रकट करना शुरू कर दिया। १७९३ के फ्रेंच प्रजातान्त्रिक कन्वेनशन से ईसाइयत को राष्ट्र की स्वीकृत-सस्था के रूप मे जो हटा दिया गया था, तब से जहाँ भी पश्चिमी यूरोप मे जनता का वश चला, वही से राजनैतिक और नागरिक मामलो मे धार्मिक कसौटियो का वर्जन कर दिया गया। साथ ही १८४८ मे इटली का आन्दोलन चला। इन बातो से अच्छी तरह पता लगता है कि यूरोप मे जन-मत की गति किस ओर थी। हमारे सामने अब भी यही युग चल रहा है, जिसे हम पुरोहित अधिकारो के विरुद्ध लोकतान्त्रिक विद्रोह का युग कह सकते है।

"किन्तु फ्रेंच राज्यक्रान्ति के युग से यही जन आन्दोलन जो सामाजिक समता के आन्दोलन से बँधा हुआ था, बाद मे उच्च स्थानो मे धर्म के अधिकार के अनुकूल एक जोरदार प्रतिक्रिया के रूप मे प्रकट हुआ। अभिजात-वर्ग और

पादरी-वर्ग ने देखा कि जन-आन्दोलन से उनको वरावर खतरा है, इसलिए यूरोप के उच्च वर्ग ने सार्वजनिक जीवन मे अपने सन्देहवाद को एक ओर रख दिया, और राष्ट्रीय गिर्जो तथा उनकी पद्धतियो के साथ वाहरी रूप से दोस्ती कर ली।"

८२—धर्म ने पूँजीवादी चोला पहना—धर्म के साथ नये पूँजीवादी प्रभु ने यह जो समझौता कर लिया, इसमे हाथ दोनो तरफ से वढे और मिल गये। धर्मजीवियो को राष्ट्र की सहायता प्राप्त करना इसलिए जरूरी था कि वे परलोक का यश गाते रहने पर भी इहलोक मे अच्छी तरह रहने मे विश्वास करते थे, और पूँजीवाद को धर्म की आवश्यकता इसलिए थी कि धर्म के जरिये जनता को जितनी हद तक दवाकर रक्खा जा सकता है, उतना कारगर और कोई अन्य हथियार नही हो सकता। यदि धर्म सामन्तवादी युग का ही राग अलापता रहता, तव तो पूँजीवादी वर्ग उसकी भी वही हालत कर देता, जो उसने गिल्ड आदि सामन्त युग की सस्थाओ की की थी। किन्तु धर्म के नेतागण चतुर थे, इसके अतिरिक्त धर्म मे कोई ऐसी वात अन्तर्निहित नही थी जो अपरिहार्य रूप से से पूँजीवाद के विरुद्ध पडे, इसलिए धर्म ने अपना चोला वदल दिया। धर्म ने जव इस प्रकार अपनी शुद्धि कर पूँजीवादी वस्त्र धारण किये तो पूँजीवाद को उसके साथ गठवन्धन मे क्या आपत्ति हो सकती थी। यही कारण है कि पूँजीवाद ने अपने यौवन के प्रारम्भ मे धर्म के जिस घट को लात मारी थी, इसके वाद मे उसी घट के जल से आचमन कर वह अपने दिन का प्रारम्भ करने लगा। मार्क्स ने दिखलाया है कि ज्यो ज्यो समय आगे वढता गया त्यो-त्यो धर्म के प्रति पूँजीवादी राष्ट्रो का प्रेम वढता गया, और पूँजीवादी राष्ट्रो ने भी सेवा तथा पारलौकिक आशीर्वाद के फलस्वरूप धर्म के दामन को मणिजटित स्वर्ण-पुष्पो से भर दिया। यदि इन दोनो की पवित्र मित्रता मे किसी को हानि रही, तो जनता को रही।

८३—धार्मिक नारो की आड़ में वर्ग-युद्ध—धर्म इस प्रकार वरावर आर्थिक, सामाजिक शक्तियो के साथ वँधे रहने के कारण ही शक्ति वन सका, इस सम्वन्ध मे यह अवश्य द्रष्टव्य है कि धर्म ने वरावर अपने पति वदले है। ट्राटस्की ने दिखलाया है कि मध्ययुग मे यूरोप में अक्सर इस वात पर खून की नदियों वह

गई कि 'जान के सुसमाचार' के अमुक अंश का यह अर्थ है या वह, किन्तु इन झगडो के पीछे कुछ दूसरी ही बाते रहती थी। धर्म कहाँ और कब प्रगतिशील रहा या नही रहा, यह इस पर निर्भर रहा है कि जिन लोगो ने उसकी छत्रछाया मे अपना काम निकालना शुरू किया (ऐसे लोग हमेशा क्या अक्सर सज्ञान ही होते है, ऐसी बात नही), उन्ही पर यह निर्भर था कि वे प्रगतिशील है या नही। बाइबिल के एक अंश का अर्थ एक पक्ष के लिए गुलामी तथा दूसरे पक्ष के लिए आजादी का सन्देह हो सकता था, और इतिहास मे ऐसा हुआ है। धार्मिक झगडो की आड मे अक्सर आर्थिक ओर राजनैतिक लडाइयाँ लडी गई है। इस समय भी भारतवर्ष ऐसे पिछडे हुए देश मे पाकिस्तान तथा इसी प्रकार के अन्य नारो की आड मे हिन्दू तथा मुसलमान, उच्च और मध्यमवर्ग की लडाइयाँ लडी जा रही है। अवश्य हम यह नही कहते कि इन नारो मे सर्वत्र एक ही उपादान है, और दूसरी कोई भी सही माँग या दृष्टिकोण अन्तर्निहित नही है। ट्राटस्की ने यह भी लिखा है कि केवल मध्ययुग मे ही नही, वलिक आजकल भी ऐसे नारो की तह मे दूसरी ही बाते होती है। एक क्रान्तिकारी का कर्त्तव्य यह है कि वह किसी भी समय किसी संस्था की ओर से दिये गये ऊपरी नारो पर विश्वास न करे—अक्सर नारे तो राजनैतिक तथा आर्थिक उद्देश्यो पर मुलम्मा चढाने के लिए तथा उनको छिपाकर अधिक से अधिक जनता को अपने साथ और अपने झण्ड के नीचे लाने के लिए दिये जाते है। कोई भी वुद्धिमान् व्यक्ति इसलिए नारो तक ही अपनी दृष्टि को सीमित न रखकर उनकी तह मे जावेगा, अन्तर्निहित शक्तियो का उद्घाटन करेगा, उनके अन्दर जो वर्ग-शक्तियाँ काम कर रही है उनकी परीक्षा करेगा, तथा देखेगा कि नेतृत्व ने किन सामयिक उ श्यो की सिद्धि के लिए नारे दिये है। धार्मिक नारे इसलिए विशेषकर विश्लेषणीय है कि धर्म का भी इस युग मे बहुत जोर है, इसलिए चतुर नेतागण धार्मिक नारो की आड इस समय भी लेते है।

८४—धर्म और पूँजीवाद की मित्रता राष्ट्र की गुलामी में परिणत———धर्म ने अर्थात् धार्मिक नेताओ ने अपने फायदे के लिए धार्मिक नारेबाजी को बराबर प्रोत्साहित किया है, फिर भी धर्म का प्रभाव घटता ही गया है। यो तो सभी ने धर्म से काम निकाल लिया, किन्तु पूँजीवादीगण जिस प्रकार अधार्मिकता

से डरते थे, उसी प्रकार धर्मवादियो के अधिक प्रभाव को वे अच्छा नही समझते। इसीलिए धर्म पूँजीवादी राष्ट्रो का एक अग या विभागमात्र होकर रह गया है। ज्यो-ज्यो समय बीतता गया त्यो त्यो धर्म को बिलकुल एक निकृष्ट दर्जा मिलता गया, और धर्म तथा पूँजीवाद की मित्रता मित्रता न रहकर गुलामी के ताक मे परिणत हो गई। इस गुलामी का नग्नचित्र, जैसा कि हम पहले बता चुके है, धर्मावलम्बी दो राष्ट्रो मे युद्ध के समय खुल जाता है। उस समय प्रत्येक देश के पादरी अपने देश के युद्ध को न्यायसगत होने का फतवा देते है। अन्तर्राष्ट्रीय धर्मगुरु पोप या तो ऐसे समय चुप्पी साधकर बैठ जाते है या जब कभी हिमम्मत कर मुँह भी खोलते है, तो उनके शब्द इतने द्वयर्थक होते है कि उसी से उनकी गुलामी और भी स्पष्ट हो जाती है।

८५—क्या धर्म और समाजवाद का गठबन्धन सम्भव ?—इस सिलसिले मे हम फिर उसी प्रश्न पर पहुँचते है कि यदि धर्म इस प्रकार परिवर्तनशील है कि वह पहले गुलामो का पक्ष लेकर आया, फिर गुलामो के मालिको का पक्षपाती हुआ, उसके बाद उसने सामन्तवाद का और फिर पूँजीवाद का पक्ष लिया, तो क्या यह सम्भव नही कि धर्म उसी प्रकार युग के अनुसार सर्वहारा का पक्ष लेकर आगे बढे ? अभी १९३९–४५ के महायुद्ध के दौरान मे सोवियट रूस मे ग्रीक गिर्जे की स्वीकृति का जो समाचार आया था, और इसी के साथ जो यह समाचार आया था कि ग्रीक गिर्जे के प्रधान पादरियो ने उस युद्ध मे सोवियट रूस को अपना आशीर्वाद दिया था, उससे इस प्रश्न मे और भी जोर आ जाता है। हम पहले ही बता चुके है कि सोवियट रूस-द्वारा ग्रीक गिर्जे की स्वीकृति कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन की सूचना नही करती, बल्कि इससे यही सूचित होता है कि धर्म को स्वतन्त्रता देने पर भी अब वहाँ पर उसकी जड़े इतनी अच्छी तरह काट दी गई है कि उसके पनपने की कोई गुंजाइश नहीं। वह तो केवल दुनिया के मध्यम मतावलम्बियो के प्रीत्यर्थ मात्र है। सोवियट रूस बल्कि समाजवाद की तह मे जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण है उसके साथ धर्म की चिर-शत्रुता है, ऐसी हालत मे समाजवाद और धर्म का सामजस्य अकल्पनीय है। किसी मसलहत के कारण धर्म को दिखावे के तौर पर समाजवादी देश मे स्वतन्त्रता दी जाय, तो दूसरी बात है।

सर्वहारा वर्ग के शासन का अर्थ ही यह है कि मनुष्य-द्वारा मनुष्य के शोषण का उच्छेद कर दिया जाय, तथा भूतपूर्व शोषक वर्ग को लुप्त कर वर्गहीन समाज बनाया जाय। धर्म का उद्देश्य इसके विपरीत कुछ अपवादो के अतिरिक्त यह रहा है कि शोषण की प्रथा को कायम रक्खा जाय। ऐसी हालत मे धर्म और समाजवाद से हार्दिक मित्रता कैसे हो सकती है? फिर हम बता दे कि ऊपरी मित्रता की बात नही हो रही है। स्पष्ट है कि धर्म ने सम्पूर्ण रूप से अपने को स्थिर स्वार्थो के साथ बाँध रक्खा है जिस समय समाजवादी रूस की सेनाएँ तेज़ी के साथ अपनी पितृभूमि को जर्मनो से मुक्त कर यूरोप मे प्रवेश कर रही थी, उस समय यूरोप के सर्वप्रधान धर्मगुरु पोप को बहुत भारी डर यह हुआ कि कही ऐसा न हो कि लाल सेना की अग्रगति के साथ साथ देशो मे समाजवादी क्रान्ति हो जाय, और पूँजीवादियो की सम्पत्ति खतरे मे पड जाय, इसलिए उन्होने 'ईसाई सभ्यता खतरे में' का नारा देकर एक वक्तव्य प्रकाशित किया। पोप ने यह स्पष्ट कर दिया कि वैयक्तिक सम्पत्ति मे विश्वास ईसाई सस्कृति का एक अपरिहार्य अग है, और किसी भी सामयिक लाभ-हानि के विचार के वश मे होकर ईसाइयो को इसे विपत्ति मे नही डालना चाहिए।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'ईसाई सस्कृति' के साथ समाजवाद का कोई भी समझौता नही हो सकता, फिर भी यह प्रश्न एक काँटे की तरह उठता ही है कि जैसे सोवियट रूस मे स्वीकृत ग्रीक गिर्जे ने सम्पूर्ण रूप से अपने को सोवियट पक्ष का बताया तथा प्रमाणित किया है, क्या वैसे दूसरे गिर्जे भी समस्त जगत् मे समाजवाद होने पर नही कर सकते? मानना पडेगा कि वे ऐसा कर सकते है। सोवियट रूस के ग्रीक गिर्जे के रवैये को देखकर हमे इसकी सम्भावना माननी ही पडेगी। किन्तु साथ ही यह प्रश्न उठता है कि फिर इस प्रकार धर्म की आवश्यकता ही क्या रहेगी? इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए तो विज्ञान तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही काफी है। सोवियट रूस मे ग्रीक गिर्जे की कानूनी स्वीकृति का, जैसा हम बता चुके है, एक उपयोग है कि उसकी स्वीकृति के द्वारा सारी दुनिया के ऐसे लोग—जो केवल धर्म-विरोध के कारण सोवियट के विरुद्ध थे—सोवियट के पक्ष मे हो गये, रूस के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध की सम्भावना के युग मे, इसकी बहुत बडी उपयोगिता है, किन्तु जिस समय सब

देशो मे समाजवाद स्थापित हो जायगा, उस युग मे किसको अपनी तरफ आकर्षित करने के लिए इस ढोग को—अधिक से अधिक कहा जाय तो इस व्यर्थ चीज को—सहन किया जायगा ?

८६—विज्ञान की उन्नति के साथ धर्म की वृद्धि ?—धर्म की जिस प्रकार उत्पत्ति हुई उसी से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म किसी भी हालत मे, सर्वहारा वर्ग तथा समाजवाद के साथ गठबन्धन तो दूर रहा, वर्तमान वैज्ञानिक युग मे एक प्रगतिशील शक्ति नही हो सकता। धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे हम पहले सुप्रसिद्ध नृतत्त्वविद् सर जेम्स फ्रेजर को ही लेगे। उन्होने बताया है कि धर्म का प्रारम्भ पहले-पहल मनुष्य से श्रेष्ठतर शक्ति की मामूली तथा आशिक स्वीकृति से होता, और वह धीरे धीरे ज्ञान की वृद्धि के साथ साथ दैवशक्ति पर सम्पूर्ण निर्भरता की स्वीकृति मे परिणत होता जाता है, मनुष्य के पहले के स्वतन्त्र विचरण का अज्ञात की रहस्यवादी शक्तियो के सम्मुख सम्पूर्ण आत्म-समर्पण के रुख मे अन्त हो जाता है।[१] यदि जेम्स फ्रेजर के इस कथन का यह मतलब है कि आदिम समाज के मनुष्यो मे किसी अति प्राकृतिक शक्ति मे, आत्मा के अमरत्व मे या ईश्वर मे विश्वास नही था, और वाद को मनुष्यो मे धीरे धीरे इन सब पचडो की उत्पत्ति हुई, तो यह ठीक है; किन्तु उन्होने यह जो कहा कि ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि के साथ साथ मनुष्य अपनी असहायता को अधिकाधिक हृदयगम करने लगा, और वह दिन ब दिन अति प्राकृतिक शक्ति के सामने घुटना टेकता गया, तो यह वात तथ्य के विलकुल विपरीत है। ऐसी गलतफहमी इस कारण हो सकती है कि एक तरफ तो मनुष्य मे ज्ञान-विज्ञान की उत्पत्ति होती गई, और दूसरी तरफ धर्म की उत्पत्ति हुई, और धर्म भी जटिलतर होते गये; किन्तु इन दोनो धाराओ को सम्वद्ध कर यह कहना कि वैज्ञानिक सम्मान के कारण धार्मिकता की वृद्धि हुई, इसलिए गलत है कि ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि आम लोगो मे नही हुई, वल्कि कुछ लोगों मे हुई, और धर्म का प्रचार सब लोगो मे हुआ। जिन लोगो मे ज्ञानविज्ञान की उत्पत्ति हुई, उन लोगो ने अपने को पहले के मुकाविले मे असहाय नही समझा। ज्ञान-विज्ञान की उत्पत्ति के साथ-

१. M N. J. p. 47

साथ मनुष्य असहाय नही होता जा रहा है, वल्कि उसमे काल्पनिक विश्वासों की कमी होकर आत्म-विश्वास की वृद्धि हो रही है। एक छोटा सा उदाहरण लिया जाय। रोगो के सम्बन्ध मे अज्ञान के युग मे शीतलामाई और न मालूम कौन कौन से भूतप्रेतो की पूजा तथा गण्डा-तावीज़ के पहनने का रिवाज था, किन्तु ज्यो-ज्यो रोगो के सम्बन्ध मे मनुष्य का ज्ञान वढता जा रहा है त्यो-त्यो शीतलामाई की पूजा घटती जा रही है, और यदि रुढि के रुप मे मौजूद है, तो उसका स्थान दोयम हो गया है। पहले मनुष्य जिन चीज़ो को अज्ञात शक्तियो से उत्पन्न तथा परिचालित समझता था, उनको आज वह न केवल जान ही गया है, वल्कि उनको एक हद तक इच्छानुसार नियत्रित तथा परिचालित भी कर सकता है। विज्ञान का यदि कोई अर्थ है, तो यही कि मनुष्य उत्तरोत्तर प्रकृति पर अपना नियत्रण वढाता चला जा रहा है। मनुष्य का ज्ञान वढते वढते अव परमाणु की शक्ति के रहस्यो को अपने कार्य मे नियुक्त करने के सोपान तक आ गया है। पहले मनुष्य जिन अक्षमताओ का असहाय शिकार था, उनसे अव वह धीरे धीरे मुक्त होता जा रहा है। इन असहायताओ की सख्या धीरे-धीरे घटती जा रही है। ऐसी हालत मे यह कहने का क्या अर्थ हो सकता है कि मनुष्य अति प्राकृतिक शक्ति के चरणो मे अधिकतर नतमस्तक होता जा रहा है? वस्तुस्थिति इसके विलकुल विपरीत है।

८७—आत्मा की धारणा की उत्पत्ति—विज्ञान और आत्मा—धर्म की धारणाओ मे आत्मा की धारणा का प्रमुख स्थान है। आत्मा के सम्वन्ध मे श्री अरविन्द, राधाकृष्णन या अन्य कोई भी आत्मावादी चाहे कितनी भी लम्वी चौडी वात कहे, हम जानते है कि आत्मा की धारणा की उत्पत्ति प्राक् वैज्ञानिक वल्कि प्राक्-सभ्यता के युग मे हुई है। मृत्यु एक वहुत आम घटना है। जिसे हम मृत्यु भय कहते है, वह अत्यन्त आदिम युग मे उस रूप मे नही था। लोग मृत्यु को एक विलकुल मामूली घटना—जैसे नीद को लेते है, वैसे—समझते थे। कई विद्वान् यह मानते है कि जव मनुष्य मे मृत्यु-भय की उत्पत्ति हुई तभी से धर्म की उत्पत्ति हुई। प्रसिद्ध रूसी-लेखक एन० पोक्रवस्की मृत्यु के भय को ही धर्म का उत्पत्तिस्थल मानते है। वे इस भय को मानवीय विशेषता और सो भी वाद के युग के मानव की विशेषता न समझकर प्राणिमात्र की विशेषता मानते

है। डाक्टर हेकर ने इस पर सही तौर से यह लिखा है कि तब तो पशुओ मे भी धर्म होना चाहिए था यानी उसका कोई न कोई अविकसित रूप होता, किन्तु चूँकि ऐसा नही है इसलिए सही कारण के लिए हमे अन्यत्र जाना पडेगा।

मृत्यु अवश्य एक विशेष घटना थी, किन्तु बहुत आदिम युग मे बहुत कम लोगो को स्वाभाविक रूप से मरने की नौबत आती थी। अक्सर लोग पशुओ के साथ या दूसरे कबीलो के लोगो के साथ लडते हुए मारे जाते थे। यह बिलकुल स्वाभाविक समझा जाता था। इसके अतिरिक्त जिन लोगो को वृद्ध होने का मौका मिलता था, वे एक तरह से आत्महत्या करते थे अर्थात् उनकी राय से उनके साथवाले उन्हे मार डालते थे। बात यह है कि समाज उन दिनो अनुत्पादक सदस्यो का बोझा उठाने के लिए तैयार नही था। इस प्रकार मृत्यु भी स्वाभाविक समझी जाती थी। इस मृत्यु को उत्सव रूप मे मनाया जाता था। इसमे समाज की कोई हानि नही समझी जाती थी, क्योकि धार्मिक रूप से उस व्यक्ति का मास खाया जाता था, और यह समझा जाता था कि उस व्यक्ति की शक्ति मास खानेवालो मे आ गई। हमे यहाँ इन प्रथाओ के ब्यौरे मे नही जाना है। हमे तो इतना ही देखना है कि जिस मानी मे आज मृत्यु का डर माना जाता है, उस मानी मे मृत्यु के भय की उत्पत्ति बाद के समाज मे हो सकती थी। उत्पादन के साधनो मे उन्नति के साथ साथ बूढो तथा अपाहिजो को मारकर खा जाने की प्रथा का अन्त हुआ और उन्हे शान्ति से मरने दिया जाने लगा। स्मरण रहे, शान्ति शब्द का प्रयोग हम आज के अर्थो मे कर रहे है, नही तो अत्यन्त आदिम युग मे बूढों के खा जाने की प्रथा जब थी, तब भी बुड्ढे बडी शान्ति से मरते थे। क्रोपाटकिन ने अपनी रचनाओ मे इसके उदाहरण दिये है कि ऐसी जातियाँ जीवित पाई गई है जिनमे यह प्रथा प्रचलित होने पर भी वहाँ के बुड्ढे बडी खुशी से मरते थे, बल्कि हाथ-पैर बेकाम हो जाने पर वे खुद ही अपने लोगो को बुलाकर यह कहते थे कि साथियो, अब मेरा जाने का समय हो गया।

लोग जब आमतौर से स्वाभाविक रूप से मरने लगे तभी लोगो मे मृत्यु के सम्बन्ध मे अथवा मृत व्यक्ति और जीवित व्यक्ति के प्रभेद के सम्बन्ध मे कौतूहल उत्पन्न होने लगा। एक बात तो यह साफ मालूम देती थी कि मुर्दे मे श्वास नही चलती। इसी श्वास न चलने के साथ आत्मा की धारणा आदि की

कैसे उत्पत्ति हुई, इसका भाषा-विज्ञान की दृष्टि से सर एडवर्ड वी० टाइलर ने बहुत सुन्दर उद्घाटन किया है। वे कहते है "श्वासो के रूप मे आत्मा की धारणा को हम सेमेटिक तथा आर्य शब्द-शास्त्र के जरिये अनुसरण कर जगत् के दर्शनशास्त्रो की मुख्य धराओ तक पहुँच सकते हैं। इब्रानी मे श्वास के अर्थ मे जीवन, आत्मा, मन, प्राणी सभी आते है। सस्कृत आत्मन् तथा प्राण ग्रीक Psyche तथा Pnuma, लैटिन lAnymus, Anima, spiritus का यही इतिहास है। स्लैव डूच शब्द मे भी श्वास से आत्मा अर्थ की उत्पत्ति हुई है। जिप्सियो की बोल-चाल मे यही शब्द डूक के रूप मे श्वास, आत्मा तथा प्रेतवाचक है। जर्मन गाइस्ट (मन) शब्द और अँगरेज़ी गोस्ट (Ghost) शब्द, बहुत सम्भव है, मौलिक अर्थ मे शायद एक ही हो।"[१] इससे स्पष्ट है कि जिस आत्मा पर धार्मिको को इतना नाज़ है, वह करीब करीब असभ्य मानव का एक कुसस्कारमात्र था। अब उसी कुसस्कार को नाना प्रकार का रूप देकर किस प्रकार सुन्दर सुन्दर दर्शनशास्त्र बने है, यह द्रष्टव्य है। यह मानव-जाति का दुर्भाग्य है, और इस दुर्भाग्य के लिए शासकवर्गो का वर्गस्वार्थ ज़िम्मेदार है कि इस प्राय आदिम कुसस्कार को आगे चलकर खत्म कर देने के बजाय शासक वर्ग से सम्बद्ध विद्वानो तथा दार्शनिको ने बराबर इस कुसस्कार को जटिलतर बनाकर लोगो के सामने सत्य के रूप मे पेश किया। अवश्य ही समाजवाद इस प्रकार के कुसस्कारो के साथ कोई समझौता नही कर सकता। अध्यापक नेग्रोवस्की के प्रयोगो के बाद आत्मावाले सस्कार का बिलकुल अन्त हो जाना चाहिए, और लोगो को यह समझ लेना चाहिए कि जीवन सम्पूर्णरूप से एक भौतिक प्रक्रिया है, उसमे कोई भूतेतर रहस्य नही है। यदि कोई रहस्य अब भी है, तो वह हमारे ज्ञान की कमी के कारण है, और ज्यो ज्यो हमारे ज्ञान मे वृद्धि होती जायगी त्यो त्यो इस रहस्य मे कमी होती जायगी। हमने आत्मा-सम्बधी धारणा का जो अत्यन्त सक्षिप्त इतिहास दिया, उससे यह स्पष्ट हो गया कि आत्मा की धारणा के साथ विज्ञान पर अवलम्बित समाजवाद का कोई भी समझौता नही हो सकता।

८८—धर्म की उत्पत्ति पर एंगेल्स—धर्म की उत्पत्ति के सम्बध मे एगेल्स का मत सर्वांग सुन्दर है। उन्होने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक एंटी-ड्यूरिंग मे इस सम्बध

१. Ibid p. 60.

मे अपना वक्तव्य दिया है। फेजर आदि ने जैसे धर्म को केवल प्रकृति के साथ मनुष्य के सम्वन्ध से ही प्राप्त करने की चेष्टा की है, वैसी एकदेशीय चेष्टा न कर एगेल्स ने उसको प्रत्येक सम्भव पहलू से समझने की चेष्टा की है। मार्क्सवादी साहित्य मे एगेल्स का यह विवेचन अत्यन्त सुन्दर होने के कारण हम इसे यहाँ उद्धृत करते है।

वे लिखते है "मनुष्य के दैनिक जीवन पर जो वाहरी शक्तियाँ नियत्रण रखती है, उन्ही का मनुष्य के मन मे जो काल्पनिकतापूर्ण प्रतिफलन होता है—उसमे जागतिक शक्तियाँ अति प्राकृतिक रूप धारण करती है—यही धर्म है। इतिहास के प्रारम्भ मे केवल प्रकृति शक्तियाँ ही कथित रूप से मनुष्य के मन मे प्रतिफलित हुआ करती थी, किन्तु आगे के विकास के दौरान मे जागतिक शक्तियाँ विभिन्न जातियो मे वहुविध तथा विभिन्नरूप से मूर्त हो गई। तुलनात्मक पुराण (mytto logy) ने पहलेवाली प्रक्रिया को, कम से कम एन्डो-पुराण यूरोपीय जातियों के क्षेत्रो मे, भारतीय वेदो मे उनकी उत्पत्ति तक पता लगाया है, और भारतीयो, पारसियो, ग्रीको, रोमनो, जर्मनो तथा--जहाँ तक उपादान उपलब्ध है—केल्टो, लियुवानियो, स्लावो मे इनका अनुसरण किया गया है। किन्तु मनुष्य के इतिहास मे प्रकृति की शक्तियों के साथ साथ सामाजिक शक्तियाँ भी इस क्षेत्र मे क्रियाशील होने लगती है। शुरू शुरू मे ये शक्तियाँ मनुष्य के निकट समान रूप मे वाहरी और समान रूप से अव्याख्येय ज्ञात होती है जो उन पर प्रकृति की शक्तियो की तरह जवर्दस्ती शासन करते है। काल्पनिकता पूर्णरूप से शक्तियो को मूर्त करने की प्रक्रिया मे पहले केवल प्रकृति की रहस्यमयी शक्तियाँ ही प्रतिफलित होती थी, किन्तु इस विन्दु पर आकर यह प्रक्रिया सामाजिक गुणयुक्त हो जाती है, और इतिहास की शक्तियो के रूप मे भी वे हो जाती है।[*] विकास की और भी अगली मजिल मे अनन्य देवताओं

[*] वाद की मजिल मे देवताओ को यह जो दोहरा चरित्र प्राप्त हो जाता है, उसे तुलनात्मक पुराण-विद्या नही पकड पाती। वह उनके उसी रूप पर ध्यान देती है जिसमे ये देवता केवल प्रकृति की शक्तियो के रूप मे ही दृष्टिगोचर होते है, यद्यपि उनके सही दोहरे चरित्र को न समझ पाने के कारण ही पुराण-विद्या मे गडवड़ी दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार जर्मन कवीलों मे प्राचीन

के प्राकृतिक तथा सामाजिक गुण एक सर्वशक्तिमान् ईश्वर मे रूपान्तरित हो जाते है। यह ईश्वर स्वय काल्पनिक मनुष्य का एक प्रतिफलित रूपमात्र है। इसी प्रकार से एकेश्वरवाद की उत्पत्ति हुई जो ऐतिहासिक रूप से बाद के ग्रीको के इतरीकृत दर्शनशास्त्र की आखिरी उपज थी, और जो केवल यहूदियो के ही जातीय ईश्वर जिहोवा मे मूर्त हो गये। इस सुविधाजनक, व्यवहारयोग्य तथा नमनीय रूप मे मनुष्य पर प्रभुत्व करनेवाली उन वाहरी प्राकृतिक तथा सामाजिक शक्तियो के साथ मनुष्य के सम्बधो के भावुकता पूर्ण रूप मे धर्म तब तक रह सकता है जब तक मनुष्य इन शक्तियो के अधीन रहे। हमने एक वार से अधिक यह देखा है कि मौजूदा पूँजीवादी समाज मे मनुष्य पर उन आर्थिक अवस्थाओ का—उन्ही के बनाये हुए उत्पादन के साधनो का प्रभुत्व रहता है, मानो वे कोई बाहरी शक्ति है। इस प्रकार धार्मिक प्रत्यावर्तन-क्रिया (reflex action) का वास्तविक आधार मौजूद रहता है, और उसी के साथ स्वय धार्मिक क्रिया भी मौजूद रहती है। यद्यपि पूँजीवादी अर्थशास्त्र ने वाहरी शक्तियो-द्वारा इस प्रभुत्व के कारणगत आधार ` कुछ अन्तर्दृष्टि उत्पन्न कर दी है, किन्तु फिर भी इससे कोई विशेष फर्क नही आता। न तो पूँजीवादी अर्थशास्त्र आमतौर से अर्थसकटो को रोक सकता है, और न वह वैयक्तिक रूप से एक एक पूँजीपति को उन हानियो, डूबे हुए रुपयो तथा दिवालियापन से ही बचा सकता है, न वह वैयक्तिक रूप से एक एक मजदूर को बेकारी तथा अभाव से ही बचा सकता है। अब भी यह सच है कि मनुष्य चाहता कुछ और है, और ईश्वर (अर्थात् पूँजीवादी उत्पादनपद्धति की बाहरी शक्तियाँ) करता कुछ और है। केवल ज्ञान, चाहे वह पूँजीवादी अर्थविज्ञान से कही आगे और कही अधिक गया हो, सामाजिक शक्तियो को समाज के नियत्रण मे लाने के लिए यथेष्ट नही है। इसके लिए सर्वोपरि जरूरी बात है समाज की ओर से क्रिया। जब यह क्रिया की जा चुकी है, और जब समाज ने उत्पादन के तमाम साधनो पर कब्जा कर एक योजनात्मक आधार पर उनका

नार्डिक रणदेवता टीर (Tyr), प्राचीन उच्च जर्मन जिओ (Zio), ग्रीक ज्यूइस, लैटिन ज्यूपिटर (जो द्युपितर के लिए है), दूसरे जर्मन कबीलो मे ऐर, एओर, ग्रीक ऐरिस तथा लैटिन मार्स के साथ एक है। (एगेल्स का नोट)

व्यवहार शुरू किया है, तब स्पष्ट है कि उसने अपने को तथा अपने सदस्यों को उस बन्धन से मुक्त कर लिया है जो उन्हीं के द्वारा निर्मित उत्पादन के साधनों के ही बन्धन है, किन्तु जो अब उनके मुकाबिले मे एक अनिवार्य 'बाहरी शक्ति के रूप मे उनके सामने आता है। इसलिए उस समय जब कि मनुष्य केवल प्रस्ताव ही करके नहीं रह जाता है, बल्कि वह उस प्रस्ताव को अन्जाम भी देता है, तभी धर्म मे जो अन्तिम बाहरी शक्ति प्रतिफलित होती है, उसका विलोम हो सकेगा, और उसके साथ ही धार्मिक प्रतिफलन भी सरल कारण से लुप्त हो जायगा। प्रतिफलन के लिए कुछ रहेगा ही नहीं।"

८९—धर्म पर मार्क्स—मार्क्स ने सामग्रियो के चरित्र का उद्घाटन करते हुए—उपमा के रूप मे बताया है कि धर्म मे बुतो की सृष्टि कैसे होती है, "तुलना करने के लिए हमे धार्मिक जगत् से कोहरो मे आवृत क्षेत्रो का आश्रय लेना पडेगा। इस प्रक्रिया मे मनुष्य के दिमाग की उपज जीवन से युक्त स्वतन्त्र अस्तित्वो के रूप मे मालूम पड़ती है, और मालूम पडता है कि वे बुत या अस्तित्व एक दूसरे से तथा मानव-जाति से सम्बद्ध है।"[१]

९०—मार्क्स एगेल्स के साथ हक्सले के मत की तुलना—मार्क्स तथा एगेल्स के विश्लेपण के अनुसार धर्म के दो मूलगत आधार है, एक प्रकृति और मनुष्य का सम्बन्ध, जिसमे मनुष्य प्रकृति को ठीक तरीके से समझ न पाकर उस पर अतिप्राकृतिकता का आरोप करता है तथा उसको मूर्त करके भूत प्रेत, यक्ष-किन्नर, देवी-देवता, ईश्वर, अल्ला, फरिश्ता के रूप मे देखता है, दूसरा मनुष्य के साथ सामाजिक शक्तियो का सम्बन्ध अर्थात् उसी के बनाये हुए उत्पादन के साधनो के साथ उसका सम्बन्ध है। हक्सले (जिनका विस्तृत मत हम आगे उद्धृत करेंगे) भी यह मानते है कि पहले-पहल जादू-सम्बन्धी विचारो का प्रयोग खाद्य प्राप्ति के लिए तथा युद्ध मे विजय के लिए होता था, और यही बाद को चलकर व्यक्तिगत मुक्ति के लिए होने लगा। हक्सले ने यह भी लिखा है कि 'धर्म मनुष्य के ऊपर प्रभाव डालनेवाली विश्व-सम्बन्धी (Cosmic), सामाजिक तथा वैयक्तिक न समझ मे आनेवाली शक्तियो के साथ समझौते के रूप मे व्यक्त होता है। यह समझौता उनके सामने घुटना टेकना ही समझा

१ C. K. M. vol chapter I

है, उन पर जीत पाकर हो सकता है, उनसे पलायन के रूप मे हो सकता है या सही अर्थ मे समझौते के रूप मे हो सकता है। इन्ही विभिन्न कारणो की क्रियाशीलता के कारण धर्म के विभिन्न रूप हो गये।'[१] इस प्रकार हक्सले भी मार्क्स, एगेल्स की तरह यह मानते है कि वाहरी शक्तियो के साथ समझौते के रूप मे जो कल्पित मत गृहीत होता है वह धर्म का रूप धारण करता है। हक्सले के मत मे जो कमी है उसे वे इस प्रकार कहते है मानो वाहरी शक्तियो के साथ यह समझौता सज्ञानरूप से किया गया है जब कि वस्तुस्थिति इसके विलकुल विपरीत है। इसलिए एगेल्स-द्वारा व्यवहृत प्रतिफलन शब्द अधिक उपयुक्त तथा तथ्यानुयायी है।

९१—विज्ञान की उन्नति के साथ धर्म का एक फेफड़ा नष्ट—प्रकृति के साथ मनुष्य के सम्बन्ध का ऊलजलूल प्रतिफलन तो उसी समय वन्द होने लगता है जव विज्ञान की उन्नति होने लगती है। जो अव तक रहस्यावृत होने के कारण भय तथा सम्मान-भाजन होता था, वह अव दिन की रोशनी मे स्पष्ट होने लगता है। इस प्रकार धर्म का एक फेफडा तो विज्ञान से नष्ट हो जाता है। रहा यह कि जो चेष्टा कुछ वुर्जुआ वैज्ञानिको की ओर से निरन्तर जारी है कि विज्ञान के ही सहारे धर्म के लुंजपुंज शरीर को मनुष्य के हृदय-सिहासन पर वैठा रक्खा जाय, उसकी पोल यह है कि कुछ वातो मे विज्ञान की पैठ अभी यथेष्ट नही है—यद्यपि यह पैठ नित्य वढती जा रही है, इसलिए कुछ ऐसी वाते आ पडती है जो साधारण नियम के दायरे से कुछ पृथक् ज्ञात होती है। इन्ही को आश्रय वनाकर यह कहने का दावा किया जाता है कि विज्ञान के नियमो से परे भी कुछ है, और वह कभी विज्ञान या गणित की पकड मे नही आ सकता। जव तक इन विषयो मे ज्ञान और अधिक नही हो जाता तव तक इन वैज्ञानिको के गुमराह करनेवाले ये हथकडे कुछ न कुछ चलते ही रहेगे, किन्तु जैसा विज्ञान मे हमेशा हुआ है कि अधिक तथ्य ज्ञात होते ही धर्म को अपने गढो को छोडकर पीछे हटना पडा है, वैसा आगे भी होता रहेगा। हम इस विषय पर आगे चलकर और भी विस्तार के साथ विचार करेगे।

---

१. G. M. G p. 278

९२—वैज्ञानिक समाजशास्त्र से धर्म का दूसरा फेफड़ा खत्म—धर्म के आधार-स्वरूप जो दूसरी बात है यानी समाज की उत्पादनशक्तियाँ, उनके सम्बन्ध मे तो हम बार बार कह चुके है कि ज्यो ही मनुष्य समाज की गति का उद्घाटन कर उनके सहारे चलने लगेगा अर्थात् ज्यो ही मनुष्य समाज की गति को जानकर उस ज्ञान का उपयोग आगे के समाज-गठन मे करेगा त्योही धर्म का यह भी फेफडा नष्ट हो जायगा। दूसरे शब्दो मे मार्क्सवादी समाजशास्त्र का ज्ञान—केवल ज्ञान नही, साथ ही उसका प्रयोग मनुष्य-जाति को अपनी कमजोरी के इस पहलू से बिलकुल मुक्त कर देगा। प्रयोगात्मक रूप से सोवियट रूस मे यह देख लिया गया कि जिन आर्थिक सकटो को पूँजीवादी समाज प्रति दस साल मे आनेवाली एक दैवी विपत्ति के रूप मे समझता था, सोवियट नेताओ के गास्प्लेनो के कारण उनका बिलकुल अन्त हो गया। इसी प्रकार समाज की अन्य बहुत सी बुराइयाँ, जैसे वेश्यावृत्ति जिसे एक आवश्यक बुराई बताया गया है (और यही बर्ट्रेन्ड रसेल ऐसे बुर्जुआ विद्वानो के दिवालियेपन को सूचित करता है), सोवियट रूस मे नियत्रण मे ला दी गई है, और करीब करीब उसका अन्त हो चुका है। ब्यौरे मे जाने की आवश्यकता नही। इस प्रकार की बहुत सी कथित रूप से अव्यक्त सामाजिक शक्तियो तथा समस्याओ को आज बहुत अच्छी तरह समाजवादी नेताओ ने समझ लिया है। इस प्रकार इस क्षेत्र मे रहस्यवाद के कारण जिन शून्य स्थानो की (Vacuum) सृष्टि हुई थी, अब उनके लुप्त हो जाने के कारण धर्म के लिए उनके दराजो मे पैठकर रहने की गुँजाइश नही रही। फिर भी पूँजीवादी देशो मे अभी तक सामाजिक शक्तियाँ रहस्यावृत समझी जाने के कारण उनमे धर्म की गुँजाइश रहेगी, किन्तु अखिल विश्व मे समाजवाद की स्थापना होने के साथ साथ इस पहलू का बिलकुल अन्त हो जायगा।

९३—धर्म के सम्बन्ध में हक्सले—हम अपनी आलोचना मे कई बार हक्सले का उल्लेख कर चुके है। जूलियन हक्सले का आधुनिक वैज्ञानिकों मे एक विशेष स्थान है। उन्होने एक लेख-सग्रह प्रकाशित किया है। इसमे दृश्यगत समस्या के रूप मे धर्म नामक एक बहुत महत्त्वपूर्ण लेख है। इस लेख को पढ़ने से ज्ञात होता है कि वे किस प्रकार प्रचलित विचारों

से अपने वैज्ञानिक प्राण का छुटकारा करा लेने के लिए फडफडा रहे हैं। इस चेष्टा मे वे सफल नही रहे हैं, फिर भी उन्होने यत्रतत्र जो मन्तव्य किये हैं उनसे एगेल्स के धर्म-सम्वन्धी मत का समर्थन किस प्रकार होता है, यह द्रष्टव्य है। वे लिखते हैं कि 'ईश्वर की धारणा अपनी उपयोगिता की सीमा को पार कर चुकी है, आगे इसका विकास सम्भव नही। धर्म का भार सँभालने के लिए मनुष्य ने अतिप्राकृतिक शक्तियो की सृष्टि की थी। अस्पष्ट ऐन्द्रजालिक शक्ति युक्त माना (Mana) से व्यक्ति भूत, प्रेत, इत्यादि, भूत-प्रेतो से ही देवी-देवता, देवी-देवता से ईश्वर, इस प्रकार मोटे तौर पर विकास चलता गया। देवतागण विकास की एक खास मजिल मे ज़रूरी तथा उपयोगी हैं। मनुष्य के लिए देवताओ के उपयोगी होने के लिए तीन वाते जरूरी हैं। वाह्य जगत् की विपत्तियो को इतना कम समझा गया हो कि यह न मालूम हो कि वे प्राकृतिक शक्तियाँ हैं, और वे अनियत्रित हो, जिससे रहस्यजनक रूप से भय उत्पन्न कर सके, साधारण जीवन की असहायता इतनी अधिक हो कि इस जीवन मे किसी प्रकार तरक्की मे विश्वास सम्भव न हो, तव उस हालत मे सामाजिक जीवन नही, ईश्वर ही जरूरी पलायन यत्र दे सकता है। अव भी ऐन्द्रजालिक शक्ति मे विश्वास होगा, यद्यपि वह सूक्ष्म या उदात्तीकृत रूप मे होगा, और साथ ही मनुष्य-द्वारा अपने मन की खोज इतनी वढी हुई न हो कि वह अपने Superego और Id की अचेतन शक्तियो को इस प्रकार प्रसारित तथा मूर्त न कर सके मानो वे उससे वाहरी कोई अस्तित्व हो। प्राकृतिक विज्ञान, तर्कशास्त्र और मनोविज्ञान की प्रगति हमे ऐसी जगह ले आई है कि ईश्वर का मानना अव उपयोगी नही है। प्राकृतिक विज्ञान ने ईश्वर को वहुत ही दूर ढकेल दिया है, और उसका यदि कोई काम रह सकता है, तो यह कि अव ईश्वर शासक और अधिनायक के रूप मे समाप्त होकर केवल एक प्रथम कारण या अस्पष्ट आमसिद्धान्त के रूप मे हो गया है। (सर जेम्स जिन्स इत्यादि इसी रूप मे ईश्वर का प्रतिपादन करते हैं---ले०) अब यह समझ लिया गया है कि इन्द्रजाल का सिद्धान्त एक झूठा सिद्धान्त है, और यह भी समझ लिया गया है कि नियत्रण विज्ञान तथा उसके प्रयोग के द्वारा प्राप्त होगा, और अब त्यागमूलक अनुष्ठान तथा दरख्वास्त के रूप मे

प्रार्थना का कोई अर्थ नही रह गया है।. ईश्वरवादमूलक विश्वास प्रकृति मे मनुष्य के अपने विचारो तथा भावनाओ के प्रसरण से उत्पन्न होते है। यह अव्यक्तिगत घटनाओका मूर्तरूप है। .. देवी देवताओ, फरिश्तो, दैत्यो, भूतो तथा अन्य आध्यात्मिक नाचीजो के साथ ईश्वर भी एक मनुष्योत्पादित सामग्री है, जो अनिवार्य रूप से बाहरी परिस्थिति के सम्बन्ध मे मनुष्य के अज्ञान तथा असहायता से उत्पन्न हुई है। अज्ञान की जगह पर ज्ञान के आ जाने से तथा वास्तविक रूप से नियत्रण की वृद्धि हो जाने के कारण और साथ ही विचारो मे यह बात मान ली जाने के कारण कि नियत्रण सम्भव है ईश्वर उसी प्रकार खतम होता जा रहा है, जैसे उसके पहले शैतान, प्राचीन जगत् के देवी देवता, और स्थानीय भूत-प्रेत तथा यक्ष आदि खतम हो गये । यह बात अब लोगो की समझ मे आने लगी है कि गरीबी, गुलामी, स्वास्थ्यहीनता, सामाजिक कष्ट, लोकतत्र, राजतत्र या राजनैतिक या आर्थिक पद्धति किसी दैवी क्रिया के अनिवार्य हिस्से नही है, हमारी इच्छा के मुताबिक उनका नियत्रण उसी प्रकार होना चाहिए जिस प्रकार रसायनशास्त्र या विद्युत्शास्त्र मे वस्तुओ का नियत्रण किया जाता है। .. पाश्चात्य की परम्परागत उन्नति प्राकृतिक धार्मिक पद्धतियो के पतन के कारणो का विश्लेषण करने पर यह बात बिलकुल स्पष्ट हो गई है कि यदि इतिहास को पीछे की ओर नही लौटना है तो धर्म का पतन अनिवार्य है, क्योकि हमारे ज्ञान तथा नियत्रण मे वृद्धि के कारण मनुष्य की बाह्य परिस्थितियो मे अज्ञान और भय की कमी हो गई, तथा यत्र, अनाज की उत्पत्ति, पदार्थ-विज्ञान और रसायन के आविष्कार एव रोग-कीटाणु आदि के आविष्कार से धर्म के लिए गुँजाइश नही रह गई है। जब तक ये है, और विज्ञान तथा यत्र विद्या अन्धकार युग मे लौट नही जाती तब तक धर्म के पतन की यह प्रवृत्ति कायम रहेगी।" मजे की बात है कि हक्सले इस प्रकार के विचार रखते हुए भी अन्त तक किसी न किसी प्रकार के धर्म के पक्ष मे अपनी राय देते है। इसको क्या कहा जाय? शासकवर्ग के कुसस्कारो के प्रति रियायत या वैज्ञानिक साहस की कमी? स्मरण रहे कि इस सम्बन्ध मे केवल हक्सले ही उच्छवृत्तिवाद का परिचय नही देते, बल्कि बहुत से अन्य बुर्जुआ लेखक तथा विचार नेता अपने विचारो के द्वारा जिन उपसहारो पर पहुँचते है, उनसे कार्यरूप मे कुछ

अलग ही बातो का प्रचार करते है। यह दुरगापन एक तरफ तो नवीन विचारों की अनिवार्यता तथा दूसरी तरफ इस वर्ग की ह्रासशीलता को सूचित करता है।

९४—**फ्रायड के अनुसार धर्म एक भ्रान्ति**—विश्व विख्यात मनोवैज्ञानिक फ्रायड बिलकुल दूसरे ही यानी केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से धर्म की आलोचना कर अपनी 'एक भ्रान्ति का भविष्य' नामक पुस्तक मे यह दिखाते है कि सभी धर्म भ्रान्तिमूलक है। उनका कथन कुछ यो है कि मनुष्य की प्रकृति कुछ ऐसी है कि विभिन्न जातियाँ अनिवार्य रूप से धार्मिक विश्वास प्राप्त कर लेती है। उनका स्पष्ट ही यह कहना है कि यह विश्वास भ्रान्तिमय है, इसलिए उनके सामने कोई भविष्य नही है। डाक्टर फ्रायड का यह कहना है कि यदि बौद्धिक रूप से धर्म की उपकारिता समझ मे आ जावे, तो उससे काम नही चलने का क्योकि उससे अभीष्ट असर जाता रहेगा। धर्म मे लोगो से यह कहा जाता है कि वे उसके सिद्धान्तो पर इन कारणो से विश्वास करे—, एक तो इसलिए कि हमारे बाप-दादे उन पर विश्वास करते थे, दूसरे इसलिए कि ये विश्वास अत्यन्त प्राचीन युग से होते चले आये है, तीसरे यह कि उनके सही होने के सम्बन्ध मे हम कोई प्रश्न ही न उठावे। कहना न होगा कि ये तीनो बाते ऐसी है जिन्हे कोई भी बुद्धिमान् स्वीकार नही कर सकता। फ्रायड भी धर्म के मूलभूत तर्को को पेश करने के बाद एक एक करके उनकी आलोचना कर इसी नतीजे पर पहुँचते है। फ्रायड ऐसे मार्क्सवाद से शून्य व्यक्ति भी इस बात का अनुभव किये बिना नही रह सके कि धर्म मे एक वर्ग-विशेष का कल्याण है। केवल यही नही है, उन्होने यह भी अनुभव किया कि धर्म मे दूसरे वर्ग का दमन है। फ्रायड के शब्दो मे 'सभी आधुनिक सस्कृतियो का यही हाल है। इसलिए यह बात समझ मे आती है कि ये दमित श्रेणियाँ इस सस्कृति की तरफ से फिर जायँगी—एक ऐसी सस्कृति जिसका वे अपने श्रम के द्वारा निर्माण करते है, किन्तु जिसकी नियामतो पर उनका कोई हिस्सा नही है। यह कहने की जरूरत नही कि जिस सस्कृति मे एक बहुत बडी सख्या असन्तुष्ट रह जाती है, और जिसके विरुद्ध विद्रोह करने के लिए वे दिन ब-दिन उन्मुख हो रहे है उसके सामने न तो कोई भविष्य है और न होना ही चाहिए।'[१] साथ

---

१. F. A. I.

ही डाक्टर फ्रायड इस नतीजे पर पहुँचते है कि यदि एक पुश्त को धार्मिक कुसस्कारो से मुक्त रखकर शिक्षित किया जाय, तो उसका नतीजा बहुत अच्छा ही होगा, क्योकि उनके मतानुसार धार्मिक रूप से किये गये अवैज्ञानिक निषेधो से बच्चो के मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा असर पडता है। वे तो यहाँ तक कहते है कि आमतौर से जो लोग दुर्बल चित्त होते है उन्ही पर धार्मिक विधि-निषेधो का प्रभाव पडता है। स्ट्रेची ने इस कथन पर टीका करते हुए ठीक ही लिखा है कि मार्क्स ने जो धर्म को अफीम बताया है, उस कथन मे और फ्रायड के मत मे समता है, किन्तु स्ट्रेची ने जो बात नही कही, किन्तु कही जा सकती थी, वह यह है कि फ्रायड इस बात को केवल व्यक्ति की दृष्टि से देखते है, किन्तु मार्क्स इसको सारे वर्ग बल्कि वर्गो की दृष्टि से देखकर कहते है।

९५—फ्रायड विज्ञान को धर्म से श्रेष्ठ मानते है—फ्रायड ने अपनी दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक 'टोटम और टाबू' मे भी धर्म की आलोचना की है। वे उसमे कहते है कि मनुष्य के विश्वासो का पहला सोपान animistic या पशु-पक्षी-वृक्ष प्रतीकवादी होता है। इसके बाद क्रमश धार्मिक और वैज्ञानिक सोपान आते है। 'इन सोपानो मे हम विचारो की सर्वशक्तिमत्ता का अनुसरण कर सकते है। पहले सोपान मे मनुष्य अपने ऊपर सर्वशक्तिमत्ता का आरोप करता है। धार्मिक सोपान मे वह देवताओ पर सर्वशक्तिमत्ता का आरोप करता है, किन्तु गम्भीरता के साथ वह अपने हाथो से इस शक्ति को जाने नही देता, क्योकि वह अपने लिए देवताओ को किसी न किसी प्रकार से अपने हित के अनुकूल प्रभावित करने का काम सुरक्षित रखता है। जीवन के प्रति वैज्ञानिक रुख मे मनुष्य की सर्वशक्तिमत्ता के लिए कोई जगह नही छूटती। उसने अपनी क्षुद्रता स्वीकार कर ली है, और मृत्यु तथा तमाम प्राकृतिक आवश्यकताओ के निकट समर्पण कर दिया है। फिर भी मानवीय भावना मे, जो कि वास्तविकता के नियमो के ऊपर शासन करती है, निर्भरता के रूप मे विचार की सर्वशक्तिमत्ता के आदिम विश्वास का कुछ न कुछ अब भी बाकी रहता है।'[१] इस विश्लेषण के सम्बन्ध मे इतना ही वक्तव्य है कि फ्रायड ने विचार की सर्वशक्तिमत्ता-वाली जो बात कही है, वह एक अजीब शब्दावली है। उससे विचारो के परिष्करण

---

१ T A. T p. 141

मे कोई सहायता नही मिली। वैज्ञानिक सोपान के सम्बन्ध मे उन्होने जो यह कहा है कि मनुष्य तमाम प्राकृतिक आवश्यकताओ के निकट आत्म-समर्पण कर देता है, इसका अर्थ समझना कठिन है। सच तो यह है कि विज्ञान के सहारे ही (और विज्ञान मनुष्य-द्वारा निर्मित है) मनुष्य अपनी शक्ति का असली अनुभव करता है। फिर भी यह द्रष्टव्य है कि इस पुस्तक मे भी फ्रायड ने धार्मिक युग को वैज्ञानिक युग से निम्नकोटि का माना है। दूसरे शब्दो मे फ्रायड के मतानुसार धर्म के मुकाबिले विज्ञान ही श्रेयस्कर है।

एगेल्स की विश्लेपण की तुलना मे फ्रायड का विश्लेषण अपूर्ण तथा एक-देशीय है। फ्रायड जिस प्रकार से चीजो को केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखते है, वह पूर्ण नही कहला सकता। मार्क्सवाद न केवल किसी बात का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक सतह पर करता है, बल्कि उससे भी गहराई तक आर्थिक, सामाजिक सतह तक अपनी सर्चलाइट डालता है। फिर भी फ्रायड ऐसे विश्वविख्यात मनोवैज्ञानिक का धर्म के सम्बन्ध मे क्या मत है, यह अपनी जगह पर बहुत भारी महत्त्व रखता है।

९६—धर्मोत्पत्ति-सम्बन्धी यौन सिद्धान्त—धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे और भी बहुत से सिद्धान्त है जिनका विस्तार के साथ उल्लेख हमने धर्म-सम्बन्धी अपनी प्रकाण्ड पुस्तक मे किया है। यहाँ केवल उनको गिनाया ही जा सकता है। कुछ लोग धर्म को सेक्स या यौन इच्छा से उत्पन्न मानते है। उदाहरणार्थ ब्रीफोल (Briffault) नामक एक लेखक यह कह जाते है कि व्यावहारिक रूप से सभी धर्मो मे यौन इच्छा की अभिव्यक्ति है। प्रत्येक देश के आदिम इतिहास मे योनि-पूजा तथा लिग-पूजा का प्रमाण मिलता है। ऋग्वेद मे शिश्न देवो का जो उल्लेख है, उससे ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिक युग मे भी शिश्नपूजक मौजूद थे। मोहनजोदडो की सभ्यता मे भी लिंग पूजा का परिचय मिलता है। इसी प्रकार मिस्र, क्रीट, जापान, नवगायना, पोलिनेशिया और दक्षिण अमेरिका—सक्षेप मे सभी देशो मे लिग पूजा का परिचय मिलता है। भारतवर्ष मे तो यह पूजा-प्रणाली इस समय भी मौजूद है। ब्रीफोल का कहना है कि 'सस्कृति के आदिम-तम रूप मे चाहे वह आदिम शिकारी कबीलो से ही देखा जाय, तो उनसे लेकर महान् कृषि-प्रधान देशो तक मे-जिनसे हमारी सभ्यताओ का उदय हुआ

है, प्राय प्रत्येक अनुष्ठान मे हम देखते है कि उनमे कामुकतापूर्ण नृत्यगीत के साथ साथ यौन क्रिया—चाहे सचमुच की जाय या प्रतीक रूप मे—सम्मिलित रहती है। साथ ही विलकुल पुमिश्रणा के व्यभिचारमूलक अनुष्ठान भी किये जाते है।' ब्रीफोल ने यह दिखलाया है कि प्राचीन मिस्र और कावुल से लेकर सभी देशो मे इस प्रकार की वाते पाई गई है। रोमनो की सैटरनेलिया, भारतीयो की होली, बगाल मे प्रचलित कोजागरी पूर्णिमा का उत्सव और रासलीला—सभी मे ऐसे उपादान मोजूद है। तान्त्रिको के अनुष्ठानो का उल्लेख अनावश्यक है। पचमकार की साधना मे यौन उपादान वहुत प्रधान है। शियाओ के इदेगदीर मे भी यह उपादान प्रधान है। हम यदि इस सिद्धान्त की विशद आलोचना करे तो वह स्वय एक ग्रन्थ हो जायगा, इसलिए हम इतना वताकर आगे वढे कि धर्म-सम्वन्धी यह सिद्धान्त एकदेशीय है तथा धर्म मे ऐसी सैकडो वाते है जिनमे यौन इच्छा से व्याख्या नही की जा सकती।

९७—धर्म का सूर्य-सिद्धान्त—कुछ लोग सभी धर्मो को सूर्य-पूजा से उत्पन्न मानते है। वैदिक विद्वानो मे मैक्समूलर इसी मत के प्रतिपादक थे। हिन्दुओ का प्रसिद्ध गायत्री-मत्र सूर्य की ही स्तुति है। वेदो मे जो थोडे से देवता है उनमे से अधिकाश को सूर्य से सम्वद्ध दिखाया जा सकता है। जैसे, सविता, अर्यमा, उषा इत्यादि। अग्नि पूजा भी सूर्य-पूजा का एक रूप है यद्यपि अव अग्नि-पूजा केवल पारसियो मे रह गई है, किन्तु किसी युग मे मध्यपूर्व के सारे देश सूर्य-पूजक थे। जापान उदीयमान सूर्य का देश समझा जाता है तथा वहाँ के राजा स्वय सूर्य देवी के वशज माने जाते है। हमारे यहाँ भी सूर्यवशी लोग है। सूर्य का सम्वन्ध शस्योत्पादन से है। इसके अतिरिक्त सूर्य-पूजा मे यौन उपादान भी हो सकता है, यह भी वताया गया है। पृथ्वी को माता, आकाश को पिता और सूर्य को प्रजनन शक्ति के प्रतीक रूप मे कल्पित किया गया है जो इधर से उधर जाकर प्रजनन का कार्य करता है।

९८—टोटेम सिद्धान्त—धर्मो के एक प्रधान सिद्धान्त के रूप मे टोटेमवाद या प्रतीक पूजा है। भारतीय आर्यो मे भी प्रतीक पूजा की प्रथा थी, इसका प्रमाण कई वातो मे मिलता है। आदिम आर्य कबीलो मे प्रत्येक जाति अपनी उत्पत्ति किसी पशु से मानती थी। हिन्दुओ के दशावतारो मे कई अवतार पशु है। इन

सम्बन्ध मे यह विशेष द्रष्टव्य है कि पहले कई अवतार मत्स्य, वाराह, कूर्म अर्थात् पशुओ के रूप मे हुए, और बीच का अवतार अर्द्ध मनुष्य तथा अर्द्धसिंह अर्थात् नृसिंह रूप मे हुआ। क्या इस अनुश्रुति के अन्दर धर्म की पशु प्रतीक मूलक उत्पत्ति की कथा छिपी हुई नही है? आदिम जातियो मे तो अभी तक पशु-प्रतीक पूजा प्रचलित है। भारतीयो मे जो हनुमान्, गरुड आदि पशुपक्षियो की पूजा होती है, उसमे कहाँ तक पशुप्रतीक पूजामूलक उपादान छिपे है, यह विचार्य है।

९९—ग्रेन्ट एलेन का मृतक पूजा-सिद्धान्त—ग्रेन्ट एलेन आदि कुछ विद्वानो के मतानुसार धर्म की उत्पत्ति मृतक पूजा से हुई। इनके अनुसार जो जो पेड, पत्थर, नदी, मृतको के साथ सम्बद्ध होते गये, वे पूजास्थान होते गये। हमने धर्म-सम्बन्धी अपने प्रकाण्ड आलोचना ग्रन्थ मे यह दिखलाया है कि हिन्दुओ मे इस सिद्धान्त की पुष्टि मे बहुत से प्रमाण मिल सकते है। एक ही उदाहरण इस सम्बन्ध मे यथेष्ट होगा। गगा पहले-पहल जब मर्त्य मे लाई गई, तो भगी-रथ उन्हे सगर की सन्तानो को तारने के लिए लाये। इस प्रकार गगा के साथ सगर के मृत-पुत्रो को तारने का सम्बन्ध हो गया। इसे खीचातानी अवश्य कहा जा सकता है किन्तु ग्रेन्ट एलेन को अपने मत के प्रतिपादन मे ऐसी खीचा-तानी करनी पडी है।

अब हम इन एकदेशीय सिद्धान्तो पर विचार न करेंगे। इनमे से कोई भी सिद्धान्त गहराई तक नही जाता। सच तो यह है कि एगेल्स के सिद्धान्त से ही धर्म के रहस्य का उद्घाटन होता है, और समझ मे आता है कि किस प्रकार और कब धर्म से मनुष्य जाति को छुटकारा मिल सकता है।

१००—हाइजनवर्ग का अनिश्चयतासिद्धान्त और धर्म—हम पहले ही बता आये है कि कुछ बुर्जुआ वैज्ञानिक आधुनिकतम विज्ञान की सहायता से ईश्वर को स्थापित करने की चेष्टा कर रहे है। यह सम्भव नही कि यहाँ हम विस्तार से इस सम्बन्ध मे लिखे, फिर भी थोडे मे इनके कथन का साराश देगे। हाइजन-वर्ग का अनिश्चयता का सिद्धान्त कहता है कि एक एलेक्ट्रन की या तो स्थिति होगी या गति होगी, किन्तु दोनो बातो का पता नही मिल सकता। एक एले-क्ट्रन की स्थिति का जितना ठीक पता लगेगा उसकी गति उतनी ही अस्पष्ट

हो जाती है, और उसकी गति जितनी स्पष्ट हो जाती है, उसकी स्थिति उतनी ही अस्पष्ट होती है। इस सिद्धान्त को वहुत तूल दिया गया है, और कहा गया है कि प्रकृति के सम्वन्ध मे जितना ही हमारा ज्ञान वढता जा रहा है, उतना ही ऐसा मालूम होता जा रहा है कि चीजे नियम के अन्दर नही आती। अध्यापक श्रेडिगर ने एक सवाददाता से यह कहा था कि 'इन छोटी इकाइयो मे मे प्रत्येक के क्षेत्र मे ऐसा मालूम होता है कि वे किसी निश्चित नियम से स्वतन रूप से अपनी गति का अनुसरण करती है। यदि हम इस सम्वन्ध मे किसी नियम या कानून की वात कर सकते है, तो वह केवल आँकडेगत नियम (Statistical law) कह सकते है। जहाँ तक वडी वस्तुओ की दुनिया ((Macroscopic) है वहाँ तक तो नियम लागू है, किन्तु क्षुद्रतम इकाइयाँ किसी नियम का पालन नही करती।'[१] श्रेडिगर ऐसा कहते है किन्तु प्रश्न उठता है कि यह अनिश्चयता हमे इसलिए मालूम होती है कि हमारा ज्ञान अभी त्रुटिपूर्ण है या सचमुच ऐसी ही वात है। वैज्ञानिक-शिरोमणि आइन्स्टाइन व्यक्तिगत जीवन मे धर्मवादी होते हुए भी कहते है कि यह अनिश्चयता सिद्धान्त 'केवल सामयिक रूप से अज्ञान का शरण गृह ((temporary asylum of ignorance) है', और वे समझते है कि जल्द ही इस क्षेत्र मे कार्य कारणवाद का राज्य स्थापित हो सकेगा।[२]

आइन्स्टाइन ने अनिश्चयता-सिद्धान्त के सम्वन्ध मे जो कुछ कहा है उसको यदि छोड भी दिया जाय और यह मान लिया जाय कि अणुवीक्षणयत्र की दुनिया मे (microscopic) नियम नही अनियम है, कार्यकारण नही कार्यकारणहीनता है, तो भी यह पूछा जा सकता है कि उससे अध्यात्मवाद को कैसे सहायता मिल सकती है। जहाँ तक हमने समझा है, कोई भी ईश्वरवादी यह नही समझता कि ईश्वर की दुनिया एक ऐसी दुनिया है कि जिसमे कोई नियम ही नहीं है, और ईश्वर एक अराजकवादी जगत् का राजा है। अनिश्चयतासिद्धान्त से कार्यकारणवाद या भौतिकवाद को ठेस अवश्य पहुँचती है किन्तु इस सिद्धान्त से धर्म और ईश्वर को कौन सी मदद पहुँचती है। अनिश्चयता-सिद्धान्त तो सन्देहवाद उत्पन्न करता है न कि किसी ईश्वर मे अविश्वास।

---

१. G. M. T. p 83 २. O. M K p. 390

सन्देहवाद यदि भौतिकवाद के साथ सामजस्यहीन है तो वह अध्यात्मवाद का ही सहायक कव है? इसलिए अनिश्चयता के सिद्धान्त को लेकर धर्मवादियो के आनन्द से नृत्य करने की कोई वात नही उठती।

१०१—एन्ट्रापी सिद्धान्त और धर्म—आधुनिकतम विज्ञान के सिद्धान्तो मे एन्ट्रापी का सिद्धान्त भी धर्मवादियो के हाथ मे पडकर धर्म के स्तम्भ के रूप में दिखलाया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व क्रमश समशीतोष्ण अवस्था की ओर जा रहा है, इसलिए यदि विश्व को आगे चलना है तो उसे एक स्रष्टा की जरूरत पडेगी जो, घडी मे चावी खतम होने पर जैसे चावी भरी जाती है वैसे, विश्व को समशीतोष्ण अवस्था से हटा देगा, और इस प्रकार एक वार फिर सृष्टि का चक्र चालू होगा। इस सम्बन्ध मे हमारा अज्ञान ही हमे ऐसा सोचने के लिए वाध्य करता है। डाक्टर वर्नहार्ड वेविक ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि यह इन्ट्रापी केवल सान्त पृथक् पद्धतियो (finite isolated systems) पर लागू है। 'इसलिए इसे विश्व पर लागू न करना ही अच्छा होगा, क्योकि विश्व को इस धारणा के अधीन नही लाया जा सकता। इसके अतिरिक्त इस नियम को इस रूप मे मान लेने मे एक दूसरी आपत्ति भी है, क्योकि यदि यह माना भी जाय कि साक्षेपवाद के सिद्धान्त के अर्थ मे हमारा विश्व देश मे सान्त (finite in space) है, तो भी इस नियम से इस उपसहार पर पहुँचने की कोई तार्किक आवश्यकता नही है कि यह विश्व-प्रक्रिया समय मे सान्त (finite in time) है। ऐसा मानने के लिए इसके अतिरिक्त और भी वाते मान लेनी पडेगी। एन्ट्रापी के नियम के अन्तर्गत वस्तु इतना कहने से ही समाप्त हो जाती है कि एक सान्त पद्धति की मुक्तशक्ति (the energy of a finite system) धारावाहिक रूप से घटती जाती है, किन्तु इसमे इस विषय पर कुछ भी नही कहा जाता कि किस अनुपात से यह क्षय होता है। यह उपसहार भी, जो वरावर घट रहा है, एक निश्चित समय के वाद—चाहे वह समय बहुत ही दीर्घ क्यो न हो—शून्य के अक पर पहुँच जायगा। जिनको उच्चगणित की शिक्षा नही मिली है, उनकी आम गलतियो मे यह है। फिर भी यह एक वहुत वडी गलती है।'[१] लेवी का कहना है कि

---

१ A S p 260-61

होगा कि उसके बीच मे एक सारभाग (nucleus) है जिसके चारो तरफ एलेक्ट्रन घूम रहे है। इस प्रकार ठोस वस्तु भी अब विद्युत्-शक्ति के चार्ज मे—चाहे वह धनात्मक हो चाहे ऋणात्मक—परिणत हो गया है। इस प्रकार भूत का जो रूप रह गया है वह विद्युत् की तरगो मे जाकर खत्म हो गया है। कहा गया है, 'इससे अब भौतिकवाद की कोई गुंजाइश नही रह जाती और अब तो केवल सम्बन्धो के अलावा कुछ नही रह जाता। अध्यापक प्लैक ने सुलिवन की बातचीत मे कहा था 'मै चेतना को नीव की चीज समझता हूँ। मै भूत को चेतना से निकला हुआ समझता हूँ। हम चेतना के परे नही जा सकते। हम जिस किसी चीज के बारे मे बात करते है, तथा जिस किसी चीज को अस्तित्व के रूप मे देखते है, उसमे चेतना की जरूरत है।'[१]

१०३—रसेल के अनुसार सापेक्षवाद से भौतिकवाद असिद्ध—अब हम देखेंगे कि भूत की बदली हुई धारणा से बुर्जुआ वैज्ञानिको की बात कहाँ तक सिद्ध होती है, और उनकी बाते विज्ञान के क्षेत्र मे कहाँ तक अपने कुसस्कारो का प्रसारणमात्र है। ऐसा करने के पहले हम सुप्रसिद्ध गणितज्ञ बर्ट्रेन्ड रसेल के मत को उद्धृत करेगे जिन्होने एक तरह से इस आधार पर भौतिकवाद के विरुद्ध एक पूरा फर्द जुर्म पेश किया है। वे लिखते है 'सापेक्षवाद के सिद्धान्त ने देश को देशकाल मे निमज्जित कर दार्शनिको के तमाम तर्कों से कही अधिक नुकसान भूत की परम्परागत धारणा को पहुँचाया है। साधारण बुद्धि मे भूत कोई ऐसी वस्तु है जो काल मे जारी रहता है (persists), और देश मे गतिशील रहता है, किन्तु आधुनिक सापेक्षवादी पदार्थ विज्ञान के लिए यह दृष्टिकोण अब गृहणीय नही है। अब भूत का एक टुकडा परिवर्तित परिस्थिति मे जारी रहनेवाली कोई चीज नही रह गई, बल्कि केवल पारस्परिक सम्बन्धयुक्त घटनाओ का सिलसिलामात्र रहा। पुराना ठोसपन जाता रहा, और इसके साथ वे विशेषताएँ भी जाती रही जिनके कारण भूत भौतिकवादी के नजदीक क्षणस्थायी विचारो से अधिक वास्तविक मालूम पडता था। न कोई चीज स्थायी है, और न कोई चीज रहती है। इस कुसस्कार को छोड देना पडेगा।'

१ G M. T. p 96

१०४--नये विज्ञान मे भूत का अस्तित्व अव्याहित--हम इस विषय पर यहाँ विस्तार के साथ विचार नही कर सकते। प्लैक, रसेल, एडिंगटन, जिन्स आदि वैज्ञानिको ने इस सम्बन्ध मे कल्पना से काम लिया है, यह सुनिश्चित है। सी० एम० जोड की तरह भौतिकवाद से भागनेवाले लेखक ने भी यह लिखा है कि जिन्स और एडिंगटन की दार्शनिक उडाने सचमुच उनके वैज्ञानिक ग्रन्थो के मुकाबिले मे निम्नकोटि की है, और अच्छे दार्शनिको ने उनकी बातो की धज्जियाँ उडा दी है।[१] लेवी ने विज्ञान के सब वक्तव्यो पर विचार करने के अनन्तर लिखा है 'प्राय यह लिखा जाता है कि भूत का जमाना जाता रहा, और यह प्रकृत वैज्ञानिक युग की वस्तु है। कहा जाता है कि आधुनिक आविष्कारो से जो हमे इतना ठोस तथा भारयुक्त मालूम होता है वह भूत वास्तव मे अत्यन्त वेग से चलनेवाले विद्युत् के बहुत छोटे चार्जो के समूह है। ये चार्ज इतने छोटे है कि उनके बीच मे तुलनात्मक रूप से बहुत प्रकाण्ड खुले देश (Space) है। इसलिए अब ठोस भूत की पुरानी कहानी को कायम रखना बेकार है। अधिकाश मे देश देश ही है यानी वह निरवच्छिन्न देश है। यहाँ पर भूत शब्द का प्रयोग इस मानी मे किया गया है कि हम इधर-उधर जो टुकडो या चीजो को उठा लेते है, वही भूत है। सरल वैज्ञानिक आविष्कारो की मिथ्या व्याख्या से साधारण बुद्धि विपथचालित होने से इन्कार करती है। जैसे जैसे विज्ञान की उन्नति होती है वैसे वैसे वह हमे भूत के इन टुकडो की बनावट तथा गठन के विषय मे अधिक बताता है। सम्भव है, ये इसको तोडकर और भी प्राथमिक हिस्सो मे बाँट दे। भूत को ले जाते जाते उनको अन्त तक रोशनी, उत्ताप और वैद्युतिक शक्ति मे ले जाया गया है। किन्तु यदि इसे घटाते घटाते ले जाने का अर्थ यह लगाया जाय कि उसे बिलकुल अस्तित्व के पृष्ठ से ही निकाल दिया जाता है, तो वह बहुत बडी भूल होगी। एक टुकडा कागज जब जलाया जाता है, तो वह जिस अर्थ मे नष्ट होता है, भूत उससे अधिक क्षीण नही हुआ है। रूप भर बदला है, वह चला नही जाता। वह एक परिवर्तनशील से दूसरे परिवर्तनशील मे चला जाता है। भागो के सम्बन्ध बदल जाते है। वे आगे उस रूप मे नही दिखलाई पडते जिसमे वे पहले दिखाई पड़ते थे। इस कारण यह कहना

---

१ G. M. T. p 97

पर चाहे जो कुछ हो किन्तु अन्त तक जाकर शोषकवर्ग के हितो के अनुकूल-सिद्ध होते है।

१०७—विश्वप्रेम कब और कब नहीं—विश्वप्रेम बहुत ही अच्छा नारा है, और धर्मवादियो ने इसे अपनाया है, किन्तु जो लोग विश्वप्रेम का नारा देते है उनकी नीयत पर या कम से कम बुद्धि पर इसलिए सन्देह हो जाता है कि वे इतने भोले बनते है कि जिस समय जगत् मे साम्राज्यवाद की खूँखार प्रथा मौजूद है, एक देश पर बाहरी लोगो का शासन रहता है और वे उस पराधीन देश का मनमाना शोषण करते है, उस हालत मे विश्वप्रेम का सिवा इसके क्या अर्थ होता है कि पराधीन देश के लोगो को उल्लू बनाया जाय? विश्वप्रेम के नारे की सफलता के लिए इस बात की आवश्यकता है कि प्रत्येक देश आत्मशासित हो तथा मनुष्य द्वारा-मनुष्य के शोषण का अन्त हो गया हो अर्थात् दूसरे शब्दो मे अखिल जगत् मे समाजवाद की स्थापना हो गई हो। जो लोग जगत् की वर्तमान अवस्था मे विश्वप्रेम का नारा देते है, वे जान मे या अनजान मे साम्राज्यवादियो तक शोषको के हाथो मे कठपुतले सिद्ध होते है।

१०८—शान्तिवाद नारे का विश्लेषण—इसी प्रकार का दूसरा नारा शान्तिवाद का है। धर्म का इसे भी समर्थन प्राप्त है। अहिंसा के नाम पर शान्तिवाद को बहुत ऊँचा करके दिखलाया जाता है, किन्तु विश्लेषण करने पर हम शान्तिवाद मे वे ही उपादान पाते है, जो विश्व प्रेम मे है। समाजवाद का ध्येय लडाइयो का अन्त करना है। यह दूसरी बात है, किन्तु इस बहाने से यह कहना कि जिन देशो पर आक्रमण होता है, वे या जो देश सौ दो सौ वर्ष पहले आक्रान्त होकर पराधीन हो चुके है, वे लड़ाई न करे, शान्तिवादी के नाम से नपुंसकता, कायरपन तथा बुजदिली का प्रचार करना है। ऐसे शान्तिवादी हमेशा साम्राज्यवादियो के हाथो मे कठपुतले साबित होते है।

१०९—धर्म व्यक्तिगत मामला नही है—इसीलिए हमे धर्म के दिये हुए या धर्म के द्वारा समर्थित नारो से किसी प्रकार बहकना नही चाहिए। धर्म व्यक्तिगत मामला है, यह भी इसी प्रकार का एक नारा है। जिस समय धर्म पराजय की तरफ जाता है उस समय धर्मध्वजी धर्म के व्यक्तिगत मामला होने का नारा

देते है; नही तो सारे इतिहास मे जब धर्म की शक्ति प्रबल थी, तब धर्मध्वजियों ने कब इस बात को माना कि धर्म व्यक्तिगत मामला है? यदि धर्म व्यक्तिगत मामला है तो Inquisition मे हज़ारो की तादाद मे कथित हेरेटिको को मौत के घाट क्यो उतार दिया गया? वर्तमान युग मे भी धर्मध्वजी जहाँ भी कुछ जोर कर पाते है वही वे यह नारा देते है कि शिक्षाविभाग उन्ही के अधीन रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त मनुष्य के वैयक्तिक जीवन की सबसे बडी घटनाये जन्म, मृत्यु, विवाह—तो उन्ही की देख-रेख मे होती है। इसलिए धर्म को व्यक्तिगत मामला मानने के नारे के असर मे कोई भी समाजवादी नही आ सकता। आज रूस मे जो एक हद तक नाम के वास्ते धर्म व्यक्तिगत मामला मान लिया गया है, उसकी पृष्ठभूमि मे कौन सी बृहत्तर बाते है, यह हम पहले ही दिखा चुके है।

११०—धर्मविरोधी प्रचार की आवश्यकता—लेनिन ने जगजू भौतिकवाद के विषय मे लिखते हुए डिस्टगेन की उस उक्ति को उद्धृत किया है कि आधुनिक समाज मे अक्सर एक दर्शनशास्त्र का अध्यापक पादरीवाद का एक डिप्लोमा-प्राप्त पिछलगुआमात्र है। इसलिए लेनिन ने कहा था कि 'एक मार्क्सवादी इससे बढकर कोई गलती नही कर सकता कि वह सोचे कि मार्क्सवादी शिक्षाक्रम से करोडो आदमी अज्ञान, मूर्खता आदि से छुटकारा कर लेगे।' ऐसा लिखने मे लेनिन का मतलब यह था कि सोवियट रूस मे भी निरीश्वरवाद के पक्ष मे जोरो से प्रचार-कार्य करने की ज़रूरत है। फिर उन देशो का तो कहना ही क्या है—विशेषकर भारत का जहाँ धर्म का अत्यन्त अधिक प्रभाव है। धर्म के विषय मे तथा उसके चरित्र को उद्घाटित करते हुए अधिक से अधिक साहित्य की आवश्यकता है। एगेल्स ने जर्मन साम्यवादियो को यह कहा था कि वे बजाय बकवास के तथा इधर-उधर थीसिस लिखते फिरने के १८वी सदी के नास्तिक साहित्य का अनुवाद तथा प्रचार करें तो कही अच्छा हो।

१११—धर्म के विरुद्ध केवल साहित्यिक प्रचार से कुछ न होगा—इसके साथ यह भी स्मरण रहे कि धर्म के विरुद्ध केवल साहित्यिक प्रचार करने से धर्म की जड नही खुदेगी। धर्म के लिए जब तक अनुकूल आर्थिक, सामाजिक परिस्थिति मौजूद रहती है तब तक धर्म के विरुद्ध प्रचार एक हद तक ही

उपयोगी तथा सफल रह सकता है। लेनिन ने लिखा था 'यह पूँजीवादी संकीर्णता होगी, यदि हम इस तथ्य को भूल जायँ कि धर्म के रूप में जो दमन है, वह समाज में आर्थिक दमन की मौजूदगी के कारण सम्भव है। कितनी ही पुस्तके लिखी जायँ तथा कितना भी प्रचार किया जाय, हम शोषितवर्ग को तब तक नही सिखला सकते जब तक वह पूँजीवाद की काली शक्तियों के विरुद्ध लडने के दौरान में खुद न सीखे। हमारे लिए यह विश्वास कही अधिक जरूरी है कि शोषितवर्ग सही क्रान्तिकारी लडाई से इसी दुनिया पर स्वर्ग स्थापित कर सकते हैं बनिस्वत इसके कि आसमान में स्थित काल्पनिक बहिश्त के विषय में वे एकमत हो,[1]। इसके साथ ही लेनिन ने बार बार इस बात पर भी जोर दिया है कि प्रचार के आवेश में हमे अपने असली उद्देश्य को भूलकर धर्म के पीछे ही नही पड जाना चाहिए। धर्म तो ऊपरी ढाँचे का एक अग है। असली जिस चीज के बदलने से सब चीजें, सब धारणाएँ तथा सारा ऊपरी ढाँचा बदलेगा, वह है उत्पादन के वर्तमान शोषक-शोषित सम्बन्धो में आमूल परिवर्तन। स्टालिन ने इसी द्वन्द्ववाद को समझकर सोवियट रूस में नाममात्र के लिए धर्म को तरह दिया है। फिर भी निरीश्वर-वाद, समाजवाद का एक अत्यावश्यक अग है, इसे हमें न भूलना चाहिए। १८४४ में ही मार्क्स ने कहा था कि धर्म की आलोचना ही सब आलोचनाओं का प्रारम्भ है। एगेल्स ने १८७४ में लिखा था कि यूरोपीय श्रमिक दलो में निरीश्वरवाद करीब करीब एक स्वीकृत तथ्य हो चुका है। १९०९ में लेनिन ने यह कहा था कि वर्ग चेतनायुक्त साम्यवादी तो निरीश्वरवादी होता है।'[2] सच तो यह है कि निरीश्वरवाद के बगैर क्रान्तिकारी कर्त्तव्यशास्त्र की कल्पना ही नही हो सकती। कही क्रन्तिकारी शब्द से गलतफहमी न हो और यह न समझा जाय कि हम एक ही लपेट में तमाम ईश्वरवादियों को—चापेकर बन्धु। खुशीराम, शचीन्द्र-नाथ सान्याल सभी को क्रान्तिकारित्व से खारिज कर रहे हैं, इसलिए यह बता दिया जाय कि यहाँ क्रन्तिकारी शब्द का अर्थ सर्वतोमुखी क्रान्तिकारी से है। यों तो जो भी जिस पहलू में अपने समय के लिए प्रगतिशील होगा, वही उस सम्बन्ध में क्रान्तिकारी कहलायेगा।

---

१. R L. p 17

२ Ibid, introdution

११२—धर्म-विरोध एक क्रान्तिकारी हथियार—अन्त मे यह भी बात साफ कर देनी चाहिए कि प्रत्येक निरीश्वरवादी ही क्रान्तिकारी नही कहला सकता। कुछ लोगो मे निरीश्वरवाद केवल एक मानसिक विलास मात्र हो सकता है। वैसे विपरीत निरीश्वरवाद के साथ हमारा कोई सम्बन्ध नही। हम तो धर्म और ईश्वर के विरुद्ध इसलिए है कि वे जनता के लिए अफीम सिद्ध होते है, सही ज्ञान के मार्ग मे रुकावट पैदा करते है। हमारा धर्म-विरोध एक क्रियाशील पैना हथियार है, जिसके द्वारा हमे एक ऐसी समाजपद्धति की स्थापना करनी है जिसमे मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण असम्भव हो।

विज्ञान की भौतिक उत्पत्ति और विकास

१—क्या विज्ञान समाज से विमुक्त है? विज्ञान भी आर्थिक नीव के ऊपर खड़ा सामाजिक ऊपरी ढाँचे का एक अंग है। अवश्य इसका यह सम्बन्ध बहुत छिपा हुआ है, और आसानी से पकड मे नही आता। बात यह है कि लोगो में विज्ञान को एक सूक्ष्म विचार-समूह—कई अशो मे तो जीवन मे सम्पूर्ण विमुक्त रूप मे देखने-सोचने की परिपाटी है। लोगो का कुछ ऐसा ख्याल है कि वैज्ञानिक की प्रयोगशाला से समाज का मानो सम्बन्ध ही नही है। वैज्ञानिक मानो एक ऐसा तपस्वी है जो तरह तरह के यत्रो मे समन्वित अपनी गुफा मे बैठकर गूढ प्रश्नो को सुलझाया करता है। किन्तु क्या वस्तुस्थिति ऐसी है जैसा लोग समझते है? क्या विज्ञान की उत्पत्ति से समाज का कोई सम्बन्ध नही था?

२—विज्ञान और धर्म में भेद—सारे विज्ञान का इतिहास इस विषय पर क्या कहता है, यह देखने योग्य है। विज्ञान की कहानी को यदि एक वाक्य में कहा जाय तो वह मनुष्य और प्रकृति के बीच होनेवाले सघर्ष मे मनुष्य की विजय की कहानी है। इस विजय का रहस्य यह नही रहा कि मनुष्य ने अपनी इच्छा शक्ति को प्रत्यक्षरूप से प्रकृति पर लाद कर जो चाहे सो करा लिया बल्कि मनुष्य को प्रकृति के नियमो का उद्घाटन कर तथा उसका प्रयोग कर प्रकृति पर नियन्त्रण करना पडा है। धर्म मे भी मनुष्य और प्रकृति का सम्बन्ध प्रतिफलित होता है, किन्तु वह प्रतिफलन भिन्न कोटि का है। धर्म मे भी प्रकृति तथा प्राकृतिक शक्तियो पर विजय पाने की चेष्टा अभिव्यक्त है, किन्तु विज्ञान और धर्म के तरीको मे भिन्नता है। धर्म जहाँ पर जादू, टोना, मत्र, प्रार्थना आदि तरीको से प्रकृति की शक्तियो पर नियन्त्रण प्राप्त करने की व्यर्थ चेष्टा करता है, और उसी में सारी कर्मशक्ति लगा देता है, विज्ञान मे वही पर प्रकृति के नियमो को जानकर प्राकृतिक शक्तियो पर सफल नियन्त्रण किया जाता है। इस दृष्टि से देखने पर विज्ञान और धर्म का मोटे तौर पर उद्देश्य एक होने पर भी उनके modus operandi या करने के तरीके मे पूरा विरोध है। एक यदि पूर्व की ओर जा रहा है तो दूसरा पश्चिम की ओर।

बहुत शताब्दियों तक विज्ञान और धर्म एक साथ खिल्ल-मिल्ल होकर चलते रहे, किन्तु जैसा कि एगेल्स ने कहा है, बाद को विज्ञान ने धर्म के साथ अनिवार्यरूप से सम्बद्ध कुसस्कारो से अपना छुटकारा कर लिया। 'विज्ञान का इतिहास इन्ही मूर्खतापूर्ण बातो से मनुष्य के क्रमश छुटकारा पाने तथा उनकी जगह पर उनसे ताजे, किन्तु उनसे कम मूर्खतापूर्ण बातो के आ जाने का इतिहास है।' इस प्रकार विज्ञान का'एक पहलू'बिलकुल स्पष्ट हो जाता है।

३—वैदिक आर्य वृष्टि को यज्ञ से उत्पन्न समझते थे—कुछ उदाहरण लिये जाएँ। वैदिक धर्म मे मनुष्य वृष्टि के लिए वरुण या इन्द्र को जिम्मेदार समझता था, और चूँकि कृषि वृष्टि पर निर्भर है, और कृषि पर ही उस युग का सारा उत्पादन निर्भर था, इसलिए वह इन देवताओ की तुष्टि के लिए यज्ञ आदि करता था। वैदिक युग का मनुष्य ही नही गीता मे श्री कृष्ण कह रहे है (३।१४) 'प्राणिमात्र की उत्पत्ति अन्न से होती है, अन्न पर्जन्य से उत्पन्न होता है, पर्जन्य यज्ञ से उत्पन्न होता है, और यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से होती है।' मनुस्मृति मे यह जो लिखा है 'यज्ञ मे दी हुई आहुति सूर्य को मिलती है, और फिर सूर्य से (अर्थात् परम्परा द्वारा यज्ञ से) पर्जन्य उत्पन्न होता है', इत्यादि के साथ गीता की वाणी का भाव साम्य है। इस प्रकार किसी युग मे—आश्चर्य तो यह है कि अब भी इस ढग की बातों मे विश्वास करनेवाले मोजूद है। यह समझा जाता था कि अनावृष्टि, अतिवृष्टि से बचने के लिए यज्ञ करना ही एक मात्र उपाय हैं। अवश्य गीता मे गीता के उद्धृत श्लोक में, कहा गया है कि यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से होती है। यहाँ यज्ञ का सूक्ष्मीकरण कर उसको एक उदात्ततर अर्थ देने की चेष्टा की गई है, किन्तु स्वय वेदो मे यज्ञ से यज्ञ ही समझा जाता था न कि उसका कोई सूक्ष्मीकृत रूप जैसे कि बाद को यज्ञ को सूक्ष्मीकृत कर विभिन्नरूप देने की चेष्टा की गई।

४—कुसस्कार मुक्तता से विज्ञान का सूत्रपात—धीरे धीरे मनुष्य को मालूम हुआ कि इस प्रकार की पूजा आदि करना व्यर्थ है। वृष्टि बादल से होती है, और बादल नियत समय पर कुछ विशेष नियमो के अनुसार बनते, आते, बरसते है, तब इस रूप मे देवावाहन शिथिल हो गया। यह जो मनुष्य को ज्ञात हुआ

कि वृष्टि से किसी देवी देवता के रागद्वेष से सम्बन्ध नहीं है, इसी ज्ञान को हम विज्ञान का सूत्रपात कह सकते हैं।

५—दिन, रात कैसे होते हैं, इस पर प्राचीन मिस्रियो की धारणा—प्राचीन मिस्र मे भी लोग समझते थे कि 'प्रत्येक रात को जिस समय सूर्य देवता रा उज्ज्वल पश्चिम मे अपने घर मे डूबते थे, उस समय यह समझा जाता था कि उन पर आयेपी नामक दैत्यराज के नेतृत्व में दैत्यो का हमला होता था। सारी रात बेचारे रा अर्थात् सूर्य उनसे लडते रहते थे और कभी कभी तो दिन मे भी ये दैत्य बादलो के रूप मे रा की ज्योति को घटाकर उसकी शक्ति को क्षीण करने के लिए धावा बोल देते थे। इस रोजमर्रा की लडाई मे सूर्य देवता को मदद देने के लिए थिबिस मे, सूर्य के मन्दिर मे रोज एक अनुष्ठान किया जाता था। उनके शत्रु आयेपी की जिसकी कल्पना कुत्सित मुखयुक्त घडियाल या कई कुण्डलीवाले साँप के रूप मे की जाती थी, एक मोम की मूर्ति बनाई जाती थी, और इस पर उस दैत्य का नाम हरी स्याही से लिखा जाता था। इसे एक कागज़ के डब्बे से ढक दिया जाता था। इस पर आयेपी की एक दूसरी मूर्ति हरी स्याही से खीची जाती थी। उस मूर्ति को काले बाल से बाँधा जाता था उस पर थूका जाता था, उस पर पत्थर की छुरी से वार किया जाता था तथा उसे जमीन पर पटका जाता था। इसके बाद पुरोहित इस पर बार-बार बाये पैर से चलता था। इसके बाद कुछ पौधो या घासो की आग मे यह जला दिया जाता था। इस प्रकार अन्धकार के दैत्य आयेपी की दुर्गति करने के बाद उसके सगी साथी, मा-बाप, कच्चे बच्चे सबकी यही दुर्गति होती थी। यो पुरोहितो के अनुष्ठान से बलयुक्त होकर सूर्य देवता नित्य प्रातःकाल विपत्तियो पर विजयी होकर प्रकट होते थे।'[१] इस विवरण को जो भी व्यक्ति पढेगा उसे हँसी आये बिना नही रहेगी, किन्तु उन दिनो यही सत्य समझा जाता था। अब एक स्कूली बच्चा जानता है कि दिन रात होने का क्या रहस्य है।

६—ग्रहण सम्बन्धी हिन्दू धारणा और विज्ञान—रा और आयेपी की कथा को पढकर जिनको हँसी आई होगी, उन्हे यह स्मरण रखने की आवश्यकता है कि आदिमकाल की तो बात दूर रही, अब भी हिन्दुओ मे कुछ प्राकृतिक

---

१. Frazer quoted in T A T. p. 128.

घटनाओ पर ऐसे विश्वास तथा मत प्रचलित है, जो प्राचीन मिस्रियो की दिन-रात के सम्बन्ध की धारणाओ से कम हास्यास्पद नही है। ग्रहण क्यो हुआ करते है, इस सम्बन्ध मे जो हिन्दू धारणा आम तोर से प्रचलित है, उस पर व्यावहारिक रूप से विश्वास करनेवाले लोगो की संख्या करोडो तक पहुँचती है। ग्रहणो के अवसर पर काशी कुरुक्षेत्र आदि मे होने वाले विराट् मेले जिनमे सैकडो तो कुचल जाते है और खो जाते है, इस बात के प्रमाण है कि मिस्र मे भले ही रा और आयेपी का युग चला गया हो, किन्तु यहाँ की हिन्दू जनता मे अभी तक ये विश्वास सजीव है। हिन्दू पुरोहितो की इसलिए सराहना की जाय या निन्दा, यह समझ मे नही आता क्योकि उन्होने बिलकुल प्राकृतिक कारणो से होनेवाली एक प्राकृतिक घटना को किस प्रकार अपनी परोपजीविता का एक आधार बना रक्खा है।

ग्रहण के विषय मे हिन्दूधारणा यह है कि देवताओ ने समुद्रमन्थन किया तो उससे बहुत सी चीजे निकली, अमृत भी निकला। सोचा गया कि सब देवताओ को अमृतपान कराया जाय। अमृत का बटवारा होने लगा तो एक दैत्य भी आँख बचाकर देवताओ की पंक्ति मे आकर बैठ गया। इसका पता सबसे पहले चन्द्र-सूर्य को लगा। उन्होने इस की खबर दूसरे देवताओ को दे दी। इस पर उस दैत्य का पीछा किया गया,-और संक्षेप मे कथा यह कि काटकर उसके दो टुकडे कर दिये गये, किन्तु अमृत पी चुकने के कारण दैत्य मरा नही और राहु और केतु दो टुकडो मे बटकर जीवित रहे। आज भी वे दैत्य चन्द्र और सूर्य की उस मुखबिरी को नही भूले और यदा कदा चन्द्र तथा सूर्य को ग्रस लिया करते है। यही ग्रहणो का स्वरूप है।

जिस प्रकार थिबिस के मन्दिर मे रा की विजय के लिए मांगलिक अनुष्ठान होते थे, उसी प्रकार करोडो धर्मात्मा हिन्दू आज भी, जब ग्रहण लग जाता है तो, सूर्य और चन्द्र की मुक्ति के लिए दान आदि देते है। फिर ग्रहण के मोक्ष पर स्नान करते है मानो वे किसी विपत्ति से बचे हो। ग्रहण के असली कारण को तो अब प्रत्येक स्कूली बच्चा जानता है साथ ही यह भी जानता है कि ब्राह्मणो को दान देने या गंगा स्नान करने से किसी प्रकार ग्रहण हटाया नही जा सकता। ग्रहण के बहाने परोपजीवी वर्ग जिस प्रकार दान लेता

है, उसमे विज्ञान का एक हिस्सा भी अर्थात् गणितज्योतिष भी छिपा हुआ है। यह जो पहले से बता दिया जाता है कि अमुक दिन, अमुक समय पर ग्रहण होगा, और इतने घंटे या मिनट रहकर ग्रहण का मोक्ष होगा, यह विज्ञान है। बाकी सब बाते कुसंस्कार है। यह देखने की बात है कि किस प्रकार गणित ज्योतिष को इन पुरोहितो ने अन्य बातो के साथ ऐसे जोड दिया कि उनके वर्गहित की सिद्धि हो।

७—ज्योतिष की सामाजिक उत्पत्ति—यदि हम विभिन्न विज्ञानो के इतिहास को अलग अलग देखे तो भी इस नतीजे पर पहुँचने के लिए बाध्य है कि समाज के साथ विज्ञान का अच्छेद्य सम्बन्ध है। विज्ञानो मे अत्यंत सूक्ष्म ज्योतिष के इतिहास को ही लिया जाय। प्रकृति के रूप विलास से मुग्ध होकर मनुष्य ने आकाश के नक्षत्रो को गिनना, उनका निरीक्षण करना तथा उनके मानचित्र बनाना इत्यादि शुरू किया हो, ऐसी बात नही है। जहाँ तक पता चलता है, नौचालन तथा इसी प्रकार की अन्यभौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए मनुष्य ने आकाश का अध्ययन शुरू किया। आज भी जिन लोगो मे घडी आदि का रिवाज नही है, वे भी आकाश के तारो से यही काम लेते है। अनपढ किसान आज भी घडी के अभाव मे तारो को देखकर समय जान लेता है कि अभी हल लेकर चलने का समय हुआ या नही।

८—मिस्र में बाढ़ के आगमन को जानने के लिए सौर वर्ष का आविष्कार—इस सम्बन्ध मे मिस्र मे सौर वर्ष का जिस प्रकार आविष्कार हुआ, वह दिलचस्प है। वहाँ प्रतिवर्ष नील नद मे बाढ आती है, और इसी बाढ पर वहाँ की सारी खेती निर्भर करती है। जब बाढ आती है तभी खेती के सारे कार्य शुरू होते है। इसलिए यदि किसी प्रकार यह पता लग जाता कि बाढ कब आयेगी तो वह किसानो के लिए बहु फायदे की बात हो सकती थी। बाढ के आगमन के समय का पता लगाने से कितनी सुविधा हो सकती थी, यह कल्पनीय है। इस बाढ का सम्बन्ध पृथ्वी के सूर्य के चारो ओर घूमने से था, बल्कि वास्तव मे दक्षिण पश्चिमी बरसाती हवा या मानसून के अबीसीनिया के पहाडो से टकराने से था, किन्तु प्राचीन मिस्रियो के लिए यह ज्ञान असम्भव था। इसलिए जो व्यक्ति यह बता सकता कि बाढ किस समय आवेगी, वह अवश्य उस युग

में एक बहुत शक्तिशाली व्यक्ति—जादूगर समझा जाता। इस सम्बन्ध में केवल यह जानने की जरूरत थी कि सौर वर्ष कितने दिन के होते हैं, क्योंकि आमतौर से सूर्य और पृथ्वी अपने भ्रमण पथ में जब एक विशेष अवस्थिति में हो जाते थे तभी यहाँ बाढ आती थी। पहले के लोग चान्द्रवर्ष गिना करते थे। इसमें कोई दिक्कत नहीं थी, क्योंकि चन्द्र को देखकर मास और वर्ष का हिसाब लगाया जाता था। सौर वर्ष कितना बडा होता है, यह जानना अदिमतम लोगो के लिए बहुत कठिन था। दीर्घ निरीक्षण के बाद कुछ लोग इस नतीजे पर पहुँचे कि जिस समय बाढ काहिरा में पहुँचती है, उस समय क्षितिज मे रात्रि के अन्तिम तारे के रूप मे Sirius या मिस्रियो के शब्द मे सौथिस (Sothis) का उदय होता था। 'सिरियस का इस प्रकार Heliacal रूप में' उदित होना सौर वर्ष में स्वाभाविक रूप से एक निश्चित विन्दु था, और उस समय यह देखा गया कि यह घटना मोटे तौर पर ३६५ दिन मे घटित होती है। इस प्रकार इतने ही दीर्घ एक कृत्रिम राष्ट्रीय वर्ग के प्रारम्भ विन्दु के रूप मे सिरियम के इस प्रकार उदित होने को लिया गया। यहाँ पर यह वताने की जरूरत नहीं कि सुदीर्घ निरीक्षण के बाद ही लोग यह समझ पाये होगे कि इस तरह एक नक्षत्र उदित होता है, और फिर इसको आधार मानकर एक नई वर्ष-पद्धति की स्थापना हुई होगी। यह बहुत बडी सफलता थी, गाणतिक ज्योतिष की पहली दिग्विजय थी। इसमे कुछ गलती थी। इस गलती के कारण हिसाब मे छ घंटे से कुछ कम की गडवडी हो जाती थी। यह गलती भी एक तरह से बहुत अच्छी रही, क्योकि इसी के कारण अब हम जान सकते हैं कि इस प्रकार का आविष्कार कब हुआ होगा।'[1]

९—सौर और चान्द्रवर्ष में चान्द्रवर्ष क्यो छोड़ दिया गया—इस गलती से हिसाब लगाकर दो भिन्न नतीजे निकाले गये। कोई तो इस वर्षगणना का आविष्कार ई० पू० ८२३६ मे मानता है और कोई ई० पू० २७७६ मे। चाइल्ड ने वताया है कि अधिकाश विद्वान् ई० पू० ४२३६ को ही सही मानते हैं। जो हो, यह द्रष्टव्य है कि सौर वर्ष की आवश्यकता उत्पादन की जरूरत के कारण हुई,

---

१ M. M. H. p. 154-5

और उसी के कारण उसका आविष्कार हुआ। सौर वर्ष के सार्वदेशिक हो जाने का कोई चान्द्र वर्ष के साथ जीवन संग्राम में उसके जयी होने का एक कारण यह भी है कि चान्द्र महीने ऋतुओं के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं बताते किन्तु सौर वर्ष के महीने ऋतुओं के सम्बन्ध में हमें एक स्थूल ज्ञान ही नहीं अच्छा खासा ज्ञान देते हैं। मुसलमानों का रोजा चान्द्र महीनों से चलता है, इसलिए वह कभी तो गरमी में पड़ता है, कभी जाड़े में और कभी बरसात में। अन्य धार्मिक त्योहार इस प्रकार चान्द्र वर्ष से नहीं गिने जाते इसलिए होली, दिवाली, दशहरा, बड़ा दिन, ये सब एक निर्दिष्ट ऋतु में ही पड़ते हैं। इस सुविधा के कारण चान्द्र वर्ष का हट जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। चान्द्र वर्ष के हटाये जाने में लगान और खेती सम्बन्धी कारण भी है।

यह बहुत रहस्यपूर्ण बात है कि गणितज्योतिष से फलित ज्योतिष का सम्बन्ध किस प्रकार हो गया किन्तु इस सम्बन्ध को समझना कोई कठिन बात नहीं। गणित की सहायता से जिस समय ऋतु बाढ़ आदि प्राकृतिक घटनाओं के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करना सम्भव हुआ, उस समय यह भी समझना स्वाभाविक था कि गणित के द्वारा मनुष्य के सम्बन्ध में भी भविष्यवाणी की जा सकती है। इसी के साथ साथ अपने भविष्य को जानने का जो अपार कौतूहल है उससे भी फलित ज्योतिष की वृद्धि में सहायता हुई होगी। यहाँ इस विषय पर कोई मन्तव्य प्रकट करना हमारे लिए अनुचित होगा कि वास्तव में ऐसा कोई विज्ञान हो भी सकता है जो मनुष्य को उसके भविष्य के सम्बन्ध में बतला दे किन्तु इतना तो निर्विवाद सिद्ध-रूप से कहा जा सकता है कि इस समय तक ऐसे किसी विज्ञान का पता नहीं है, यद्यपि कहीं चेहरा देखकर, कहीं हस्तलिपि देखकर कहीं जन्म के समय के ग्रहों और नक्षत्रों की स्थिति देखकर यह बताने का दावा किया जाता है कि अमुक मनुष्य का चरित्र यों होगा तथा उसका भाग्य यों रहेगा। अवश्य कुछ चारित्रिक विशेषताओं जैसे हस्तलिपि बातचीत का तरीका आदि—को देखकर एक साधारण व्यक्ति भी दूसरे व्यक्ति के सम्बन्ध में कुछ न कुछ राय कायम कर लेता है, और बहुत से व्यक्ति इस प्रकार जो राय कायम कर लेते हैं, वह मोटे तौर पर सही भी निकलती है, किन्तु इसके विरुद्ध उदाहरण भी मौजूद हैं। सच तो यह है कि किसी भी क्षेत्र में नेतृत्व के गुणों

मे एक गुण यह भी है कि मनुष्य जिसके साथ बरतता है, उसके चरित्र के सम्बन्ध मे कुछ सही राय कायम कर सके। कहना न होगा कि इस प्रकार राय कायम करने मे कोई रहस्यवादी बात नही है, बल्कि गम्भीर निरीक्षण के परिणाम-स्वरूप इस प्रकार की राय कायम की जा सकती है। गणित ज्योतिष के फलित ज्योतिष मे बहक जाने के सक्षेप मे ये ही कारण है। सबसे बडी बात यह है कि एक वर्ग की रोटी का इसके साथ सम्बन्ध हो जाने के कारण तथा उसकी परोपजीविता मे सहायक होने के कारण फलित ज्योतिष जनता मे एक विज्ञान के रूप मे स्वीकृत है।

१०—**अज्ञान के कारण कुसस्कार**—भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति के साथ-साथ आकाश के अध्ययन के दूसरी तरह के कारण भी हुए है। समय-समय पर आकाश मे धूमकेतु ऐसे अजीब दृश्य उपस्थित हो जाते है। स्वभावत मनुष्य ने जानने की चेष्टा की होगी कि यह क्या है, और जब उस जमाने के ज्ञान से इसका कोई उत्तर नही मिला तो उन्होने उसके एक ऊल-जलूल कुसस्कार-पूर्ण उत्तर की कल्पना कर ली। इस प्रकार आकाश के जरिये भी एक दूसरे प्रकार के कुसस्कार पैदा हो गये होगे। विज्ञान का काम कुसस्कारो को धीरे-धीरे दूर करना तथा इसके सम्बन्ध मे सत्य का पता लगाना रहा है। १४५६ मे इसी प्रकार का एक धूमकेतु आकाश-मार्ग मे एक अपरिचित अनाहूत, अतिथि की तरह दिखाई पडा था। चूँकि १४५३ मे मुसलमानो ने कुस्तुन्तुनिया ले लिया था, इसलिए इसका अर्थ ईसाई जगत् मे यह लगाया गया कि अब सारे ससार मे मुस्लिम साम्राज्य का दौर-दौरा होनेवाला है। यह धारणा केवल ईसाइयो मे ही नही करीब-करीब सब जातियो मे ही धूमकेतुओ के सम्बन्ध मे रही। १६८२ मे जब हैली ने एक धूमकेतु देखा और धूमकेतुओ के आविर्भाव के सम्बन्ध मे एक नियम स्थिर किया तभी इस सस्कार का अन्त हुआ, और लोगो को मालूम हो गया कि धूमकेतु कोई असगुन के द्योतक नही बल्कि उसी प्रकार की प्राकृतिक घटनाएँ है जैसे सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण आदि। इस क्षेत्र मे भी विज्ञान ने एक जरूरत की पूर्ति की और एगेल्स की परिभाषा को चरितार्थ करते हुए एक मूर्खतापूर्ण सामाजिक धारणा को दूर किया।

११—**वैज्ञानिकों में भी रूढिवाद**—यह सत्य का पता लगाने का काम उतना

आसान नही रहा जितना लोग समझते है। विज्ञान के साथ धर्म, रूढि और परम्परा का जो जीवनमरण-सघर्ष रहा है, उसका उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके है, किन्तु आश्चर्य तो यह है कि स्वय विज्ञान के घर मे भी रूढि पैदा हो गई और उसने बराबर विज्ञान की प्रगति का गला-घोट दिया। किसी भी हालत मे ऐसी रूढि विज्ञान की वृद्धि के लिए कम नृशस नही रही। विज्ञान के इतिहास मे इसके अनेक उदाहरण है जब प्रतिष्ठित वैज्ञानिक महन्त बनकर विज्ञान के सिहद्वार पर बैठ गये, और किसी भी आगन्तुक को उसके अन्दर आने मे रोका। १८११ मे फ़ुरियर नामक वैज्ञानिक ने अपनी एक गवेषणा पेरिस की एकेडेमी के सामने स्वीकृति के लिए पेश की। इस गवेषणा की जाँच करने के लिए उस युग के क्या सभी युगो के तीन महान् गणितज्ञ लायलास, लाग्राज, लजाफ़ नियुक्त हुए। इस गवेषणा को स्वीकार करना तो दूर रहा, इन्होने इसकी ऐसी धज्जी उडाई कि लेखक को गवेषणा लौटा दी गई। इसके कोई तेरह वर्ष बाद फ़ुरियर इसी एकेडेमी के मन्त्री हुए और उन्होने अपनी मौलिक गवेषणा को ज्यो का त्यो प्रकाशित किया। अलिवर हेवी साइड नामक एक गणितज्ञ की भी ऐसी ही दुर्दशा कैम्ब्रिज के धुरन्धर गणितज्ञो के हाथो हुई थी। बात यह थी कि उन्होने जिस तरह अपनी गवेषणा की थी वह प्रचलित पद्धति मे कुछ पृथक थी। केवल इसी कारण पच्चीस वर्ष तक गणित मे इनका महान् दान स्वीकृति का ठप्पा नही प्राप्त कर सका। वैज्ञानिक जगत् मे यह धाँधली और भी अधिक सम्भव इसलिए है कि अत्यन्त विशेषज्ञ गवेषणाओ को समझने मे समर्थ व्यक्ति एक काल और एक देश मे कुछ ही होते है। यदि किसी कारण ये वैज्ञानिक महन्त-प्रकृति के हुए, या भ्रमवश वे नवीन गवेषणा के सत्य को समझ नही पाये तो वैज्ञानिक के लिए मौत ही है। उसे तब तक प्रतीक्षा करनी पडेगी जब तक यह वातावरण सत्य के बल के कारण उसके अनुकूल न हो जाय। साधारण व्यक्ति तो विशेषज्ञ-गवेषणाओ को समझने से रहा, इसलिए और क्षेत्रो की तरह जनमत के प्रति अपील का विज्ञान मे कोई अर्थ नही होता। जनमत न तो यही बता सकता है कि नई गवेषणा सही है, या उसको नामजूर कर रद्दी की टोकरी मे डालनेवाले सही है।

१२—विज्ञान और साधारण बुद्धि—आइनस्टाइन के सिद्धान्त के कारण जो विपुल क्रान्ति हुई है, उसमे यह कहा जाने लगा है कि विज्ञान और साधा-

रण बुद्धि दो पृथक् बलिक परस्पर विरोधी वस्तुऐं हैं, किन्तु यह बात नही है। प्रत्येक वैज्ञानिक सत्य उस युग की प्रचलित साधारण बुद्धि को ठेस लगाकर ही आया है। उदाहरण स्वरूप जिस समय चन्द्रग्रहण राहु और केतु की प्रतिहिसा परायणता के कारण घटित होता समझा जाता रहा, उस युग मे जब इस सम्बन्ध का वैज्ञानिक ज्ञान आया तो वह साधारण बुद्धि (Common Sense) पर प्रबल ठेस पहुँचाकर ही आया। तथ्य यह नही है कि वैज्ञानिक सत्य साधारण बुद्धि को ेस पहुँचाकर आता है बलिक तथ्य यह है कि वह अज्ञ जनो की साधारण बुद्धि पर ठेस लगाकर आता है। विशेषज्ञो की साधारण बुद्धि उसे तो मान ही लेती है तभी वह वैज्ञानिक सत्य की मर्यादा प्राप्त करता है। इसीलिए आइनस्टाइन या किसी भी क्रान्तिकारी वैज्ञानिक के आविष्कार से जो स्थिति उत्पन्न होती है, वह यह है कि प्रचलित साधारण बुद्धि यानी अज्ञो की साधारण बुद्धि पर ठेस लगाकर वह आता हैं। जो हो, चाहे विशेषज्ञो की साधारण बुद्धि के जरिये ही वैज्ञानिक सत्य आवे, अन्त तक उसे साधारण बुद्धि के साथ अपने को स्थापित करना पडता है। यदि यह प्रक्रिया बराबर न चलती रहती तो विज्ञान कही ओर होता, ओर साधारण बुद्धि कही ओर, किन्तु हम देखते है कि एक समय के बाद ठेस प्राप्त साधारण बुद्धि अपने को नये वैज्ञानिक सत्य की कतार मे खडी कर लेती है। इसी में विज्ञान की विजय है।[१]

१३—विज्ञान और व्यक्ति—यहाँ हम एक बात और समझ ले। विज्ञान के क्षेत्र मे वैयक्तिक प्रतिभा का बहुत बडा स्थान रहा है। एस० आई० वावीलाफ ने इस प्रश्न पर रोशनी डालते हुए लिखा है 'विज्ञान के विकास मे व्यक्तियो का प्रभाव बहुत ही जबरदस्त रहा है। सही तौर पर विज्ञान के इतिहास मे व्यक्तियो के नाम से युगो का नाम हुआ है, जैसे न्यूटन, फाराडे, डारविन या पाश्तूर।' कही इससे गलतफहमी न हो जाय इसलिए वावीलाफ ने बता दिया है कि व्यक्तियो का यह प्रभाव रहस्यवादी प्रभाव नही रहा, बलिक इसका सीधा सादा सम्बन्ध सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियो से रहा है। उन्होने यह भी बतलाया है कि सभी प्रतिभाशाली वैज्ञानिको का प्रभाव, अपनी प्रतिभा के अनुसार,

---

१. Universe of science.

विज्ञान के विकास पर रहा है, ऐसी बात नहीं। उदाहरणार्थ लियोनार्डो-दा विन्ची और लोमोनोसोफ का प्रभाव न्यूटन के मुकाबिले कहीं कम रहा। यह भी कहीं तकदीर में शुमार न किया जाय, इसलिए वावीलाफ ने स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रभेद का कारण इन व्यक्तियों की विचित्रता या वैयक्तिक चरित्र में नहीं बल्कि सामाजिक परिस्थितियों में ही पाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त वावीलाफ ने यह भी सुन्दर तरीके से दिखलाया है कि एक व्यक्ति ने एक महान् आविष्कार कर दिया, इसी से वह सामाजिक न हो सका अर्थात् समाज इससे फायदा न उठा सका। उदाहरणार्थ, उन्होंने दिखलाया है कि १७वीं सदी में ही आधुनिक उषाकाल में sptics के सारे मूलभूत तथ्य आविष्कृत हो चुके थे। हुक और न्यूटन ने बीच में आनेवाली सारी बातों का आविष्कार किया था, और न्यूटन ने प्रथम बार दृश्य-मान आलोक की रश्मियों की लम्बाई की परिभाषा की थी। इ० वर्टोलिन ने द्विगुण परावर्तन (double refraction) का आविष्कार किया था और न्यूटन ने आलोक रश्मियों के ध्रुवीकरण (polarisation) की सम्भावना सम्बन्धी उपसहार निकाल लिया था .. इत्यादि,।[१] फिर भी कोई १५० वर्ष बाद ही इन आविष्कारों का उपयोग हो सका। इसके कारण ये है कि उस युग में इनकी सामाजिक रूप में माँग नहीं हुई। जब नौविद्या के लिए इनकी जरूरत हुई तभी इन आविष्कारों का सही मर्म समझकर उनका प्रयोग किया गया। इस प्रकार विज्ञान समाज में आगे इस अर्थ में जा सकता है कि एक दो या दस वैज्ञानिक समाज से भले ही निकल जायँ, किन्तु वह विज्ञान सामाजिक तभी होता है जब समाज को उसकी जरूरत होती है।

१४—**विज्ञान परिवर्तनशील**—इस प्रकार विज्ञान् का सामाजिक चरित्र बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। इसके साथ यह भी बात स्वाभाविक रूप से आ जाती है कि चूँकि समाज परिवर्तनशील है इसलिए समाज की विचारधारा का एक मुख्य अंग विज्ञान भी परिवर्तनशील है। यदि समाज का इतिहास सामाजिक अवस्थाओं के एक सिलसिले का इतिहास है, जिसकी गति कभी बढ़ती है और

१ Marxism and modren thought p 178.

कभी घटती है, किन्तु मोटे तौर पर यदि समाज प्रगतिशील है और म्रियमाण नही है तो उसकी गति एक खास दिशा मे—विशेष मजिलो से होते हुए होती है, तो विज्ञान का भी यही हाल है। वैज्ञानिक उन्नति भी एक गति है जो निरन्तर आगे की ओर जा रही है। इसके प्रभाव मे जो कल तक रहस्यावृत, अन्धकार मडित था, वह आज स्पष्ट हो जाता है। सामयिक रूप से ऐसा ज्ञात अवश्य होता है कि नया वैज्ञानिक सत्य अन्तिम सत्य है, किन्तु थोडे दिन बाद उस सत्य के साथ जब निरीक्षित तथ्य की असगति पाई जाती है तो वृहत्तर सत्य की आवश्यकता होती है, जिसमे उस असगति का निराकरण हो गया है। जैसे मनुष्य शैशवावस्था मे बहुत-सी बचपन भरी धारणाओ का शिकार रहता है, उसी प्रकार विज्ञान के बचपन मे हम पारस, वैद्युतिक तरल पदार्थ, फ्लाजिस्टन सिद्धान्त तथा ईथर आदि पाते है।[1] विज्ञान भी बचपन मे घुटनो के बल चलता है, किन्तु ज्यो ज्यो उसके पैर के नीचे के निरीक्षित तथ्यो की जमीन मजबूत होती जाती है, और उसके पैर मजबूत होते जाते है, त्यो त्यो विज्ञान और भी जोरो के साथ सत्य का निर्घोष करता जाता है। इसलिए विज्ञान से कोई अन्तिमता की आशा करना अनुचित है, किन्तु इसका अर्थ यह नही कि विज्ञान पर कोई भरोसा न किया जाय। जब तक वृहत्तर सत्य नही आता तब तक प्रचलित सत्य को ही वैज्ञानिक सत्य मानकर चलने मे विश्व का कल्याण है। विज्ञान की उत्तरोत्तर उन्नति इस बात को माने बगैर नही हो सकती।

१५—बायल और गेलेसाक का नियम—जिस समय विज्ञान मे वृहत्तर सत्य का आविष्कार होता है, उस समय पहले का सकीर्णतर सत्य उसका एक अग बनकर रह जाता है। बात यह है कि जिस समय कोई ऐसी परिस्थिति या घटना वैज्ञानिक के निरीक्षण मे आ जाती है, जिसका समन्वय अथवा समाधान प्रचलित वैज्ञानिक सत्य के द्वारा नही हो पाता, उसी समय वृहत्तर सत्य की आवश्यकता होती है। लेवी ने अपनी पुस्तक Universe of Science मे इसका एक वैज्ञानिक उदाहरण दिया है। गैसो के घनत्व (volume) तथा उस पर दबाव के सम्बन्ध के विषय मे बायल ने एक नियम का प्रतिपादन

---

१ Uuiverse of science H Leoy p 12

किया था। इसके अनुसार यदि गैस के एक विशेष घनत्व पर दवाव डाला जाय, जैसे साइकिल के पम्प मे डाला जाता है, तो उसका घनत्व आधा हो जायगा यदि उसका दवाव दुगुना कर दिया जाय। इसके विपरीत यह भी सत्य है कि यदि दवाव आधा किया जाय तो घनत्व दुगुना हो जायगा इस प्रकार वायल ने घनत्व और दवाव के बीच सम्बन्ध को बतलाते हुए एक नियम का प्रतिपालन किया किन्तु इस नियम के अन्दर उत्ताप मे परिवर्तन होने से घनत्व और दवाव के पारस्परिक सम्बन्ध मे क्या परिवर्तन होगा, यह नही आता था। हमे ब्यौरे मे जाने की जरुरत नही। गेलिसाक (Gay Lussac) ने उस व्यापकतर नियम का प्रतिपादन किया जिसमे उत्ताप को लेकर इस नियम का प्रतिपादन हुआ। इस प्रकार वायल का नियम गेलिसाक के नियम का एक अश या उपपद्धति (subsystem) होकर रहा। इसी प्रकार बराबर विज्ञान मे बृहत्तर सत्य और उसके वाद बृहत्तर सत्य, और फिर उसके वाद बृहत्तर सत्य की जययात्रा जारी रहती है। इसलिए यूक्सकील (Uckkull) ने यह जो कहा है कि एक वैज्ञानिक सत्य आज की गलतियो के जोड के अलावा कुछ नही है[१], गलत है। हमारे ज्ञान मे कमी और उथलापन जरूर है, वाद को वह दूर होगा, किन्तु इसलिए सारे ज्ञान को गलतियो का जोड कहकर तिरस्कार करना ठीक नही।

१६—गणित का प्रतीकवाद में बहक जाना—गणित विज्ञान आज कुछ अध्यात्मवादियो के हाथ मे पडकर बिलकुल बेपर उडने का दावा कर रहा है। वह तो प्रतीको के सहारे बिलकुल अपने पैरो को वास्तविकता की जमीन से हटा लेना चाहता है, किन्तु गणित के जिस हिस्से को लिया जाय उसी की उत्पत्ति तथा विकास व्यावहारिक आवश्यकताओ के कारण हुआ था। मान लीजिए, गणित मे पॉच सिद्धान्त हैं। इनमे से पॉचवॉ भौतिक उपयोग का है, किन्तु पॉचवे पर हम अन्य चार सिद्धान्तो के वगैर नही पहुँच सकते थे, तो कहना पडेगा कि ये पॉचो भौतिक उपयोग के सिद्धान्त है।

गिनने की जरूरत तो बहुत बहुत आदिम है, और अकगणित का उद्भव स्पष्ट है। जब आदिम मनुष्य कुछ विनिमय करते होगे या शिकार को बॉटते

१ Anotomy of science p 40

होगे तो उनको भी एक मोटे गणित की जरूरत पडती होगी। मिस्र में नील नदी मे बाढ के कारण बार बार लोगो को जमीनें एक दूसरे से मिल जाती थी इसलिए हर बाढ के बाद जमीनो के पुनर्विभाजन का प्रश्न सामने आता था। कहा जाता है, इसी की पूर्ति के लिए रेखागणित की उत्पत्ति हुई। इसके अतिरिक्त जहाँ भी लोग बद्दू हालत के बाद बसने लगे उस समय खेती मे उनको कुछ न कुछ नाप जोख की जरूरत पडती होगी। इस प्रकार प्रत्येक आदिम जाति मे कुछ न कुछ आदिम रेखागणित की उत्पत्ति हुई होगी, भले ही यह मिस्र की तरह बडा चढा न हो पाया हो। चीजो के तौल तथा नाप जोख की जरूरत तुलना करने की सहूलियत के लिए हुई होगी। अति आदिम युग में जब धनुष के लिए गुण या हँसिया के लिए मूठ की जरूरत होती होगी तो पहले तो ऐसा होता होगा, कि जिस चीज को जिसमें फिट करना है, उसे उस पर रखकर नापा जाता होगा, किन्तु धीरे धीरे—जैसा कि चाइल्ड ने बताया है जब औद्योगिक उन्नति हुई तब लोगो की समझ मे यह बात आ गई कि उस चीज से ही उस वस्तु को नापने की कोई जरूरत नही। यह काम तो एक तीसरी वस्तु से उसको नापने से चल सकता है।

और तौलो का आपस मे ही हिसाव होने लगता है, और फिर विशुद्ध परिमाण तथा यूक्लीडीय देश (Space) की उत्पत्ति होती है। चाइल्ड ने लिखा है कि प्राचीन समाज अनन्त दीर्घता या शून्य देश मे दिलचस्पी नही रखते थे, वल्कि उनके द्वारा किये हुए सूक्ष्मीकरण व्यावहारिक हितो मे परिचालित होते है। 'प्राचीन सुमेर मे क्षेत्रफल की नापो के नाम कई क्षेत्रो मे वजन की नापो के सदृश है, विशेषकर दोनो नापो मे जो सबसे छोटी इकाई है, वह भी था एक यव (Grain) है। दूसरे शब्दो मे सुमेर का वर्गनाप मौलिकरूप से वीज की नाप थी। सुमेरवालो की इस सम्वन्ध मे दिलचस्पी यह थी कि एक जमीन के टुकड़े को बोने के लिए कितने बीज की जरूरत है। उसकी दृष्टि मे उसकी जमीन उतना शून्य देश नही वलिक एक जमीन का टुकडा था जिसको बोने के लिए एक विशेष परिमाण मे बीज की आवश्यकता पडती थी। जो मरुस्थल जोताई के लायक नही था उससे या नीले आसमान के क्षेत्रफल से उन्हे कुछ मतलब नही था। जिसे हम वजन करना कहते है उसके लिए तराजू नामक विशेष औजार की जरूरत थी। प्रागैतिहासिक मिस्त्र की कब्रो मे पेट्री को कुछ ऐसे द्रव्य मिले है जिनको वे अनुमान से बटखरे समझते है। मिस्त्र, इराक और भारतवर्ष मे विभिन्न वजनो की पद्धतियाँ प्रचलित है।"[१]

जहाँ तक गिनती का सम्वन्ध है, वहुत ही आदिम काल मे उँगली पर गिनना शुरु हुआ होगा। कुछ ऐसी जगली जातियाँ इस समय भी मौजूद वताई जाती है जो पाँच से अधिक गिन नही सकती। सुमेर आदि मे गिनती का जो इतिहास प्राप्त होता है वह यो है कि गिनती का उद्भव चीजे गिनने के लिए हुआ। इसके अधिक व्यौरे मे जाने की आवश्यकता नही, किन्तु व्यौरे मे जाने पर भी हम उन्ही उपसहारो पर पहुँचते है जिन पर हम पहले पहुँच चुके है।

इसी प्रकार सूक्ष्म से सूक्ष्म कहलानेवाले चाहे जिस विज्ञान को लिया जाय, उसकी जड मे हमे सामाजिक आवश्यकता मिलेगी। जब जब प्रकृति और मनुष्य की उत्पादन पद्धति मे या विभिन्न उत्पादन पद्धतियो मे कोई असगति पैदा हो गई है तब तब एक सजीव जाति के विज्ञान ने आगे बढकर इस असगति को सुलझाया है। जब भी वैज्ञानिको ने विज्ञान को सामाजिक उत्पत्ति

---

१. Man makes himself p. 220.

न समझकर उसको वैयक्तिक उत्पादन करके दिखलाने की चेष्टा की है, तभी ऐसा हुआ है कि विज्ञान के भीतर उनके वैयक्तिक रागद्वेष तथा कुसस्कार मिल गये है जैसा हम एडिगटन, जिन्स, जेफ्रीज तथा सुलिमन के क्षेत्र मे देखते है कि वे कहाँ मे कहाँ वहक कर पहुच गये। इसका उदाहरण हम पहले ही यत्र की उत्पत्ति के सम्वन्ध मे कुछ कुछ दे चुके है।

१७—वेकन द्वारा विज्ञान का चरित्र निर्णय—वेकन ने जो यह कहा है कि विज्ञान के दो उद्देश्य है, एक फलोत्पादक तथा दूसरा आलोकोत्पादक. यदि इन दोनो को देखा जाय तो एक ही है। आदिम मनुष्य के विज्ञान के इन दो पहलुओ मे, जिनको हम दूसरे शब्दो मे व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक कह सकते है, कोई फासला नही था। जव सवसे पहले आदिम मनुष्य ने एक पेड की डाल की सहायता से दूर की शाखा के फल को तोड लिया और इस प्रकार पहले पलह विज्ञान की सृष्टि की, तो उसके सामने न्यूटन की तरह यह प्रश्न नही था कि फल किस कारण नीचे की ओर गिरते है, न गेलीलियो की तरह यह प्रश्न ही था कि भारी फल पहले गिरता है कि हल्का फल। उसके सामने तो एक ही प्रश्न था कि फल कैसे प्राप्त किया जाय। यही उसके विज्ञान का (वह तो जानता भी नही था कि विज्ञान भी कोई वस्तु है) समग्र स्वरूप था। विज्ञान वहुत दिनो तक वल्कि युगो तक विलकुल ही तात्कालिक उपयोगिता के साथ कदम रखकर चलता रहा। उसके सामने और उद्देश्य हो ही क्या सकता था? उस युग मे विज्ञान के, ऊपर गिनाये हुए, दोनो पहलू साथ साथ चलते थे, किन्तु कुछ दिनो के वाद ऐसा मालूम हुआ कि यह ज़रूरी नही कि किसी आविष्कार की व्यावहारिक उपयोगिता फौरन ही मालूम हो जाय (यह भी वात उपयोगिता की दृष्टि मे अभिज्ञता के आधार पर मालूम हुई थी)। हो सकता है कि कोई व्यक्ति एक ऐसे सत्य का (स्मरण रहे, विज्ञान मे सत्य तुलनात्मक होते है, और वृहत्तर सत्य के आविष्कार के साथ अप्रचलित हो जाते है) आविष्कार करे जो उस समय तो कुछ भी उपयोगी न मालूम हो किन्तु वाद को इसकी उपयोगिता खुले। माइकल फाराडे (१७९१—१८६७) ने पहले पहल विजली के सम्वन्ध मे जो प्रयोग किये थे वे उस समय केवल प्रयोगशाला के लिए ही दिलचस्पी के मालूम हुए, किन्तु वाद को उसके जौहर

खुलते ही गये। एडीसन (१८४७) ने इसी के सहारे कई वडे वडे आविष्कार किये जिनमे सिनेमा प्रमुख है। वरावर इस पर आधारित और नये आविष्कार होते चले जा रहे है। इस प्रकार एक आविष्कार के वाद कई सौ वर्ष तक उस पर व्यावहारिक आविष्कार हो सकते है और होते रहते है। इस दृष्टि से फारा के आविष्कार को भला समाज मे अलग कैसे किया जा सकता है। अध्यापक एच० लेवी ने ठीक ही लिखा है "वैज्ञानिक तथा उसके काम को परिवर्तनशील जगत् के वाकी हिस्से से अलग नही किया जा सकता, विज्ञान की सामाजिक जडे है, तथा उसके परिणाम भी सामाजिक है।"[१] अन्यत्र अध्यापक लेवी इसी विचार को दूसरे शब्दो मे यो प्रकट करते है "विज्ञान मुख्यत एक गति तथा ऐसी सामाजिक उपज है जो सामाजिक उद्देश्यो की पूर्ति करता है, और इसके किसी भी पहलू को समाज से पृथक् करने का प्रयत्न (चाहे वह विशुद्ध गणित ही हो), जिसका यह एक आवयविक अश है, केवल झूठे और खतरनाक उपसहार पर पहुँचा सकता है।" (Universe of science p. vii)

१८—विज्ञान की भौतिक जडें—जव सूक्ष्म से सूक्ष्म विज्ञान की सामाजिक जडे होती है तो चिकित्सा-विज्ञान, कृषि-विज्ञान आदि प्रत्यक्षरूप से मनुष्य के लिए उपयोगी विज्ञानो का तो कुछ कहना ही नही है। वे तो तात्कालिक उपयोगिता को छोडकर मुश्किल से एक कदम आगे वढते है। विज्ञान यदि किसी समय केवल सिद्धान्तो की उडान भरता हुआ मालूम होता है तो वह दृश्यमान मात्र है। उसे देर मे या जल्दी अपनी उडान के स्थान से नीचे उतर कर आना पडेगा और उपयोगिता की कसौटी पर अपने मूल्य को साबित करना पडेगा। यदि वह आज या कल या कुछ सालो मे व्यावहारिक रूप से मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति नही कर सकता तो वह विज्ञान की मर्यादा से उतार दिया जायगा।

१९—विज्ञान में सूक्ष्मीकरण का उद्देश्य—यदि विज्ञान मे सूक्ष्मीकरण (abstraction) है तो वह लोगो को भ्रम मे डालने के लिए नही वल्कि एक चीज़ के वहुत से पहलुओ मे से एक को अलग कर अध्ययन करने के लिए

---

१. H. Lavey—The Paradox of science in Man and Nature.

है जिससे जल्दी किसी निर्दिष्ट नतीजे पर पहुँचा जा सके। यदि हम एक लोहे के छड को तराजू पर रखकर तौलते है और इस समय हम उसके किसी और पहलू पर जोर न देकर केवल वजन पर अपने ध्यान को केन्द्रित करते है तो उसका अर्थ यह न समझा जाना चाहिए कि उसमे वजन के अतिरिक्त और कोई गुण है ही नही, बल्कि उसका मतलब इतना ही है कि हम तात्कालिक रूप से उसके वजनवाले पहलू को समझ लेना चाहते है। इसी प्रकार विज्ञान मे जहाँ भी सूक्ष्मीकरण है वही पर वह प्रश्न को सरल करने के लिए है। फिर एक बार हम लेवी की बातो का हवाला देते हुए कहेगे कि सूक्ष्मीकरण के ज़रिये असामजस्यपूर्ण बाते छाँट दी जाती है और विभिन्न वस्तुओ मे मूलगत समताओ का उद्घाटन किया जाता है। सारे विज्ञान के सिद्धान्तो का यही रहस्य है। उन पर अति प्राकृतिकता मढने की चेष्टा करना व्यर्थ है। यद्यपि उसका भौतिक अर्थ उस समय छिपा हुआ रहे, वह बाद को स्पष्ट हो जायगा। जे० आरथर टामसन ने biology and human progress मे लिखा है, यदि हम तार, टेलीफोन, ब्राडकास्टिग, चिकित्सा मे रश्मियो का उपयोग, शल्यविद्या, तथा सीरम से रोगो का इलाज करना देखे तो ज्ञात होगा कि यह सभी वहुत ही सूक्ष्म खोजो तथा आविष्कारो पर निर्भर है।" इस प्रकार वैज्ञानिक सिद्धान्त उडान नही होते, वल्कि कुछ घटनाओ से निकले हुए उपसहार होते है और दूसरी तरफ उनके परिणाम स्वरूप दूसरी घटनाओ को समझने तथा उन पर नियत्रण प्राप्त करने के कारण स्वरूप होते है।

२०—सभी विज्ञानों की भौतिक उत्पत्ति—ज्योतिष और गणित की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे खोज करते हुए हम जिस प्रकार उनके भौतिक आधार मे पहुँच गये, उसी प्रकार हम अन्य विज्ञानो की उत्पत्ति के सम्वन्ध मे पहुँचते है। पदार्थ-विज्ञान का घनिष्ठ सम्वन्ध उत्पादन तथा युद्ध से था। इसी प्रकार रसायन विज्ञान का सम्वन्ध कॉच, रँगाई, बर्तनो की कलई, पेन्टो की उत्पत्ति और धातुविज्ञान के साथ था। मिस्र ओर चीन मे ही इस विज्ञान के सवसे प्राचीन रूप का पता लगता है। वहाँ इन्ही वातो से उसका सम्वन्ध था। रसायन-विज्ञान शव्द का केमी या काले से सम्बन्ध है, इससे अनुमान किया गया है कि इस विज्ञान की उत्पत्ति मिस्र मे हुई है। खान-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, पशु-विज्ञान, शरीर-विज्ञान,

रोगविज्ञान इन सबकी भौतिक उत्पत्ति तो बहुत ही स्पष्ट है और, जैसा कि हम बता चुके, ये विज्ञान अपने भौतिक उपयोग के आधार को छोडकर एक भी कदम आगे नही जाते। भूगोल की उत्पत्ति व्यापार तथा युद्ध-विद्या के लिए हुई। प्राचीनकाल मे फिनिसियन, कर्थेजिनियन और उसके बाद ग्रीक अग्र ज्यो ज्यो व्यापार मे प्रमुख होते गये त्यो त्यो ये जातियाँ भूगोल मे अधिकतर प्रवीण होती गई । १५वी सदी से जब से औपनिवेशिक विस्तार का प्रारम्भ हुआ तबसे भूगोल की अधिक उन्नति हुई है। अब भी तिब्बत तथा अफ्रिका के आभ्यन्तरिक भाग मे भूगोल की उन्नति के बहाने साम्राज्यवाद के लिए आधार, साधन तथा मस्पर्श पैदा किये जाते है। अभी बहुत हाल की बात है, १९४४ मे भारत और बर्मा की सरहद पर जो अल्पज्ञात भूभाग थे उनके सम्बन्ध मे जानकारी बढी। इसी प्रकार जब बर्मा से चीन का रास्ता, बर्मा के जापानियो के कब्जे मे आ जाने से, बन्द हुआ तो एक दूसरी सडक ढूँढने के लिए बहुत से नये भौगोलिक आविष्कार हुए। इन क्षेत्रो मे भौगोलिक आविष्कार तथा नेतृत्व स्पष्ट रूप से भौतिक आवश्यकता के कारण हुआ। मध्ययुग मे पुर्तगाल, स्पेन, इँगलैड, हालैड आदि जिन देशो के लोग व्यापार तथा साम्राज्य स्थापना मे प्रमुख रहे, उन्होने अच्छे जल मार्गो आदि के आविष्कार किये। इसी प्रकार १९४४ मे इस सूची मे जापान और अन्य युद्धमान देशो का नाम जुड गया है। जो विज्ञान सामाजिक विज्ञान कहलाते है उनकी उत्पत्ति तो सामाजिक होगी ही, इसमे कोई आश्चर्य की बात नही।[१] ऐसे विज्ञानो मे इतिहास, अर्थशास्त्र, भाषाविज्ञान, आँकडाशास्त्र है।

२१—'विज्ञान विज्ञान के लिए' नारा निरर्थक—हम पहले ही बता चुके है कि जिस मनुष्य ने पेड की एक डाल की सहायता मे फलो को तोडा वह पहला वैज्ञानिक था। इसका अर्थ यह है कि विज्ञान की उत्पत्ति मनुष्य को प्रकृति के मुकाबिले मे सफल बनाने के लिए हुई है, इस बात को हमे कभी भूल न जाना चाहिए। इसलिए, विज्ञान विज्ञान के लिए' नारे का कोई अर्थ नही होता। ऐतिहासिक रूप से तथा व्यावहारिक रूप से यह बात बिलकुल गलत है। लेवी ने अपनी पुस्तक Universe of science मे दिखलाया है कि 'विज्ञान विज्ञान

१ Historical matlialism—Bukharin p 162-3.

के लिए' इस नारे की उत्पत्ति किस प्रकार हुई और लोग किस प्रकार उसमे बह गये। अध्ययन की सुविधा के लिए विषयो को अलग अलग कर लिया गया। होते होते उनके एक ए क पहलू भी पृथक् कर लिये गये। जब यह पृथक्करण दो एक पुश्त तक चला तब उस पहलू के छात्र को ऐसा मालूम होना स्वाभाविक हो गया मानो विज्ञान विज्ञान के लिए है।

मनुष्य जाति के कल्याण के अतिरिक्त विज्ञान की कोई कल्पना ही नही हो सकती। विज्ञान ने हर पग पर मनुष्य को पहले से सुन्दरतर तरीके पर रहना और जीना सिखलाया है, किन्तु यह भी इस सम्बन्ध मे हमे न भूलना चाहिए कि विज्ञान का निर्माता मनुष्य स्वय है। पहले से अच्छे तरीके पर रहने की आन्तरिक इच्छा से ही विज्ञान का उदय हुआ और वह अक्सर प्रत्यक्ष रूप से और कभी-कभी परोक्ष रूप से इसी उद्देश्य को ध्रुवतारा की तरह सामने रखकर अपनी नाव खे रहा है। इसमे कुछ वैज्ञानिक व्यक्तिगत रूप से भले ही कुछ और बात मिलाकर उसे दूसरे रग मे रँगने की कोशिश करे, किन्तु विज्ञान की सार्थकता, उसके चरित्र की चरितार्थता मनुष्य के कल्याण-साधन मे ही है। हरबर्ट स्पेन्सर ने ठीक ही कहा है कि विज्ञान जीवन के लिए है, न कि जीवन विज्ञान के लिए। यदि किसी समय धोखे से हमे इसका विपरीत मालूम होता है तो जरा गहराई से देखने पर ही यह भ्रम दूर हो सकता है। आदिम मनुष्य ने चन्द्र को रोज उदित होते देखा, बहुत सम्भव है और भी जानवर चाँदनी और चाँद को देखते है, किन्तु अपने विकसित मन के द्वारा जब आदिम मनुष्य ने चन्द्र को एक नियम के अनुसार घटते-बढते और उसमे पूर्णिमा तथा अमावस्या होते देखा तो कुछ दिनो मे वह समझ गया कि किस नियम से आकाश मे चन्द्रोदय होता रहता है। यो ऊपर से देखने पर मालूम होगा कि मानो यह ज्ञान मनुष्य के लिए ज्ञान के लिए ज्ञानमात्र था, किन्तु ऐसा नही। आदिम मनुष्य एक तो इसी ज्ञान के सहारे समय को नापने लगा (जो हर तरीके से उसके लिए उपयोगी था), दूसरे वह इस ज्ञान का उपयोग कृषि, नौचालन इत्यादि भौतिक तरीके से करने लगा। सच तो यह है कि यदि उसको इसकी भौतिक जरूरत न रहती तो उसे चन्द्रोदय-सम्बन्धी ज्ञान होता ही नही। 'कोई भी इस बात का कष्ट नही उठाता कि जँगले पर कितनी मक्खियाँ बैठी है या सडक पर कितनी गौरइयाँ है, किन्तु

सींगदार जानवर गिने जाते हैं। वात यह है कि पहले दो विषयो मे नख्याओ का जानना किसी के लिए उपयोगी नही है, किन्तु सींगदार जानवरो की नख्या जानना वहुत उपयोगी है।'[१]

यदि हम इसी प्रकार विज्ञान की सारी उन्नति के इतिहास को देखे तो वह सिलसिले से इसी तरह आवश्यकता की उत्तेजना पर विकसित होता गया है। मनुष्य को अधिक गेहूँ की ज़रूरत पडी या लोहा, कोयला, मछली शीघ्र यातायात की ज़रूरत पडती गई और विज्ञान मे विकास होते गये।

२२—विज्ञान की विभिन्न परिभाषाएँ—'वाकी सृष्टि की तरह मनुष्य भी, अपनी धुरी पर घूमती हुई पृथ्वी की भाँति, न्यूनतम क्रिया के सिद्धान्त पर चलना चाहता है यानी जहाँ तक हो सके, वह कष्ट से वचना चाहता है' (टामसन)। इसी इच्छा के कारण मनुष्य विज्ञान की सृष्टि करता है। किसी काम को सवसे अच्छे ढग से सवसे जल्दी और सवसे कम शक्ति लगाकर करने का तरीका ही विज्ञान है। विज्ञान की जितनी भी परिभाषाएँ की गई है उनमे विज्ञान की सामाजिकता का उत्पादन स्पष्ट है। अध्यापक टी० हक्सले कहते है "विज्ञान से मै ऐसे ज्ञान को समझता हूँ जो गवाही (evidence) तथा तर्क पर अवलम्बित है।" कहना न होगा कि यह गवाही तथ्यो का गवाही है, और तथ्य सामाजिक है। डाक्टर एलेक्ज़ेडर हिल कहते है कि "सब वुद्धि सगत ज्ञान विज्ञान है तथा विज्ञान(perspective) से ज्ञान है।" अध्यापक कार्ल पियरसन कहते है कि विज्ञान का काम तथ्यो का वर्गीकरण, उनके क्रम तथा तुलनात्मक अर्थ की स्वीकृति है। अमेरिकन अध्यापक एफ० जे० टेगर्ट का कहना है कि "विज्ञान घटनाओ मे प्रकाशित प्रक्रियाओ की पद्धतिगत खोज है। लार्ड एक्टन कहते है कि विज्ञान वहुत से सदृश तथ्यो को एक सामान्वीकरण, एक सिद्धान्त या एक कानून की एकता मे एकत्र कर देता है, और वह कानून या नियम ऐसा होता है जो हमे उसी तरह की परिस्थितियों मे उसी तरह की घटना की पुनरावृत्ति की भविष्यवाणी करने मे समर्थ करता है।"[२] आइनस्टाइन ने अपनी

१. Historical materialism p २ The science of history by Hearnshaw in outline of modern knowledge.

पुस्तक (the meaning of relativity) में लिखा है "सब विज्ञानों का उद्देश्य चाहे वह प्राकृतिक विज्ञान हो या मनोविज्ञान, हमारी अभिज्ञताओं में सम्बन्ध स्थापित करना तथा उनको एक तार्किक पद्धति के अन्दर लाना है।"[1] इनमें से सभी परिभाषाओं से विज्ञान पर हमारे दृष्टिकोण की पुष्टि होती है।

२३—**एडिंगटन की विज्ञान सम्बन्धी धारणा**—आधुनिक वैज्ञानिकों में सर आर्थर एडिंगटन प्रसिद्ध भाववादी हैं। उनकी विज्ञान-सम्बन्धी धारणा कुछ विभिन्न है, फिर भी उसकी यहाँ पर थोड़ी आलोचना करना अप्रासंगिक न होगा। एडिंगटन का कहना है कि जिस प्रकार गणित में पादार्थिक जगत् की चीजों का सूक्ष्मीकरण कर उनके सम्बन्धों का निर्णय होता है, उसी प्रकार विज्ञान में जगत् में दृश्यमान जगत् की साधारण बुद्धि की अवमानना का विचार होता है, अर्थात् उनके अनुसार विज्ञान भी सम्बन्धों और प्रतीकों को लेकर चलता है यानी उसका कारबार एक वास्तविक जगत् से है। गहराई के साथ सोचने पर ज्ञात होगा कि विज्ञान पर यह दृष्टिकोण इस सम्बन्धी हमारे दृष्टिकोणों से केवल [illegible] में ही भिन्न है क्योंकि जैसा हम कई बार कह चुके हैं, सम्बन्धों और प्रतीकों का सम्बन्धित वस्तुओं और मूल पदार्थों से अतिरिक्त कोई अस्तित्व हो ही नहीं सकता।

मनुष्य की परिभाषा औजार बनानेवाले प्राणी के रूप में की थी, यद्यपि उसके अलावा भी प्राणियों ने कुछ अविकसित औजारों का उपयोग किया है। मनुष्य के शरीर तथा दिमाग का गठन इतना विकसित है कि उसमें बराबर औजारों की उन्नति सम्भव हुई, जो होते-होते आज की दशा में पहुँची है।

आविष्कार किस प्रकार होते गये, इस सम्बन्ध में यह जो मत है कि एक व्यक्ति के दिमाग में एकाएक एक विचार आया, और एक आविष्कार हुआ फिर दुनिया प्रगति के रास्ते पर चल निकली यह बिलकुल गलत है। प्रश्न यह है कि आखिर ऐसा विचार एक मनुष्य के दिमाग में क्यों आ सका, और वह सामाजिक रूप से ग्रहणीय हो सका? एच० जी० वेल्स की तरह विद्वान् लेखक भी इस बात को समझने में गड़बड़ा जाते हैं। इसलिए वे मार्क्स के कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो की भूल निकालते हैं। मार्क्स ने कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो में लिखा था कि 'मुश्किल से कोई एक शताब्दी के अपने राज्य में पूँजीवादी वर्ग ने पहले की सब पुश्तों से कहीं अधिक शक्तिशाली तथा विराट् उत्पादन की शक्तियों का निर्माण किया है। भला पहले की पुश्तों में से किस पुश्त को इस बात का स्वप्न में भी भान था कि संयुक्त-श्रम के गर्भ में इस प्रकार की विराट् उत्पादन शक्तियाँ प्रसुप्त हैं।' वेल्स इसका मजाक उड़ाते हुए कहते हैं "क्या खूब! औद्योगिक क्रान्ति जो यान्त्रिक क्रान्ति का परिणाम था यहाँ उसके कारण के रूप में दिखाई जाती है। क्या तथ्यों को इससे अधिक गड़बड़ाकर पेश किया जा सकता है?"[१] हमें यह देखना है कि तथ्य क्या है। इस प्रश्न के साथ आविष्कार के प्रश्न का बहुत निकट सम्बन्ध है। आविष्कार पहले हुए या उन्नति पहले हुई, यह एक व्यर्थ का पेचीदा प्रश्न है क्योंकि आविष्कारों के लिए अनुकूल परिस्थिति होने पर आविष्कार हुए, (यहाँ पर यह स्मरण रहे कि जितनी परिस्थिति आविष्कार होने के लिए उपयुक्त हो सकती है, उतनी परिस्थिति में जब वह आविष्कार हो जाय तो उसे कार्यरूप में परिणत करने और उपयोग में लाने के लिए वह यथेष्ट नहीं है, इसी लिए हम अक्सर यह भी देखते हैं कि आविष्कार तो हो गया किन्तु उसके लिए सामाजिक आर्थिक-परिस्थिति न होने के कारण

१. Out look for Homospiens p 195.

वह आविष्कार धरा रह गया, और उसका उपयोग न किया गया), फिर जब आविष्कार हुए तब उन्नति को और भी द्रुततर कर दिया।

हाव्सन किसी प्रकार का साम्यवादी नही था, बल्कि एक कट्टर पूँजीवादी लेखक था, किन्तु यह महाशय केवल तथ्यो के आधार पर जिन उपसहारो पर पहुँचने के लिए मजबूर हुए, वे इस सम्बन्ध [1] द्रष्टव्य है। वे लिखते है "कपडे के सम्बन्ध मे जितने आविष्कार हुए, उनका मन्थन किया जाय, तो ज्ञात होगा कि ऐसा नही कहा जा सकता। यदि एक-एक आविष्कार को देखा जाय, तो यह ज्ञात होगा कि वे पहले कुछ थे, और धीरे-धीरे उनमे वृद्धि होते-होते वे वर्तमान रूप मे पहुँचे है।"– मि० आर० हाज ने हाउस आफ लार्ड्स के सामने गवाही देते हुए जिस बात को कहा था उसे हाव्सन ने उद्धृत किया है। उन्होने यह कहा था "वर्तमान समय मे हम जिस कातने के यत्र का इस्तेमाल मिलो मे करते है, उसमे ८०० आविष्कार आकर मिले है। इसी प्रकार वर्तमान समय मे जो धुनने का यत्र है, वह ६० पेटेन्टो का एकत्रित रूप है।" स्मरण रहे कि हाज साहब ने ऐसा १८५७ मे हाउस आफ लार्ड्स की एक कमिटी के सामने कहा था। उस समय से न मालूम कितने और आविष्कार इन यत्रो मे सम्मिलित किये गये है। हाव्सन इसी बात पर जोर देते हुए कहते है "अधिकाश आविष्कारो का इतिहास यही है। औद्योगिक परिस्थितियो का दबाव बहुत से मनो की बुद्धि को एक ऐसे बिन्दु पर केन्द्रित कर देता है, जिसमे बहुत दिक्कत पड रही है। नतीजा यह होता है कि उस युग के सार्वजनिक ज्ञान की सतह एक होने के कारण बहुत से व्यक्ति एक ही साथ एक ही निर्णय पर पहुँचते है। इन बहुत से समाधानो मे से वह समाधान, जिसके सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि उसने भाग्य की उँगली पकडकर पहुँचा पकड लिया, सबमे विजयी सिद्ध होता है। उस आविष्कार का आविष्कर्ता—खबर देनेवाला, किसी-किसी क्षेत्र मे उस आविष्कार को चुराकर समाज के सामने पेश करनेवाला कहा जाने लगता है। किसी एक महान् औद्योगिक आविष्कार मे जो पहले बिलकुल गुमनाम के आविष्कार होते है, वे इस कारण प्रसिद्धि प्राप्त नही करते कि उनसे कुछ प्राप्ति नही होती। जब

१ Evolution of modern capitalism p. 79,

इसमे वृद्धि होते-होते वह प्राप्ति कराने के विन्दु तक पहुँच जाता है, तभी इन बिल्कुल अन्त की वृद्धि को आविष्कार की मर्यादा प्राप्त होती है, यद्यपि पहले जो आविष्कार हुए थे, जिनके आधार पर इस सबमे अन्तिम आविष्कार की इमारत बनी, सम्भव है वे सबसे अन्तिम आविष्कार के बराबर महत्त्व के हो या उससे कही अधिक महत्त्व के रहे हो। आविष्कार ुद्धि मे कोई भी आकस्मिक या रहस्यवादी उपादान नही है। आवश्यकता इसकी जननी है। इसका अर्थ इतना ही है कि यह कम से कम विरोध की पंक्ति के मार्ग मे (line of least resistenec) चलती है। के० हारग्रीव्स, आर्कराइट, कार्टराइट ने अपनी बुद्धि तथा श्रम केवल उन दिक्कतो के दूर करने मे लगाया, जो उठती गई। कपडे के सम्बन्ध मे जितने बडे आविष्कारक थे, उनमे से करीब-करीब सभी व्यावहारिक व्यक्ति थे। किसी दिक्कत की बात को सोचते हुए, उस पर विचार किया, इस तरह उसके समाधान की कोशिश करते हुए, फिर उसमे असफल होकर दूसरी तरह मे उसका समाधान करते हुए दूसरे, व्यावहारिक व्यक्तियो के प्रयत्न तथा असफलताओ से सबक लिया और उन पर उन्नति करते हुए अन्त मे उस समाधान पर पहुँच गये जिससे वह खास दिक्कत दूर होकर अभीष्ट फल प्राप्त होता था। यदि हम किसी निर्दिष्ट आविष्कार को ले, और घनिष्ठ रूप से उसकी जाँच करे, तो ज्ञात होगा कि प्राय प्रत्येक क्षेत्र मे कुछ-कुछ वृद्धि होते होते आविष्कार व्यावहारिकता के क्षेत्र मे पहुँच गया है।"[१]

हम पहले ही बता ुके है कि हाब्सन किसी प्रकार भी मार्क्स के कायल नहीं है, किन्तु उन्होने जिस प्रकार आविष्कार के द्वन्द्ववाद को स्पष्ट किया है, वह बहुत ही सुन्दर है। हाब्सन के उद्धरण के बाद यही पूछने की इच्छा होती है कि मार्क्स तो खैर गुमराह थे, किन्तु हाब्सन ने क्यो ऐसी बात कही।

बक्स एडम ने, अपनी The law of civilisation and decay मे यह स्पष्ट कर दिया है कि आविष्कार अनुकूल परिस्थिति के बिना कोई महत्त्व नही रखता। वे लिखते है—'प्लासी का युद्ध १७५७ मे हुआ, और सम्भवत उसमे होनेवाले परिवर्तन की गति की कोई तुलना नही हो सकती।

---

१ Ibid p. 80

सन् १७६० ई० में करघे में ढरकी को अपने आप चलानेवाले यत्र का आविष्कार हुआ, तथा भट्टी के लिए अब लकडी की जगह पत्थर के कोयले का इस्तेमाल होने लगा। सन् १७६४ मे हार्ग्रीव्ज ने सूत कातनेवाली कल का आविष्कार किया। सन् १७७६ मे क्राम्पटन ने सूत कातने का उन्नततर यत्र बनाया तथा सन् १७८५ मे कार्टराइट ने कलद्वारा चलानेवाला करघा बनाया। सन् १७६८ में जेम्स वाट ने इन सबसे मुख्य भाप के इजिन को जन्म दिया जो शक्ति को केन्द्रित करने के सब साधनो मे सबसे अधिक सर्वांगपूर्ण था। यद्यपि इन कलो का आविष्कार हो गया, किन्तु वे स्वय कार्यशील न हो सके। आविष्कार स्वय निष्क्रिय होते है। उनमे से कई महत्त्वपूर्ण आविष्कार शताब्दियो तक सुप्त पडे रहते है, और ऐसी शक्ति के पर्याप्त भण्डार के सचित होने की प्रतीक्षा करते रहते हैं, जो उन्हे कार्यान्वित करे। भारतीय धन के बहाव और उससे उत्पन्न होनेवाले ऋण के प्रसार के पहले इन आविष्कारो को कार्यान्वित करने की पर्याप्त शक्ति मौजूद नही थी, और यदि जेम्स वाट पचास वर्ष पहले उत्पन्न होते, तो वे और उनके आविष्कार अवश्य साथ ही साथ लुप्त हो जाते . । सम्भवत सृष्टि के प्रारम्भ होने के समय से किसी पूँजी के प्रयोग से उतना लाभ नही उठाया गया, जितना भारतीय लूट से उठाया गया, क्योकि लगभग पचास वर्षो तक इंगलैंड बिना प्रतिद्वन्द्वी के रहा।[१]

२५—युद्ध के सम्बन्ध में विज्ञान का उत्तरदायित्व—आमतौर पर विज्ञान तथा यत्र की निन्दा के रूप मे युद्धो का हवाला दिया जाता है और कहा जाता है कि यदि वैज्ञानिक उन्नति न होती तो इस प्रकार का आम नर-सहार सम्भव न होता। पहले जहाँ, तलवार पर तलवार, तीर पर तीर (स्मरण रहे तलवार तथा तीर भी प्रागैतिहासिक हथियारो की तुलना मे बडी उन्नति थी) चलते थे, अब उनकी जगह पर बीसियो मीलो तक मार करनेवाली तोपे है। पहले की दीवारो को तोडने के लिए ढेकी की जगह अब डिनामाइट तथा न मालूम कितने उन्नत अस्त्र है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि १९१४-१८ के महायुद्ध तथा १९३९ के महायुद्ध मे एक-एक दिन मे एक एक मोर्चे पर जो सहार हुआ है उसकी तुलना मे कुरुक्षेत्र तथा पानीपत बच्चों के खेलमात्र है। फिर महाभारत का इतना

१. कम्पनी के काले कारनामे—बी० डी० बसु पृ० १०५-६

वडा युद्ध केवल १८ दिन हुआ था और अव युद्ध वर्षो, हजारो मीलो के मोर्चे पर, चलते है। इसलिए स्वाभाविक रूप से यत्र के विरुद्ध Prima facie एक मुकदमा तो तैयार हो ही जाता है। इस आधार पर यत्र को गालियाँ देना वहुत आसान रहा है। किन्तु यदि गहराई तक देखा जाय तो क्या इसमे यत्रो का दोष है या यत्रो को इस्तेमाल करनेवालो का ही दोष है? आखिर ये यत्र है क्या? वे मनुष्य के ही वनाये हुए है न? मार्क्स ने पूँजी मे सामग्रियो के वुतो मे परिणत कर दिये जाने की वात कही है। उसमे उन्होने दिखलाया है कि किस प्रकार मनुष्यो ने अपनी पैदा की हुई सामग्रियो को वुतो मे इस प्रकार परिणत कर दिया है कि उनके सम्बन्धो को मनुष्यो के सम्बन्धो के रूप मे देखने के वजाय उनको वस्तुओ का सम्बन्ध समझ रखा है और उनके मुकाविले मे अपनी वेवसी का अनुभव करते है। यही हाल यत्रो के वारे मे है। वजाय यह समझने के कि लडाई का यह पहलू तोप आदि चलानेवालो का पारस्परिक सम्बन्ध है, वे ऐसे पेश आते है मानो लडाई तोपो का ही पारस्परिक सम्बन्ध हो और मनुष्य इसके मुकाविले मे विलकुल विवश हो।

२६—**विज्ञान का वर्गचरित्र**—मनुष्य जाति की वैज्ञानिक उन्नति का यह एक दुखान्त हिस्सा रहा है—और यह समाज मे वर्गो के विभाजन को देखते हुए अनिवार्य भी था—कि यत्रो की उन्नति पर शोषक वर्ग का एकाधिकार रहा, और इस वर्ग ने केवल अपने अधीन शोषितो को दवा रखने मे ही नये-नये हथियारो का प्रयोग नही किया, वल्कि वरावर दुनिया की लूटमार पर अपना एकाधिकार जमाने के लिए आपस मे भी इन खूनी हथियारो का व्यवहार किया है। जब पूँजीवादी विज्ञान या वर्ग विज्ञान की बात कही जाती है तव उसका अर्थ यह नही होता कि चन्द्रमा पूँजीवादियो या शोषको के लिए तो २९ दिन मे और शोषित के लिए ३१ दिन मे पूर्णिमा मे पहुँचता है, वल्कि उसका मतलव केवल ऐसे ज्ञान के उपयोग से है। यदि आल्प्स या हिमालय को मनुष्य के लिए मार्ग देने के निमित्त डिनामाइट का प्रयोग किया जाता है तो वह पूँजीवादी प्रयोग नही है, किन्तु यही मार्ग इसलिए प्राप्त किया जाय कि आल्प्स तथा हिमालय के उस पार के लोगो पर हमला कर उनका शोषण किया जाय तव वह अवश्य लुटेरा विज्ञान होगा। जव विज्ञान की प्रयोगशाला मे उत्पादन-शक्ति भी वढाने

के लिए केवल इसलिए खोज होती है कि मुनाफे की मात्रा बढे तब उस खोज का नर-संहार से सम्बन्ध न होते हुए भी वह पूँजीवादी विज्ञान ही होगा।

कई जगह जहाँ पर पूँजीवादी वर्ग बनाम आम जनता या मजदूरवर्ग का प्रश्न आता है वहाँ पर हम यह देखते हैं कि विशेषज्ञगण अपने प्रभु का राग अलापते है। किसी खान मे कोई दुर्घटना हुई, कही गाडी लड गई, या किसी जगह कारखाने मे विस्फोट हुआ, तो फौरन किराये के विशेषज्ञ यह कहने लगते है कि विपत्ति से रक्षा के लिए जो सम्भव उपाय थे वे काम मे लाये गये थे, फिर भी दुर्घटना हो गई। इसके विपरीत कुछ विशेषज्ञ यह भी कहते है कि यथेष्ट एहतियात नही किये गये इसलिए ऐसा हुआ, अतएव इस दुर्घटना मे क्षतिग्रस्त लोगो को हर्जाना दिया जाय। हमे यहाँ इस बात से मतलब नहीं कि किस अवसर पर कोन अधिक सत्य के निकट होता है, किन्तु इससे विज्ञान का वर्ग-चरित्र तो स्पष्ट ही हो जाता है। कहा जाता है कि प्राचीन चीनियो मे तीन तरह की संख्याएं थी (Set of numerals), एक संख्या राज-कर्मचारियो के लिए थी, दूसरी विज्ञान के लिए थी, तीसरी नागरिक व्यापारियो के लिए थी। यह तथ्य ऐसा है जिस पर किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है।

विज्ञान के वर्ग चरित्र से इन्कार कर बहुत से लोग यह जो कहते है कि वैज्ञानिक तो योगी की तरह बहुत निस्पृह है, उसे तो घटनाओ तथा वस्तुओ का अध्ययन भर करना है, उनके आन्तरिक नियमो का उद्घाटन करना है, उसे वर्ग और वर्गस्वार्थ से भला क्या मतलब है, यह बिल्कुल गलत है क्योंकि वैज्ञानिक इन सबके अलावा और भी कुछ है। विज्ञान का काम केवल प्राकृतिक रहस्यो का निस्पृह उद्घाटन नही, है बल्कि जान-बूझकर इस ज्ञान के [illegible]ने पर प्राकृतिक घटनाओ मे हस्तक्षेप करना है। विज्ञान विज्ञान ही न होगा, यदि उसमे न भविष्य-वाणी की शक्ति रहे और न प्रकृति मे सज्ञान हस्तक्षेप की क्षमता। इस दृष्टि से देखने पर वैज्ञानिक एक निष्क्रिय विद्याव्यसनीमात्र नही रह जाता, बल्कि वह समाज का सज्ञान निर्माता के रूप मे हमारे सामने आता है। कहना न होगा कि यह निर्माण-कार्य वह मौजूद सामाजिक परिस्थितियो के अन्दर ही कर सकता है, अर्थात् ऐसा करने मे उसे किसी न किसी दल को, किसी न किसी वर्ग या गुट को अपनाना पड़ेगा। इस दृष्टिकोण से वैज्ञानिक ज्योंही कर्मक्षेत्र मे उतरेगा

वे यह भी कहते हैं कि प्रागैतिहासिक युग के लोग युद्ध करते थे, इसका कोई प्रमाण नही है, क्योकि इसके जो प्राचीनतम औज़ार प्राप्त हुए हैं, वे शिकार के ही उपयुक्त है न कि युद्ध के। यहाँ पर हक्सले कदाचित् कुछ अधिक आशावाद से काम ले रहे हैं, क्योकि मनुष्य मारने के आदिम हथियार मे और पशु का शिकार करने के आदिम हथियार मे किसी प्रकार का फर्क होने की आशा कैसे की जा सकती है।

जिस पत्थर के हथियार से एक पशु का चमडा उधेडा जा सकता था, उससे आदमी का भी चमडा उधेडा जा सकता था। अवश्य हक्सले इस अर्थ मे सही हैं कि जैसे आजकल एक हथियार से सामूहिक हत्या हो सकती है, वैसे उस युग के हथियार से नही हो सकती थी, किन्तु इसका केवल यह अर्थ निकालना कदाचित् उचित न होगा कि उस युग मे सामूहिक हत्या नही थी, वल्कि इसका यही अर्थ निकालना उचित होगा कि उस युग मे आजकल के अर्थ मे सामूहिक हत्या के साधन नही थे। आज रेको मे नरबलि पत्थर की छुरी से दी जाती थी, यह हमे मालूम है। इसके और भी उदाहरण दिये जा सकते है। फिर भी हक्सले का इस सम्बन्ध मे पूरा वक्तव्य जानने लायक है। वे लिखते हैं 'वस्तीवाली सभ्यता के पहले के सोपान मे सगठित युद्ध का सूत्रपात न हुआ होगा, यही अन्दाज है। जैसे चीटियो मे लडाई केवल सम्पत्ति के लिए होती है, वैसे ही मनुष्यो मे सम्पत्ति के लिए ही लडाइयाँ हुई है। जो हो, जब मनुष्यो ने नगरो मे रहना और सम्पत्ति बटोरना सीख भी लिया, तब भी लडाई अनिवार्य रूप से होती ही थी, यह बात नही है। ई० पू० ३,००० वर्ष के समय की सिन्ध सभ्यता मे युद्ध का कोई चिह्न नही मिलता। इसी प्रकार चीनी सभ्यता के प्रारम्भिक युग मे तथा पेरू की इन्का सभ्यता मे लडाई बिलकुल अज्ञात थी, ऐसा मालूम होता है।"[१]

इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि एक जीव वैज्ञानिक की दृष्टि मे लडाई की क्या वैज्ञानिक हैसियत है। किन्तु कही हमारा मतलब गलत न समझा जाय इसलिए, कुछ अप्रासगिक हो जाने की आशका हो जाने पर भी—(और हक्सले ने भी यह बात दूसरे अर्थ मे कही है)—यह कह दिया कि युद्ध जीव-वैज्ञानिक

---

१ Dawn 15 Oct '44

आवश्यकता हो या न हो, जैसा समाज अब बन चुका है, उसमे युद्ध अनिवार्य है। युद्ध तभी असम्भव होगा जब वर्गशोषण का अन्त हो जाय, किन्तु उस सोपान तक हम वर्गयुद्धो—जिनका रूप कभी गृहयुद्ध और कभी अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध होगा—के जरिये ही पहुँच सकते है।

युद्ध के सम्बन्ध मे एक बात तो ऐतिहासिक रूप से ज्ञात होती है कि कई क्षेत्रो मे इसके कारण सभ्यता का प्रचार हुआ है, सभ्यता से हमारा मतलब यहाँ पर किसी आध्यात्मिक बात से नही है, बल्कि उन्नतर आर्थिक पद्धति से ही है। मिस्र के द्वितीय राजवंश के फरऊनो ने अपने को सिनाई की चट्टानो पर अभागे बद्दूओ को मारते हुए चित्रित कराया है। इस सम्बन्ध मे यह ज्ञात है कि सिनाई मे जो ताँबा होता था, उसको निकालने के लिए मिस्र से मजदूर भेजे जाते थ। सुमेर और अक्काड के सम्बन्ध मे ज्ञात है कि उनकी तरफ से इलाम-वालो पर हमले हुए। चाइल्ड ने लिखा है कि बैबीलोनिया को एक करने के अतिरिक्त आगाडे के सारगन ने इधर-उधर के भूभागो पर आर्थिक उद्देश्यो से हमले किये। 'उनके अपने अभिलेखो से ज्ञात होता है कि उन्होने सेडर के वनो (लेबनान ?) तथा चाँदी की खानो (तूर ?) पर हमले किये। बाद के एक लेख से ज्ञात है कि वे कप्पाडोसिया मे वहाँ के धातु के व्यापारियो की मदद के लिए बुलाये गये थे, और भी बाद के एक लेख से ज्ञात है कि सारगन की जीतो मे एक टीन का देश भी था। इसमे सन्देह नही कि उन्होने इलाम के धातु-उत्पादक जिलो पर कब्जा कर लिया तथा अपने राज्य को कैस्पियन या भूमध्य-सागर से फारस की खाडी तक फैलाया। इस प्रकार उन भूभागो को अपने अन्दर ले लिया जिन पर बैबीलोनिया निर्भर था।' चाइल्ड ने ही दिखलाया है कि इन क्षेत्रो मे तथा अन्य कई क्षेत्रो मे युद्धो के कारण शहरी सभ्यता फैली। असीरिया मे, निनवे मे सारगन के प्रपौत्र ने, कहा जाता है कि, एक मन्दिर बनाकर इसी प्रकार शहरी सभ्यता की स्थापना की। उन्होने कहा है कि बाइबिल के इस वाक्य मे काफी सत्य है कि अस्सुर सार (सुमेर) से निकलकर निनवे का निर्माण करते है। अभी तक अत्यन्त आधुनिक इतिहास मे भी इस बात का प्रमाण मिल सकता है कि बहुत-सी जातियो ने अपने यहाँ की खानो की कदर नही की जल-प्रपातो का शोषण नही किया जर्मनो की टग ने बोअर आदि

नही की, किन्तु बाहर से विजेताओ ने आकर ये काम किये, ओर देश के लोगो को ये काम सिखाये। इस कथन का अर्थ यह कदापि न लगाया जाय कि हम शोषण का समर्थन कर रहे है, बल्कि हमारा कथन इतना ही है कि ये बाते तथ्य है। जिन विजेताओ ने इन नई बातो का प्रवर्तन किया उन्होने शोषण की दृष्टि से ही इनका प्रवर्तन किया, इसमे कोई सन्देह नही। ब्रिटिश साम्राज्य, जार का साम्राज्य, सक्षेप मे किसी भी उन्नततर आर्थिक पद्धतिवाली जाति के साम्राज्य-विस्तार मे हम इस बात को देख सकते है। जब विजेता की आर्थिक पद्धति विजितो की आर्थिक पद्धति से अच्छी होगी, तो इस प्रकार की उन्नति अनिवार्य है, ऐसा ही सर्वत्र हुआ है।

नेपोलियन के सम्बन्ध मे जो यह कहा जाता है कि वे सफेद घोडे पर चढकर प्रगति के मूर्तरूप मे यूरोप मे फैलते गये, यह इसी अर्थ मे सत्य है कि फ्रेंच राज्य-क्रान्ति के फलस्वरूप जो बुर्जुआ फ्रास अस्तित्व मे आया, उसके प्रतिनिधि के रूप मे उन्होने सामन्तवादी यूरोप के विरुद्ध मोर्चा लिया। इसी प्रकार यह भी माना गया है कि लाल नेपोलियनवाद भी हो सकता है, यानी यदि कोई प्रबल पराक्रान्त समाजवादी देश हो तो, उसकी तरफ से मुक्ति सेना सफलतापूर्वक बिलकुल परि-पक्व दृश्यगत अवस्थाओ की हालत मे समाजवाद की स्थापना अपने देश के बाहर भी कर सकती है। सच तो यह है कि सब बाते जो कही गई है वे युद्ध की प्रशसा मे नही, बल्कि केवल इसी बात को जाहिर करती है कि जैसी शक्ति विजयी होगी, वैसी ही शक्ति का दौरदौरा बाद को होगा। उदाहरणार्थ यदि फैसिस्ट शक्तियाँ १९३९ के युद्ध मे विजयी होती तो सारा जगत् फासिवाद की ओर जाता, किन्तु समाजवादी रूस विजयी हुआ, या यो कहा जाय कि जिस हद तक विजयी हुआ उसी हद तक दुनिया समाजवाद की ओर बढी। इसीसे युद्ध के लिए विज्ञान को दोष देना उचित न होगा, बल्कि युद्ध को एक हथियारमात्र समझकर जैसी शक्ति के हाथ मे विजय जावेगी वैसा ही परिणाम होगा, यह कहा जा सकता है। युद्ध के सम्बन्ध मे जो वैज्ञानिक तर्क दिये जाते थे, उन्हे हम देख चुके।

२८—मुनाफा पूँजीवादी विज्ञान का परिचालक—विज्ञान के वर्गचरित्र के सम्बन्ध मे आलोचना करते समय हम देख चुके कि स्वय विज्ञान मे कोई बात

पूँजीवादी या सर्वहारा नही है किन्तु विज्ञान जिस पृष्ठभूमि मे उदित होता है, पनपता और बढता है, साँस लेता है, वह यदि शोषकवर्ग के हित की है और शोषितो के पैर की जजीरो को मजबूत करने के लिए है तो वह शासक वर्ग का विज्ञान है। एगेल्स ने 'फ्रास मे वर्गयुद्ध' नामक अपनी पुस्तक मे दिखलाया है कि किस प्रकार ज्ञान-विज्ञान तथा विशेषकर अस्त्र-शस्त्रो की विपुल उन्नति के कारण जनक्रान्ति पहले के मुकाबिले मे कठिन हो गई। केवल विज्ञान का शासकवर्ग के हित मे ही इस्तेमाल होने पर वह पूँजीवादी विज्ञान कहलाता है, यह नही बल्कि वर्तमान युग मे तो विज्ञान की उन्नति तथा विकास भी बहुत कुछ पूँजीवादी वातावरण मे होता है, इसलिए यद्यपि उनके निकाले हुए नियम सब वर्गो के लिए सैद्धान्तिक दृष्टि से होते है, और सभी लोग उससे बराबर फायदा भी उठा सकते है, फिर भी उसके ऊपर अपने जन्म की छाप रह ही जाती है और कार्यरूप मे वह केवल एक ही वर्ग यानी शासकवर्ग के फायदे की चीज होती है। उदाहरणार्थ गन्दे से गन्दा काम जैसे टट्टी साफ करना समाज के लिए बहुत उपयोगी होने पर भी वैज्ञानिको ने इस पर दिमाग नही खपाया कि किस प्रकार अधिक से अधिक सफाई के साथ, बिना गन्दगी मे सने यह काम किया जा सकता है। पूँजीवादी विज्ञान को इस बात की कोई चिन्ता नही थी कि भगी का दु ख घटे या उसकी मर्यादा बढे, यह इसलिए कि ऐसे आविष्कार मे मुनाफे की वृद्धि के रूप मे कोई उत्तेजना नही थी। इस सम्बन्ध मे जब उन्नति भी हुई जैसे फ्लश पद्धति इत्यादि का आविष्कार हुआ तो वह भी कोई भगी (एक प्रकार के मजदूर) की दृष्टि से नही बल्कि धनियो के आराम की दृष्टि से। ऐसे बहुत से ऐसे क्षेत्र है जहाँ वैज्ञानिक सिर खपाते तो कोई न कोई सुन्दरतर तरीका निकालते किन्तु उसमे मुनाफे की सम्भावना न होने के कारण अर्थात् उसकी खपत की सम्भावना न होने के कारण वैज्ञानिको की दृष्टि उन विषयो पर गई ही नही। इस प्रकार पूँजीवादी विज्ञान का नारा केवल एक काल्पनिक नारा नही बल्कि हर पहलू से सही नारा है।

कुछ स्वतत्र विचारवाले लेखको को विज्ञान के पूँजीवादी चरित्र से इतना क्रोध आया कि वे कई बार यह नारा देते रहे कि ऐसी हालत मे विज्ञान यदि नष्ट हो जाय तो कोई हर्ज नही। कहना न होगा इस प्रकार के निष्फल तथा आदर्शवादी क्रोध से किसी का कुछ बिगडता नही है और पूँजीवादी वर्ग रूपी

हाथी अपने रास्ते चलता जाता है। इस समस्या का क्या समाधान होना चाहिए, यह न समझ पाने के कारण इन लोगो ने ऐसा ऊलजलूल नारा दिया कि विज्ञान को ही नष्ट कर दिया जाय। अध्यापक हक्सले ने १९वी सदी मे ही कहा था कि 'आधुनिक सभ्यताओ मे से जो सबसे अच्छी है उसमे मुझे ऐसा जान पडता है, न तो कोई उचित आदर्श ही है और न कोई स्थायित्व ही। मै यह कहने मे हिचकता नही हूँ कि यदि मानवीय परिवार की अधिक सख्या की अवस्था मे कोई विशेष उन्नति की आशा न हो, तथा यदि यह सत्य है कि ज्ञान की वृद्धि प्रकृति पर अधिकतर प्रभुत्व तथा इसके फलस्वरूप जो विपुल धन की वृद्धि होती है, उससे जनता के अधिकाश लोगो की शारीरिक और मानसिक अवनति जैसी की तैसी बनी रही, तो किसी समय धूमकेतु के आगमन का मै स्वागत करूँगा कि वह आकर सर्वनाश कर दे।' इस पर टिप्पणी करते हुए वेनजमिन कीड कहते है कि योरपीय समाज के अन्तस्तल से यह बात निकल रही है। मोशिये लावले ने इस भावना को यो व्यक्त किया था। १८वी सदी ने मनुष्य से कहा कि 'तू अभिजातो और जातियो का गुलाम न रहा, तू स्वतत्र है।' किन्तु हमारे युग की समस्या यह है कि यह तो अच्छी बात है कि 'हम मुक्त और स्वतत्र रहे, किन्तु इसका क्या कारण है कि मुक्त और स्वतत्र अक्सर भूखो मरता है। यह क्या बात है कि जो लोग सब शक्तियो के उत्सस्थल है, वे अक्सर कडी मेहनत करने पर भी अपने लिए जरूरी चीजे जुटा नही पाते।'[१] मोशिये लावले ने हक्सले के मुकाबिले मे (हक्सले का यह लेख मई १८९० के Ninteenth century मे प्रकाशित हुआ था) समस्या को अधिक अच्छी तरह समझा है और केवल निष्फल क्रोध दिखला कर नही रह गये है, किन्तु उन्होने भी यह नही बताया कि इस विषमता को तथा उनकी समझ मे अन्याय को दूर कैसे किया जाय। यह काम मार्क्स तथा उनके अनुयायियो ने ही किया है।

२९—विज्ञान शासकवर्ग का गुलाम—विज्ञान ने न मालूम क्या क्या आविष्कार किये, किन किन दु साध्य रोगो के इलाज के साधन निकाले, रेडियो आदि लोकशिक्षा के कितने ही उपायो का आविष्कार किया, किन्तु जिसे आम जनता कहेगे उसे कही भी ये सुविधाएँ प्राप्त नही है, क्योकि इनमे बहुत खर्च पडता

१. Social Evolution p. 4

है। सच तो यह है कि लगे हाथो इनसे आम जनता को चाहे कुछ फायदा हो जाय, रेल, तार, टेलिफोन, रेडियो, सिनेमा यहाँ तक कि शिक्षा का नियन्त्रण शासकवर्ग अपने शासन को स्थायी बनाने के उपायो के रूप मे करता है। कार्ल मार्क्स ने कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो मे यह बात साफ कर दी है कि पूंजीवादीवर्ग के अस्तित्व का अपरिहार्य तकाजा उत्पादन के साधनो मे निरन्तर उन्नति करना है। यही उसके स्थायित्व की शर्त है। मामूली समय पर रेल तार आदि से शासक वर्ग को क्या फायदा है, यह मालूम नही होता किन्तु किसी विद्रोह के समय इनसे सरकार को क्या फायदा रहता है, यह स्पष्ट है। रेल, तार इत्यादि कहाँ कहाँ है, इसका भी यदि अच्छी तरह अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होगा कि जहाँ उनकी सबसे अधिक ज़रूरत है वही वे हो ऐसी बात नही। बहुत-सी रेले इत्यादि तो बिलकुल सामरिक दृष्टि से बनाई गई है, वे घाटे मे चलती है। सच तो यह है कि शासकवर्ग जो कुछ भी सुविधाएँ आम जनता के लिए देता हुआ मालूम होता है, वे सबकी सब अपने ही व्यापारिक या सामरिक फायदे की दृष्टि से है। इस बात को तो एक मामूली पुल की बनावट की जाँच से ही हम अच्छी तरह जान सकते है। हर एक महत्त्वपूर्ण पुल सामरिक दृष्टि से भी बना हुआ होता है, उसमे गोली चलाने के सुराख़ आदि इस बात के प्रमाण है।

३०—**यत्र विज्ञान का सूत्रपात**—आगे हम सक्षेप मे विज्ञान की उन्नति का इतिहास देगे, क्योकि इसके बिना जाने समाज के विकास को समझना सम्भव न होगा। यदि साथ साथ वैज्ञानिक उन्नति न होती रहती तो मनुष्य के सारे विचार और आदर्श रक्खे रह जाते, क्योकि बिना नये उत्पादन के साधनो के कोई गहरा सामाजिक परिवर्तन सम्भव न था। जब तक मनुष्य केवल प्रकृति की भिक्षा पर निर्भर था तब तक वह अन्य पशुओ की श्रेणी मे था। फिर जब वह केवल बाहरी शक्तियो को अति प्राकृतिक समझकर उनकी पूजा करता था या उनसे डरता था तब भी उसकी दशा कुछ अच्छी नही थी। जब वह समाज की परिचालना को अपने हाथ मे लेने लगा तभी से वह मुक्त होने लगा। धीरे धीरे वह ठोकरे खा खाकर आवश्यकता की उत्तेजना के कारण प्रकृति के नियमो से परिचित होने लगा और इस ज्ञान के कारण प्रकृति के ऊपर अपने शासन का विस्तार करने लगा। शासन के विस्तार के स्वरूपो मे यत्रो का आविष्कार एक प्रसग

बात है। बात यह है कि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ एक हद तक ही काम दे सकती हैं। इसके आगे का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनके प्रसार की आवश्यकता है। वैज्ञानिक यन्त्रो के आविष्कार ने इस आवश्यकता की पूर्ति बराबर की है, इसका नतीजा यह हुआ कि मनुष्य जहाँ केवल खाली आँखो ने आकाश के कुछ ही ग्रहो नक्षत्रो को, सो भी असम्पूर्णरूप से और धुँधले तरीके मे देख पाता था वहाँ अब हजारो नक्षत्रो को दूरवीक्षण यन्त्र की सहायता से देख सकता है। इसी प्रकार मनुष्य एक हद तक ही छोटी चीजो को देख सकता है किन्तु अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से वह छोटे से छोटे कीटाणु को देखने मे समर्थ हुआ है। यो वैज्ञानिक यन्त्र हमारी ज्ञानेन्द्रियो को प्रसारित तथा पैनी कर देते हैं। फिर केवल ज्ञानेन्द्रियो को प्रसारित करने की ही बात नही है, हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ जिस वस्तु के अस्तित्व को जान नही सकती उसको हम यन्त्रो की सहायता से दूसरे तरीके से जान सकते है।[१] उदाहरणार्थ एक लटका हुआ चुम्बक बेतार की एक ऐसी तरग (Wireleas wave) का पता लग सकता है जिसको हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ उसकी सहायता के बगैर नही जान सकती थी। वैज्ञानिक यन्त्रो के अतिरिक्त जिन यन्त्रो से मनुष्य निरीक्षण नही करता बल्कि अपनी ताकत (कर्मशक्ति) बढा लेता है, जैसे पैर से चलने के बजाय हवाई जहाज से चलना। इनसे जिस प्रकार उसकी उन्नति आसान हो जाती है, उसका वर्णन अन्यत्र हो चुका है। जो हो, यन्त्र को भी एक बुत बनाकर उसकी पूजा करने की चेष्टा भी उतनी ही गलत है जितना उसको शैतान समझकर तिरस्कार करना। यन्त्र चाहे कितने भी सूक्ष्म या शक्तिशाली हो, किसी न किसी रूप में उनका अन्तिम सम्बन्ध हमारी ज्ञानेन्द्रियो या कर्मेन्द्रियो से होगा, और यन्त्रो को हम समाज से अलग करके नही देख सकते।

पहले पहल जब मनुष्य ने कुछ उन्नत यन्त्र का आविष्कार किया तो "यन्त्र पर ध्यान रखना, उसकी क्रियाओ पर पहरा देना और उसकी गलतियो को सही करने के अतिरिक्त उसे अपने अन्दर से ही परिचालिका शक्ति देनी पडती थी।"[२] यो तो यन्त्र विद्या की उत्पत्ति आर्कमीडिस के हाथो से हुई बत-

१. The Anatomy of modern Science-Bernahard Bavin p 29

२ Capital volume I chapter XIII p 395

लाई जाती हैं, क्योंकि उन्होने लीवर तथा पानी उठाने के लिए अन्तहीन स्क्रू का आविष्कार किया था, किन्तु यत्र विद्या की उन्नति उसी युग मे समझना चाहिए जब परिचालिकाशक्ति के लिए मनुष्य केवल अपनी या घोडा, बैल आदि की शक्ति का नही बल्कि प्राकृतिक शक्तियो का भी उपयोग करने लगा। इस प्रकार पहले के चालीस, सौ या दो सौ डॉडवाले बजरे के मुकाबिले मे, जिसमे सौ दो सौ आदमी बैठ सकते थे, दो आदमी की जगहवाली पालवाली नाव एक उन्नत वस्तु है। यह इसलिए कि पालवाली नाव में मनुष्य ने एक प्राकृतिक शक्ति (हवा) को अपने कार्य के लिए लगा लिया है। इस दृष्टि से देखा जाय तो यत्र-विद्या की उन्नति मे नई नई प्राकृतिक शक्तियो को व्यापक-तर रूप मे जोतने से ही यत्र विज्ञान के इतिहास मे नये नये अध्यायो की सूचना होती है।

२१—यान्त्रिक उन्नति सिलसिलेवार नही—मनुष्य जाति के इतिहास मे यान्त्रिक उन्नति कोई सिलसिलेवार तरीके से होती रही हो, यह बात नही। कई बार कई आविष्कार हुए किन्तु उन पर कोई उन्नति नही हुई, केवल यही नही, वे लुप्त भी हो गये। आगाफोनोफ ने लिखा है कि प्राचीन युग के बहुत से आविष्कार भुला दिये गये, इसमे यदि व्यतिक्रम हुआ तो केवल युद्ध विद्या मे ही, यानी युद्धविद्या तथा उससे सम्बद्ध धन्धो मे अपेक्षाकृत रूप मे क्रमिक उन्नति होती रही है। केवल आविष्कार होने ही से कई आविष्कार सामाजिक रूप तथा पैमाना ग्रहण नही करता। यह बात विचारधारा के क्षेत्र मे जितनी सही है, उतनी ही अन्य क्षेत्रों में भी। किसी आविष्कार को ग्रहण करने के लिए जब तक समाज की अन्य परिस्थितियाँ तैयार नही होती तब तक आविष्कार सामाजिक रूप धारण नही कर सकता। इसी प्रकार बताया जाता है कि एलेक्जेड्रिया मे ईसा के पहले ही हीरो ने भाप के इजिन का आविष्कार किया था, किन्तु जेम्सवाट आदि को एक तरह से दुबारा आविष्कार करना पडा। प्राचीन युग मे बहुत बडी बडी इमारतें बनी किन्तु इसका अर्थ यह नही कि उनके पास कोई अच्छे यत्र थे। बताया जाता है कि ईसा पूर्व २८०० मे जो चियोप (Cheops) का पिरामिड बना उसके लिए एक लाख मनुष्य तीन महीने तक बराबर पत्थर ढोते रहे। इसी प्रकार नील नदी की एक एक सडक में दस साल लगे थे। उस समय यत्र के सम्बन्ध

मे कितनी आदिम धारणा थी, यह इसमे ज्ञात है कि रोमन विट्रूवियस ने यत्र की परिभाषा यो की थी 'यत्र लकडी का बना एक जुडा हुआ पदार्थ है जिससे वजन उठाने मे आसानी होती है।'[१] मनुष्य ने जितने आविष्कार किये है वे सब यदि सिलसिलेवार तरीके से होते रहते और कही पर उनकी कडी न टूटती तो आज मनुष्य जाति यात्रिक ज्ञान की सबसे ऊँची सतह पर होती।

३२—नई नई प्राकृतिक परिचालिका शक्तियो की खोज—"हस्तोत्पादन (Manufaucture) के युग मे भी इंगलैंड मे, जो आधुनिक बडे पैमाने पर धन्धे की मातृभूमि है, वायुशक्ति से कही अधिक जलशक्ति का प्रयोग होता था।" एक तो जलशक्ति केवल नदी-किनारे, सो भी सब नदियो के किनारे नही, प्राप्त हो सकती थी, दूसरे इसे इच्छा के मुताबिक बढाया-घटाया नही जा सकता था, और कई मौसिमो मे तो यह प्राप्त ही नही हो सकती थी।

इन्ही कारणो से मजबूर होकर अन्य वैज्ञानिको को दूसरे साधनो की खोज करनी पडी। वाट ने जब तक कोयला और पानी से चलनेवाले इजिन का आविष्कार नही किया तब तक यह दिक्कत बनी रही। कोयले की खानो के रूप मे इँगलैंड मे शक्ति का खज़ाना भरा पडा था, किन्तु जेम्स वाट के पहले यह किसी को मालूम नही था कि उसका उपयोग किस प्रकार उत्पादन मे किया जा सकता है। वाट ने जो आविष्कार किये वे अपनी जगह पर बहुत महत्त्व-पूर्ण थे, किन्तु वाट को ही भाप के इजिन का सारा श्रेय देना ठीक नही। उनके पहले ही इसकी नीव पड चुकी थी।[२] जो हो, इस आविष्कार से सबसे बडा फायदा यह हुआ कि अब सारे के सारे उद्योग-धन्धे नदियो के किनारे, देहात मे यत्र-तत्र बिखरे हुए न होकर शहर मे एक जगह केन्द्रित हो सकते थे। अवश्य ये शहर, जहाँ तक हो सके, कोयले की खानो के नजदीक ही हो सकते थे। इस प्रकार भाप के इजिन से उद्योगधन्धो मे एक महान् क्रान्ति हो गई और उद्योग-धन्धो मे आधुनिक युग का सूत्रपात हुआ। कोयले के इस उपयोग के पहले किसी को क्या मालूम था कि कोयला भी कभी इँगलैंड ही नही, सारी दुनिया

---

१ Historical Materialism-Bukharin p 118

२ Landmark in industrial history by G T Waineret says p 231

के इतिहास मे इतनी बड़ी क्रान्ति का प्रवर्तक होगा। कोयले का फायदा केवल शक्ति-प्रदान करने तक ही सीमित न रहा, बल्कि लोहा गलाने मे इसका जो उपयोग हुआ वह भी कोयले की एक बहुत भारी देन है। पहले लोहा महँगा था और जो कुछ भी प्राप्त था उसका सही ढग से उपयोग नही हो सकता था, किन्तु लोहे को इस प्रकार कोयले के सहारे गलाना आदि सम्भव हो जाने के कारण दुनिया के सामने नई सम्भावना का एक पूरा जगत् ही खुल गया। विल्किन-सन नामक एक व्यक्ति ने उस जमाने मे जब कहा था कि लोहे के लिए बड़ी बडी सम्भावनाएँ है तो उस पर लोगो ने बहुत कहकहे लगाये थे। बेचारे विल्किनसन ने केवल यही कहा था कि कभी लोहे के पुल, जहाज और मकान होगे। इस पर उन्हे 'लोहा-पागल' करार दिया था। किन्तु वे पहला लोहे का पुल (१७७९) ओर पहला लोहे का जहाज (१७९०) अपनी आँखो से देख गये।[१] यही हाल वाट का भी हुआ था, यद्यपि वे बहुत कुछ अपने इजिन की सम्भावना मे परिचित थे। जिस समय १७८४ के अप्रैल मे उन्होने पेटेन्ट लिया था उस समय उन्होने भाप के इजिन को न केवल एक काम के लिए बल्कि बहुत से कामो के लिए उपयुक्त यानी यात्रिक उद्योगधन्धे मे सार्वदेशिक रूप से प्रयोग के उपयुक्त बतलाया था।[२] उन पर भी लोग हँसे, किन्तु इसके पचास साल बाद ही वाष्प-परिचालित हथौडा बना और १८५१ मे इतनी बडे भाप के इजिन बने जो महासागर मे जानेवाले जहाजो के लिए काफी समझे गये।

३३—यातायात के साधनों में उन्नति—पहले ही हम द्वन्द्वात्मक न्याय का उदाहरण देते हुए यह बतला चुके है कि किस प्रकार इस तरह उत्पादन के साधनो मे विकास होने के कारण यातायात के साधनो मे विकास होना अनिवार्य हो गया। इँगलैंड की ही हालत को लीजिए। १७५० मे लम्बी यात्राओ म चलने-वाली घोडागाडियो की गति घटे मे छ: मील से अधिक नही थी। बहुत सी जगहो पर तो कोई ढग की सडक भी न थी। एक तरह की लीक पर गाडिया चलती रहती थी। ऐसी दशा म उत्पन्न माल का इधर से उधर भेजा जाना बहुत खर्चीला था। कोयले के लिए तो समस्या और भी टेढी थी। १८१५ म जाकर

१ Ibid p 222 २ Capit.l V IX Chapter XIII

मैकाडम नामक एक व्यक्ति ने यह कहा कि यदि पत्थर की गिट्टियो से सडके बनाई जायँ तो उन पर माल आसानी से जा सकता है। किन्तु सडको की कितनी भी उन्नति हो, कोयला तथा कच्चा माल भेजने मे दिक्कत उसी प्रकार बनी रही। मेनचेस्टर से बहुत पास ही एक ड्यूक की कोयले की खाने थीं, किन्तु मेनचेस्टर मे आते आते—यद्यपि मेनचेस्टर कुछ ही मील पर था—कोयले का दाम दुगुना हो जाता था। इस दिक्कत से बचने के लिए उस ड्यूक ने वोरस्ले से, जहाँ खान थी, मेनचेस्टर तक नहर खोदने का भार जेम्स विडले नामक अपने एक कारीगर को दे दिया। 'विडले बिलकुल गवार किस्म का आदमी था, किन्तु वह ढग का और व्यावहारिक काम करता था। यद्यपि फ्रास और हालैड मे नहरे खुल चुकी थी, किन्तु इँगलैड मे यह काम बिलकुल अज्ञात था। केवल मौजूद नदियो के धरातल को गहरा किया गया था। अपने ढग पर यह अच्छा काम था किन्तु विडले ने देखा कि नहर खोदने मे मौजूद नदियो से अलग रहना ही अच्छा है। नदी के पानी का अर्थ बाढ आदि के खतरे मे पडना था। इसिलए उसमे ऐसी बडी शक्ति के विरुद्ध बचत वगैरह रखने की जरूरत थी जिससे खतरा न पैदा हो जाय। बडी मुश्किलो से इस कार्य के लिए ड्यूक साहब ने धन इकट्ठा किया था, किन्तु ज्यो ही नहर तैयार हो गई त्यो ही जल्दी से उनका सारा धन लौट आया और मैनचेस्टर मे इस नये यातायात के साधन के कारण कोयले का दाम आधा हो गया।[१]

३४—रेल का सूत्रपात—कुछ दिनो तक इस प्रकार नहरो से आधुनिक उद्योगधन्धो का काम कुछ चल गया किन्तु उद्योग धन्धो की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति के मुकाबिले मे तथा यत्रो की कच्चे माल तथा कोयले की विराट् भूख को देखते हुए ये नहरे आवश्यकता की पूर्ति के लिए अयोग्य साबित हुई। फिर सब जगह नहर हो भी नही सकती थी। १७८४ मे वाट के ही जीवन-काल मे विलियम मरडक नामक व्यक्ति ने एक इजिनगाडी बनाई जिसको पादरी-निवास के पास धुआँ फेकते देखकर वहाँ के पादरी बेहद घबडा गये। मजे की बात यह है कि वाट ने इस आविष्कार का स्वागत करने के बजाय उसको दबाना चाहा। विलियम मरडक जिस कम्पनी मे नौकर थे उसके मालिको को

१ Landmarks in industrial history p 236

वाट ने लिखा कि मरडक से नरमी के साथ कहिए कि इन प्रयोगो से बाज आवे। उस कम्पनी ने वाट की बात मान भी ली। यह आविष्कार दबा दिया गया। किन्तु यह दब कैसे सकता था? बहुत से दिमागो मे एक साथ यह बात आई और इसके तीस साल बाद, १८१४ मे, कीलीगस्वर्थ की खानो मे यह इजिन चलने लगा। १८१९ मे, जो वाट की मृत्यु का सन् था, स्टाकटन और डालिंगटन रेल की योजनाएँ पार्लियामेंट के सामने स्वीकृति के लिए पेश की गई।[१] १८५९ तक ब्रिटिश द्वीपपुंज मे १० हजार मील रेल की पटरी बिछ गई और १९०० तक यह दुगुनी से अधिक हो गई।

३५—जहाजो की उन्नति—'जहाजो मे यो तो वाष्प का प्रयोग १८०२ मे ही हो चुका था, और एक यात्री जहाज (कामेंट) १८१२ मे क्लाइड नदी के किनारे बनाया गया था, फिर भी पाल-चालित जहाजो पर इनकी प्रधानता होते होते १८७० लग गया। इसी प्रकार एक लोहे का जहाज १७८७ मे और दूसरा १८२० मे वाष्पपरिचालित जहाज भी बन चुका था फिर भी १८५० तक लोहे के जहाजो को सन्देह की दृष्टि से देखते थे, और इस्पात के जहाजों की तो १८७५ तक कोई खास गिनती नही थी।" पहले पहल जब इजिन से जहाज चलाये जाने लगे उस समय लोग इन पर इतना सन्देह करते थे कि न मालूम कब इजिन बन्द हो जाय और बीच समुद्र मे यात्री टापते रह जायँ, इसलिए वे वाष्प-इजिन के साथ साथ पाल भी रखते थे कि समय पडने पर काम आवे। १८३८ मे जाकर केवल भाप के इजिन के सहारे पहली बार अटलान्टिक पार किया गया।[२] पहले जहाज लकडी के बनते थे। यह तो क़रीब करीब आदिम मनुष्य भी जानता था कि लकडी पानी पर तैरती है। किन्तु लकडी के जहाज की एक सीमा तक ही उन्नति हो सकती थी। १३०० फुट से ज्यादा बडा लकडी का जहाज बनाना खतरनाक था, क्योकि आँधी वगैरह मे उसके उलट जाने का डर हो जाता था। इसलिए स्वाभाविक रूप से ऐसे धातु के ढूंढने की जरूरत पडी जिसमे इस प्रकार का खतरा न हो। उस युग मे धीरे धीरे लकडी की जगह लोहा लेना जा रहा था, किन्तु लोहा पानी मे

१. Ibid p 298
२ Ibid p 306

डूब जाता है। इस साधारण ज्ञान के कारण लोग जहाज़ बनाने मे लोहे का व्यवहार शका की दृष्टि से देखते थे। फिर भी धीरे धीरे प्रयोगो से यह डर हटता गया और १८९० तक अधिकाश जहाज लोहे के बने होने लगे। किन्तु जहाज बनाने के धन्धे मे आधुनिक युग का प्रवर्तन उसमे इस्पात के प्रयोग से शुरू होता है। इस्पात लोहे से अधिक हल्का, मजबूत, स्थायी और नमनीय है जिससे उसका प्रयोग हर तरह से सुविधाजनक था।

३६——इस्पात——इस्पात का उत्पादन इस दृष्टि से एक बहुत बडा कदम हो जाता है, किन्तु हम यहाँ उसके विकास का कोई इतिहास न देकर सक्षेप में इतना बतलाना यथेष्ट समझते है कि १८५६ मे बेशमेयर ने इस्पात बनाने का एक आसान तरीका निकाला। इसके बाद उन्नति होती गई। १८७८ मे गिलखीस और टामस ने इससे भी अधिक उन्नत तरीका निकाला, क्योकि यह ऐसा पाया गया कि जिस कच्चे लोहे मे फासफोरस अधिक मात्रा मे मौजूद है उसमे बेशमेयर का तरीका खतरनाक है। इस प्रकार उन्नतियो के कारण इस्पात की प्रमुखता केवल जहाज-निर्माण मे ही नही, बल्कि सब तरह के यत्रो मे हो गई। १९१४-१८ के युद्ध के जमाने मे तो दुनिया का जो रूप हो गया था, उसे इस्पात-मय कहा जा सकता है।

३७——स्वेजनहर से यातायात की उन्नति——१८६९ मे स्वेजनहर खुल जाने से पूर्व और पश्चिम मे व्यापार बहुत बढ गया। इस कदम से जितना लाभ हुआ है उसको लोग कम समझते है। पूँजीवादी उन्नति के कारण दुनिया स्वेजनहर के जरिये मानो दो हिस्सो मे बँट गई, एक देहाती हिस्सा जो मुख्यत कच्चामाल पैदा करता था और जब वह कच्चा माल बन करके आता था तो उसे कई गुने दाम पर खरीदता था, दूसरा योरप का शहरी हिस्सा जो इस कच्चेमाल को बने हुए माल मे परिणत करता था। स्वेजनहर के कारण बम्बई से लन्दन की यात्रा २४ दिन से काम मे सम्भव हो गई। १८८० मे जहाज के इजिन मे विशेष उन्नति के कारण जहाजो की गति और भी बढ गई। यही नही, नये ढग के इजिनो से कोयले की भी बहुत बचत हुई। इस प्रकार अब कोयले की जगह पर जहाजो मे अधिक माल लाना और ले जाना सम्भव हुआ। फिर धीरे धीरे तेल

मे जहाज चलाने की तरकीब भी मालूम हो गई। पहले पहल केवल जगी जहाजो मे ही इसका इस्तेमाल हुआ, किन्तु धीरे धीरे इसका व्यवहार बढ़ गया।

३८—साइकिल, मोटर—आन्तरिक यातायात के क्षेत्र मे साइकिल का प्रयोग न्यूमेटिक टायर के आविष्कार से आम हो गया और १८९६ मे तो इसका प्रचार बहुत हो गया। मोटर गाडी अभी तक प्रयोग की दशा मे थी और फ्रान्स के बाहर इसके विषय मे लोग बहुत कम जानते थे किन्तु इसकी जो बड़ी सम्भावनाएँ है वे लोगो पर खुल चुकी थी। यदि इंगलैड मे मोटर का प्रचलन उस समय होता भी तो उसकी अधिक उन्नति न हो सकती क्योकि नवम्बर १८९६ तक यह कानून था कि रास्ते मे भी यदि कोई यन्त्रचालित गाडी चलाई जाय तो उसके आगे आगे एक आदमी लाल झडी लिए हुए चले जो जनता को तथा दूसरी गाडियो को इस खतरे से आगाह करता जावे। इस विषय मे एक लेखक लिखता है कि १९०३ तक 'टाइम्स' ऐसे अखबार ने मोटर का मजाक उडाते हुए लिखा था कि माना कि मोटर चल रहे है किन्तु इनके आने से बग्घी गाडियो मे क्या कुछ कमी हुई है। इस बात को सभी जानकार जानते है कि लन्दन नगर मे इस समय बग्घी गाडी केवल अजायबघर मे ही देखी जा सकती है। मोटर से आज यात्री ले जाने के अतिरिक्त माल ढोने और सब तरह के काम लिये जाते है। भारत ऐसे देश के लिए तो मोटर लारियॉ बहुत उपयोगी है, क्योकि जिन जगहो मे रेल की पहुँच नही है, वहॉ उनकी पहुँच है।

जिन देशो मे कोयला नही है उन देशो को भी घबराने की जरूरत नहीं, मानो यह बात कहने के लिए ही बिजली की शक्ति का आविष्कार हुआ है। हम एक अध्याय मे बता चुके है कि बिजली से क्या क्या लाभ है। हमने यो तो यान्त्रिक उन्नति का सक्षिप्त इतिहास दे दिया किन्तु इसके दौरान मे उन वैज्ञानिक आविष्कारो का थोडा सा वर्णन करना आवश्यक है जो समय समय पर होते रहे और जिनके कारण व्यावहारिक आविष्कार सम्भव हुए।

३९—रोजर बेकन और ल्योनार्डो विञ्ची—हमारे विश्लेषण के अनुसार विज्ञान की तो उसी समय सृष्टि हुई जब मनुष्य मनुष्य हुआ यानी जब मनुष्य ने शरीर के बाहर की किसी चीज़ की सहायता से अपने जीवनक्रम को पहले से आसान कर लिया, किन्तु आधुनिक विज्ञान का प्रवर्तन पॉच सौ वर्ष से पुराना

नही हैं। मध्ययुग मे यानी आधनिक युग के पहले दो व्यक्तियो का नाम प्रमुख-रूप से हमारे सामने आता है। एक रोजर बेकन (१२१४-१२९२) और ल्योनार्डो विन्ची (१४५१–१५१९)। रोजर बेकन वैज्ञानिक भावना से ओत-प्रोत थे। उन्होने लोगो से यह कहा कि ज्ञान प्राप्त करने का उपाय विचारों की उडान नही बल्कि निरीक्षण प्रयोग तथा पुनर्निरीक्षण है। उनकी ये बाते धार्मिको को भला कब पसन्द आती, इसलिए फ्रासिसकन सम्प्रदाय के जनरल ने उनकी किताबों की निन्दा की, और इस प्रकार उनका अधिक प्रभाव न पड सका। रही ल्योनार्डो की बात सो वे एक सर्वतोमुखी प्रतिभा से युक्त व्यक्ति थे। विज्ञान, कला, साहित्य, यत्रशास्त्र सभी उनके निकट आभारी है। सुप्रसिद्ध इतिहास लेखक हेलेम ने उनके ज्ञान के विषय मे लिखा है कि उनका ज्ञान करीब-करीब अति प्राकृतिक था। इतिहास मे बहुत कम व्यक्ति ऐसे हुए है जो इस प्रकार सभी तरह की प्रतिभाओ के आधार रहे हो। वे जानते थे कि यदि अपने सारे ज्ञान को प्रकाशित करे तो उनका क्या हाल होगा, इसलिए उन्होंने अपनी अधिकतर चीजे अप्रकाशित रक्खी और मरने के बाद ही वे आविष्कार जनता के सामने आये। यत्रशास्त्र के क्षेत्र मे उनका सबसे बडा दान यह था कि उन्होने आर्कमिडिस के विस्मृत आविष्कार का पुनरुद्धार किया और उस पर बहुत उन्नति की। ल्योनार्डो ने लिवर को एक ऐसे यत्र का रूप दे दिया कि वह आमतौर से इस्तेमाल करने योग्य हो गया। आज जल से बिजली उत्पन्न कर कितना काम चलता है, किन्तु जलशक्ति विद्या (Hydraulics) के प्रथम प्रवर्तक वही थे। यो तो बारूद का आविष्कार सबसे पहले चीन मे हुआ बतलाया जाता है, किन्तु यूरोप मे मारकसग्रिकस (Marcus Graecus) ने आविष्कार किया। उन्ही ने ब्रिचलोडिग बन्दूक का आविष्कार किया। इसी तरह उन्होने चल-चक्र (waterwheel), खानो मे काम आनेवाले औजारो तथा तरह-तरह के अन्य औजारो का आविष्कार किया। वाट के पहले ही ऐसा मालूम होता है कि भाप की शक्ति से वे परिचित थे और चुम्बक का काम भी वे जानते थे। ल्योनार्डो के आविष्कार इतने विविध तथा महान है कि एक शब्द मे हम यो कह सकते है कि मानो मध्ययुग को जो कुछ देना था, उनके जरिये उसने उसे विज्ञान के वर्तमान युग को दिया।

४०—पृथ्वी का गोल होना प्रमाणित—निकोलस क्युजेन्स ने (१४०१-१४६४) खुल्लमखुल्ला यह कहा कि पृथ्वी चपटी नही है जैसा लोग समझते है, और अपनी धुरी पर घूमती है। कोलम्बस (१४४७-१५०६) और वास्कोडिगामा १४६९-१५२४) के विश्व पर्यटन से यह विचार फैला। १५१९ मे मैगलन (ने जो सारे विश्व की प्रदक्षिणा की उससे निर्विवाद सिद्ध हो गया कि पृथ्वी गोल है। इस प्रकार पहली वार के प्रयोग से एक बहुत पुराना कुसस्कार, जिसका धर्म ने समर्थन किया था, टूट गया। यह एक बहुत बड़ी बात थी, क्योकि अब लोगों को यह सन्देह करने का अवकाश मिल गया कि जो वात धर्मयाजकगण कहते है वह हमेशा अकाट्य सत्य ही होती है, यह वात नही है। यही से धार्मिक विश्वासों के नीचे से जमीन धसकने लगी और विज्ञान तथा धर्म के अन्दर की खाई प्रतिदिन बढती ही गई। अति आधुनिक काल मे इस खाई को पाटने के लिए जो चेष्टाएँ हुई है, उनका वर्णन हम आगे यथास्थान करेंगे।

४१—सूर्य सिद्धान्त प्रमाणित—पैरासेलसस (१४९३-१५४१) तथा वैन हेल्येन (१५७७-१६४४) ने कहा कि आप्त वाक्य तथा पुस्तके प्रकृति के अध्ययन मे कोई प्रमाण नही है। इसके लिए तो एकमात्र उपाय प्रयोग तथा निरीक्षण है। इटली के नेपल्स नामक शहर मे टेलेसियो (१५०८-१५८८) ने एक एकेडेमी की स्थापना प्राकृतिक घटनाओ के प्रयोगात्मक अध्ययन के लिए की। मोतैनीम (१५३३-१५९२) और सेवकेज (१५६२-१६३२) ने कठमुल्लापन का कावला सन्देहवाद से किया और सहिष्णुता पर जोर दिया। फ्रान्सिस वेकन (१५६१-१६२६) ने मध्ययुग के दुर्गुणो का दिग्दर्शन किया किन्तु इन सवसे कही महत्त्व-पूर्ण कार्य पोलैंडा के भिक्षु कोपरनिकस (१४७३-१५४३) ने किया। १५४३ मे उनकी युगान्तकारी पुस्तक "आकाशमार्ग की क्रान्ति पर" निकली[१]। उसको उन्होने तैतीस वर्ष के कठिन परिश्रम से लिखा था। हम वता चुके है कि किस प्रकार कोपरनिकस ने पृथ्वी के चारो ओर ग्रह-उपग्रहो के घूमने का सिद्धान्त काट दिया और इस प्रकार धार्मिक जगत् मे तहलका मचा दिया। धर्म पर

---

१. Philosophic and scientific retrospect—A wolf (outline of modern knowledge

अवकी वार एक और जवरदस्त प्रहार हुआ। जिममे वह तिलमिला उठा। मच तो यह है कि कोपरनिकम अपने आविष्कारो के वैज्ञानिक प्रमाण को प्रकाशित नही करना चाहते थे किन्तु जव एक उच्च धार्मिक व्यक्ति मोमवर्ग ने उनको मजबूर किया और उनका पृष्ठपोषण किया तव वे वडी अनिच्छा मे अपने आविष्कार सार्वजनिक रूप मे रखने को तैयार हुए। फिर भी वचत की दृष्टि से भूमिका मे उन्होने लिख ही दिया कि यह ग्रन्थ केवल एक अनुमान के रूप मे लिखा जा रहा है। सन्देह नही कि ऐसा उन्होने केवल पादरियो के हाथ से वचने के लिये किया था। वाद को यह पता चला कि ऐमा उन्होने स्वय नही लिखा था, वल्कि उनके एक हितैषी ने उनके वचाव की दृष्टि मे यह वात जोड दी थी।

४२—शरीर की अनात्मवादी व्याख्या—वेमालियस (१५१५-१५६४) न इसी प्रकार 'मानवीय शरीर का गठन' नामक पुस्तक (यह भी कोपरनिकस की महान् पुस्तक की तरह १५४३ मे प्रकाशति हुई थी) लिखकर शरीर विज्ञान के लिए वहुत अच्छी नीव डाली। इसमे उन्होने शरीर को अति प्राकृतिक या ग्रह-उपग्रहो की शक्तियो मे परिचालित न वताकर शरीर के अन्दर की वस्तुओ के साथ पारस्परिक सम्वन्धयुक्त वतलाया। कहना न होगा कि इसमे भी धर्म को चोट लगी, क्योकि शरीर का जो वर्णन लिखा गया था उसमे आत्मा वेचारे का कही पता नही था।

गैलिलियो के विपय मे भी हम पहले सक्षेप मे लिख चुके है। उन्होने कोपरनिकस के सिद्धान्त का समर्थन किया।

४३—टाइकोव्राहे का समन्वयात्मक सिद्धान्त—टाइकोव्राहे (१५४६-१६०१) ने आकाग निरीक्षण को और भी वारीकी तक पहुँचा दिया। उन्होने यो तो वहुत सुन्दर वैज्ञानिक यत्रो का प्रयोग किया और निरीक्षण मे कई सूक्ष्म वाते निकाली किन्तु उन्होने अजीव तरीके से इम प्राचीन सिद्धान्त का कि पृथ्वी के चारो ओर सूर्य आदि घूमते है और यह जो नवीन सिद्धान्त था कि पृथ्वी सूर्य के चारो ओर घूमती है—इनके वीच एक समझौता कराकर यो वताना चाहा कि 'सूर्य और चन्द्र पृथ्वी की ओर घूमते है किन्तु दूसरे सब ग्रह सूर्य के चारो ओर घूमते है'। ए० उल्फ ने लिखा है कि सम्भव है इस सिद्धान्त का तिपादन उन्होने उन लोगो को दष्टि मे रखकर किया था जो एकाएक नवीन क्रान्तिकारी

सिद्धान्त को अपनाने के लिए तैयार नही हो सकते थे और उनके लिए एक बीच की मंजिल की जरूरत थी, किन्तु यह बात हम लोगो को जँचती नही है।

४४—**केपलर**—केपलर (१५७१-१६३०) एक गरीब सरायवाले के लड़के थे। उनका बचपन गरीबी और अज्ञान मे बीता था। केपलर बाद को टाइकोब्राहे के सहायक के रूप मे काम करने लगे। वे काम कर ही रहे थे कि टाइकोब्राहे मर गये। टाइको की मृत्यु के बाद उनके इकट्ठे किये हुए सारे मसाले तथा तथ्य उनके हाथ लगे और उन्होने उनकी व्याख्या करनी शुरू की। उन्होने ग्रहो की गति, पथ इत्यादि के सम्बन्ध मे कई महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो का आविष्कार किया। सम्राट् रुडल्फ ने उनको आश्रय दिया था किन्तु सम्राट् के मरने के बाद ही पादरियो ने उनका निर्यातन शुरू किया। हम लिख चुके है कि कैसे अपने आविष्कारो के लिए उनकी वृद्धा माता को धर्म के इन ठेकेदारो ने कष्ट दिया और जेल भेजा।

४५—**न्यूटन का मध्याकर्षण सिद्धान्त**—न्यूटन (१६४२-१७२७) उसी साल पैदा हुए जिस साल गैलिलियो मरे। न्यूटन ने जो सबसे बड़ा आविष्कार किया वह था मध्याकर्षण, जिसका अर्थ यह है कि भूत का प्रत्येक कण एक दूसरे को आकर्षित करता है। इसका उन्होने नियम भी बतलाया। इस प्रकार ग्रह की गतियो का प्रश्न भी हल हो गया और बेचारे ईश्वर वहाँ से भी भगाये गये। ये आविष्कार बहुत महान् है, किन्तु इसी शताब्दी मे कई और आविष्कार हुए जो बहुत महत्त्वपूर्ण है।

४६—**प्राणविज्ञान प्राकृतिक सिद्धान्त पर स्थापित**—प्राणविज्ञान मे जो सबसे बड़ा आविष्कार इस शताब्दी मे हुआ, वह हार्वे का आविष्कार था जिसमे रक्त के घूमने का प्रयोगात्मक प्रमाण दिया गया था। वैसालियस ने जिस प्राकृतिकता का राज्य शरीर (१५४३) मे स्थापित करने की चेष्टा की थी, उसका विस्तार इस प्रकार हो गया और प्राण-विज्ञान अब अति प्राकृतिक आधार से उतर कर प्राकृतिक क्षेत्र मे आ गया।

४७—**आलोक-सम्बन्धी नये आविष्कार**—स्नेल ने १६२१ मे आलोक के प्रतिफलन (refraction of light) सिद्धान्त का आविष्कार किया। डेस्कार्टे ने आलोक की व्याख्या चलमान कणाओ (particles) की तुलना

पर करने की चेष्टा की। रोमेर ने १६७६ मे आलोक की गति का आविष्कार किया। न्यूटन ने श्वेत आलोक के सयुक्त चरित्र के आविष्कार पर अपने प्रयोग पहले ही किये थे। ह्युगेन्स ने आलोक के तरग सिद्धान्त (undulatory theory) का आविष्कार किया। गणित मे भी बहुत से महत्वपूर्ण आविष्कार हुए। इसी शताब्दी मे दूरवीक्षण, अणुवीक्षण, वैरोमीटर थरमामीटर तथा अणुमापक (micrometre १६३९ मे Gascoigne द्वारा) बने।

४८—हेरशेल के आविष्कार—हेरशेल (१७३८-१८२२) ने १७८१ मे एक नये ग्रह का आविष्कार किया जिसके दो और उपग्रह थे। अब तक ज्योतिष-शास्त्र शनि तक सीमित था, किन्तु इस आविष्कर से ज्ञात-जगत् और भी विस्तृत हो गया। साथ ही उन्होने ८०० जुड़ूवे नक्षत्रो का आविष्कार किया और उनके सम्बन्ध मे यह भी पता लगाया कि वे एक दूसरे के चारो तरफ माध्याकर्षण के नियमानुसार घूमते है। इस प्रकार यह मालूम होगा कि माध्याकर्षण का नियम सूर्यमडल के आगे भी लागू है। साथ ही उन्होने २००० नेवुला (विकसमान जगत्) का पता लगाया जो उनके कथनानुसार विकास की विभिन्न मजिलो मे थे[१]।

४९—लापलास—चन्द्र-सूर्य आदि की गति के सम्बन्ध मे जो अब तक ज्ञान था उसको लापलास ने अपनी पुस्तक 'आकाश की यत्र विद्या' (celestial mechanics) मे पद्धतिगत रूप से लिख दिया। साथ ही उन्होने सूर्य-मडल की उत्पत्ति की व्याख्या की पहली कोशिश की। कहना न होगा कि यह व्याख्या प्रचलित धर्म के बिलकुल विरुद्ध थी। इसमे यह कहा गया था कि धुरी पर घूमती हुई और सकुचित होती हुई चमकीली गैस से जो टुकडे छिटक गये उन्ही के जमे हुए रूप ग्रह है। बाद को इस सिद्धान्त मे परिवर्तन हुए।

५०—पदार्थविज्ञान में नये आविष्कार—पदार्थविज्ञान के क्षेत्र मे यद्यपि इस सदी मे न्यूटन की तरह कोई महान् व्यक्तित्व पैदा नही हुआ फिर भी रम्फोर्ड के प्रयोगो ने यह साबित कर दिया कि उत्ताप गति का ही एक रूप है, हाक्सबी ने १७०५ मे प्रयोगो से यह प्रमाणित किया कि आवाज़ हवा पर निर्भर है। हाक्सबी ने साथ ही बिजली के सम्बन्ध मे कुछ महत्त्वपूर्ण आविष्कार किये।

---

१ Ibid, p 32

५१—इस युग के अन्य आविष्कार—प्राणविज्ञान मे भी बफन (१७०७–१७८८) ने जीवन स्वभाव तथा कौन कहाँ पैदा होते हैं, इसके सम्बन्ध मे निरीक्षण पर अवलम्बित सुन्दर वर्णन दिये। लिनियस (१७०७–१७७८) ने पौधो के वर्गीकरण के उन्नततर तरीके का प्रयोग किया जिसमे अनुसन्धान का कार्य कुछ आसान हो गया। इसी प्रकार स्टाल (१६६०–१७३४), ब्लैक (१७२८–१७९९), प्रिस्टले (१७३३–१८०४), शेले (१७४२–१७८६) आदि ने रसायनशास्त्र मे कई आविष्कार किये। शेषोक्त ने उस गैस का आविष्कार किया जो बाद को आक्सीजन कहलाई। लावासियर (१७४३–१७९४) ने इसी पर क्षारीकरण (calcination) की व्याख्या की।

५२—गेटे, हटन, जेनर—जर्मन महाकवि गेटे ने इसी सदी मे वैज्ञानिक न होते हुए भी 'पौधो का परिवर्तन' नामक एक पुस्तक लिखकर विकासवाद के आम विचार लोगो मे फैलाये है। हटन ने (१७२६–१७९७) भूगर्भ विज्ञान की नीव डाली और जेनर ने (१७४९–१८२३) टीका लगाने का आविष्कार करके रक्षात्मक चिकित्साशास्त्र का प्रवर्तन किया, साथ ही मनुष्य जाति का बड़ा भारी उपकार किया।

५३—१९वी सदी के आविष्कार-हेल्महाल्टस, लार्ड केल्विन—१८४६ मे नैपचून नामक ग्रह का आविष्कार हुआ। १९वी सदी मे विज्ञान की इतनी उन्नति हुई कि उसका वर्णन सक्षेप मे भी करना मुश्किल है। फिर भी दो एक महत्त्वपूर्ण आविष्कारो के नाम यहाँ दिये जाते है। हेल्महाल्टस ने उत्तापगतिशास्त्र (Thermodynamics) के प्रथम नियम का आविष्कार किया यानी उन्होने यह आविष्कार किया कि सारी प्रकृति मे उत्ताप और शक्ति (energy) एक दूसरे मे परिवर्तित हो सकती है, और वे सुरक्षित है। लार्ड केल्विन ने इसके दूसरे नियम का आविष्कार किया यानी उन्होने कहा कि 'उत्ताप अपने से किसी शीतलतर वस्तु से उष्णतर वस्तु मे नही जा सकता। चूँकि बराबर उष्णतर वस्तु से शीतलतर वस्तु मे उत्ताप का जाना जारी है, इसलिए विश्व के उत्ताप का समानीकरण होता जा रहा है। इससे यह अनुमान किया गया कि विश्व एक ऐसी हालत की ओर जा रहा है जब सारा जगत् एक उत्ताप हो जायगा और काम के लिए कोई भी उत्ताप प्राप्त न हो सकेगा। चूँकि यह प्रकृति पीछे

को नहीं लौट सकती, इसलिए इडिगटन ने बाद में जाकर यह कहा कि भूत से भविष्यकाल को जानने का भौतिक मानदण्ड केवल यही है।'

५४—१९वी सदी में विद्युत्-सम्बन्ध में आविष्कार—विद्युत् के विषय मे १९वी शताब्दी मे बहुत से आविष्कार हुए। इन आविष्कारको मे Oeısted (१८२०) आम्पेर, फाराडे, नायमान और मैक्समवेल का नाम उल्लेख योग्य है। डाल्टन (१७६६-१८४४) ने यह कहा कि प्रत्येक प्राथमिक उपादान विशेष प्रकार के ऐटमो (otoms) से बना हुआ है। इसके वजन मे विशेषता होती है और बराबर ऐटमो का रासायनिक सयोग होता रहता है। इस सम्बन्ध मे उनके सब सिद्धान्त बाद को माने नही गये, किन्तु उन्होने जो रुख अपने अनुसन्धान को दिया उसके पश्चात् आविष्कार का कार्य सरल हो गया।

५५—डारविन के पहले विकासवाद की अवस्था—यो तो १९वी शताब्दी मे, जैसा बतलाया गया है, विज्ञान के सभी क्षेत्रो मे बहुत उन्नति हुई किन्तु जिस क्षेत्र मे सबसे युगान्तकारी आविष्कार हुए वह था प्राणविज्ञान का क्षेत्र। विकास-वाद का विचार कोई नया नही है और १८वी शताब्दी के अन्त तक ही बहुत से लोगो ने इसको अनमान रूप ` जान लिया था। लार्ड मनबड्डो (Monboddo, १७१४–१७९९) इस अर्थ मे अपने समय से पहले थे कि उन्होने मनुष्यो और बन्दरो के बीच एक निर्दिष्ट सम्बन्ध का होना बतलाया था। इस सदी मे विकास-वाद एक अनुप्रेरणायुक्त उडान की जगह से हटकर वैज्ञानिक सिद्धान्त का स्थान लेने ` समर्थ हआ। क्युवियेर (cubier) ने १८२१ म सब तरह के हाथियो (चाहे वे जीवित हो या प्रस्तरीभूत रूप मे पा ` गये हो) के न ूने देकर एक सुन्दर ग्रन्थ प्रकाशित किया। इस पुस्तक ` हाथियो के अलावा अन्य जानवरो पर भी इसी प्रकार से विचार किया गया था और इसमे जो वर्णन थे उनसे कई लोगो ने यह अनुमान लगाया कि आजकल के ोडे पैलीओथीरी (palaeo-there) नामक एक विनष्ट प्राणी से उत्पन्न है। क्युवियेर ने तो डरते-डरते बीच की ज़िलो के विषय मे पूछा था किन्तु उनके समय मे वे न मिल सके। बाद को वे मिल गये। फिर क्युवियेर के आविष्कार से आधुनिक खुरयुक्त जानवरो के पूर्वजो के सम्बन्ध मे कुछ मालूम तो आ ही। इसी के साथ-साथ तुलनात्मक भ्रूण विज्ञान पर भी विचार हुए। वायर ने इस विज्ञान का सूत्रपात

किया था। अनुसन्धानो के वाद उन्होने यह सिद्धान्त निकाला कि प्राणी का विकास एक वर्ग से बहुवर्ग की सृष्टि की प्रक्रिया है। १८२८ मे वायेर इस नतीजे पर पहुँचे कि भ्रूणो से पता चलता है कि प्राणियो की मुख्य किस्मे एक ही उत्पत्ति रखती है। वायेर की मृत्यु के एक या दो साल बाद श्लायेडेन तथा श्वान ने अपना कोष-सम्बन्धी सिद्धान्त प्रकाशित किया जिसमे उन्होने यह कहा कि सब दे तथा प्राणी कोषो के रा बने है। उन्होने यह भी दिखलाया कि जटिल शरीरो से व्यक्तिगत कोष आमतौर पर जीवित होते है, यहाँ तक कि शरीर मे अलग कर दिये जाने पर भी जीवित रह सकते है। १८४३ मे वैरी ने दिखलाया कि कुछ प्रोटोजोआ (आदिमतम तथा निम्नतम प्राणधारी) एक-कोषयुक्त होते है और ये न केवल गतिशील है बल्कि आत्मसहायता कर सकते है। विज्ञान की ज्यो ज्यो उन्नति होती गई, सभी वहुकोषयुक्त प्राणी, उनके शरीरतन्तु, इन तन्तुओ के हिस्से इत्यादि सब प्रोटोजोआ तक पहुँचा दिये गये। इस प्रकार कोष-सिद्धान्त ने सब प्राणियो को लाकर एक ही पद्धति डाल दिया, यहाँ तक कि कुछ हद तक पौदे और प्राणी भी एक ही पद्धति मे आ गये। सारे अनुसन्धान को अब एक दूसरी ही दिशा से बहुत जोर मिल गया। वह यह कि १८३० मे लायल ने 'भूगर्भ विज्ञान के सिद्धान्त' नामक पुस्तक मे यह कह दिया था कि 'भूगर्भ के उत्पात के कारण बार बार प्राणियो का सिलसिला टूट जाना' विलकुल गलत बात है। इस प्रकार विज्ञान की हालत डारविन तक पहुँच गई। डारविन के अन्य वैज्ञानिक पूर्वजो इरासमस डारविन, जियोफ्रोवाद सातिलेर, कैन्ट के General natural history of the heavens) और गेटेकी वैज्ञानिक रचनाओ को गिनाया जा सकता है।[१] एक पिछले अध्याय मे हम वतला चुके है कि डारविन ने इस सम्वन्ध मे किस प्रकार अपने वैज्ञानिक सिद्धान्त को एक रूप दिया। यहाँ उसकी पुनरावृत्ति की जरूरत नही।

५६—आइनस्टाइन—बीसवी सदी के विज्ञान मे सबसे प्रमुख नाम जर्मन वैज्ञानिक आइनस्टाइन (ये नात्सी जर्मनी से निकाल दिये गये थे) का है। उन्होने सापेक्षवाद के सिद्धान्त से विज्ञान-जगत् युगान्तकारी क्रान्ति कर दी और यह

---

१. Marxism and modern thought p. 249.

कहा जा सकता है कि न्यूटन, डारविन ऐसे युगान्तकारी वैज्ञानिको मे इनका नाम है। आइनस्टाइन का सापेक्षवाद सिद्धान्त अत्यन्त दुरूहगणित पर अवलम्बित है। स्वय आइनस्टाइन के कथनानुसार दुनिया मे केवल दो सौ व्यक्ति ही ऐसे थे जो उस सिद्धान्त को समझ सकते थे। सम्भव है, इस वीच मे कुछ और लोग इसे समझने के योग्य हो गये हो, किन्तु आम जनता के लिए तो अभी यह सिद्धान्त दुर्वोध ही रहेगा। हाँ उसके आम उपसहारो को साधारण लोग तभी समझे जब वैज्ञानिक लोग उन्हे समझा दे। १९०५ मे आइनस्टाइन ने सापेक्षवाद का सरल सिद्धान्त प्रकाशित किया। जे० डब्ल्यू० एन० सुलिवेन वैज्ञानिक विषयो पर सर्वजन बोध्य तरीके से लिखने के लिए प्रसिद्ध है, उन्होने इस सिद्धान्त का यो वर्णन किया है।

"आइनस्टाइन ने इस सिद्धान्त मे आधारगत तत्व के रूप मे यह बात रक्खी कि आलोक की गति का—चाहे उसे किसी चलमान पद्धति से नापा जाय या अचल पद्धति से एक ही मूल्य होगा। स्पष्ट ही यह सिद्धान्त बहुत असाधारण है। इसमे हमे यह विश्वास करने के लिए कहा जाता है कि आलोक की एक किरण एक चलमान पद्धति को उसी गति से पकड लेगी (overtakes) जिस गति से वह एक स्थितिशील पद्धति को पकडती है—चाहे वह पद्धति आलोक से दूर जा रही हो या आलोक की तरफ आ रही हो। यह कैसे सम्भव है? हम इस प्रकार देखते है कि यह सिद्धान्त केवल शाब्दिक असगतिमात्र नही है यदि हम सोचे कि गति के लिए उसी मूल्य पर पहुँचा दे, तो नापनेवाले यत्रो को कुछ न कुछ हो गया होगा। वास्तव मे यही आइनस्टाइन का कहना है। वे कहते है कि लम्बाई तथा समय-क्षेप (Timelapse) तुलनात्मक धारणाये है, वे द्रष्टा की गति की अवस्था मे बदलती है। दो घटनाओ के बीच (उदाहरणस्वरूप रोशनी की दो चमको) का फासला उन देखनेवालो के लिए एक नही है जो तुलनात्मक रूप से चल रहे है। इन दो घटनाओ के बीच का समयक्षेप भी सभी देखनेवालो के लिए एक नही है। मानो एक आदमी अपने साथ अपना देश और काल लेकर चलता है। उनके औजारो, मानदडो और घडियो के आचरण उनकी गति के साथ बदलते है। स्थितिशील देखनेवाले की दृष्टि से गतिशील देखनेवाले का मानदण्ड सकुचित है और उसकी घडी धीमी चल रही है। जो हो, हम 'स्थितिशील'

मानदण्ड की बात नही कह सकते और यह नही कह सकते कि इसी को तरजीह दी जाय। हमारे व्यवहार के लिए 'स्थितिशील' शब्द बिलकुल मनमाना है। ऐसा कोई भी प्रयोग नही हो सकता जो एक देखनेवाले को दिखलायेगा कि वह निरवच्छिन्न रूप मे विश्राम मे है या नही। ऐसी सभी पद्धतियाँ जो एक तरह की तुलनात्मक गति मे है, एक पैराये पर है। जिसको हमने गतिशील देखनेवाला कहा है वह अपने को विश्राम मे समझ सकता है और उस समय पहले का स्थितिशील देखनेवाला गतिशील देखनेवाला हो जाता है और दूसरे देखनेवाले के दृष्टिकोण मे उसका मानदण्ड सकुचित हो जाता है तथा उसकी घडी धीमी हो जाती है। सच तो यह है कि उनके नाम के औजारो के विषय मे अब वही मन्तव्य किया जाता है जो दूसरेवाले के नाप के यत्रो के विषय मे वह करता है। जैसा हमने कहा है, प्रत्येक देखनेवाला अपने साथ देश और काल लेकर चलता है। सभी देखनेवाले, जो इसी गति के भाग है, उसी प्रकार की देश-गतिकता तथा समयगत (Time and space measurement) नाप करते है। जिन देखनेवालो की गतियाँ विभिन्न है वे समय और देश की विभिन्न नापे करते है। किन्तु नापो की यह विभिन्नता मनमानी नही है। वे सभी इस तथ्य से सयुक्त है कि सभी देखनेवाले आलोक की गति के लिए उसी मूल्य को पहुँचते है यानी प्रतिसेकेड १८,६००० मील। इस तथ्य से हम उस ठीक नियम पर पहुँच सकते है जिसके अनुसार गति के साथ देश और काल की नापे बदलती है।"[१] कही यह गलतफहमी न हो जाय कि देखनेवाले शब्द मे कुछ द्रष्टव्यगत या मनोवैज्ञानिक उपादान का भी हाथ है, सुलीवन ने यह साफ कर दिया है कि हम देखनेवाले शब्द की जगह पर स्वय चालित नाप यत्र (automatic measuring apparatus) रख सकते है।

५७—सापेक्षवाद के कुछ परिणाम—सन १९०८ मे आइनस्टाइन ने सापेक्षवाद के आम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। सुलीवन ने सापेक्षवाद के सरल सिद्धान्त का जो सरल रूप दिया है, उसके उपसहार भी कितने कठिन है यह हम देख चुके है। इसलिए हम केवल उसी विषय पर थोडी सरसरी तौर

१. Physical nature of Universe—Sullivan (outline of modern knowledge p 99.)

कि उनके सिद्धान्तो का आम आदमी के ृष्टिकोण पर कहाँ तक प्रभाव पड सकता है। आइनस्टाइन के सापेक्षवाद के आम सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कण "न्यूनतम प्रतिरोध की पक्ति मे चलता है, यानी वह उसी मार्ग मे चलता है जो उसके लिए सबसे आसान है। यह सच है कि यह ऐसे चलता है मानो एक दूर के पिड (body) मे आकृष्ट हो रहा है, किन्तु वास्तव मे वह उस मध्याकर्पण के क्षेत्र मे है और उसके साथ उस कण का अपनी गति के प्रत्येक मूहूर्त मे उस कण से सम्बन्ध है जो इसको परिचालित करता है। फिर भी जिस मध्याकर्पण की हम आलोचना कर रहे है और जिसके कारण वह कण एक विशेष तरीके से आचरण करता है, उसके गुण (properties) अदृश्य है और उस कण की गति के अलाव। उसका कभी पता ही न लगता।"[१]

५८—क्वांटम, अनिश्यचता सिद्धान्त—हम आगे चलकर देखेंगे कि इन आविष्कारो का क्या निष्कर्प निकाला गया है, और निकाला जा रहा है। बीसवी सदी मे इस प्रकार भौतिक जगत् के सम्बन्ध मे हमारे दृष्टिकोण बहुत कुछ सशोधित हो गये है। आइनस्टाइन ने देश और काल सम्बन्धी हमारे विचारो को वदल दिया है, और मैक्सप्लैक के क्वान्टम सिद्धान्त ने शक्ति (energy) तथा भूत के विषय मे हमारे विचारो मे परिवर्तन किये है। हाइजनवर्ग की अनिश्चयता का सिद्धान्त (Inaetrminacy) कहता है कि एक एलैक्ट्रन की या तो स्थिति होगी या गति होगी, किन्तु दोनो बाते बिलकुल ठीक अर्थ मे नही हो सकती। एक एलेक्ट्रन की स्थिति का जितना ही ठीक पता लगता है उसकी गति की बात उतनी ही स्पष्ट हो जाती है और उसकी गति जितनी स्पष्ट हो जाती है उसकी स्थिति उतनी ही अस्पष्ट होती है। इस अनिश्चयता के सिद्धान्त को बहुत तूल दिया गया है और यह कहा गया है कि प्रकृति मे जितना ही हमारा ज्ञान बढता जा रहा है उतना ही ऐसा मालूम होता है कि चीजे नियम के अन्दर नही आती। अध्यापक श्रेडिगर ने एक सवाददाता के द्वारा पूछे जाने पर यह कहा था "इन छोटी इकाइयो मे से प्रत्येक के सम्बन्ध ऐसा मालूम होता है कि वह किसी निश्चित नियम से स्वतत्ररूप मे अपनी गति का अनुसरण करती है। यदि हम इस सम्बन्ध मे किसी नियमितता या कानून की बात कर

१ Guide to modern thought C E M Joad p 131

सकते है तो वह नियम केवल आँकडेगत नियम (Statistical law) है। जहाँ तक वृहत् वस्तुओ की दुनिया है (Macroscopic) वहाँ तक तो यह नियम लागू है किन्तु क्षुद्रतम इकाइयाँ किसी नियम का पालन नही करती।"[१] श्रेडिगर ऐसा कहते है, किन्तु प्रश्न उठता है कि क्या यह नियमितता हमे इसलिए मालूम पडती है कि हमारे यत्र अभी त्रुटिपूर्ण है और अभी हम चीजो को ढग से नाप नही सकते। बात यह है कि पहले जो चीजे नियमित मालूम होती थी वे धीरे धीरे नियम के अन्दर आती गई है, फिर यह कहना कहाँ तक उचित होगा कि प्रकृति के निम्नतम क्षेत्रो मे कोई नियम नही है। फिर इसी अनिश्चयता से यह कहा गया है कि स्वतत्र इच्छा है भी या नही, इत्यादि। केवल पेशेवर धार्मिको ने ही इस सिद्धान्त का फायदा नही उठाया बल्कि इस प्रकार अपअर्थ करने मे स्वय वैज्ञानिको ने भी हाथ बटाया है। सच तो यह है कि यह अनिश्चयता कहाँ तक दृश्यमान है और कहाँ तक यत्रो की न्यूनता के कारण है इत्यादि बाते अभी निर्णीत नही हुई। आइनस्टाइन वैज्ञानिक होने के साथ ही व्यक्तिगत जीवन मे बहुत बडे धर्मवादी है, उनका कहना है कि यह सिद्धान्त "केवल सामयिकरूप मे अज्ञान का शरणगृह (Temporary asylum of ignorance) है। वे समझते है कि जल्दी ही विज्ञान के क्षेत्र मे कार्यकरणवाद का राज्य स्थापित होगा।"[२]

५९—भूत की आधुनिक धारणा—अति आधुनिक विज्ञान ने भूत की धारणा मे बहुत सशोधन हुआ है। भूत के सम्बन्ध मे यह जो पुरानी धारणा थी कि भूत कोई ऐसी चीज है जिसको हम छू सकते है, देख सकते है और जो देश (Space) मे पडा बिखरा है, वह लुप्त हो गई उसकी जगह पर अब भूत की जो धारणा आई है, वह बहुत ही स्पष्ट है। हम पहले ही बता चुके है कि १९वी सदी मे डाल्टन ने भूत को ऐटम से बने हुए रूप मे वर्णन किया था और ऐटम अत्यन्त छोटी कठिन ठोस गोली के रूप मे परिकल्पित होते थे। ऐटम शब्द का अर्थ ग्रीक मे अविभाज्य था। ३५ या ४० साल पहले तक यह समझा जाता था कि ऐटम के बाद कोई और विभाजन सम्भव नही है किन्तु यह ज्ञात हुआ

---

१ Quoted in Ibid p. 85.

२. Recently and temporary philosophy by A. woolf (Outlinesof modren knowledge p. 590.

कि उसको विभक्त किया जा सकता है, जिसे हम वैज्ञानिक भाषा में टुकड़े टुकड़े करना कह सकते हैं।[१] सब ऐटमों के एक ही आकार नहीं होते। यदि एक लाख ऐटम सटाकर रक्खे जायँ तो उनकी चौड़ाई एक सिगरेट के कागज के बराबर होती है। धूल के बहुत छोटे कण में करोड़ों ऐटम होते हैं।[२] विशुद्ध ऋणात्मक विद्युत् के ऐटम एलेक्ट्रन कहलाते हैं। अब तक एलेक्ट्रन अविभाज्य समझा जाता है। सब से हल्का ऐटम हाइड्रोजन का है और इसलिए सबसे हल्का धनात्मक से भरा हुआ (charged) ऐटम हाइड्रोजन का है। जितने तरह के उपादान हैं, उतने तरह के ऐटम हैं। जितनी चीजों को हम जानते हैं वे सभी ऐटमों के संयोग से बनी होती हैं। मैक्सप्लैंक का यह आविष्कार कि हम चाहे जिस छोटे परिणाम में (radiant energy) क्षणशील शक्ति को नहीं पा सकते बल्कि radiation की छोटी इकाइयाँ होती हैं और जब भी आलोक का क्षण होता है उनमें एक या अनेक इकाइयाँ रहती हैं। इसी इकाई को क्वाटम कहा जाता है। जो हो ,क्षणशील शक्ति की इकाई का विशेष गुण है कि वह सब प्रकार के क्षणों के लिए निश्चित तथा निर्णीत आकार का नहीं है।[३] संक्षेप में मैक्सप्लैंक का क्वाटम सिद्धान्त यही है। सबसे जटिल यूरेनियम के ऐटम में कोई दो सौ एलेक्ट्रन २३८ प्रोटेन सारभाग में १४६ एलेक्ट्रन और सारभाग के बाहर ९२ ग्रह की तरह एलेक्ट्रन होते हैं, और सबसे हल्के हाइड्रोजन के ऐटम में धनात्मक विद्युत् का एक प्रोटेन और उसके चारों तरफ घूमता हुआ बिलकुल बराबर भार (charge) का एक एलेक्ट्रन होता है। ऐटम को इस प्रकार एक गोली के रूप में सोचने के बजाय यह सोचना उचित है कि उसके बीच में एक सारभाग (nucleus)है, जिसके चारों तरफ एलेक्ट्रन घूम रहे हैं। इस प्रकार ऐटम अधिकांश में शून्य देश रह जाता है और जो कुछ भी रहता है, विद्युत् मात्र है। हाइड्रोजन का सारभाग इतना महत्वपूर्ण है कि उसको प्रोटोन का नाम दिया गया है।[४] ऐटम के बीच का हिस्सा जिसको हमने सारभाग कहा है, प्रोटोन है और उसके चारों ओर विभिन्न दूरी पर तथा अनियमित घेरे में

---

१. Atom by E N de Andrade p 2
२. Atom by E N de Ca Andrade p. 21.
३. Atom by E N. de ca Andrade p. 62
४. Ibid p 71

(O1bit) एलेक्ट्रन घूमते है। प्रत्येक प्रोटोन मे धनात्मक विद्युत् का भार (charge) प्रत्येक घूमनेवाले एलेक्ट्रन के ऋणात्मक भार के बिलकुल बराबर है। हेलियम ऐटम मे चार प्रोटोन का सारभाग रहता है और उसके साथ ऋणात्मक विद्युत् के दो एलेक्टन रहते है। इसके अतिरिक्त दो और ग्रह (pla nata1y) की तरह एलेक्ट्रन सारभाग के चारो तरफ घूमते है।[१]

६०—भूत की अतिआधुनिक धारणा और भौतिकवाद—इस प्रकार भूत का जो रूप रह गया है, वह विद्युत की तरगो मे जाकर खतम होता है। कहा गया है कि इससे अब भौतिकवाद की कोई गुँजाइश नही रह जाती, और अब तो केवल अन्त तक सम्बन्धो के अलावा कुछ नही रहता। अध्यापक प्लैक ने सूलीवन से एक बातचीत मे कहा था "मै चेतना को नीव की चीज समझता हूँ। मै भूत को चेतना मे निकला हुआ समझता हूँ। हम चेतना के परे नही जा सकते। हम जिस किसी चीज के बारे मे बाते करते है तथा जिस किसी चीज को अस्तित्व-रूप मे रखते है उसमे चेतना की जरूरत है।"[२]

---

1 Guide to mode1n thought, p. 82.

२, Ibid p 96

सदाचार

१—'शरीफ' मार्क्सवादी मार्क्स में सदाचार का विवेचन नही पाते—अक्सर ऐसा कहा जाता है कि मार्क्सवाद मे अर्थात् मार्क्सवादी समाजविज्ञान मे सदाचार का कोई स्थान नही है। जिन लोगो ने मार्क्सवाद का कुछ अध्ययन किया है, ऐसे लोगो मे भी कुछ लोग यह कहते रहते है कि मार्क्सवाद मे इस पहलू पर कोई रोशनी नही डाली गई है। ऐसे लोग मार्क्सवाद के निन्दक नही है। उनका केवल इतना कहना है कि इस विषय मे चूँकि मार्क्सवाद मे कुछ कहा नही गया है, इसलिए बुर्जुआ सदाचार की धारणाओ को मानते हुए चलने की आजादी होनी चाहिए। ऐसे 'मार्क्सवादी गण' इस बात मे अपरिचित है कि यदि किसी मतवाद मे सदाचार की धारणा का केवल ऊपरी तौर पर नही बल्कि बिलकुल आधारगत रूप मे विश्लेषण तथा विवेचन किया गया है, तो ऐसा मार्क्स के समाजशास्त्र मे ही किया गया है। इसलिए वे जिस स्वतन्त्रता की माँग अपने लिए कर रहे है, और ऐसा वे केवल इस शका मे कर रहे है कि धर्म, ईश्वर तक तो गनीमत है, किन्तु यदि उन्होने बुर्जुआवर्ग से यह कह दिया कि उनके सदाचार को भी वे नही मानते या उसे निरवच्छिन्न नही मानते, तो वे 'शराफत' से ही खारिज कर दिये जायँगे, और उनका स्थान दुराचारियो मे हो जायगा।

२—एगेल्स लिखित एन्टीड्यूरिंग सदाचार पर दो अध्याय—यह बात अवश्य ठीक है कि स्वय मार्क्स ने इस विषय मे कोई ग्रन्थ नही लिखा। सच तो यह है कि इसकी कोई आवश्यकता नही समझी गई। क्योकि मार्क्स के समाजविज्ञान मे सदाचार मनुष्य की उच्च विचारधाराओ—जैसे धर्म, कला, विज्ञान आदि की तरह का एक अगमात्र माना गया है। मार्क्स के पास इतना अधिक काम था कि वे केवल आधारगत पहलुओ पर ही लिख सके। फिर भी उनके ग्रन्थो मे इस सम्बन्ध मे यत्रतत्र बिखरे हुए स्पष्ट निर्देश मौजूद है। स्वय मार्क्स ने अपने नाम मे प्रचारित मतवाद के आर्थिक और ऐतिहासिक पहलू के अतिरिक्त किस विषय पर लिखा? उनके अनन्यहृदय मित्र तथा सहक्रान्तिकारी एगेल्स ने ही

तो उन सब विषयो पर पुस्तके लिखी जिस पर मार्क्स अपने विचारो को विशद रूप से लिख नही पाये। राष्ट्र, परिवार, दर्शन, धर्म, कानून, शिक्षा, सदाचार इन सब विषयो पर एंगेल्स ने अपने और अपने मित्र के विचारो को स्पष्ट करते हुए पुस्तके लिखी। एगेल्स की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'एन्टी ड्यूरिंग है, जिसको उन्होने हेर आयगेन ड्यूरिंग नामक एक अध्यापक के गलत मतवादो का खण्डन-मडन करते हुए लिखा था। इस पुस्तक का नवाँ और दसवाँ अध्याय, जो छपे हुए बत्तीस पृष्ठो के होते है, मुख्यत सदाचार पर ही है।

३—सदाचार पर स्वय मार्क्स—एगेल्स ने इस पुस्तक मे सदाचार पर क्या कहा है, इस पर हम आगे आयेगे, किन्तु पहले हम यह देखे कि स्वय मार्क्स ने सदाचार पर कभी कुछ कहा है या नही, और कहा है, तो क्या कहा ? सदाचार समाज की आर्थिक नीव पर खडे ऊपरी ढाँचे अर्थात् राष्ट्र, धर्म, परिवार का स्वरूप, कानून, सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणा, दर्शन इत्यादि का एक अगमात्र है। मार्क्स ने बार बार अपनी पुस्तको मे विशेषकर 'अर्थशास्त्र की आलोचना' की भमिका मे स्पष्ट रूप से कहा है कि मनुष्य की सारी विचारधाराएँ समाज की उत्पादन-प्रणाली से अनिवार्य रूप से सम्बद्ध है। उक्त भूमिका मे विचारधाराओ के अन्य सब अगो के साथ सदाचार का नाम नही गिनाया गया है, किन्तु इस पुस्तक से ग्यारह साल पहले ही उन्होने 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो मे इस बात को स्पष्ट कर दिया था। उस समय भी विरोधीगण साम्यवादियो पर यह आरोप लगाते थे कि ये लोग चूँकि न तो धर्म मानते है और न इस बात पर विश्वास करते है कि परिवार प्रथा अर्थात् पुरुष प्रधान और पुरुष की व्यभिचार सम्बन्धी अधिकारमूलक परिवार प्रथा चिरस्थायी है इसलिए ये लोग बहुत ही दुर्नीति परायण तथा पतित श्रेणी के लोग है।

४—कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो में सदाचार पर विवेचन—इस पर अन्तर्राष्ट्रीय मजदूरवर्ग की ओर से मार्क्स और एगेल्स ने उचित क्रोध के साथ लिखा था—'परिवार प्रथा को हटा देने की बात ! ओह इसके नाम पर बडे से बडे गरम पन्थी भी साम्यवादियो के दुर्नीतिपूर्ण प्रस्ताव पर चौक उठते है। यह जो वर्तमान परिवार प्रथा है, यानी पूँजीवादी परिवार प्रथा, इसका आधार किस बात पर है ? पूँजी तथा व्यक्तिगत मुनाफे पर न ? पूर्ण विकास की अवस्था मे यह प्रथा केवल

पूँजीवादियो मे ही मोजूद है, किन्तु इसका दूसरा पहलू सर्वहारावर्ग मे, परिवार प्रथा के व्यावहारिक अभाव मे तथा सार्वजनिक वेश्यावृत्ति के रूप मे मौजूद है। पूँजीवादी परिवार प्रथा' का विनाश ऊपर बताये हुए उसके दूसरे पहलू के विलोम के साथ ही नष्ट हो सकता है। इन दोनो पहलुओं का नाश तभी होगा जब पूँजी का विनाश हो जायगा। क्या आप हम पर इसका दोष लगाते है कि हम माँ-बाप द्वारा बच्चो के शोषण को दूर करने की इच्छा रखते है । परिवार और शिक्षा के बारे मे तथा माँ-बाप और बच्चो के पवित्र सम्बन्ध के बारे मे पूँजी-वादियो की चिकनी-चुपडी बाते इसलिए और भी असहनीय हो जाती है कि आधुनिक उद्योग-धन्धे के प्रभाव के कारण सर्वहारा से सब पारिवारिक बन्धन टूट चुके है, और उनके बच्चे केवल लेन-देन और परिश्रम के साधनो मे परिवर्तित हो जाते है।

'इस पर तमाम पूँजीवादीवर्ग एक साथ चीखकर कह उठता है कि हम साम्यवादीगण स्त्रियो को वेश्याओ मे परिणत करना चाहते है। पूँजीवादीवर्ग अपनी बीबी मे एक उत्पादन का साधनमात्र देखता है। वह सुनता है कि उत्पा-दन के साधनो का सार्वजनिक उपयोग होना चाहिए और स्वाभाविक रूप से वह इस नतीजे के सिवा और किसी नतीजे पर नही पहुँचता है कि इसी प्रकार स्त्रियो को भी सार्वजनिक रूप से सबकी सम्पत्ति बना दिया जायगा। उसको यह सन्देह भी नही होता कि वास्तविक बात जिसे हम चाहते है, यह है कि औरतो की जो वर्तमान हैसियत केवल एक उत्पादन के साधन की तरह है उसको दूर कर दिया जाय। इसके अलावा पूँजीवादीवर्ग इस बात पर जो बहुत धार्मिक क्रोध दिखलाता है कि साम्यवादीगण खुल्लमखुल्ला स्वीकृति रूप वे आमवेश्या-वृत्ति स्थापित करने जा रहे है, इससे बढकर हास्यजनक बात और कुछ हो नही सकती। साम्यवादियो को वेश्यावृत्ति का परिवर्तन करने की कोई भी जरूरत नही है। वह तो बहुत पुराने जमाने से चली आ रही है। हमारे ये पूँजीवादी केवल इस बात पर खुश नहीं है कि सर्वहाराओं की बहू-बेटियाँ उनके वश मे है। इस सम्बन्ध मे मामूली वेश्याओ की बात को तो हम जाने देते है, किन्तु पूँजीवादी, आपस मे एक दूसरे की बीबी को फँसाने मे अधिक से अधिक आनन्द लेते है। पूँजीवादी पद्धति का विवाह वास्तविक रूप मे सार्वजनिक बीबियो की

पद्धति मात्र है, इसलिए साम्यवादियो पर जो अधिक से अधिक दोष लगाया जा सकता है, वह यह है कि ढोग से ढकी हुई इस पद्धति के बजाय वे एक खुली हुई, कानून से स्वीकृत, आम स्त्री की प्रथा चलाना चाहते है। इसके अलावा यह स्पष्ट है कि वर्तमान उत्पादन पद्धति के पैर उखड़ते ही यह जो आमतौर से औरतो को रखने की प्रथा है, यानी जो सार्वजनिक तथा छिपी हुई वेश्यावृत्ति है, यह भी नष्ट हो जायगी।'

इसके बाद वे बिलकुल विषय पर आते हुए कहते है—"दूसरो की ओर से कहा जायगा, 'बेशक धार्मिक, सदाचार सम्बन्धी, दार्शनिक और कानून सम्बन्धी विचार ऐतिहासिक विकास के दौरान मे परिवर्तित हुए है, किन्तु धर्म, सदाचार, दर्शनशास्त्र, राजनीति और कानून बराबर इन परिवर्तनो के रहते हुए भी अपने अस्तित्व को कायम रखते रहे है।' और भी कहा जा सकता है कि 'कुछ चिर-स्थायी सत्य है जैसे स्वतत्रता और न्याय इत्यादि, जो सब समाजो के लिए साधारण है, किन्तु साम्यवाद तो इन चिरस्थायी सत्यो को भी हटा देता है। यह सारे धर्मों तथा सदाचारो को हटा देता है, जब कि इसका काम इन्हे एक नये आधार पर स्थापित करना चाहिए था। इस प्रकार जितने भी ऐतिहासिक तजर्बे हुए है वह उनके विरुद्ध जाता है।'

"दूसरो के इन सारे अभियोगो का क्या मतलब निकलता है? प्राचीन समाज के सारे इतिहास का सार यही था कि वर्गसघर्ष का विकास हुआ। हाँ ये सघर्ष विभिन्न समय मे, विभिन्न रूप मे, अवश्य आये किन्तु चाहे जिस रूप मे सघर्ष हुए हो, प्राचीन युग की यह एक विशेषता रही है कि समाज का एक हिस्सा दूसरे हिस्से का शोषण करता रहा, इसलिए इसमे कोई आश्चर्य नही कि प्राचीन युगों की सामाजिक विचारधारा चाहे उसके अन्दर देखने के लिए कितनी भी विभिन्नता और विचित्रता रही हो—कुछ आम विचार तथा सामान्य रूपो के अन्दर घूमती रही। इनका सम्पूर्ण विनाश तभी हो सकता था जब वर्गविरोध ही सम्पूर्ण रूप से खतम हो जाय।"

५—जर्मन विचारधारा में सदाचार पर मार्क्स—कम्युनिस्ट मेनिफेस्टों मे अभिव्यक्त ये विचार काफी स्पष्ट है। इसमे यह साफ कर दिया गया है कि कोई चिरन्तन सदाचार की धारणा मार्क्स एगेल्स को मान्य नही है। इसलिए

स्वाभाविक है कि जो लोग मार्क्स के मतवाद मे Absolute या निरवच्छिन्न मूल्यो की तलाश करते है, उन्हे निराशा हो ी। हम इस विपय का और स्पष्टीकरण करेगे, किन्तु ऐसा करने के पहले यह वता दे कि कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो के भी पहले मार्क्स और एगेल्स ने १८४५-४६ मे 'जर्मन विचारधारा' नामक अपनी पुस्तक मे अर्थात् अपनी प्रथम रचना मे ही सदाचार के सम्वन्ध मे अपनी धारणा स्पष्ट कर दी थी। उसमे उन्होने कहा था कि 'विचारो, धारणाओ तथा चेतना की उत्पत्ति पहले प्रत्यक्ष रूप से भौतिक क्रिया तथा मनुष्यो के भौतिक आदान प्रदान यानी यथार्थ जीवन की भापा के साथ सन्नद्ध है मनुष्यो के दिमागो मे जो ऊल-जलूल धारणाएँ उठा करती है, वे भी उनकी भौतिक जीवन प्रक्रिया के आवश्यक पूरक है। उनको प्रयोगात्मक रूप मे दिखाया जा सकता है कि वे भौतिक आधारो से बँधे हुए है। सदाचार, धर्म, अध्यात्मविद्या तथा चेतना के अन्य स्वरूपो के लिए अव स्वतत्रता का आभास भी नही रह जाता।' इत्यादि। इस पूरे अध्याय मे ही इस विषय का स्पष्टीकरण किया गया है। लम्बे उद्धरण देने से कुछ फायदा नही, इसलिए हमने उद्धरण का साराश मात्र दे दिया।

६—क्या कोई चिरस्थायी सदाचार है? कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो मे मार्क्स एगेल्स ने यह जो कहा है कि आर्थिक नीव के ऊपर जो ऊपरी ढाँचा खडा होता है, उसी का अग सदाचार की धारणा भी है, तथा आर्थिक नीव के परिवर्तन के साथ साथ ऊपरी ढाँचे मे—हमारे विवेच्य क्षेत्र मे सदाचार मे परिवर्तन होता है, इसका क्या अर्थ है? आदिम काल से लेकर अव तक कई समाज पद्धतियाँ स्थापित हुई है, और फिर विलुप्त हो गई है, किन्तु उन सभी समाज पद्धतियो मे उदाहरणार्थ चोरी करना हमेशा ुरा समझा गया है। क्या इससे यह उपसहार नही निकलता कि भले ही प्रत्येक समाज-पद्धतिगत परिवर्तन के साथ साथ सदाचार सम्वन्धी कुछ छोटी मोटी धारणाएँ बदलती रहे, किन्तु कुछ आधारगत धारणाएँ ऐसी है जो सव क्रान्तियो के बीच अपरिवर्तित रही है? इसका उत्तर मार्क्स एगेल्स ने कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो मे दे दिया, किन्तु चूँकि किसी उदाहरण के साथ इस वात को नही कहा, इसलिए उसके कुछ स्पष्टीकरण की आवश्यकता है।

७—एगेल्स का उत्तर—एगेलस ने एन्टीड्यूरिंग मे इसका स्पष्टीकरण किया

है। वे लिखते हैं कि इसमे कोई आश्चर्य की वात नही कि सभी परिवर्तित पद्धतियो मे चोरी करना वुरा समझा गया है। 'जिस समय से जगम वस्तुओ मे वैयक्तिक सम्पत्ति की धारणा का विकास हुआ, उस समय से सभी समाजो मे जिनमे इस धारणा का उदय हुआ उनमे ऐसे सदाचार तथा कानून की उत्पत्ति होना स्वाभाविक था, जिसमे यह कहा गया—Thou shalt not steal या 'अस्तेय परम धर्म है'। क्या इससे यह कानून एक चिरन्तन सदाचार सम्वन्धी कानून हो जाता है ? कदापि नही। जिस समाज मे चोरी का उद्देश्य ही खतम कर दिया जा चुका है, जिसमे केवल पागल ही चोरी कर सकते है, उसमे सदाचार का शिक्षक यदि चोरी के विरुद्ध यह कह कर आवाज उठावे कि अस्तेय परम धर्म है, तो उसकी कितनी हँसी उडाई जायगी ?'१

८—मजदूर क्यो न चोरी करें? अस्तेय को परम धर्म साम्यवादीगण चिरन्तन सदाचार के रूप मे नही मानते ,साथ ही वे उत्पादन मे वैयक्तिक सम्पत्ति के विरोधी है तो क्या इससे यह अर्थ निकलता है कि कोई मजदूर किसी पूँजी पति के यहाँ चोरी कर सकता है ? नही। वात यह है,कि इस प्रकार की चोरी करने से जिस पद्धति को नष्ट करना है वह तो ज्यो की त्यो बनी रहेगी, और घाटे मे मजदूरवर्ग की वर्ग एकता टूटेगी। वुखारिन ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है 'साम्यवादीगण चोरी की निन्दा इसलिए करते है कि जो चोरियाँ पूँजीपतियो के यहाँ व्यक्तिगत लाभ के उद्देश्य से की जायँगी, उनके परिणाम स्वरूप एक सार्वजनिक सग्राम की सृष्टि तो होगी नही, इसके विपरीत मजदूर चोरी के कृत्य के द्वारा पेटी वर्जुआ मे परिणत हो जायगा। घोडा चुरानेवाले और ठग वर्गसघर्ष मे लडते हुए नही दिखलाई देंगे, चाहे वे सर्वहाराओं की ही सन्तानें क्यो न हो। यदि सर्वहाराओ मे से अधिक सदस्य चोर हो जायँ तो वर्ग ही विखर कर शक्तिहीन हो जायगा, इसी लिए साम्यवादीगण चोरी के विरुद्ध है। ऐसा होने मे उनका उद्देश्य वैयक्तिक सम्पत्ति की रक्षा करना नही है, वल्कि अपने वर्ग की एकता की रक्षा करना है, तथा अपने वर्ग को उन 'नैतिक पतन' तथा 'विखरने' से वचाना है, जैसा विना किये सर्वहारावर्ग कभी अपने वर्गसग्राम मे विजयी नही हो सकता।२

१. A. D. E. p. 89. २. H. M. p. 158-9.

९—वुर्जुआ के अस्तेय में और साम्यवादी के अस्तेय में मौलिक प्रभेद—इस पर वर्जुआ दार्शनिक हँसकर कह सकता है कि किसी न किसी तरह तुमने यह तो मान ही लिया कि तुम भी चोरी करने को बुरा समझते हो, यह तुम भले ही मुँह से कहते रहो कि अपनी वर्ग-एकता को कायम रखने के लिए तुम चोरी को घृणित समझते हो। तुम दूसरे शब्दो में उसे एक नैतिक नियम मान रहे हो, और तुम भी हमारी तरह वैयक्तिक सम्पत्ति की पवित्रता को मानते हो। इसके उत्तर मे साम्यवादी साफ साफ कह देगा कि यह उसकी भूल है क्योकि साम्यवाद वैयक्तिक सम्पत्ति अर्थात् पूँजीवादियो की सम्पत्ति की पवित्रता को स्वीकार नही करता। वह इस बात से स्पष्ट है कि साम्यवाद की धारणा मे यह अन्तर्निहित है कि किसी दिन जब सब तैयारी पूरी हो जायगी, उस दिन पूँजीवादियो की सम्पत्ति का लुंठन (expropriation) होगा। expropriation शब्द कदाचित् चोरी शब्द की तरह अभद्र नही ज्ञात होता, किन्तु आखिर इसकी अन्तर्निहित विचारधारा यही है न कि जो वस्तु दूसरे की सम्पत्ति के रूप मे वर्तमान समाज-पद्धति मे स्वीकृति है उसको, बिना माँगे, जबरदस्ती अपने वर्ग के अधिकार मे कर लिया जाय। इसलिए यह स्पष्ट है कि साम्यवादी के मन मे चोरी के प्रति जो वितृष्णा है वह घुमाव-फिराव के साथ वैयक्तिक सम्पत्ति की पवित्रता की स्वीकृति नही है, बल्कि इसके विपरीत है जिससे वैयक्तिक सम्पत्ति की पवित्रता को सफलता के साथ तोडा जा सके; सफलता के साथ पूँजीवादियो के सब कारखानो को—उनके एक आध पुर्ज़े को या भागो को नही—ले लिया जा सके और इस कार्य मे जो कुछ बाधा उत्पन्न हो उसका जबरदस्ती मुकाबिला किया जा सके, उसी की तैयारी है। इस रूप मे गुलाम के मालिक, सामन्तवादी प्रभु तथा पूँजीवादी के अस्तेय और सर्वहारा-वर्ग के अस्तेय की अन्तर्गत वस्तु मे पूरी भिन्नता आ जाती है। एक का उद्देश्य वैयक्तिक सम्पत्ति और पूँजी की रक्षा है, और दूसरे का उद्देश्य है उसका सफलतापूर्वक विनाश।

१०—वर्ग सदाचार—इन्ही बातो को अच्छी तरह समझ कर एगेल्स कहते है कि 'हम इसलिए उस चेष्टा को ही नामजूर करते है जो हमारे ऊपर किसी तरह कोई नैतिक सकुचित सिद्धान्त इस रूप मे लादती है कि यह चिरन्तन और

अपरिवर्तनीय ऐसे नैतिक नियम है जो इतिहास को तथा जातियो के बीच प्रभेदो के बावजूद लाघकर अपने दिव्य प्रकाश मे खडे है। हम इसके विपरीत यह कहते है कि अन्तिम विश्लेषण मे सारे नैतिक नियम उस आर्थिक सोपान की उपज है जिसमे उस विशेष युग मे समाज स्थित है, और चूँकि अब तक समाज वर्ग विरोधो के ज़रिये चलता रहा है, इसलिए सदाचार हमेशा वर्ग सदाचार था। या तो इसने शासक वर्ग के हितो तथा प्रभुत्व का समर्थन किया है, और या ज्योही शोषित वर्ग यथेष्ट शक्तिशाली हो गया, इसने इस प्रभुत्व के विरुद्ध झडा बुलन्द किया है, और शोषितो के भविष्य हितों का प्रतिनिधित्व किया है। इस प्रक्रिया मे मोटे तौर पर सदाचार मे प्रगति हो रही है, इस बात से इन्कार नही किया जा सकता है जैसा कि ज्ञान की सभी शाखाओ मे हुआ है। किन्तु अब तक हम वर्ग सदाचार के परे नही जा पाये है। एक वास्तविक रूप से अखिल मानवीय सदाचार, जिसने वर्ग विरोधों तथा उनकी विरासतो को विचारो मे पार कर लिया है, समाज की किसी एक मजिल मे तभी सम्भव होता है जब उसने न केवल वर्ग असगतियो या विरोधो को पार कर लिया है, बल्कि व्यावहारिक जीवन मे इनको भूल भी गया है।[1]

उद्धृत अश मे एगेल्स का वक्तव्य यह है कि कोई चिरन्तन सदाचार की धारणा का प्रश्न समाज के इस सोपान मे नही उठता। कहा जायगा कि यह तो बहुत ही दुर्नीति पूर्ण बात हुई क्योकि जब सदाचार मे कोई चिरन्तनेता नही हुई तो इसका अर्थ यह है कि जिसका जो जी चाहे वह वही करे। आम तौर से जो 'शरीफ' मार्क्सवादी इस बात को मानकर कि मार्क्सवाद मे सदाचार पर विचार नही किया गया है, उस अश की पूर्ति करने या यो कहिए कि उतने अश तक मार्क्सवाद के अन्दर बुर्जुआ विचारो को घुसाने की चेष्टा करते है, वे इसी शरीफ डर के कारण ऐसा करते है कि उनकी समझ मे चिरन्तन सदाचार की धारणा को न मानना उच्छृङ्खलता की पैरवी करना है। गहराई के साथ देखने पर यह ज्ञात होगा कि इन 'शरीफ' मार्क्सवादियो का यह डर तथा इस डर के द्वारा प्ररोचित होकर मार्क्सवाद को 'शरीफ' बनाने की चेष्टा एक निर्मूल धारणा पर आधारित है।

१. A. D. E. p. 89.

एगेल्स ने तो बिलकुल इसके विपरीत बात कही है। उनका कहना यह है कि सदाचार की धारणा अपरिहार्य रूप से जिस वर्ग के हित मे होती है उसके साथ बँधी होती है। फिर भी इसमे उच्छृङ्खलता की या मनमाना करने की गुँजाइश कहाँ है? इसलिए सदाचार की एक चिरन्तन धारणा को न मानना उच्छृङ्खलता के बिलकुल विपरीत है।

११—अगम्यागमन मूलक सदाचार—मार्क्स के वैज्ञानिक समाज-शास्त्र मे सदाचार को वर्ग के साथ बँधा हुआ बतलाया गया है। स्वाभाविक रूप से ज्यो-ज्यो वर्गो का भाग्य परिवर्तन हुआ, या समाज का वार्गिक सम्बन्ध बदला त्यो-त्यो समाज बल्कि उस वर्ग की सदाचार सम्बन्धी धारणा मे भी परिवर्तन होता गया। इतिहास यही बताता है। आदिम यौथ समाज मे स्त्री और पुरुष मे जो सम्बन्ध थे, वे अब नही रहे। नतीजा यह है कि अब की धारणा मे और तब की धारणा मे जमीन आसमान का फर्क है। सभी जातियो के इतिहासो के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि कभी इस सम्बन्ध मे मनुष्य की धारणाएँ बिलकुल निम्न-पशुवत् थी। कभी मातृगमन और भगिनी-गमन भी उचित समझा जाता था। इस युग की अनुश्रुतियो को साहित्य से बहुत प्रयत्न से मिटाया गया है, फिर भी कुछ उदाहरण रह ही गये है जिनसे हम यह अनुमान कर सकते है कि मातृ-गमन और भगिनीगमन का भी एक युग था। ईरानियो के प्राचीनतम साहित्य मे मातृगमन और भगिनीगमन का उल्लेख मिलता है। पहलवी यश्न, अरदाविराफ की पुस्तक, दिनकर्द, दादिस्तानी दिनिक आदि पुस्तको मे ऐसे उल्लेख है जिनसे ज्ञात होता है किसी युग मे ईरानियो मे ख्वायतदास अर्थात् निकट सम्बन्धियो मे विवाह करने की प्रथा थी। ग्रीक, रोमन, आरमिनियन, अरब तथा चीनी लेखको ने ईरान मे इस प्रकार की प्रथाओ के बाद तक होने का उल्लेख किया है। बाद को ख्वायतदास शब्द का अर्थ, चचा की लडकी से शादी कर दिया गया, किन्तु पहले के युग मे इसका अर्थ कुछ और ही था। बारथलोमी ने यह दिखलाया है कि राजा विस्तास्व की रानी हुतोवासा उनकी बहन थी। हारलेज नामक विद्वान् ने स्पष्ट लिखा है कि ईरान के धर्मशास्त्र के अनुसार जिसे बाद को अगम्यागमन कहने लगे, उस प्रकार की शादियाँ होती थी।

ईसाइयो के Genesis (१९।३०) नामक धर्मग्रन्थ मे ऐसी कहानी आती

है कि महात्मा लूत ने अपनी कन्या के साथ सगंम किया, कम से कम इस काम के लिए उनकी कोई निन्दा नही हुई।

१२---भारतीय आर्यो में भी अगम्यागमन मूलक सदाचार---पुराणो मे भाई और वहन की शादियो के वहुत से उदाहरण है। हम इनके व्योरे मे न जायँगे। जिनको इस सम्बन्ध मे व्योरा जानने की इच्छा हो वे हमारी अन्य पुस्तक, जो विशेषकर नारी तथा विवाह प्रथा के विकास के सम्वन्ध मे है, पढे। उसमे यह भी दिखलाया गया है कि न केवल भगिनीगमन वलिक वेदो मे भी मातृगमन की भी अनुश्रुतियाँ मौजूद है। इस विषय मे व्योरे मे न जाते हुए भी यम, यमी की कहानी को उद्धृत करने का लोभ हम सवरण नही कर सकते। यमी यम की वहन है, किन्तु वह यम से कहती है कि तुम मेरे साथ पति का व्यवहार करो। इस पर यम राजी नही होता। वह मना कर देता है। यम ने कहा, हम-तुम भाई-वहन है, वरुण यह सव देख रहे होगे, अतएव यह नही हो सकता। इस पर यमी क्रुद्ध हो जाती है, और कहती है कि धर्म के विषय मे वढ-वढकर वाते करते हो, किन्तु पहले के युग मे धर्म का क्या रूप था, यह तुम क्या जानो। दूसरे शब्दो मे यमी यम से कहती है कि यह जो नया सदाचार है, इसके अनुसार तुम्हारा हमारा आलिगन भले ही गर्हित समझा गया हो, किन्तु प्राचीन सनातन धर्म के अनुसार इसमे कोई दोष नही है। हमे ज्ञात है कि हिन्दू धर्मशास्त्र मे यम धर्मराज समझे गये है, इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। हो सकता है कि यम ने अपने आचरण के द्वारा भाई-वहन के मैथुन पर समाज द्वारा अभी लगी हुई रोक को दृढ बनवा कर अन्तिम करा दिया। इसी लिए वे धर्मराज समझे गये। सन्देह नही, समाज के इतिहास मे यह एक वहुत वडा अगला कदम था। इसलिए यदि यम धर्मराज समझे गये तो कोई आश्चर्य की वात नही।

१९वी सदी मे मौजूद कुछ आदिम जातियो मे मातृगमन और भगिनी-गमन जीवित प्रथा के रूप मे पाया गया है। यहाँ पर यह स्मरण रहे कि हम जिस मातृगमन और भगिनीगमन की वात कर रहे है, वह एक सामाजिक प्रथा के रूप मे था और है न कि किसी व्यक्ति के चुपके से किये हुए अपराध के रूप मे। शेषोक्त रूप मे तो ये वाते अत्यन्त सभ्य समाजो मे होती पाई गई है,

किन्तु यहाँ सदाचार पर आलोचना के सिलसिले में उन घटनाओ का कोई प्रश्न नही उठता।

१३—वैयक्तिक सम्पत्ति के उदय के साथ नये सदाचार का उदय—मातृ-गमन और भगिनी-गमन के युग के अन्त के वाद वहुत दिनो तक यौथ समाज में दूसरी तरह के यौथ विवाह मौजूद थे। इस युग मे समाज की प्रत्येक स्त्री प्रत्येक पुरुष की पत्नी होती थी। वाद को इसमे गोत्र-सम्वन्धी रोक-टोक हुई, अर्थात् एक गोत्र की स्त्रियाँ किसी विशेष गोत्र के पुरुषो की पत्नियाँ होने लगी। वैयक्तिक सम्पत्ति के उदय तक यह प्रथा कायम रही। समाज का उत्पादन यौथ था विवाह भी यौथ था। जव उत्पादन वैयक्तिक होने लगा तव विवाह तथा स्त्री पुरुष के सम्वन्ध का रूप भी वैयक्तिक हो गया। जव पहले-पहल जोडे की शादी का रिवाज इक्का-दुक्का रूप मे होने लगा तो यौथ समाज के लोग उसको वहुत बुरी दृष्टि से देखने लगे। पुराने सदाचारवाले नये सदाचार को बुरा समझने लगे। इस प्रकार नये और पुराने सदाचार मे जो वहुवर्षव्यापी सग्राम हुआ होगा, उसका इतिहास हमे ज्ञात नही है, केवल कुछ झलक मालूम हो जाती है। जो हो, वैयक्तिक सम्पत्ति और वर्ग-समाज के साथ-साथ आधार-गत रूप से एक नये सदाचार का उदय हुआ। अव चूँकि सामाजिक उत्पादन में नारी का स्थान निकृष्ट हो चुका था, इसलिए नवीन सदाचार मे स्त्री का स्थान भी निकृष्ट हो गया। कहाँ पहले के समाज मे माँ पर लडके लडकियाँ परिचय देती थी (सत्यकाम जाबलि के उपाख्यान मे हम इसके अवशेष को उपनिषद् साहित्य मे पाते है) और कहाँ अब धीरे-धीरे स्त्रियो पर तरह-तरह के वन्धन होने लगे। यद्यपि ऋग्वैदिक युग के सम्बन्ध मे हम यह कह सकते हैं कि उस युग मे स्त्रियाँ अपेक्षाकृत रूप से स्वतन्त्र थी, उस युग मे स्त्रियो को अपने पति चुनने का अधिकार था, फिर भी उसी युग मे विवाह के बाद स्त्रियो की स्वतन्त्रता बहुत कुछ घट जाती थी और उन्हे शायद मकान के एक खास हिस्से मे रहना पडता था।

नये सदाचार मे स्त्रियाँ अब व्यक्ति विशेष की पत्नियाँ होने लगी। स्त्रियो के लिए यह सदाचार हो गया कि वे अपने पति के अतिरिक्त किसी पुरुष का ससर्ग न करो, किन्तु पुरुष के लिए ऐसा कोई निषेध नही रहा। एक तो पुरुष एकाधिक

ववाह कर सकते थ, फिर वे लौडियाँ रख सकते थे। इसके अतिरिक्त इसी युग किसी न किसी रूप मे वेश्याओ का भी उदय हुआ। पुरुष वेश्यागमन भी कर कते थे, और करते थे। आज भी हम वर्ग समाज मे ही है, और स्त्रियो की अवस्था ाज भी पुरुष से निकृष्टतर है। ईसाई देशो या उन देशो मे जहाँ पूँजीवाद का दय पहले-पहल हुआ, पुरुष अब दो स्त्रियो से एक साथ विवाह नही कर सकता, कन्तु पुरुष का व्यभिचार-सम्बन्धी अधिकार सुरक्षित है। प्रत्येक यूरोपीय राज-ानी मे तथा अन्य नगरो मे वेश्याओ की एक पूरी सेना पुरुष के यौन जीवन वैचित्र्य लाने के लिए मौजूद है। यो नीति पुस्तको मे चाहे जो भी लिखा ो, किन्तु यदि एक स्त्री का एक बार भी पैर फिसल जाता है और बात खुल ाती है तो समाज उसे दुराचारिणी करार देता है। उसका जीवन दूभर हो ाता है, किन्तु पुरुष के लिए यह एक मा ूली बात है। यदि पु प का पैर फिसल या तो उसे लोग कतई बुरा नही समझते।

१४—एक ही युग में पुरुष और स्त्री के लिए अलग अलग सदाचार—इस कार हम देखते है कि विभिन्न युग-मे विभिन्न सदाचार रहे। केवल यही नही, क वर्ग के होते हुए भी समाज के उत्पादन मे विभिन्न स्थान तथा हेसियत होने कारण हम यह देख चुके है कि पुरुष और स्त्री के लिए समाज की ओर से भिन्न सदाचार बने है। कुरान शरीफ के अनुसार (स्मरण रहे यह ईश्वरीय ाणी है, किन्तु इसमे सन्देह नही रह जाता कि यह ईश्वर वर्ग समाज के पुरुषो ा ईश्वर है) एक पुरुष एक साथ चार शादियाँ तक कर सकता है। पुरुष के ए स्त्री को तलाक दे देना बात की बात मे सम्भव है, किन्तु यदि पुरुष न चाहे । इसी ईश्वरीय वाणी के अनुसार स्त्री तलाक नही दे सकती। हिन्दुओ मे तो रिस्थिति इससे कही खराब है। अब हिन्दू एक विवाह का कानून शायद बन ाय, किन्तु फिर भी धार्मिक रूप से पुरुष के एकाधिक विवाह मे कोई बाधा ही रहेगी। विधवाओ और विधुरो के साथ पुरुष प्रधान समाज जिस भिन्न कार के सदाचार की आशा रखता है, वह सुपरिचित है। केवल इतना कह ो से ही बात साफ नही होती कि वर्ग समाज मे सदाचार की धारणा वर्गमूलक । यह तो आधारगत रूप हुआ, किन्तु इसी के साथ हम यह देखते है कि वर्ग जो मूल है अर्थात् सामाजिक उत्पादन से सम्बन्ध, इसमे प्रभेद के कारण दृश्य-

मान एक वर्ग के सदस्य पुरुष और स्त्री के लिए सदाचार की धारणा मे भिन्नता आ जाती है। इस भिन्नता के आधार मे भी जैसा कि हम बता चुके है, वही सामाजिक सम्बन्ध बल्कि और भी स्पष्ट रूप से कहा जाय तो स्त्री और पुरुष का उत्पादन-सम्बन्ध मौजूद है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर हमे किसी चिरन्तन सदाचार का पता नही लगता, इतना तो स्पष्ट हो गया, और यह भी साफ हो गया कि विभिन्न सदाचारो के आधार मे क्या सम्बन्ध स्थित है।

१५---**हिन्दू धर्मशास्त्र में अस्तेय चिरन्तन धर्म नही**---अब हम यह देखे कि वैज्ञानिक समाज-शास्त्र के अतिरिक्त अन्य मतो मे भी कही कथित चिरन्तन सदाचार का कुछ पता है या नही। चोरी करने के उदाहरण को ही लिया जाय। शास्त्रो मे इसे अस्तेय कहा है। धर्म के प्रधान लक्षणो मे अहिसा, सत्य आदि के साथ अस्तेय को भी गिनाया गया है। किन्तु इस अस्तेय को भी चिरन्तन सदाचार नही माना गया। अत्यन्त कट्टर धर्मशास्त्रो मे भी अस्तेय को सभी हालतो मे धर्म नही माना गया। लोकमान्य तिलक लिखते है 'यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि न्यायपूर्वक प्राप्त की हुई किसी की सम्पत्ति को चुरा ले जाने या लूट लेने की स्वतन्त्रता दूसरो को मिल जाय तो द्रव्य का सचय करना बन्द हो जायेगा, समाज की रचना बिगड जायगी।' दूसरे शब्दो मे लोकमान्य तिलक बिलकुल साफ यह कह रहे है कि चोरी करना वैयक्तिक सम्पत्ति के मूल मे कुठाराघात करना है। इस कथन मे कितनी ऋजुता के साथ इस धर्म के पीछे की असली बात सामने आ जाती है। किन्तु क्या धर्मशास्त्र इस अस्तेय को भी एक चिरन्तन सदाचार के रूप मे मानते है? नही? लोकमान्य तिलक की ही ज़बानी सुना जाय। वे कहते है "परन्तु इस नियम के भी अपवाद है। जब दुर्भिक्ष के समय मोल लेने, मजदूरी करने या भिक्षा माँगने से भी अनाज नही मिलता, तब ऐसी आपत्ति मे यदि कोई मनुष्य चोरी करके आत्मरक्षा करे तो क्या वह पापी समझा जायगा? महाभारत (शान्ति-पर्व १४१) मे यह कथा है कि किसी समय बारह वर्ष तक दुर्भिक्ष रहा, और विश्वामित्र पर बहुत बडी आपत्ति आई, तब उन्होने किसी चाण्डाल के घर से कुत्ते का मास चुराया और वे इस अभक्ष्य भोजन से अपनी रक्षा करने के लिए प्रवृत्त हुए। उस समय चाण्डाल ने विश्वामित्र को 'पच पच-नखा भक्ष्या' इत्यादि शास्त्रार्थ बतलाकर अभक्ष्य-भक्षण और वह

भी चोरी मे न करने के विषय मे बहुत उपदेश किया। परन्तु विश्वामित्र ने उसको डाँटकर कहा 'अरे, यद्यपि मेढक टर्र-टर्र करते है तो भी गाय पानी पीना बन्द नही करती। चुप रह। मुझको धर्म-ज्ञान बताने का तेरा अधिकार नही है। व्यर्थ अपनी तारीफ न कर।' उसी समय विश्वामित्र ने यह भी कहा कि यदि जिन्दा रहेगे तो धर्म का आचरण कर सकेगे, इसलिए धर्म की दृष्टि से मरने की अपेक्षा जीवित रहना श्रेयस्कर है। मनु ने अजीगर्त, वामदेव आदि अन्यान्य ऋषियो के उदाहरण दिये है, जिन्होने ऐसे सकट के समय इस प्रकार के आचरण किये है।"

१६—हाब्स और मिल भी अस्तेय को चिरन्तन सदाचार नही मानते— लोकमान्य तिलक ने इसी सिलसिले मे हाब्स के Leviathan से उद्धृत कर यह दिखलाया है कि हाब्स के अनुसार भी किसी कठिन अकाल के समय जब अनाज मोल न मिले या दान भी न मिले, तब पेट भरने के लिए यदि कोई चोरी या साहस कर्म करे, तो उसका यह अपराध माफ समझा जाता है। लोकमान्य ने और भी दिखलाया है कि हितवाद के प्रसिद्ध प्रतिपादक जान स्टुअर्ट मिल ने तो यहाँ तक लिखा है कि ऐसे समय चोरी करके अपना जीवन बचाना मनुष्य का कर्त्तव्य है।[१]

इस प्रकार कट्टर हिन्दू धर्मशास्त्र के अनुसार भी चोरी ऐसे मामले मे भी कोई ऐसा निरवच्छिन्न नियम नही प्राप्त होता जिसका किसी भी हालत मे लघन न किया जा सके। फिर जीवन के सम्बन्ध मे या उसके विषय मे चिरन्तन, चिरस्थायी मूल्यो की खोज करनेवालो का वस्तु जगत् मे अस्तित्व कहाँ रह जाता है। 'शरीफ' हिन्दू धर्मशास्त्रो मे भी ऐसे मोटे मामलो मे निरवच्छिन्न चिरन्तन सदाचार के प्रतिपादन की चेष्टा नही है।

१७—क्या सम्पत्ति चोरी नहीं है? अब हम इसी चोरी के दूसरे पहलू को देखें। सबसे मौलिक बात यह है कि चोरी किसे कहते है। क्या रात के समय ताला तोडकर या सेध मारकर किसी के घर मे घुसकर बिना माँगे उसके सामान को उठा ले जाना ही चोरी है? गुलाम का मालिक गुलाम से जो काम लेता

---

१ गी० र० पृ० ३९

ह यानी उसे कुत्ते बिल्ली की तरह रूखा-सूखा देकर और साथ-साथ शायद उसके हाजमे को बढाने के लिए उसे डडो से पीटकर जो काम लेता है क्या वह चोरी नही है? सामन्तवादी प्रभु किसान गुलाम से अपने खेत पर जो काम या बेगार लेता है, या पूँजीवादी मजदूर को मुश्किल से जीवन धारण के लिए पैसे देकर उसके श्रम से जो अतिरिक्त कार्य और नाफा उत्पन्न करता है, क्या यह चोरी नही है? प्रुधो ने तो यहाँ तक कह दिया था कि सभी सम्पत्ति चोरी है। प्रुधो क्यो, उससे भी पहले ब्रिसो ने इन्ही शब्दो मे १७८९ के पहले ही सम्पत्ति का वर्णन किया था।[१] इन लोगो के अनुसार तो सम्पत्तिवाले चोर या डाकू है। यदि गुलाम अर्द्ध गुलाम और मजदूर की दृष्टि से देखा जाय तो इसमे सन्देह नही कि इनके मालिको की सम्पत्तियाँ चोरी के माल से बनी है। कहा जायगा कि यह धारणा बहुत एकदेशीय है, हाँ, यह एकदेशीय है, किन्तु है बिलकुल सत्य। इससे यह ज्ञात हुआ कि वर्ग-समाजो मे विशेष विशेष प्रकार की चोरियाँ शराफत मे शामिल है, और इन चोरियो को चोरी नही समझा जाता।

१८—बुर्जुआ समाज में चोरी का अपराध—सम्पत्तिवाले लोग चोरी से बहुत घबडाते है, किन्तु उनकी सम्पत्ति ही दूसरो के शोषण और लूट-खसोट पर आधारित है। इस बात को जाने दिया जाय कि ये सम्पत्तिवाले लोग कहाँ तक चोर है। हम इस प्रश्न को दूसरे, पहलू से देखे। यदि हम सम्पत्तिवालो के कानून की किताबो को देखे तो ज्ञात होगा कि सम्पत्ति के विरुद्ध अपराधो को वे कितना महत्त्व देते है, इँगलैंड के गृह-विभाग ने अपराधो का एक वर्गीकरण किया है। यह कोई आदर्श वर्गीकरण नही है, किन्तु इस वर्गीकरण से पता लगता है कि समाज के शासक वर्ग को अपनी सम्पत्ति की कितनी फिक्र है। अपराधो के छः विभाग किये गये है—

(१) व्यक्ति के विरुद्ध अपराध।

(२) जबरदस्ती के साथ सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध।

(३) बिना जबरदस्ती के सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध।

---

१ M E C p 171

था, फिर फौजदारी कानून के क्षेत्र मे जो सुधार हुए उसके फलस्वरूप अपराधियो के साथ अब नरमी का व्यवहार होने लगा। वह शासको की परोपकारी वृत्ति मे नही, बल्कि दूसरे ही कारण से। सजा देनेवाले न्यायाधीश तथा उनके जूरियों को धीरे-धीरे ऐसा मालूम होने लगा कि छोटे-छोटे अपराधो के लिए फाँसी देना अन्याय है, किन्तु कानून यही कहता था कि यदि अपराध किया है तो फाँसी अवश्य होगी। इसलिए न्यायाधीशो और जूरियो ने एक दूसरा ही रास्ता ढूँढ निकाला। अदालत मे कोई भी इस प्रकार का अपराधी आता तो अक्सर सज़ा देनेवाले न्यायाधीश और जूरी उसे पक्का अपराधी जानते हुए भी निरपराध करार देते थे, और उसे मुकदमे से बरी कर देते थे। इस पर सम्पत्तिवालो मे बडी घबराहट हुई। उन्होने देखा कि जूरी लोग सत्य के प्रति लिए हुए हलफनामे को तोड देते है, जानबूझकर अपराधियो को छोड देते है, तब उन्होने कोशिश कराकर कानून बदलवा दिया और बहुत से अपराधो को प्राणदण्ड वाले अपराधो मे निकलवा दिया। १८३७ तक जालसाजी के लिए फाँसी हो सकती थी किन्तु उल्लिखित कारण से शायद किसी जालसाज को मुश्किल से सजा होती थी। तब उसी साल लन्दन के बैंक-वालो ने सरकार को एक दरख्वास्त दी। इसमे उन्होने इस अपराध को प्राणदण्ड वाले अपराधो मे से निकलवा देने की सिफारिश की।[१]

हमे यहाँ पर अपराधो और सजाओ का इतिहास नही देना है, किन्तु चोरी के सिलसिले मे जो कुछ भी इतिहास हमने दिया उससे स्पष्ट हो गया कि दण्ड-विज्ञान मे जो कुछ भी उन्नति हुई वह सम्पत्तिवालो की उदारता के कारण नही बल्कि स्वार्थो के कारण हुई। रहा यह कि सम्पत्तिवाले चोरी को कितना बुरा समझते है, यह इससे स्पष्ट है। यदि उनका बस चलता तो चोरी को वे प्राणदण्डवाले अपराधो मे ही रक्खे रहते।

२०—धर्मशास्त्रो में अहिसा भी चिरन्तन धर्म नही—धर्मशास्त्रो मे चोरी की तरह अहिसा मिथ्याभाषण आदि के सम्बन्ध मे कोई सार्वकालिक तथा सार्व-देशिक नियम नही मिलता। कट्टर से कट्टर तथा अत्यन्त अपरिवर्तनवादी धर्म या धार्मिक सदाचार भी इनके विषय मे विभिन्न देश तथा विभिन्न काल मे विभिन्न

१ वही पृ० ३९

नियमो का होना दबी आवाज मे मानते है। कहना न होगा कि जहाँ एक बार यह मान लिया गया कि विभिन्न देश और विभिन्न काल मे सदाचार की धारणा भिन्न हो सकती है, वही सदाचार के मूल उत्स के रूप मे कोई चिरन्तन नियमावली नही रह जाती।

हिन्दू धर्मशास्त्रो मे अहिसा को पहला स्थान दिया गया है। यो तो अहिंसा की व्याख्या मे किसी प्राणधारी के मन को भी न दुखाना आ जाता है, किन्तु आमतौर पर कम से कम नरहत्या न करना तो इसमे आही जाता है। ऐसा होते हुए भी इस नियम के सैकडो अपवाद माने गये है। फिर एकबार हम लोकमान्यतिलक के ग्रन्थ की सहायता लेगे। वे लिखते है "कल्पना कीजिए कि हमारी जान लेने के लिए या हमारी स्त्री अथवा कन्या पर बलात्कार करने के लिए अथवा हमारे घर मे आग लगाने के लिए या हमारा धन छीन लेने के लिए कोई दुष्ट मनुष्य हाथ मे शस्त्र लेकर तैयार हो जाय, और उस समय हमारे पास हमारी रक्षा करनेवाला कोई न हो तो उस समय हमे क्या करना चाहिए। मनु कहते है, ऐसे आततायी या दुष्ट मनुष्य को अवश्य मार डाले, यह विचार न करे कि वह गुरु है, बूढा है, बालक है या विद्वान् ब्राह्मण है। शास्त्रकार कहते है कि ऐसे समय हत्या करने का पाप हत्या करनेवाले को नही लगता, किन्तु आततायी मनुष्य अपने अधर्म से ही मारा जाता है। यज्ञ मे पशु का वध करना वेद ने भी प्रशस्त माना है । महाभारत मे अर्जुन कहते है 'इस जगत् मे ऐसे ऐसे सूक्ष्म जन्तु है जिनका अस्तित्व यद्यपि नेत्रो से देख नही पडता, तथापि तर्क से सिद्ध है (अब तो अणुवीक्षण यंत्र मे हम इन प्राणियो को रेगते हुए देख सकते है)—लेठी ऐसे जन्तु है कि यदि हम अपनी आँखो के पलक हिलावे तो उतने ही से उन जन्तुओ का नाश हो जाता है।' फिर यदि सब लोग हिसा छोड दे तो क्षात्र धर्म कहाँ और कैसे रहेगा ? यदि क्षात्रधर्म नष्ट हो जाय तो प्रजा की रक्षा कैसे होगी ? साराश यह कि नीति के सामान्य नियमो से ही सदा काम नही चलता। नीति-शास्त्र के प्रधान नियम अहिसा मे भी कर्तव्याकर्तव्य का सूक्ष्म विचार करना ही पडता है। अहिसा धर्म के साथ क्षमा, दया, शान्ति आदि गुण शास्त्रों मे कहे गये है, परन्तु सब समय शान्ति से कैसे काम चलेगा ? सदा शान्त रहनेवाले मनुष्यो के बालबच्चो को भी दुष्ट लोग हरण

किये विना नही रहेगे। इमी कारण का उल्लेख करके प्रहलाद ने अपने नाती राजा वलि से कहा था 'सदैव क्षमा करना अथवा क्रोध करना श्रेयस्कर नही होता,इसलिए हे तात! पडितो ने क्षमा के लिए कुछ अपवाद भी कहे है।"

२१—मिथ्या भाषण भी धर्म हो सकता है—इमी प्रकार सत्य के लिए शास्त्रकारो का कहना था कि हजार अश्वमेध और सत्य की तुलना की जाय तो सत्य ही अधिक होगा। मनु ने सत्य के विषय मे लिखा है 'मनुष्यो के सब व्यापार वाणी से हुआ करते है, एक के विचार दूसरे को बताने के लिए शब्द के समान अन्य साधन नही है। वही सब व्यवहारो का आश्रय स्थान और वाणी का मूल सोता है। जो मनुष्य उसे मलिन कर डालता है अर्थात् जो वाणी की प्रतारणा करता है, वह सब पूंजी की ही चोरी करता है।' इस पर लोकमान्य तिलक यह मन्तव्य करते है "क्या इस बात की कभी कल्पना की जा सकती है कि जो सत्य इस प्रकार स्वयसिद्ध और चिरस्थायी है, उसके लिए भी कुछ अपवाद होगे? परन्तु दुष्टजनो से भरे हुए इस जगत् का व्यवहार बहुत कठिन है। कल्पना कीजिए कि कुछ व्यक्ति चोरो से पीछा किये जाने पर आपके सामने किसी स्थान पर जाकर छिप रहे। इसके बाद हाथ मे तलवार लिए चोर आपके पास आकर पूछने लगे कि वे आदमी कहाँ चले गये? ऐसी अवस्था मे आप क्या कहेगे? क्या आप सच बोलकर सब हाल कह देगे या उन निरपराध मनुष्यो की रक्षा करेगे? शास्त्रो के अनुसार निरपराध जीवो की हिंसा को रोकना सत्य ही के समान महत्त्व का धर्म है। शास्त्रो के ही अनुसार यदि कोई अन्याय से प्रश्न पूछे तो उसका उत्तर नही देना चाहिए। यदि मालूम भी हो तो सिडी की तरह हूँ हूँ करके बात बना देना चाहिए। तो क्या हूँ हूँ करना और बात बना देना एक तरह से असत्य भाषण नही है? महाभारत मे कई स्थानो पर आया है 'न व्याजेन चरेद्धर्मम्' यानी धर्म से बहाना करके मन का समाधान नही कर लेना चाहिए[1]। सब धर्मो का रहस्य जाननेवाले भगवान् श्रीकृष्ण ने ऐसे ही चोरो की कहानी का दृष्टान्त देकर अर्जुन से तथा भीष्म-पितामह ने युधिष्ठिर से कहा था कि यह बात विचारपूर्वक निश्चित की गई है

---

१ गी० र० पृ० ३२

कि विना बोले छुटकारा हो सके तो कुछ भी बोलना न चाहिए और यदि बोलना आवश्यक हो, अथवा न बोलने से कुछ सन्देह होना सम्भव हो, तो उस समय सत्य के बदले असत्य बोलना ही अधिक प्रशस्त है। इसका कारण यह है कि सत्य धर्म केवल शब्दोच्चार के लिए नही है, अतएव जिस आचरण से सब लोगो का कल्याण हो, वह आचरण सिर्फ इस कारण से निन्दनीय नही माना जा सकता कि शब्दोच्चार यथार्थ है।"

२२—ईसाई धर्म को भी चिरन्तन सदाचार मान्य नही—लोकमान्य का गीता रहस्य धार्मिक सदाचार की एक सुन्दर पाठच पुस्तक है। उसी पुस्तक मे लोकमान्य ने हिन्दू धर्म शास्त्रो के अतिरिक्त अन्य धर्मो के भी उदाहरण देकर अपने वक्तव्य को स्पष्ट किया है। लोकमान्य ने दिखलाया है कि केवल हिन्दू धर्म मे ही इस प्रकार के अपवाद स्वीकृत नही है बल्कि ईसा के मुख्य शिष्य पाल भी बाइविल (रोम ३।७) मे कहते है 'यदि मेरे असत्य भाषण से प्रभु के सत्य की महिमा होती है (अर्थात् ईसाई धर्म का अधिक प्रचार होता है) तो उसमे मै पापी क्योकर हो सकता हूँ।' ईसाई धर्म के इतिहासकार मिलमैन भी इस बात को मानते है कि कई वार ईसाई धर्मोपदेशको ने इस प्रकार के आचरण किये है। ईसा-मसीह के विषय मे कहा गया है कि उनकी राय से दो हजार सुअर, जिन पर कहा जाता था भूत चढ गया है, डुवा दिये गये। ईसा के विषय मे यह भी कहा जाता है कि वे कई वार व्यक्तिगत सम्पत्ति के नियमो के विरुद्ध आचरण करते थे, और उनके प्रधान चेलो के विषय मे यह वताया गया है कि वे कई बार दूसरो के खेतो का अनाज ले लिया करते थे। हालवाख और हेलवेसियस ने इन्ही वातो को लेकर ईसाई धर्म का वहुत मजाक उडाया था।[१]

२३—आधुनिक लेखक भी स्थायी सदाचार मूल्य नही मानते—केवल ईसाई तथा हिन्दू धर्मशास्त्रो की वात नही, प्रत्युत आधुनिक लेखको ने भी कई मौको पर झूठ बोलने का समर्थन किया है। 'छोटे लडकों और पागलो को उत्तर देने के समय, इसी प्रकार बीमार आदमियो को (यदि सच वात सुना देने से उनके

१. E. H. M p. 44.

स्वास्थ्य के विगड जाने का भय हो), अपने शत्रुओ को, चोरो को और यदि विना बोले काम न बने तो जो अन्याय से प्रश्न करे उसको उत्तर देते समय अथवा वकीलो को अपने व्यवसाय मे झूठ बोलना अनुचित नही है। मिल के सदाचार शास्त्र सम्वन्धी ग्रन्थ मे इन अपवादो का समावेश किया गया है। इन अपवादो के अतिरिक्त सिजविक अपने ग्रन्थ Methods of Ethics मे लिखते है कि यद्यपि सब लोगो को सच बोलना चाहिए, तथापि हम यह नही कह सकते कि जिन राजनीतिज्ञो को अपनी कार्रवाई गुप्त रखनी पडती है वे तथा व्यापारी ग्राहको के साथ हमेशा सच ही बोला करे। किसी अन्य स्थान मे वे लिखते है कि यही रियायत पादरियो और सिपाहियो को मिलनी है।[१] इस प्रकार अन्य अनेक आधुनिक लेखको ने सभी नैतिक नियमो मे अपवाद बतलाया है। यह द्रष्टव्य है कि अच्छे से अच्छे शरीफ बुर्जुआ लेखक वकील, डिप्लोमेट या राज-पुरुष, पादरी, सिपाही, डाक्टर आदि कई पेशे के लोगो को करीव करीव हर समय झू बोलने का अधिकार दे देते है। सबसे आश्चर्य यह है कि इस सूची मे पादरी भी मौजूद है। स्मरण रहे, ये सभी लोग समाज के स्तम्भ होते है। ऐसी हालत मे बुर्जुआ सदाचार मे या निरवच्छिन्नता अथवा स्थायी मूल्य कहाँ रह गये ?

२४--प्रेगमेटिकवाद और फासिवाद में सत्य--राइखस्टाइग अग्निकाण्ड-- इस युग मे प्रेगमेटिकवाद पाश्चात्य मे अर्थात् पूँजीवादी देशो मे बहुत आदृत हुआ है। इस मतवाद के अनुसार सत्य वही है जिससे बोलनेवाले को फायदा रहे। प्रेगमेटिकवाद अति आधुनिक बैंक पूँजीवादी वर्ग का दर्शन शास्त्र है। इसलिए सत्य की यह परिभाषा कुछ आश्चर्यजनक नही है। फासिवाद ने प्रेगमेटिकवाद मे स्वीकृत सत्य की इसी परिभाषा को ग्रहण किया था, और उनका सारा प्रचार-कार्य झूठो के ताने-बाने से तैयार होता था। ऐसे ही झूठो मे नार्डिक जाति की प्रधानता तथा Deutsch land uber alles का नारा था। अति आधुनिक इतिहास म जर्मन राइखस्टाग या पार्लियामेट के अग्निकाण्ड का किस्सा बहुत ताजा है। शायद जिन लोगो ने हिटलर, गोरिंग, गोवेल्स की योजना के अनुसार इस कृत्य को किया था, उन्हे मौत के घाट उतार कर हमेशा के

---

१ गी० र० पृ० ३५

लिए उनके मुंह बन्द कर दिये गये थे, और अब तो प्रधान नात्सी नेताओ के मारे जाने के कारण शायद इस किस्से की असलियत को जाननेवाला कोई रह नही गया। फिर भी यह सभी जानते है कि यह अग्निकाण्ड नात्सियो का ही कराया हुआ था। साम्यवादियो को बदनाम करने के लिए तथा उनके दमन करने का एक बहाना ढूंढने के लिए यह महान् दुष्कृत्य किया गया था। इस प्रकार राष्ट्र सूत्रधारो की ओर से एक प्रकाण्ड मिथ्या को इतिहास के रूप मे पेश करने की चेष्टा की गई।

२५ **जिनोविव का पत्र**—इस पर कदाचित् यह कहा जाय कि फासिवादी तो फासिवादी ही थे, सब दुर्गुणो के आधार थे, किन्तु जरा गहराई से देखने पर हम क्या पाते है? हम देखते है कि बड़े बडे प्रतिष्ठित राष्ट्रो ने सत्य का गला हर मौके पर घोटा है। हिटलर के वादे तो इतिहास मे मशहूर है। जब भी वह किसी देश को हडपता था तो फौरन कहता था कि हमारी भूमि सम्बन्धी भूख तृप्त हो गई, अब हमे कुछ न चाहिए। फिर थोडे दिनो बाद वह एक नये मुल्क को दबाता था,

वर्णन किया; और न कुछ बढाया, किन्तु यत्रतत्र उसके शब्द इस प्रकार काट दिये कि उसका लहजा ही बदल गया। जो असली तार था उसको पढकर मोल्टके का चेहरा उतर गया था, किन्तु जब इस परिशोधित तार को पढा गया तो मोल्टके कह उठे 'अब तो इसकी बिलकुल दूसरी ध्वनि हो गई, पहले तो ऐसा मालूम होता था कि बातचीत है किन्तु अब मालूम होता है कि चुनौती के जवाब मे ताल ठोका गया है।' केवल यही नही, बिस्मार्क यह अच्छी तरह समझ गये कि यदि यह तार प्रकाशित हुआ (जैसा कि हुआ, और मध्य रात्रि तक पेरिस पहुँच गया) तो वह साँड के लिए लाल कपडे की तरह साबित होगा यानी युद्धाग्नि को भडका देगा। बिस्मार्क चाहते थे कि युद्ध हो, सेनापति मोल्टके इसके लिए तैयार थे, किन्तु कैसर इससे बचना चाहते थे, अत इस ऐम्स के तार के कारण युद्धाग्नि प्रज्वलित हो उठी।

२७—कूटनीति और सदाचार—आधुनिक क्या, हमेशा से कूटनीति मे झूठ के सिवा सच शायद ही कभी बोला जाता हो। स्मरण रहे कि इस मामले मे भारतीयगण किसी से पीछे नही रहे। ईसा से कई सदी पहले कौटिल्य अपनी पुस्तक मे जो कुछ लिख गये, जिस जिस प्रकार झगडा लगाने, दुश्मन के बल घटाने आदि के सम्बन्ध मे लिख गये, उनसे योरप का मेकियावेली और वर्तमान युग के गेवेल्स कुछ सीख ही सकते थे। कूटनीति झूठ का नामान्तर मात्र है यह बात इतनी आम है कि इसे मनोविज्ञान की प्रामाणिक पुस्तको मे भी मानकर यह कहा गया है कि जिस व्यक्ति मे झूठ की प्रवृत्ति हो, उसे कूटनीति के विभाग मे काम दिया जाय जिससे उसकी पुष्पवृत्ति उदात्त हो। चार्ल्स डबल्यू हेवार्ड ने योरोपीय कूटनीति तर एक बहुत सुन्दर पुस्तक लिखी है। इसमे सभ्य जातियो की कूटनीति सम्बन्धी कार्रवाइयो की पोल खुल जाती है। इसमे दिखलाया है कि कैसे सभ्य देशो की सरकारे लाखो नहीं करोडों रुपये खर्च करती है। वे कूटनीति के नाम से हर प्रकार के असत्य, जालसाजी खुफिया वृत्ति यहाँ तक कि चोरी और डकैती से भी नही चूकती। ऐसी हालत मे इन देशो के दार्शनिको के द्वारा प्रतिपादित चिरन्तन मूल्य क्या मानी रखते है, यह स्पष्ट हो जाता है। लार्ड हेल्डेन ने सार्वजनिक रूप से राय देते हुए

मूल्य और चिरस्थायी सदाचार की बाते की जाती है और कथित मार्क्सवादी-गण भी उस शब्द जाल मे फँस जाते है।

यहाँ कहा जा सकता है कि कूटनीति मे जो कुछ भी बेईमानी, जालसाजी, चोरी, डकैती आदि की जाती है, वह वैयक्तिक उद्देश्य के लिए नही, बल्कि देश या राष्ट्र के लिए की जाती है। डाक्टर डेलिस्लबर्न्स इस शोचनीय परिस्थिति का एक तरीके से यह कहकर दोषक्षालन करना चाहते है कि आधुनिक राष्ट्र, चाहे जो हो, हथियार बन्द गिरोह है और चूँकि लडाई तथा लडाई की तैयारी मे गुप्त कार्रवाई और गुप्त लेनदेन की आवश्यकता पडती है, इसलिए उसमे आदिम प्रवृत्तियो का होना कोई आश्चर्यजनक नही है।[1] महाभारत मे भी युधिष्ठिर ने एक बार दबी जबान मे 'अश्वत्थामा हतो हति गज' कहा था, और इसमे श्रीकृष्ण का हाथ था। वर्तमान राष्ट्रो के पारस्परिक युद्ध के साथ युधिष्ठिर और दुर्योधन के युद्ध की तुलना पर कुछ लोग शायद आपत्ति करे, क्योकि यह धर्म और अधर्म का युद्ध था। इस सम्बन्ध मे अधिक बताने की गुंजाइश नही है। इस सम्बन्ध मे केवल दो बाते फिर भी बता दी जायँ कि प्रत्येक युद्ध मे दोनो पक्ष अपने को धर्म सभ्यता और संस्कृति का पक्ष समझते है। दूसरी बात यह है कि महाभारत का युद्ध हमारे सम्मुख जिस रूप मे मौजूद है, उस रूप मे पहले नही था। पहले शायद कुरु और पाचाल दो पडोमी कबीलो का युद्ध मात्र था, बाद को कहानियाँ जोड जोडकर इसे महाभारत का रूप दे दिया गया।[2]

२८—साम्राज्यवादियो के निकट साम्राज्य चिरन्तन मूल्य और क्लाइव आदि वीर—भारतीय इतिहास से एक उदाहरण और लिया जाय। क्लाइव को एक अँगरेज बच्चा क्या समझता है, वह इसी से स्पष्ट है कि वे साम्राज्य-निर्माता नम्बर एक समझे जाते है। क्लाइव ने किस प्रकार भारत मे अँगरेजी राज्य का प्रसार किया, यह अभी ताजी कहानी है। सच तो यह है कि यदि क्लाइव, वारेन हेस्टिंग्स तथा इसी प्रकार के अन्य अँगरेज भारत का धन ढो-ढोकर नही ले जाते तो इँगलैड के पास इतनी पूँजी नही हो सकती जिसमे वह पचास साल के अन्दर

---

१ O M K p 761 २ I P Vol I p 478

दुनिया का वर्कशाप हो जाता, और न उसकी इतनी उन्नति ही सम्भव होती। मार्क्स ने 'पूँजी' नामक ग्रन्थ मे इसका बहुत अच्छी तरह स्पष्टीकरण कर दिया है। इस बात को अब बुर्जुआ लेखकगण भी मानते है। भारतीय साम्राज्य पर इँगलैड के पूँजीपतियो का ही विपुल ऐश्वर्य नही, अँगरेज जनता का भी ऊँचा मानदण्ड किस प्रकार निर्भर है, इसे सब लोग जानते है। अच्छे से अच्छे अँगरेज लेखक साम्राज्य को सदाचार के एक बिन्दु के रूप मे समझते हैं। ऐसा कहने और लिखने मे उन्हे कुछ शर्म नही मालूम होती। ब्रिटिश चिरन्तन मूल्यो मे साम्राज्य भी एक है, यह बात थोडी-सी गहराई के साथ सोचने पर ज्ञात हो जायगी। जिन लोगो के शोषण पर ये साम्राज्य स्थित है उनसे पूछा जाय कि इस चिरन्तन मूल्य का क्या अर्थ है।

थोडे मे हमने देख लिया कि जो बुर्जुआ जगत् चिरन्तन मूल्यो का दावा करता है, वह वास्तव मे किस प्रकार का है। कुछ किताबो मे भले ही चिरन्तन मूल्य हो, किन्तु व्यवहार मे कही भी इसका पता नही लगता। ऐसी दशा मे जो मार्क्सवादीगण मार्क्सवाद की बुतशिकनी और 'रजालत' से घबडाकर शरीफ बनने के लिए चिरन्तन मूल्यो की शरण मे जाकर शरीफ बनना चाहते है, उनकी दशा बडी दयनीय हो जाती है।

२९—उत्पादन की पिछड़ी हुई हालत में मर्दुम खोरी भी सदाचार थी— सब बातो पर विचार करने के बाद हम इस नतीजे पर पहुँचने के लिए बाध्य होते है कि सदाचार का एक ही अर्थ रहा है। वह यह कि जिस युग मे जो लोग सत या अच्छे समझे जाते थे उनका आचार ही सदाचार रहा है। इस पर कितना भी परदा डाला जाय असली बात यही है। अवश्य युग-युग मे सत् और असत् की धारणा बदली है। केवल यही नही, एक ही युग मे विभिन्न वर्गो मे सत् और असत् की धारणा विभिन्न रही है। यदि आधुनिक युग मे कोई अपने वृद्ध पिता को मारकर खा जाय तो वह कितना घृणित समझा जायगा, कानून, धर्म, न्याय सब उसके पीछे दौड पडेगे। किन्तु जिस समय उत्पादन की शक्तियाँ इतनी कमजोर थी कि वे किसी भी काम न करनेवाले का बोझ न सँभाल सकती थी, उस युग मे समाज वृद्धो को मारकर खा जाना सदाचार समझा जाता था। उस युग मे सदाचार की इस परिपाटी के समर्थन के रूप मे यह कहा जाता था कि

इस प्रकार वृद्ध व्यक्ति को मारकर खा जाने से उसकी भलाइयाँ खानेवाले मे आ जाती है। हमने अपनी धर्म-सम्बन्धी विराट् पुस्तक मे यह दिखलाया है कि ईसाइयो मे ईसा के खून पीने की धारणा ही नही, हिन्दुओ की बहुत-सी धारणाओ का इस मर्दुमखोरी मूलक धारणा से सम्बन्ध है। उत्पादन पद्धति मे उन्नति के साथ-साथ न इस प्रकार वृद्धो को मारकर खाने की जरूरत रही, न लडाई के बन्दियो को खा डालने की इसलिए एक नये सदाचार की स्थापना हुई, जिसके अनुसार वृद्धो को स्वाभाविक रूप से मरने दिया जाने लगा, साथ ही लडाई के कैदियो को दास बना दिया जाने लगा। इस प्रकार होते-होते हम वर्तमान युग मे पहुँचे है जब आमतौर से यह समझा जाता है कि लडाई खतम हो जाने के बाद लडाई के कैदियो को छोडकर घर पहुँचा देना चाहिए। इस युग मे वृद्धो को किसी न किसी रूप मे समाज या परिवार पेन्शन देकर उनका पालन करता है। उत्पादन के पिछडेपन के कारण इस युग मे न तो शिशुहत्या की आवश्यकता है, न वृद्ध-हत्या की।

इस प्रकार किसी भी दृष्टि से क्यो न देखे, सदाचार युग युग मे बदला है। एडवर्ड मेयर बहुत ठीक कहते है कि 'अन्तर्गत वस्तु की दृष्टि से सदाचार, रीति-रिवाज तथा न्याय के नियम सामाजिक पद्धति पर और उस युग मे प्रचलित सामाजिक विचारो पर निर्भर है। यदि वे भिन्न-भिन्न समाज के प्रतीक है तो वे अन्तर्गत वस्तु की दृष्टि से एक दूसरे के बिलकुल विपरीत हो सकते है' जहाँ तक विभिन्न समाज तथा विभिन्न युग मे सदाचार की भिन्नता की बात है वह बहुत स्पष्ट हो गई।

२०—आर्यो के स्वर्णयुग में वर्ग सदाचार—रहा एक ही समाज मे विभिन्न वर्गो के लिए भिन्न-भिन्न सदाचार, इसका स्पष्टीकरण होना चाहिए। स्वाभाविक रूप से हम हिन्दुओ के धर्मशास्त्र से शुरू करेगे। जो लोग रामराज्य का नारा देते रहते है वे शायद इस बात से अपरिचित है कि प्राचीन भारत मे राष्ट्र की ओर से वर्णो के साथ खुल्लमखुल्ला पक्षपात किया जाता था। एक ही अपराध को निम्नस्तर का व्यक्ति करे तो उसे अधिक सजा हो, और उसी को यदि उच्च का व्यक्ति करे तो उसे या तो सजा होती ही नही थी या कम होती थी।

स्मप रहे, किसी व्यक्ति के क्षपात की बात नही है, बल्कि धर्मशास्त्रो मे ऐसे सदाचार के लिए खुल्लमखुल्ला विधान है। व्याससहिता बहुत ही निर्लज्ज स्पष्टता के साथ कहती है 'सजा वर्गो की श्रेष्ठता तथा निकृष्टता के अनुसार दी जानी चाहिए। यह नियम वर्णो पर ही नही, बल्कि वर्णशकर पर भी लागू है।' यह नियम कार्यरूप मे किस प्रकार काम मे लाया जाय, इस सम्बन्ध मे किसी ऐरे-गैरे ग्रन्थ का नही, बल्कि स्वय भगवान् मनु का कथन देखा जाय। मनुस्मृति कहती है 'उच्च जाति के पुरुष के साथ सम्भोग करने की इच्छा से उसकी सेवा करनेवाली कन्या को कुछ भी दण्ड न होगा, किन्तु हीन जाति के पास जाने वाली की देख-रेख की जाय, और उसे घर पर बिठावे। उत्तम वर्ण की कन्या के साथ समागम करनेवाला नीच वर्ण का पुरुष वध के योग्य है। समान वर्ण की कन्या के साथ समागम करनेवाला, यदि उस कन्या का पिता चाहे तो, शुल्क देकर छूट सकता है।' (मनु ८।३६५-६) आगे यही मनुस्मृति कहती है 'जो द्विज स्त्री स्वामी आदि अभिभावक से सरक्षित न हो, उसके साथ यदि शू व्यभिचार करे तो राजा उसका लिगच्छेदनपूर्वक सर्वस्व हरण कर ले और यदि वह रक्षित स्त्री के साथ व्यभिचार करे तो सर्वस्व हरणपूर्वक उसे एक वर्ष की कैद की सजा दे। क्षत्रिय को १,००० पण जुर्माना करे और पेशाब से उसका सिर मुंडवा दे।' व्यभिचार ऐसे 'चिरन्तन अपराध' के विरुद्धाचरण करने के लिए किस प्रकार भिन्न वर्ण के लोगो के लिए भिन्न-भिन्न सजा का विधान है, यह द्रष्टव्य है। याज्ञवल्क्य भी इस मामले मे मनु से पीछे नही है। वे डके की चोट पर कहते है कि 'यदि कोई व्यक्ति अपने से निम्न जाति की स्त्री के साथ कामुकता का व्यवहार करे, तो उसमे कोई दोष नही है, अन्यथा अपराध दण्डा ही है। यदि उच्चतर जाति की स्त्री मे गमन किया जाय तो मृत्युदण्ड विधेय है।' हमारे धर्मशास्त्र इस प्रकार भेद बुद्धि मूलक सदाचार के उदाहरणो से भरे पडे है। जिस अपराध के लिए ब्राह्मण को कुछ भी न होगा, उसी अपराध के लिए शूद्र के प्राणदण्ड का विधान है। यह कहा जा सकता है कि वर्ण और वर्ग एक बात नही है, इसे कौन अस्वीकार करता है? किन्तु इन दोनो का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है तथा भारतवर्ष मे वर्गसघर्ष वर्णो की आड मे चलता रहा है। जो लोग चिरन्तन सदाचार और रामराज्य के काल्पनिक जगत् मे विहार करते

रहते हैं, वे आँख खोलकर स्मृतियो और गृह्यसूत्रो को पढे तो उन्हे मालूम होगा कि वस्तुस्थिति क्या थी।

३१—चीन का वर्गमूल हियाव या सदाचार—एक अन्य सभ्यतम देश चीन को लिया जाय। वहाँ बहुत प्राचीन काल से सामन्तवादी समाज मोजूद था। इस सामन्तवादी समाज के कर्मचारीवर्ग मे कई स्तर थे। बुखारिन ने दिखलाया है कि इस सामन्तवादी नोकरशाहीमूलक समाज-पद्धति मे सदाचार के नियम किस प्रकार समाज की शोषणमूलक पद्धति को कायम रखने के लिए बने थे। इस समाज मे अपने से बडो के प्रति सदाचार के क्या नियम थे, यह द्रष्टव्य है। मैक्स वेबर ने यह दिखलाया है कि 'यदि गालियाँ दी जायँ और निन्दा की जाय तो उन्हे सहन किया जाय, और यदि मालिक की इज्जत का तकाजा हो तो ऐसा करते हुए मृत्यु का वरण किया जाय। यदि मालिक कोई गलती करे तो विश्वस्त सेवाओ से उन गलतियो की पूर्ति करे। इसी को चीनी मे हियाव कहते थे।' हियाव का भग करना महान् अपराध समझा जाता था। पैगम्बर कानफुसियस ने भी अपने सदाचार मे यही कहा कि पिता-माता, गुरु के साथ साथ राजा और सामन्त का सम्मान किया जाय। बहुज्ञ पाठक को यह ज्ञात हो जायगा कि निम्न वर्णो के लिए उच्च वर्ण के लोगो के प्रति सदाचार-मूलक व्यवहार और हियाव मे कोई भेद नही है।

३२—भारतीय हियाव—आधुनिक युग मे मद्रास के 'परिया, मे आकर भारतीय हियाव बहुत हास्यजनक परिमाण मे पहुँचा है। जिस सडक से ब्राह्मण चले उस सडक से परिया चल ही नही सकता। ब्राह्मण पर परिया की छाया नही पडे, इत्यादि। किन्तु जहा हास्यास्पदता इतनी स्पष्ट नही है, वहाँ हियाव का आधार कुछ दूसरा है ऐसा समझने का कारण नही है। अकसर अब भी जो समाचारपत्रो मे यह पढने मे आता है कि तराई के किसी इलाके मे किसी कथित निम्न जाति के लोगो ने डोला-पालकी पर अपनी बारात निकाली और उस पर झगडा हो गया, यह भी इसी हियाव की महिमा का एक नमूना है। खोजने पर ऐसे हजारो उदाहरण मिलेगे जैसे अब भी देहातो मे छोटी जाति के लोगो को बडी जाति के लोग खटिया पर बैठने नही देते, कुएँ पर चढने नही देते इत्यादि। तर्क की दृष्टि से सोचने पर यह होना चाहिए था कि सुपवित्र हिन्दू-धर्म मे सभी

विधर्मी अर्थात् विभिन्न धर्मी अछूतो से निम्नकोटि के समझे जाते, किन्तु मजे की बात यह है कि धार्मिक रूढि के कारण इनके साथ खान-पान तो त्याज्य समझा गया, किन्तु समझे गये वे ऊँचे। बात यह है कि अन्य विधर्मी, विशेषकर शासक के रूप मे आये, इसलिए हिन्दुओ के चिरन्तन सदाचार मे ऐसा परिवर्तन आदि (adjustment) करना पडा। इन परिवर्तनो के अन्दर से किस प्रकार आर्थिक सामाजिक सम्बन्ध काम करते रहे है, यह द्रष्टव्य है।

३३—नाइट, समुराई सदाचार के आधार—मध्ययुग के सदाचार मे हम बराबर अर्द्धगुलाम और सामन्त प्रभु के सदाचारो मे प्रभेद देख सकते है। एक खाद्य है, दूसरा खादक, इसलिए खाद्य को बराबर यह सिखाया जाता है कि वह खाद्य बनना स्वीकार करे। यूरोप मे मध्ययुग मे जो नाइटगण थे उनके लिए सदाचार के बहुत विस्तृत नियम बने थे। ये नाइट सामन्तवादियो के आपसी युद्ध मे सामन्तो की ओर से लडते थे, इसलिए इनके सबसे बडे गुण वीरता और लडते-लडते मर जाना था। यदि कोई नाइट कायरपन दिखलाता था तो सार्वजनिक रूप से उसका अपमान किया जाता था, और चूँकि इस समय तक ईसाई पादरी वर्ग सामन्तवादियो के फर्माबरदार गुलाम तथा पिछलगुआ हो चुके थे, इसलिए पादरीवर्ग भी ऐसे नाइट की निन्दा करते थे। कायर नाइट के अस्त्र-शस्त्र छीन लिये जाते थे, उसकी ढाल घोडे की पूँछ मे बाँधकर तोड डाली जाती थी। टूर्नामिन्ट करके इन नाइटो की युद्ध-वृत्ति को सजग रक्खा जाता था[1]। बात बात मे द्वन्द्व-युद्ध होता था। यही बाते कुछ परिवर्तित रूप मे भारतीय राजपूतो मे भी होती थी। इस नाइट पेशे को उस युग मे इतना ऊँचा उठाया गया कि वह एक उज्ज्वल परम्परा बन गया तथा वीरता का पर्यायवाची हो गया। जापानियो मे सामुराई सदाचार सम्राट् के लिए मर जाना है। अति आधुनिक युग मे जापान के समरवादियो ने प्रत्येक जापानी को ही समुराई बना देना चाहा था, जिसके फलस्वरूप वह भयकर काण्ड हुआ जो अभी सबके दिमाग मे ताजा है। जब भी शासकवर्ग को आवश्यकता हुई तभी उसने इस प्रकार के सदाचार के मानदण्ड तैयार किये, और वे प्रचारित हो गये। क्या तो विक्टोरिया काम और क्या हिटलर का लौह क्रास, सब इसी सदाचार मे सफलता के प्रतीक है।

---

१. H. M. p. 160

३४—पूँजीवादी युग में साख मूलक सदाचार—पूँजीवादी युग के साथ-साथ कई मानो मे शराफत की धारणा मे तब्दीली हुई। सामन्तवादी युग मे ज़रा से अपमान पर—चाहे वह कल्पित हो या वास्तविक—फौरन तलवार निकाल कर द्वन्द्व-युद्ध हो जाता था। और तो और मजदूर-आन्दोलन मे जिनका नाम कई कारणो से अमर रहेगा, ऐसे लासाले भी इसी सामन्तवादी सदाचार के प्रभाव मे आकर द्वन्द्व-युद्ध पर तैयार हो गये, और उसी मे मारे गये। अव इस प्रकार लडना-भिडना अच्छा नही समझा जाता। पूँजीवाद के प्रारम्भ के साथ साथ सदाचार और वीर की धारणा मे परिवर्तन हो चुका है मानो इसी वात को दिखाते हुए डान क्वीग्सार और साकोपजा नामक सुपरिचित नाइट चरित्रोकी सृष्टि हुई जिनको देख कर सभी हँसते है। अब तो लोग मानहानि का दावा करते है, अखवारो मे प्रतिवाद छपवाते है। सामन्तवादी युग मे लडाई भिडाई के समय के अतिरिक्त नाइट स्वेच्छाचारी होता था। शराव पीते-पीते बेहोश होना आम वात थी, किन्तु जैसा डब्ल्यू सोम्वार्ट ने लिखा है 'ज्यो-ज्यो पूँजीवादी सम्वन्ध वढते गये त्यों-त्यो प्रधान रीति-रिवाज ओर सदाचार आदि बदलते गये। पहले जहाँ उडाने-खाने का ढग था, अव उसकी जगह पर सचय वृत्ति और उसके आनुसगिक गुणो का आदर होने लगा। अब तो यह होने लगा कि कोई मतवाला न हो, हमेशा अच्छी सोहबत मे देखा जाय, शराबी न हो, जुआडी न हो, व्यभिचारी न हो, अर्थात् अपने बाहरी व्यवहार मे भी एक अच्छा 'नागरिक' हो, क्योकि ऐसा करने मे ही व्यापार को फायदा है। ऐसे सदाचारी व्यक्ति की साख बढती है।'[1] स्वाभाविक रूप से इस युग मे साख ही इज्जत की सबसे बडी निशानी है, और दिवालियापन सबसे अधिक रजालत है। जिस व्यक्ति को अधिक रुपये उधार मिल सकते है, जो उधार पर अधिक कारोबार कर सकता है, वही इस युग का सबसे बडा वीर है। इस युग मे समुराई सदाचार भी है जिसमे दुश्मन के हाथ पडने पर हारा-कीरी करनी चाहिए इत्यादि, किन्तु ये सब सदाचार उस साखवाले सदाचार के इर्द-गिर्द अथवा उसके इशारे पर चलते है। जो लोग व्यापार तथा वैक से सम्वद्ध है वे जानते है कि साख कितनी महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक कम्पनी चाहती है कि इस प्रकार अधिक से अधिक साखवाला व्यक्ति उसके डाइरेक्टरो मे हो। जनता

---

१. Quoted in H M. p. 160

भी जब किसी कम्पनी का शेयर खरीदती है तो देख लेती है कि अमुक कम्पनी मे ऐसे साखवाले कितने व्यक्ति है। ऐसे साखवाले व्यक्ति अपनी साख पर ही एक हद तक कमाते-खाते है। रहा इनमे निरवच्छिन्न सदाचार, सो हम बता ही चुके है कि जान स्टुअर्ट मिल और सिजविक ऐसे धुरन्धरो के अनुसार भी व्यापारियों को यह अधिकार है कि वे ग्राहको से झूठ बोले। इस प्रकार ग्राहकों के लिए नतिकता कुछ और है और विक्रेताओ के लिए कुछ और। चूँकि व्यापारीवर्ग मे मुट्ठी भर लोग है, इसलिए इस सदाचार का यह अर्थ है कि इन मुट्ठी भर आदमियो को समाज को लूटने और खाने का अधिकार है। इस युग मे आप कुछ भी करे किन्तु आपकी साख न घटे।

३५—न्याय की बदलती हुई धारणा—वर्ग-समाजों मे न्याय को वडा महत्त्व दिया गया है, किन्तु यदि हम जरा भी ध्यान से देखे तो ज्ञात होगा कि न्याय की धारणा प्रत्येक सामाजिक परिवर्तन के साथ साथ बदलती गई है। अवश्य शोषणमूलक वर्ग-समाजो मे कुछ धारणाएँ सामान्य रही है जैसे वैयक्तिक सम्पत्ति की पवित्रता प्रत्येक शोषणमूलक समाज मे मान्य रही है।

३६—अफलातून के न्याय से गतानुगतिक की रक्षा—अफलातून के अनुसार भी न्याय मुख्यतम सद्‌गुण है, क्योंकि बताया गया है कि इसके पाँव मे सबके पाँव आ जाते है। इस न्याय का स्वरूप क्या है, इस पर रोजरर्स यों लिखते है—"न्याय उस राष्ट्र मे प्रत्यक्ष होता है, जिसमे फौजे वहादुरी के साथ लडती हैं, मजदूर ठीक तरीके से जी न चुरा कर काम करते है और सब लोग उस बुद्धि की आज्ञा के अनुसार चलते है जो शासनारूढ है। बाहरी दृष्टिकोण से न्याय श्रम के विभाजन का पूर्ण विकास है, और अफलातून इसकी व्याख्या यो करते है कि 'सब लोग अपना अपना काम कर रहे है, और कोई किसी के काम मे हस्तक्षेप नही करता।' यह गुण इसलिए सब गुणों का सिरताज है। इसके बगैर अन्य सब गुण कटे पतग की तरह हो जाते है।" अब अफलातून के न्याय को समझने मे विलम्ब नही होता। यह मौजूद शक्ति Status quo का परिपोषक है। यह मौजूदा शासन-प्रणाली को बुद्धि का प्रतीक मान लेता है। यह मज़दूरों अर्थात् गुलामों से (उन दिनो 'स्वतन्त्र मजदूर' कोई नही था) यह उम्मीद करता

---

१. S. H. E. p. 45

है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्त्तव्य' करेगा अर्थात् गुलाम गुलामी करेगा, और गुलाम का मालिक शासन करेगा। यही इस न्याय का स्वरूप है।

३७—नेलसन का नारा-प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्त्तव्य करे—यह दिलचस्प है कि इँगलैंड के वुर्जुआ वर्ग की स्वर्णिम उषा मे खडे होकर एडमिरल नेलसन ने भी यह कहा था कि 'इँगलैंड यह उम्मीद करता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्त्तव्य करेगा।' नेलसन ने ऐसा दूसरे प्रसग मे कहा था, किन्तु इँगलैंड के वुर्जुआ वर्ग ने इसे एक जातीय नारे के रूप मे ग्रहण करते समय इसे विस्तृततर अर्थ दे दिया। इस विस्तृततर अर्थ मे नेलसन का कर्त्तव्य और अफलातून के न्याय का एक ही तकाजा है। वह तकाजा यह है कि समाज के जिस स्तर मे जो व्यक्ति है, वह उसी स्तर के कर्त्तव्य का सम्पादन करे।

३७ अ—हिन्दुओ के वर्णाश्रम धर्म में कर्त्तव्य का स्वरूप—हिन्दुओ के अति प्रशसित वर्णाश्रम धर्म का भी यही अर्थ तथा अन्तर्गत वस्तु है। मनु ने इन कर्त्तव्यो को गिनाया है। मनु ने निर्लज्जतापूर्वक यह कह दया कि शूद्र का काम ऊचे वर्णो की सेवा है। इस रूप मे देखने पर वर्णाश्रम धर्म का असली तत्त्व समझ मे आता है। यो विवेकानन्द से लेकर अति आधुनिक राधाकृष्णन तक ने वर्णाश्रम धर्म की व्याख्या कर उसे एक प्रकार के यूरोपीय या स्वाप्निक समाजवाद का रूप देने की चेष्टा की है, किन्तु इस धर्म के मखमली दस्ताने के नीचे जो खूनी पजा छिपा है, यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है।

३८—अरस्तू के न्याय ओर सदाचार की पोल—सुप्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक अरस्तू भी न्याय को बहुत महत्त्व देते है। उनके सदाचार-सम्बन्धी ग्रन्थ का पचम भाग मुख्यत न्याय की ही आलोचना है। अफलातून मे न्याय का चरित्र फिर भी कुछ दार्शनिकता के कोहरे मे ढका हुआ था, किन्तु अरस्तू मे आकर न्याय मुख्यत उस गुण का नाम हो जाता है जिसमे वैयक्तिक सम्पत्ति के साथ सम्बद्ध क्रियाओ पर विचार किया जाता है। "यह न्याय फिर दो विभागो मे विभाजित हो जाता है—(१) वितरणात्मक न्याय, (२) शुद्धकारी (Corrective) न्याय। वितरणात्मक न्याय दो सिद्धान्तो को काम मे लाता है। एक न्याय तो यह है कि किसी मनुष्य को किसी कार्य से उसी अनुपात से मुनाफा मिलेगा जिस अनुपात से वह उसमे अपना धन लगाता है, दूसरा यह कि अपनी सम्पत्ति के अनुसार वह सार्वजनिक खर्च मे पैसा देगा। हम इन दो सिद्धान्तो को रुपया

लगाने (investment) और टैक्स के सिद्धान्त कह सकते है। शुद्ध-कारी न्याय जमीन-सम्बन्धी कानून के भग से सम्बद्ध है।"[१] इतना ही नही, अरस्तू के न्याय का स्वरूप इस बात से भली भाँति ज्ञात हो जाता है कि यद्यपि वे प्रजातन्त्र के हिमायती थे फिर भी उनके अनुसार गुलामो को वोटाधिकार नही है। इसी से उनके न्याय और सदाचार की पोल खुल जाती है।

३९—ऋग्वेद का ऋत चिरन्तन अखिल मानवीय सदाचार नही— ऋग्वेद मे सदाचार के लिए ऋत शब्द आता है। ऋत की बडी महिमा है। अनृत माने सदाचार-विरुद्ध आचार है। वरुण ऋत के आदर्शधारक है। ऋत के अन्दर देवताओं को प्रार्थना करना तथा यज्ञ करना है। दया और अतिथेयता ऋत मे आ जाती है। उस युग मे वरुण ही सबसे बडे देवता थे, इसलिए ऋत के धारक के रूप मे वरुण की कल्पना समझ मे आती है। यो तो देखने मे यह ज्ञात होगा कि ऋत निरवच्छिन्न या चिरस्थायी सदाचार का प्रतीक है, किन्तु जब हम यह देखेंगे कि उन प्रार्थनाओ मे किस प्रकार आदिम निवासियो के विरुद्ध लडाई मे विजय माँगी गई, तो यह ज्ञात होगा कि न तो ऋत चिरस्थायी सदाचार है, और न वरुण अखिल मानवीय देवता है। वैदिक आर्य छोटी छोटी बातो के लिए देवताओ से प्रार्थना करते थे, और इन छोटी छोटी बातो मे उनके कबीले का हित निहित होता था। एक मत्र मे (ऋक ९।११५) तो यह कहा जाता है कि जितने देवता तथा मनुष्य है वे सब अपने स्वार्थ से परिचालित होते है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त मे चातुर्वर्ण्य का पहला उल्लेख आता है, यद्यपि यह कहा गया है कि यह मत्र शायद प्रक्षिप्त है। जो हो, चातुर्वर्ण्य का सूत्रपात बल्कि बीज ऋग्वैदिक युग मे ही निहित है। हम देख चुके है कि वर्णाश्रम के साथ वर्ग सदा-चार का क्या सम्बन्ध है। ऋग्वैदिक आर्य अभी बहुत अशो मे कबीलो के युग मे है, कम से कम अनार्य कबीलो के साथ उनका जो निरन्तर सग्राम जारी है, उसके कारण अभी वर्गयुद्ध मे तीव्रता कम आई है, और कबीले की भावना अधिक व्यापक है। फिर ऋग्वेद स्वय केवल शासकवर्ग का साहित्य है। उस युग मे जो गुलाम थे, उनके दृष्टिकोण से ये मत्र नही कहे गये है, बल्कि उनमें

१. Ibid p. 75

गुलामो के मालिको का ही दृष्टिकोण मिलता है। अभी आर्य जीवन के आनन्द से लबरेज है। जमीन की कोई कमी नही है। नित्य नई विजय हो रही है। फिर भी इस युग मे कृच्छ् साधन का इक्का-दुक्का परिचय मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि कुछ कुछ दु खवाद का भी ज़ोर हो रहा है। यह स्वय इस बात का प्रमाण है कि समाज मे वर्ग सघर्ष तीव्रतर हो रहा है।

४०—उपनिषद का धर्ममूलक सदाचार और उसका अर्थ—उपनिषदयुग मे आकर आर्यो का सदाचार बहुत स्पष्ट रूप मे वर्गमूलक हो चुका है। अब वेदो के बहुदेववाद की जगह पर सूक्ष्म ब्रह्म की उत्पत्ति हो चुकी है। सदाचार को भी इसलिए ब्रह्म से जोड दिया गया है। उपनिषदो के विश्व-दृष्टि की केन्द्रीय भावना यह है कि हम जगत् का त्याग कर दे। बृहदारण्यक (४।४।६) का कहना है कि जिसकी कोई इच्छा नही है, जो इच्छाओ के परे है, जिसकी इच्छाएँ शान्त हो चुकी है, जिसकी इच्छा आत्मा यहाँ तक कि ब्रह्म है, वही ब्रह्म को प्राप्त करता है।[१] सभी उपनिषद इसी बात को दोहराते है। ऋग्वैदिक युग का वह जीवनानन्द लुप्त हो चुका है। अब तो जीवन की व्यर्थता का राग अलापा जा रहा है। जीवन अब मोक्ष के लिए है, और मोक्ष का अर्थ है सब तरह के ऐहिक ऐश्वर्यो से, इसलिए सुख-दु ख से मुक्ति। स्वय राजागण उपनिषद धर्म के प्रचारक है। जहाँ वे स्वय ब्रह्मज्ञान के प्रचारक के रूप मे नही आते, वहाँ वे प्रचारको के पृष्ठ-पोषक है। बडी धर्मसभाएँ होती थी। उनमे कोई भी भाग ले सकता था। स्वय नृपतिगण इन सभाओ के पृष्ठपोषक होते थे, और उनमे आकर अकसर वाद-विवाद मे भाग भी लेते थे। वे ऐसा क्यो करते थे, उसे समझना कठिन नही है। इस प्रकार की विचार-धारा का जनता मे प्रचार किया जाना इन शासको को क्यो पसन्द था, यह बहुत अच्छी तरह समझ मे आता था। वे चाहते थे कि आम लोग इस प्रकार के विचारो के भूलभुलैया मे आकर भटकते रहे, और उनका शासन-कार्य शान्ति मे चलता रहे। यह कहना मूर्खता होगी कि इनमे से सभी इस प्रकार जान-बूझकर इस मत का प्रचार इस उद्देश्य से करते थे। Trial and error अर्थात् प्रयोगो के तरीके से उन्हे यह ज्ञात

१ I P. Vol I p 215

हुआ कि इसी प्रकार की विचार-धारा समाज की स्थिति स्थापकता या के लिए अधिक उपयोगी हो सकती है, इसलिए ऐसी विचारधाराओ का आदर हुआ, और ऐसे विचार रखनेवालो की पूजा हुई। जब हम इस परिप्रेक्षित मे उपनिषद युग के सदाचार को या ब्रह्ममयता को देखेगे तभी उस समय का सदाचार हमारी समझ मे आयेगा।

सर्वजीव और ब्रह्म की एकता का अनुभव कर एक-आध राजा ने भले ही राज्य छोड दिया हो या राज्य से वीतरागता दिखाई हो किन्तु इससे पद्धति का कुछ बनता-बिगडता नही। ऐसी एक-आध घटना से जनता को धोखा देना आसान हो जाता है, क्योकि इससे यह प्रमाणित-सा हो जाता है कि जिस विचार-धारा का प्रचार हो रहा है उसमे शासकवर्ग का पूर्ण विश्वास है। इस विषय मे यहाँ पर अधिक ब्यौरे मे जाने की गुंजाइश नही है, नही तो उस युग के दर्शन और सदाचार-सम्बन्धी एक एक विचार का विश्लेपण कर हम उसी नतीजे पर पहुँचते जिस पर हम अन्य वर्ग सदाचारो के विश्लेपण से पहुँचे है। उपनिषद के सदाचार को इसी लिए अन्त तक धर्म का आश्रय लेना पडता है।

इस प्रवृत्ति का भी अर्थ, इस विषय के परम विशेषज्ञ श्री राधाकृष्णन के ही मुँह से सुना जाय। वे उपनिषदो के दर्शन पर लिखते है—'सभी सदाचारो मे यह बात पहले से मान ली गई है कि धर्म के साथ सदाचार की एकात्मकता है। इस धारणा के बगैर सदाचार की अन्तिम आकाक्षाएँ पूर्ण नही हो सकती। जिस समय विपत्तियाँ और भय सामने है, मृत्यु और रोग का सामना हो रहा है उस समय हमे यह धारणा प्रफुल्लित करती है कि दृश्यमान असामञ्जस्य तथा असंगति के बावजूद सभी घटनाएँ कल्याण के लिए हो रही है। सदाचार को धर्म को मानकर चलने की आवश्यकता है। ईश्वर ही हमे यह भरोसा देता है कि इस जगत मे तथा मनुष्य-जाति मे जो कुछ भी घटित हो रहा है,

रहा है, उसे यह तसल्ली देने की जरूरत है कि यदि वह धर्म पर डटा रहा अर्थात् ईश्वर पर भरोसा कर पडा रहा तो परलोक मे उसे बडे बडे सुख, हूरे, गिलमो और न मालूम क्या क्या मिलेगा। जो समाज पद्धति के रथ के पहिये के नीचे पिसा जा रहा है, सबेरे से शाम तक मेहनत करने पर जिसे पेट भरकर रोटियाँ भी मयस्सर नही होती, उसे यह तसल्ली देने की आवश्यकता है कि एक ऊँट भले ही सुई के छेद से निकल जाय, किन्तु धनी व्यक्ति स्वर्ग मे नही जा सकता। जो गरीब है वही स्वर्ग मे राज्य करेगा, जो अव्वल है वह सबसे पीछे रहेगा, और जो सबसे पीछे है वह अव्वल रहेगा, इत्यादि। इन बातो से धर्ममूलक सदाचार की भी अन्तर्गत वस्तु उद्घाटित हो जाती है। धर्म को सामाजिक शक्तियो से परे, किसी अध्यात्मिक अलौकिक शक्ति के रूप मे समझना गलत है। इसी प्रकार ईश्वर भी ईश्वर के भक्तो से अलग कुछ है, यह समझना ठीक नही। धर्म और ईश्वर की धारणा अनिवार्य रूप से उस समाज से बँधी हुई है, जिस समाज मे वे धारणाएँ प्रचलित है।

४१--सदाचार को विवेक से उद्भूत बताने का प्रयत्न--सदाचार को समाज से वियुक्त कर समझने का एक तरीका और भी है। यह तरीका उन लोगो का है जो कहते है कि हम उसी काम को करते है जिस पर हमारा विवेक, conscience, जमीर गवाही देता है। लोकमान्य की भाषा मे ऐसे लोगो का यह कहना है कि 'हमे किसी ने ये मनोवृत्तियाँ दी नही है, किन्तु ये निसर्गसिद्ध अर्थात् स्वाभाविक अथवा स्वयम्भू देवता ही है। जब न्यायाधीश न्यायासन पर बैठता है, तब उसकी बुद्धि मे न्याय-देवता की प्रेरणा हुआ करती है, और वह उसी प्रेरणा के अनुसार न्याय किया करता है, परन्तु जब कोई न्यायाधीश इस प्रेरणा का निरादर करता है, तभी उससे अन्याय हुआ करते है। न्याय देवता के सदृश ही करुणा, दया, परोपकार, कृतज्ञता, कर्त्तव्य, प्रेम, धैर्य आदि सद्गुणो की जो स्वाभाविक मनोवृत्तियाँ है वे भी देवता है। मनोदेवता शब्द मे इच्छा, क्रोध, लोभ आदि सभी मनोविकारो को शामिल नही करना चाहिए, किन्तु इस शब्द से मन की वह ईश्वरदत्त और स्वाभाविक शक्ति ही अभीष्ट है जिसकी सहायता से भले-बुरे का निर्णय किया जाता है। इसी शक्ति का एक बडा भारी नाम सदसद् विवेक बुद्धि है। यदि किसी सन्देहग्रस्त अवसर पर मनुष्य

स्वस्थ अन्त करण से और शान्ति के साथ विचार करे तो यह सदसद् विवेक बुद्धि कभी उसको धोखा नही देगी। इतना ही नही, किन्तु ऐसे मौकों पर हम दूसरों से यही कहा करते है कि तू अपने मन से पूछ।'[1] लोकमान्य यह भी बताते है कि यद्यपि यह मत इस रूप मे अलग हिन्दू धर्मशास्त्रो मे प्रतिपादित नही है तथापि 'उपर्युक्त मत हमारे प्राचीन ग्रन्थो मे कई जगह पाया जाता है। . मनुसहिता मे (४।१६१) लिखा गया है, वह कर्म प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए जिसके करने से अन्तरात्मा सन्तुष्ट हो और जो कर्म इसके विपरीत हो उसको छोड देना चाहिए'[2]

४२——विवेक सदाचार का मूल है——राधाकृष्णन् का यह मत——श्री राधाकृष्णन् ने १९२९ मे मेन्चेस्टर विश्वविद्यालय मे हिवर्ट व्याख्यानमाला के दौरान मे 'सदाचार मे विवेक ' पर बहुत जोर दिया है। उनका कहना है कि 'सदाचारी अपने उस आन्तरिक छन्द का अनुसरण करता है जो उसे अग्रसर करता रहता है, और इस प्रकार उसे अपने भाग्य के अनुसार चलने, अपने स्व की पूर्ति करने का सन्तोष होता है। अपनी गम्भीरता प्रकृति का अनुसरण करते हुए वह हम लोगो मे से उन लोगो के निकट, जो परम्परागत सदाचार का अनुसरण करते है, ऊलजलूल या दुराचारी ज्ञात हो सकता है, किन्तु उस व्यक्ति के लिए सामाजिक परम्परा से आध्यात्मिक मजबूरी कही अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसके लिए बाह्य नियम से आभ्यन्तरिक सयम कही अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह आन्तरिक सत्यता और ईमानदारी की इच्छा करता है, न कि परम्परागत भलाई-बुराई की।'

४३——इस पर लोकमान्य का मत——इस प्रकार राधाकृष्णन् प्रकारान्तर से मनुष्य की आन्तरिक सदसद् विवेक बुद्धि को सदाचार की कसौटी मानते है, किन्तु लोकमान्य तिलक हिन्दूशास्त्रो का मन्थन कर इस निर्णय पर पहुँचते है कि 'केवल भले-बुरे का निर्णय करनेवाली सदसद्विवेक बुद्धि रूप स्वतत्र और भिन्न देवता गीता को सम्मत नही है।' इसके लिए वे यह तर्क देते है कि प्रत्येक मे ही सदसद्विवेक की बुद्धि नही होती। यदि बुद्धि सात्त्विक है तभी उसमे सदसद्विवेक की पूर्ण योग्यता होगी, अन्यथा नही। इस प्रकार हम एक अजीब हालत

---

१ गी० र० पृ० १२३-४ २ वही पृ० १२६

मे पहुँचते है कि राधाकृष्णन् जिस विवेक या अन्तंदृष्टि पर सदाचार की अपनी अट्टालिका खडी करते है, उसकी जड ही—सत्य, रज, तम—तीन प्रकार की बुद्धियो के सिद्धान्त से ढह जाती है। जिस बात को राधाकृष्णन् ने पाश्चात्य विद्वन्मडली के सम्मुख एक परिष्कृत हिन्दू विचार के रूप मे रखने की चेष्टा की है, वह यदि लोकमान्य को सच माना जाय तो, हिन्दू विचार का एक आशिक रूप से स्वीकृत अगमात्र है। हमे इस तर्क मे पडने की आवश्यकता नही है कि असली हिन्दू विचार क्या है, वर्तमान उद्देश्य के लिए इतना ही जानना यथेष्ट होगा कि राधाकृष्णन् का यह मत प्रधान हिन्दू विचार नही है। राधाकृष्णन् ने अपनी व्याख्यानमाला मे सदाचार को इस रूप मे क्यो पेश किया है, यह इस बात से अच्छी तरह समझ मे आ जायगा कि उन्हे अपने सदाचार-सम्बन्धी विचारो को जहाँ तक हो सके बुद्धि सगत लिबास मे पेश करना था, क्योकि पाश्चात्य मे सदाचार को इसी रूप मे पेश करने की चेष्टा की जा रही है।

ईसा ने ऐसा कहा है, मूसा ने ऐसा कहा है, तौरेत मे ऐसा लिखा है, अजील मे ऐसा कहा गया है, इन बातो से जनता को काबू मे रखना कठिन हो रहा है। इसी लिए विवेक के नाम से एक नये बुत का प्रचार हुआ है, बल्कि यो कहना अधिक उचित होगा कि एक पुराने बुत को नये रूप मे पेश करने की चेष्टा हुई है, क्योकि विवेकवाली कसौटी बहुत पुरानी है। बुर्जुआ विद्वान् लोग सदाचार के वर्ग-आधार को छिपाने के लिए सभी कुछ कह सकते है। वे सदाचार के सही आधार को देख पाने के सिवा सभी तरह की अटकल और उडान भर सकते है। विवेकवाली व्याख्या इसी प्रकार की एक उडान है।

४४—कैन्ट का 'कैटागरिकल इम्परेटिव' और सदाचार—सुप्रसिद्ध यूरोपीय दार्शनिक इमैनुयल कैन्ट (१७२४–१८०४) ने धर्मवाद के साथ विज्ञान के व्यवहारवाद का समन्वय कर उदीयमान विश्व पूँजीवादीवर्ग के हाथो मे एक बहुत जबरदस्त हथियार दिया था। इन्होने सदाचार पर भी लिखा। रोजर्स के अनुसार 'कैन्ट न तो सदाचार के अस्तित्व को प्रमाणित करने की चेष्टा करते है, और न यह कोशिश करते है कि नैतिक व्यवहार के समर्थन मे कुछ कहा जाय। वे इस बात को मानकर चलते है कि प्रत्येक बुद्धियुक्त प्राणी को अपनी सदाचार-सम्बन्धी मजबूरियो का ज्ञान है, और इसलिए सदाचार शास्त्र-

का इतना ही काम है कि इसकी प्रकृति का विश्लेषण करे जिससे यह ज्ञान कल-षित न हो। कैन्ट के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि वे बटलर के अर्थ मे इस बात को मानकर चलते है कि प्रत्येक व्यक्ति का एक विवेक है, और यह विवेक ऐसा है जो स्वयम्भू है, और आप ही अपना शासन करनेवाला है।[१] कैन्ट ने इसको अपनी विशेष भाषा मे यों कहा—सदाचार की आधारगत बात यह है कि categorical imperative का निरिविच्छन्न रूप से पालन किया जाय। इस नाम से हमे घबराने की आवश्यकता नही है। यह विवेक का एक दूसरा नाम है।

४५—हेगेल, शोपेनहावर तथा मार्क्स द्वारा कैन्ट की आलोचना—हेगेल ने कैन्ट के इस मतवाद की धज्जियाँ उडा दी, उन्होंने यह दिखला दिया कि कैन्ट ने जो निरवच्छिन्न बुद्धि-स्वातन्त्र्य (absolute free will)मान रक्खा है, वह गलत है, और स्वतत्र इच्छा केवल सज्ञान रूप से स्वीकृत मजबूरी मात्र है इसलिए नैतिक विकास की जडे सामाजिक सम्बन्धो मे है। सु की ओर रुख जीवन प्रक्रिया के उपादानों मे से एक है। शोपेनहावर ने भी मार्क्स के इस formalist सदाचार की आलोचना की, उनकी बुद्धि सगत इच्छावाली बात नही मानी। उन्होने प्रत्येक चीज को अन्ध अवौद्धिक जिजीविषा (will to-live) तक ले जाकर पहुँचा दिया। शोपेनहावर के अनुसार सदाचार इस अन्ध प्रवृत्ति के अनुसरण मे नहीं है, बल्कि अन्ध इच्छा की अहवादी प्रवृत्तियों को दबाने मे है। मार्क्स ने कैन्ट के इस सदाचार मे फ्रेच उदारवाद का जर्मन बुर्जुआ रूप देखा। अपनी St. Max मे उन्होने लिखा—

जर्मन बुर्जुआ की तरह, जिसके वे पैरोकार थे, कैन्ट यह नही देख पाये कि बुर्जुआ वर्ग के इन सिद्धान्त-सम्बन्धी विचारों की तह मे भौतिक स्वार्थ तथा वह इच्छा थी जो भौतिक उत्पादन के सम्बन्धों के द्वारा निर्णीत तथा उस पर निर्भर होती थी। इसलिए उन्होंने इन स्वार्थों से स्वार्थों की अभिव्यक्तियो को अलग कर दिया, और फ्रेच बुर्जुआ वर्ग की भौतिक अवस्थाओ के द्वारा परिचालित इच्छा को विशुद्ध इच्छा (will in itself) के या स्वतत्र इच्छा के विशुद्ध आत्म-परिचालन मे परिणत कर दिया। इस प्रकार इसे विशुद्ध रूप से एक

---

१. S. H. E. p. 192-3

धारणा तथा सदाचार के साध्य (postuletes) के रूप मे परिणत कर दिया।"

४६—विवेक स्थान, काल, पात्र पर निर्भर—मार्क्स ने जिन शब्दो मे कैन्ट के सदाचार-सम्बन्धी विचारो की आलोचना की है, उनके कुछ स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। आखिर यह विवेक अर्न्तदृष्टि, intutoin, conscience जमीर है क्या चीज ? हम यहाँ गहरे मनोविज्ञान मे जाकर अर्थात् उसमे व्यवहृत ego, superego, आदि पारिभाषिक शब्दो का व्यवहार न कर एक साधारण व्यक्ति की तरह यह पूछेगे कि यह विवेक किस तरह बनता है। क्या यह विवेक जन्मजात होता है या पारिपार्श्विक अवस्थाओ तथा परिस्थितियो से विकसित होता है ? क्या कारण है कि एक हिन्दू के मन मे गोमास भक्षण की कल्पना विवेक का दशन उत्पन्न करती है, किन्तु ईसाई आदि अन्य धर्मावलम्बियो मे यह कल्पना इस प्रकार की प्रतिक्रिया नही उत्पन्न करती ? क्या करण है कि एक पूँजीपति यह समझता है कि वह मिल खोलकर बेकारी दूर करने मे सहायक हो रहा है, और इस विचार से उसके विवेक को आत्मप्रसाद प्राप्त होता है, और इसके विपरीत मजदूर यह सोचता है कि यह हम लोगो का खून चूस रहा है ? ऐसे कितने ही प्रश्न किये जा सकते है जिनसे यह सूचित होगा कि समाज के भिन्न भिन्न स्तर मे विवेक का भिन्न भिन्न रूप है। १९३९–४५ के महायुद्ध को ही लिया जाय। इसमे लिप्त प्रत्येक पक्ष अपने को सही समझता था। उनके विवेक यह गवाही देते थे कि उनका पक्ष न्यायपक्ष है। हम यह नही कहते कि इनमे से सभी पक्ष समान रूप से न्यायी या अन्यायी थे। हमारा इतना ही वक्तव्य है कि एक ही समय मे भिन्न भिन्न व्यक्तियो के विवेक भिन्न भिन्न रूप से गवाही देते थे। अवश्य इस पर यह कहा जा सकता है कि इनमे से कुछ के विवेक प्रचारकार्य के द्वारा कलुषित कर दिये गये थे, और उनका cetegorical impetative शुद्ध नही रह गया था। गीता की भाषा मे उनकी बुद्धि तामसी हो गई थी। यही तो हमारा भी कहना है। ऐसी हालत मे विवेक किस प्रकार एक निरवच्छिन्न या चिरस्थायी सदाचार का आधार हो सकता है ? यह स्पष्ट है कि वह ऐसा नही हो सकता। विवेक भी समाज

---

१. M D J p 215

और वर्ग से बँधे होते हैं। जैसा समाज, जैसी परिस्थितियाँ तथा जो वर्ग होता है, उसी के अनुसार विवेक भी बन जाता है। विवेक को समाज तथा अन्य परिस्थितियों से वियुक्त कर देखना अदूरदर्शिता का परिचय देना है। एक और छोटा-सा उदाहरण लेकर इस विषय को समाप्त किया जाय। जिन लोगों ने कथित अछूतों मे काम किया होगा उन्होने यह देखा होगा कि अत्यन्त आदरपूर्वक पास बिठाने पर भी वे कुछ सहमे रहते है। कई बार तो ऐसा देखने मे आया कि अछूतों ने पाप के भय से अथवा विवेक के दशन या जमीर की आवाज के कारण स्वेच्छा से उनके हाथ से पानी पीने के लिए इच्छुक उच्च वर्ण के व्यक्ति को पानी नही दिया। यहाँ पर इस विवेक या जमीर को हम सम्पूर्ण रूप से समाज से सयुक्त देख सकते है। ऐसी हालत मे जो विवेक या जमीर है वह केवल अन्याय का एक मूर्तरूप है तथा उसी का वाहन और अस्त्र है। इसलिए जो लोग विवेक को सदाचार का आधार मानते है वे भले ही सदाचार के वर्ग आधार से लोगों की दृष्टि को हटा सके, उनके मत मे रत्ती भर भी तत्त्व नही है।

४७—सभी परम्परा विरोध प्रगतिशील नही—राधाकृणन् के मत की जॉच—विवेक के प्रतिपादक राधाकृष्णन् आविष्कारक-सुलभगर्व के साथ कहते है—यद्यपि सदाचार का यह तकाजा है कि लोग उसका अनुसरण करे, किन्तु फिर भी सदाचार-सम्बन्धी जितनी भी प्रगतियाँ हुई है, वे परम्परा विरोधियों के कारण हुई है। कहने को तो 'श्रीराधाकृष्णन् ने यह कह दिया कि इस प्रकार जो लोग एक नये सदाचार को लेकर आये है उन्ही के कारण सदाचार की उन्नति हुई है, किन्तु क्या उन्होंने या उनकी तरह लोगों ने कभी यह सोचने का कष्ट किया है कि इस प्रकार नये सदाचार को लेकर जो आते है, वे कौन होते है, और उनके नये सदाचार के आधार क्या है? यदि इस समस्या पर जरा भी विचार किया जाय तो एक बात तो यह ज्ञात होगी कि सभी Non-confirmists या परम्परा विरोधी प्रगति के सन्देशवाहक के रूप मे नही आते। हर समाज के अपराधी परम्पराविरोधी होते है, किन्तु क्या वे प्रगति के सन्देशवाहक होते है? नहीं।

दूसरी बात यह है कि कुछ परम्पराविरोधी वास्तविक रूप से नवयुग का दुन्दुभी-निनाद करनेवाले होते है, किन्तु ये कौन होते है? जिस रूप मे राधाकृष्णन् ने अपने कर्त्तव्य को पेश किया है, उस रूप मे, परम्परा विरोधियो के नवयुग के सन्देशवाहक के रूप मे, आनेवाली बात एक ऐसे रहस्यवादी सिद्धान्त मे परिणत होकर रह जाती है, जिसको किसी भी पहलू से देखा जाय, बडा खतरनाक हो जाता है। एक तरफ तो इस सिद्धान्त से यह ध्वनि निकलती है कि जो अतिमानव होते है, वे सब नियमो से परे होते है, उन्हे मामूली नियमो से देखने की आवश्यकता नही और इसलिए उनके अनुसरण की आवश्यकता है। दूसरी तरफ इस रहस्यवादी सिद्धान्त का मतलब यह होता है कि साधारण लोगो के लिए तो सदाचार-सम्बन्धी मानदण्ड एक है, किन्तु बडे लोगो के सम्बन्ध मे ऐसी कोई मजबूरी नही है। उनमे यदि हम किसी मामले मे नियमानुगतता न पावे तो हम उसे यह समझ कर दरगुजर करे कि बडो की बात बडो के ही लिए है। यह केवल हमारे अनुमान या उडान की बात नही है, इस प्रकार के सदाचार की यही परिणति सब देशो मे हुई है।

४८—लेनिन द्वारा साम्यवादी सदाचार का रूप-निर्णय—हमारी आलोचना से यह बात खूब स्पष्ट हो गई कि सदाचार के साथ समाज का सम्बन्ध अपरिहार्य है, साथ ही यह भी स्पष्ट हो गया कि वर्गसमाजो के सभी सदाचार—चाहे वे अपक्षपाती होने का कितना भी दावा करे—वर्ग सदाचार होते है। अब स्वाभावकि रूप से यह प्रश्न उठता है कि इन विभिन्न सदाचारो मे से साम्यवादियो का कौन-सा सदाचार है। लेनिन ने १९२० के २ अक्टूबर को अखिल रूसी युवक-साम्यवादी लीग के तृतीय अधिवेशन मे बोलते हुए, इस विषय का स्पष्टीकरण किया था। उन्होने उस अवसर पर युवको से यह कहा था कि आज के युवको की शिक्षा-दीक्षा ऐसी होनी चाहिए कि वे साम्यवादी सदाचार से ओतप्रोत हो जायँ। उन्होने कहा था 'किन्तु प्रश्न यह है कि क्या साम्यवादी सदाचार नाम की कोई वस्तु है? क्या साम्यवादी सदसद्विचार-शास्त्र नाम से कोई शास्त्र है? अवश्य ही है। अकसर ऐसा दिखलाया जाता है मानो हमारे लिए कोई सदाचार ही न हो, और प्राय पूँजीवादीवर्ग हम साम्यवादियो पर यह दोष लगाया करता है कि हम सब तरह के सदाचार को अस्वीकार करते है। ऐसी

बातें करना धारणाओ के साथ खेल खेलना तथा मजदूर और किसानो की आँखो मे धूल झोंकना है। हम किस अर्थ मे सदाचार या सदसद्विचार-शास्त्र को अस्वीकार करते हैं? उस अर्थ मे, जिस अर्थ मे पूँजीवादीवर्ग इसका प्रचार करता है, जो ईश्वरीय आज्ञाओं से सदाचार के नियमों को प्राप्त करता है। हम अवश्य ही यह बात कहते हैं कि हम ईश्वर पर विश्वास नही करते, और हम बहुत अच्छी तरह जानते है कि पुरोहितवर्ग, जमीदार तथा पूँजीवादीवर्ग ईश्वर के नाम से अपने शोषण-सम्बन्धी स्वार्थों की ओर से ही बोला करते थे। इन लोगों मे से कुछ ऐसे भी थे जो सदाचार-सम्बन्धी ईश्वरीय अज्ञाओं से सदाचार के नियमों को प्राप्त करने के बजाय भाववादी या अर्द्धभाववादी वाक्यों से अपनी सदाचार पद्धति को प्राप्त करते थे। इस तरीके पर भी सदाचार का प्राय. वही रूप हो जाता था जो ईश्वरीय आज्ञाओ से प्राप्त सदाचार का होता था। हम ऐसे सब सदाचारों को अस्वीकार कर देते हैं जो अमानवीय तथा अवार्गिक धारणाओं से प्राप्त किये गये हैं। हम यह कहते हैं कि यह एक धोखा है, जालसाजी है, और ज़मीदारो तथा पूँजीपतियों के हितों की दृष्टि से मजदूरों और किसानो के मन को अन्धकाराच्छन्न रखना है।

'पहले का समाज जमीदारो और पूँजीपतियों के द्वारा मज़दूरो और किसानो के निर्यातन पर अवलम्बित था। हमे इसे नष्ट करना पडा, हमें इसे ढहा देना पडा; किन्तु यह स्मरण रहे कि इसके लिए हमे एकता स्थापित करनी पडी। ईश्वर वैसी एकता स्थापित नही करेगा। यह एकता केवल कारखानों और वर्कशापों तथा दीर्घ निद्रा से जागे हुए उद्बुद्ध सर्वहारावर्ग के द्वारा ही निर्मित हो सकती थी। जब यह वर्ग इस प्रकार एक हो गया, तभी वह जनान्दोलन शुरू हुआ जिसके फलस्वरूप सबसे कमजोर देशों मे से एक देश मे सर्वहारा क्रान्ति हुई इस क्रान्ति के फलस्वरूप यह कमजोर देश इतना तगडा हो गया कि गत तीन वर्षो से यह दुनिया के सम्मिलित पूँजीपतिवर्ग के हमलो का सफलतापूर्वक सामना करता रहा है। हम देखते है कि सारे जगत् मे सर्वहारा क्रान्ति मे वृद्धि हो रही है। हम अब अपने तजर्बे के आधार पर यह कहते हैं कि सर्वहारावर्ग ही उस ठोस शक्ति का निर्माण कर सकता था, जिसका अनुसरण बिखरा हुआ, तथा ऐक्यहीन किसानवर्ग कर रहा है, और जिसके फलस्वरूप हम शोषकों के

हमलो का सामना कर सके हैं। यही वर्ग मेहनतकश जनता को एक होने, अपने अन्तर्भुक्त सब लोगो को एकत्र करने तथा साम्यवादी समाज की रक्षा करने, उसको ठोस बनाने तथा उसके निर्माण करने मे समर्थ हो सकता है।

'अत हमारे लिए मनुष्य-समाज के अतिरिक्त कोई सदाचार नही है, बाकी धोखा है। हमारे लिए सर्वहारा के वर्गसग्राम की आवश्यकताओ की पूर्ति सदाचार है. हम अपने साम्यवादी सदाचार के सामने इसी कर्त्तव्य को रख देते हैं। हम कहते है, सदाचार वही है जो प्राचीन शोपक-समाज को नष्ट करने मे तथा सर्वहारा के इर्द-गिर्द सब मेहनतकशो को जमाकर एकता-बद्ध करने मे यानी एक नवीन साम्यवादी समाज के निर्माण करने के काम मे आवे। साम्यवादी सदाचार वह सदाचार है जो इस सग्राम मे काम देता है, जो सब तरह के शोषण के विरुद्ध मेहनतकश जनता को एकता-बद्ध करता है, जो सब तरह की सम्पत्ति के विरुद्ध मेहनत करनेवाली जनता को सगठित करता है, क्योकि सम्पत्ति एक व्यक्ति के हाथो मे उस चीज को रख देती है जो सारे समाज के श्रम से निर्मित हुई है।. साम्यवादी सदाचार का आधार यही है कि साम्यवाद को ठोस बनाने तथा उसको अन्तिम दर्जे तक पहुँचा देने के लिए मदद मिले। यही साम्यवादी ट्रेनिग, शिक्षा और शिक्षण का उद्देश्य है। जब लोग हमसे सदाचार की बात करते है तो हम कह देते हैं कि एक साम्यवादी के लिए सदाचार इस बात मे है कि वह शोषको के विरुद्ध ठोस, एकताबद्ध, अनुशासित, सज्ञान, जन-सग्राम मे भाग ले। हम चिरन्तन सदाचार मे विश्वास नही करते, हम सदाचार के विषय मे कही हुई सब कहानियो की कलई खोल देते है। सदाचार का यह उद्देश्य है कि वह मनुष्य-समाज को इस काम मे मदद दे कि वह उन्चतर सतह पर आरोहण कर सके तथा श्रम के शोषण से मुक्ति पा सके।'

४९—पूर्वज पशुओं से प्राप्त सहजातो की नीव पर सदाचार की सृष्टि— सक्षेप मे लेनिन के विचार ये है, किन्तु 'कुछ साम्यवादी लेखक और भी गहराई तक जाने के लिए इस बात की आवश्यकता समझते है कि हमारे इतर प्राणी पूर्वजो से उत्तराधिकार सूत्र से जो भी सामाजिक सहजात मिले है, जिसके कारण मनुष्य मे सदाचार की बुद्धि विकसित हुई है, उसमे और हमारे सदाचार के

ढाँचो मे (जो सम्पूर्ण रूप से सामाजिक परिस्थितियो की उपज है) फर्क किया जाय'।[१] ऐसा फर्क करने पर भी सदाचार के सम्बन्ध मे जो साम्यवादी विचार है, उसमे कोई भिन्नता नही आती। बात यह है कि इस दृष्टि से देखने पर भी सदाचार की निरवच्छिन्नता नही सिद्ध होती, बल्कि इतना ही ज्ञात होता है कि मनुष्य को उत्तराधिकार सूत्र मे जिस प्रकार के शरीर और मन मिले है, उनमे यह सामर्थ है कि जटिल सदाचार की उत्पत्ति हो। इस दृष्टि से देखने पर यह कोई स्वतत्र मत नही, बल्कि सदाचार-सम्बन्धी साम्यवादी मत-वाद का स्पष्टीकरण-मात्र है। यह स्पष्टीकरण उसी प्रकार का है जिस प्रकार यह कहा जाय कि मनुष्य मे जो साहित्य और कला की उत्पत्ति हुई है उसके लिए जड ढूँढते ढूँढते हम चिडियो के बनाये हुए सुन्दर घोसलों या बलाका-पक्ति या मोर के नृत्य तक जा सकते है। इस स्पष्टीकरण से सदाचार की भौतिक जड़े और भी गहराई तक स्पष्ट हो जाती है, किन्तु उनकी सामाजिक तथा वार्गिक अन्तर्गत वस्तु ज्यो की त्यों बनी रहती है।

मार्क्सवादी किसी चिन्तन सदाचार के अस्तित्व को नही मानते। इससे, गलत तरीके से यह उपसहार निकालने की चेष्टा की जा सकती थी कि मार्क्स-वाद किसी तरह के सदाचार को मानता ही नही, क्योकि जब आगे चलकर यह सदाचार बदल जायगा, तब किसी सदाचार को मानकर चलने का क्या अर्थ होता है, किन्तु हमने देख लिया कि मार्क्सवाद इस प्रकार के नैतिक तुलनावाद तथा नकारवाद को नही मानता। समाज मे जो वर्ग प्रगतिशील है, जो वर्ग आगामी है, उसी के हित मे, विशेषकर मजदूरो और किसानो के अर्थात् मेहनत-कशों के हित मे जो सदाचार है, वही सदाचार माननीय है। मार्क्सवाद यह नही कहता कि सामन्तवादी या बुर्जुआ सदाचार कोई सदाचार ही नही है। उसका इतना ही कहना है कि सर्वहारावर्ग के हित मे जो सदाचार है वह इससे श्रेष्ठ-तर है, तथा इसके मुकाबिले मे बुर्जुआ सदाचार त्याज्य है।

५०—वर्गसमाज में वर्गहीन सदाचार का नारा छलपूर्ण—जिस समय वर्गों का अन्त होकर वर्गहीन समाज की स्थापना होगी, उसी समय सदाचार वर्ग से ऊपर उठ सकेगा। सर्वहारावर्ग के हित मे जो सदाचार है, उससे वह मदाचा

---

१. M D I. p. 212

सामाजिक, ऐतिहासिक दृष्टि से उच्चतर होगा। वर्गहीन समाज के सम्बन्ध मे जैसे हम बहुत थोडी बात कह सकते है, वैसे ही वर्गहीन सदाचार के विषय मे भी हम अनुमान ही कर सकते है। आज दिन जितने भी प्रगति-विरोधी कार्य या अपराध होते है, उनके लिए उस युग मे कोई आधार या उत्तेजना नही रहेगी। वर्गसमाज मे बैठकर वर्गहीन सदाचार के सम्बन्ध मे उडाने भरना या यह कहना कि वर्गसमाज मे ही हम वर्गहीन समाज के सदाचार को लागू करेंगे, केवल पागलो को शोभा दे सकता है। इस प्रकार की उडाने भरना व्यावहारिक ज्ञान से बाहर जाना है। वर्गसमाज के रहते हुए अखिल मानवीय वर्गहीन समाज के सदाचार के रूप मे किसी बात का नारा देना निश्चयात्मक रूप से गुमराह करने-वाला और प्रतिक्रियावादी हो सकता है।

५१—**अहिंसा का उदाहरण**—एक उदाहरण लिया जाय। यदि यह कहा जाय कि वर्गहीन समाज मे युद्ध न होगे, उस समाज मे तोप, बन्दूक, टैंक, ऐटम-बम का उपयोग न होगा। उस समाज मे सामरिक हत्या की तो बात जाने दी जाय, वैयक्तिक हत्या भी नही होगी, न मार-पीट होगी, दूसरे शब्दो मे उस समाज मे अहिंसा का बोलवाला होगा, इसलिए अभी से अहिंसा को निरवच्छिन्न सदाचार के रूप मे मान लिया जाय। यह बात सच है कि वर्गहीन समाज मे युद्ध तथा हत्या के लिए कोई आधार नही रह जायँगे, किन्तु अभी से अहिंसा को वर्गसग्राम मे एक-मात्र अनुसरणीय नीति या युद्ध-पद्धति के रूप मे ग्रहण किया जाय, तो बडी भारी गलती होगी। इसका कारण यह है कि शोषकवर्ग तो अपने को तोप, बन्दूक, टैंक, ऐटम बमो से लैस रक्खेगा, और अपने स्वार्थों पर आघात होते ही अत्यन्त निर्दयता के साथ इनका व्यवहार करेगा। इस हालत मे यदि वर्गहीन समाज का सदाचार मानकर शोषितवर्ग अहिंसा को ही अपना एक-मात्र तरीका स्वीकार कर ले, तब तो बडी अजीब हालत होगी। उस हालत मे वर्गहीन समाज का यह कथित सदाचार उसके स्वार्थों के लिए सम्पूर्ण रूप से घातक होगा, उसे कभी शोषण से मुक्त न होने देगा, और सच तो यह है कि वर्गहीन समाज की कभी नौबत ही नही आवेगी। यदि वर्गहीन समाज के सदाचार की दुहाई देकर शासकवर्ग अपनी तोपो, बन्दूको, तलवारो को गला दे, और ऐटम की शक्ति को उत्पादन के कार्य मे लगा दे तब, उस

हालत मे, शोषितवर्ग के लिए भी यह उचित होगा कि वह अहिंसा को ही एक-मात्र नीति के रूप मे ग्रहण करे, अन्यथा वर्गहीन समाज का कथित सदाचार उसके लिए घातक सिद्ध हो सकता है। गलतफहमी से बचने के लिए बता दिया जाय कि सग्राम के एक सोपान तक अपनी शक्ति को बिखरने न देने के लिए सर्वहारावर्ग को भी जिस अहिसा का अवलम्बन करना पडता है, उस अहिसा के सम्बन्ध मे यहाँ कुछ कहा नही जा रहा है, क्योकि वह अहिंसा तो अन्तिम हमले के लिए शक्ति-सचय-मात्र है।

५२—वर्तमान युग में एकदेशीय सत्य का नारा घातक—इसी सिलसिले मे असत्य के भी प्रश्न को लिया जाय। कहा जा सकता है कि जिन कारणों तथा दबावो से लोग आज झूठ बोलते है, उन कारणों के समाप्त कर दिये जाने के कारण वर्गहीन समाज मे कोई मिथ्या भाषण न करेगा। हम इसको इस रूप मे मान लेते है, यद्यपि सच तो यह है कि जिस समाज मे झूठ के लिए उत्तेजक कारण नही रह जावेगा, और लोग पहले की इस सम्बन्ध की बातो को भी भूल गये होगे, उसमे न झूठ होगा और न सच, क्योकि जिस समाज मे लोगो को झूठ की कोई धारणा नही होगी, उस समाज मे सत्य की धारणा नही रह सकती। ऊपर हमने वर्ग-समाज की अहिंसा के विषय मे जो कुछ कहा है, उस पर भी यही मन्तव्य लागू होगा। जो हो, यदि इस बहाने पर कोई यह कहे कि चूँकि वर्गहीन समाज मे झूठ न होगा, इसलिए सर्वहारा राष्ट्रो को चाहिए कि वे किसी प्रकार की गुप्त सन्धि न करे, किसी प्रकार की कूटनीति का अवलम्बन न करे, किसी प्रकार के अस्त्रो को गुप्त न रक्खे। पेट्रोल की राजनीति न करे, जो कुछ कहे और करे सब खुले-खज़ाने करे, दुनिया के राष्ट्रो के सम्मुख एक आदर्श स्थापित करे, तो यह सम्पूर्ण रूप से मूर्खता होगी। ऐसा कहने का अर्थ यह होगा कि सर्वहारा राष्ट्र से यह कहा जाय कि वह आत्मघात कर ले, और बुर्जुआ राष्ट्रों को मौका दे कि वे उसे हड़प जायँ। जिस समय तक पृथ्वी के सब देशो मे या कम से कम अधिकाश बृहत् देशो मे समाजवाद की स्थापना नही होती, और पृथ्वी समाजवाद के लिए सम्पूर्ण रूप से निरापद नही हो जाती, जिस समय तक सर्वहारा राष्ट्र पर बुर्जुआ राष्ट्रो के हमले का डर बना रहेगा उस समय तक सर्वहारा राष्ट्र को

कूटनीति के दावँ-पेचो से काम लेना पडेगा; जिस समय तक यह भय रहेगा कि बुर्जुआ राष्ट्र अपने गुप्तचरो और पिछलगुओं के द्वारा सर्वहारा राष्ट्र को अन्दर से पगु कर सके, जिस समय तक किसी भी प्रकार सर्वहारा राष्ट्र को यह भय रहेगा कि उनके हितो अथवा विश्व के सर्वहारा के हितो पर बुर्जुआ देशो की ओर से हानि पहुँच सकती है; उस समय तक सर्वहारा राष्ट्र को कूटनीति के सब दावँ-पेचो को काम लेना पडेगा, और बुर्जुआ राष्ट्रो के मुक़ाबिले मे अधिक सफलतापूर्वक इन दावों का इस्तेमाल करना पडेगा। उसे बुर्जुआ राष्ट्रो की आपसी असगति का फायदा उठाना पडेगा। आवश्यकता पडने पर उन्हे आपस मे लडा देना पडेगा। किसी राष्ट्र पर बिना चेतावनी दिये, एकाएक हमला करना पडेगा, क्योकि आधुनिकतम युद्ध-नीति के अनुसार हमला करना ही आत्मरक्षा का सबसे बडा तरीका है, अपने यहाँ के प्रत्येक व्यक्ति को अपने यहाँ की लाल सेना का सदस्य बनाना पडेगा, बाध्यतामूलक सामरिक शिक्षा देनी पडेगी, ऐटमबम और उससे भी भयकर अस्त्रो से अपने को लैस रखना पडेगा। मतलब यह कि जो कुछ भी कल्पनीय है वह सब करना पडेगा।

५३—सर्वहारा राष्ट्र की कूटनीति-नैतिक—स्वाभाविक रूप से यहाँ पर यह प्रश्न उठेगा कि यदि सर्वहारा राष्ट्र बुर्जुआ राष्ट्रो की तरह सभी तरह की बातों मे वही आदर्श रक्खे जो वे रखते है, तो वह क्योकर इनसे श्रेष्ठ माना जा सकता है। हमने अब तक जो कुछ कहा है उस दृष्टिकोण से सोचने से इस बिन्दु पर क्या सही मत होगा यह स्पष्ट हो जाता है। सर्वहारा राष्ट्र एक उच्चतर राष्ट्र है, इसलिए उसकी रक्षा मे जो भी कूटनीति अवलम्बित होगी, वह दृश्यमान रूप से या यों कहिए कि निर्जीव रूप से देखने पर बुर्जुआ राष्ट्र की कूटनीति की तरह होने पर भी सदाचार है क्योकि उसका उद्देश्य उच्चतर समाज की रक्षा है। बुर्जुआ राष्ट्र की जो कूटनीति प्रतिक्रियावादी कहलावेगी, असदाचार तथा अनीति कहलावेगी, वही कूटनीति सर्वहारा राष्ट्र के क्षेत्र मे प्रगतिशील, क्रान्तिकारी और सुनीति कहलावेगी। राष्ट्र की नीति-अनीति के सम्बन्ध मे हमने इसलिए विशेषकर लिखा कि बुर्जुआ राष्ट्रो की कूटनीति की हम आलोचना कर आये है। इस सम्बन्ध मे एक बात और स्मरण रखने योग्य है कि बुर्जुआ राष्ट्र कूटनीति का व्यवहार करते है, इसी लिए सर्वहारा राष्ट्र को

आत्म-रक्षार्थ उसका प्रयोग करना पडता है, नही तो सर्वहारा राष्ट्र को बहुत खुशी होती, यदि बुर्जुआ राष्ट्र अपने सब काम खुलेखजाने करने लगते, किन्तु यह तो शाब्दिक असगति अथवा बैल से दूध दुहना है। बुर्जुआ राष्ट्र शोषण पर अवलम्बित है। इस शोषण का रूप यह है कि मुट्ठी भर लोग करोडों का शोषण करते है। ऐसी हालत मे वे सच बोलने की शौकीनी कब कर सकते है ?[१]

इन्ही बातों को दृष्टिकोण मे रखते हुए डाक्टर जूलियस एफ० हेकर ने यह नतीजा निकाला है कि 'दुनिया के मजदूरो के हितो की सेवा साम्यवाद का उच्चतम सु है। जो बात मेहनत करनेवालों के हितो को आगे वढाती है, वही अच्छी है, और जो इसमे वाधा पहुँचाती है, वह खराव है ?'

५४—शोषितो के दल और सदाचार—जो वात सर्वहारा राष्ट्र के सम्वन्ध मे कही गई वही बात सर्वहारा दलो के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। प्रश्न यह नही है कि सर्वहारा दल एक नई नीति का नमूना दिखावे, और दिखाते-दिखाते शहीद हो जावे। प्रश्न तो यह है कि किस प्रकार बुर्जुआ दलो तथा साम्राज्य-वादियो से सफलतापूर्वक लोहा लिया जाय। जब हम इस सग्राम मे सफलता प्राप्त कर लेगे, और दुनिया समाजवाद के लिए निरापद हो जावेगी, तभी नई नीति का प्रश्न उठेगा, उसके पहले नही। उसके पहले ऐसा नारा देना आत्म-हत्या करने के तुल्य होगा। फिर जैसा कि राष्ट्र के सम्वन्ध मे हमने वताया, बुर्जुआ दल हर तरह की बेईमानी और झूठ का इस्तेमाल करते है, लोगो को सत्य कभी नही जानने देते, कही प्रत्यक्ष हस्तक्षेप के द्वारा, और कही विज्ञापन-दाताओ के सघ के जरिये तथा कही कानाफूसी के प्रचार-कार्य से वे छापेखानो का गला घोटे रहते है। हमने यह भी देखा कि सभ्य जगत् के अच्छे से अच्छे बुर्जुआ दल किस प्रकार जिनोविफ पत्र की तरह साफ जालसाजी करते है। ऐसी हालत मे किसी साम्राज्य-विरोधी या सर्वहारा दल को यह कहना कि वह अपने विरोधियो के विरुद्ध दूध के धुले तरीकों का इस्तेमाल करे, मानो ऐसा होगा कि हमेशा को अपने लिए गुलामी का पट्टा लिख दे। इस दृष्टि से देखने पर हमे यह अच्छी तरह ज्ञात हो जायगा कि क्यो इन्ही बेईमान और मक्कार बुर्जुआ

१ M D p 217

दलो के सदस्यगण शोषितो को दूध के घुले तरीको का इस्तेमाल करने के लिए कहते है; और उक्त सदस्यो को क्यो विश्व नागरिक, महात्मा, युगावतार आदि नाम से अभिहित करते है। ये लोग खुद इन 'महात्माओ तथा 'युगप्रवर्तको की कही हुई बातो का अपने जीवन मे क़तई अनुसरण नही करते; किन्तु शोषितों की आँखों मे धूल झोकने के लिए ऐसे महात्माओ की तारीफो के पुल बाँध देते है। यदि बुर्जुआ दल या साम्राज्यवादीगण दूध के घुले तरीको का इस्तेमाल करे, अपने मतलब के लिए शोषितो को चाहे साम्प्रदायिक नारे पर या और किसी आर्थिक, सामाजिक नारे पर आपस मे न लड़ावे, यदि वे स्वेच्छा से अपने लूट-खसोट के माल को वापस देने के लिए तैयार हो जायँ, यदि वे उत्पादक काम करने के लिए उद्यत हो जायँ (जैसा कि वे कभी हो नही सकते, एक आध व्यक्ति की बात दूसरी है), तभी यह प्रश्न उठेगा कि दूध के घुले तरीके खुले-खज़ाने इस्तेमाल किये जायँ। महात्मापन इस बात मे है कि ऐसा नारा दिया जाय जिससे शोषितो को शोषण पद्धति के शिकजे से छुटकारा प्राप्त करने की सुविधा हो, न कि इसके विपरीत। कोई भी नारा केवल ऊपरी स्वरूप के कारण अच्छा या बुरा नही हो सकता। जैसी परिस्थिति है समाज की शक्तियाँ जिस प्रकार है, इन्ही को देखते हुए जब कोई नारा प्रगति या प्रतिक्रिया के लिए अच्छा या बुरा साबित होता है तभी वह अच्छा या बुरा कहा जा सकता है। जिस युगप्रवर्तक के नारे से शोषितो का जिस हद तक कल्याण होता है वह उतना ही बड़ा युगप्रवर्तक है। इसी पहलू से प्रभावित होकर रोमारोलाँ ऐसे चिरन्तन मूल्यो और मान्यताओ मे विश्वास करनेवाले व्यक्ति भी लेनिन को इस युग का सबसे प्रमुख महापुरुष मानने पर मजबूर हुए। आप यदि बिलकुल दिगम्बर होकर सर्वस्व त्याग का नारा दे, किन्तु समाज-पद्धति मे उससे कोई फ़र्क न आवे, तो वह नारा भले ही आपकी सदिच्छा का द्योतक हो, किन्तु उसका नैतिक मूल्य सदिग्ध है। पडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा मे रूस के विषय मे लिखते हुए कहा है कि वहाँ की हिसाओं से उन्हे बहुत कष्ट हुआ है, किन्तु ऐसा लिखने के बाद ही उन्हे याद आ गई कि बुर्जुआ देशो मे ही हिसा की कमी कब है। इस पर वे बहुत सही तौर से लिखते है कि विचार करने पर ज्ञात हुआ कि हिसा सोवियट पद्धति मे अन्तर्निहित नही

है, किन्तु पूँजीवादी पद्धति मे तो वह अन्तर्निहित है। यही बात वुर्जुआ दल तथा वुर्जुआ-विरोधी दलो के विषय मे विशेषकर सर्वहारा दल के विषय मे कही जा सकती है।

५५--सर्वस्व त्याग के नारे की जॉच--भगवान् बुद्ध और दास--हम यदि इस प्रसग मे थोडी देर के लिए सुदूर भूतकाल मे लौट जायँ तो विचारों के स्पष्टीकरण मे सहायता मिलेगी। भगवान् बुद्ध अपने युग मे एक महान् क्रान्तिकारी हो गये है। उन्होने यागयज्ञ प्रधान ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध आवाज उठाई, इत्यादि इत्यादि। कुछ लोगो के अनुसार बुद्ध से वढकर कोई भारतीय पैदा ही नही हुआ। एच० जी० वेल्स ऐसे साम्राज्यवादी तथा श्वेत जाति के बोझ मे विश्वास रखनेवाले लेखक ने बुद्ध को इतिहास के इने-गिने आधे दर्जन महापुरुषो मे गिनाया है। बुद्ध के त्याग मे भला क्या सन्देह हो सकता है? उन्होने सर्वस्व त्याग कर, भिक्षु वनकर, अर्हतत्त्व प्राप्ति का नारा दिया। यह सब ठीक है, किन्तु इस सर्वस्व त्यागी को भी उस समय के वार्गिक सम्बन्धो मे क्रान्तिकारी तरीके से हस्तक्षेप करने की हिम्मत नही हुई। बात यह है कि वे स्वय उठते हुए महाजन वर्ग को साथ मे लेकर चल रहे थे, उनकी अद्भुत सफलता का रहस्य इसी मे है कि उनकी विचार-धारा से आम लोगो के साथ साथ एक उदीयमान शासक वर्ग को जोर मिला। उस युग मे दास रखने का चलन था। बुद्ध को यह कहने की हिम्मत नही थी कि 'दास-प्रथा को खत्म कर दो।' उन्होने स्वय दास नही रक्खे, और जब लोगो ने उन्हें उपहार मे दास देना चाहा तो उन्होने इनकार कर दिया, फिर भी (अब हम डाक्टर यू० एन० घोषाल से उद्धृत करेंगे) वे गुलाम के मालिको के दासो पर हक का सम्मान करते थे। उन्होने कह दिया था कि सघ मे कोई भी ऐसा दास न आये जिसको उसके प्रभु ने आज़ाद न कर दिया हो।[1] इसी प्रकार सभी तरह के सन्यास आश्रम मे ऐसे कर्जदार का, जिसने अपना कर्ज नही चुकाया है, प्रवेश निषिद्ध है। आखिर इन बातो से क्या जाहिर होता है? यही न कि केवल सर्वस्व त्याग के नारे से कुछ नही होता। असली प्रश्न है समाज-पद्धति को बदलकर शोषण का उन्मूलन। यदि ऐसा नही हुआ तो ऊँचे से ऊँचे नारे व्यर्थ है।

---

१ B. I H p 91

पा० ३२

५६—सर्वहारा सदाचार में अपने वर्ग उद्देश्य की स्पष्ट स्वीकृति—हमारे विवेचन के अनुसार यह स्पष्ट हो गया कि वुर्जुआ तथा साम्राज्यवादी दलो के मुकाविले मे सर्वहारा दल किस प्रकार की कार्य-पद्धति का अवलम्बन कर सकता है और ऐसा करना उचित होगा। हमारे निकट औचित्य का एक ही मान दण्ड है। वह मानदण्ड यह है कि कहाँ तक एक वात प्रगति की शक्तियो को मज़वूत करती है, और उन्हे प्रतिक्रिया की शक्तियो के मुकाविले मे विजयी बनाती है। कहा जा सकता है कि यह तो वहुत उच्छृङ्खलता की बात हुई। इससे तो कुछ पता ही नही लगेगा कि क्या हेय है और क्या उपादेय है। हम दिखा चुके कि कार्य-क्षेत्र मे वुर्जुआ क्या करते है, इसलिए वात इतनी रह गई कि इसके वावजूद जो है उसे मान लिया जाय या शुतुरमुर्ग की तरह वालू मे सिर छिपाकर यह कहा जाय कि हम ऐसे है और वैसे है, और अपने मुँह मियाँ मिट्ठू वना जाय। जैसे मार्क्सवाद मे ही राष्ट्र के सम्वन्ध मे यह स्वीकार किया गया है कि राष्ट्र एक वर्ग के दमन के लिए दूसरे वर्ग की सशस्त्र और दमनकारी सस्था है, दूसरे सिद्धान्तो की तरह इसमे राष्ट्र के इस दमनात्मक वर्ग चरित्र को छिपाया नही जाता, वैसे ही सदाचार के क्षेत्र मे हम इस वात को नही छिपाते कि सदाचार हमारे हाथो मे शोषण का अन्त करने के लिए एक हथियार के रूप मे है, और इस हथियार का इस्तेमाल अन्तिम रूप से देखने पर अखिल मानव जाति के कल्याणार्थ होने पर भी इस समय इसका इस्तेमाल शोषकवर्ग को खत्म करने के लिए होगा।'हम जिस प्रकार यह मानते है कि सर्वहारा का राष्ट्र अथवा सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकत्व दमनात्मक है, और यह पहले के शोषक वर्गो या उनके अवशेषों का दमन करेगा, उसी प्रकार हम यह साफ साफ कहते है कि हमारा सदाचार शोषणो का जल्दी अन्त कर देने के लिए है, न कि मखमल जडी कॉच की आलमारी मे रखकर पूजा करने के लिए। वुर्जुआवर्ग या उसके दल जिस प्रकार निर्लज्जतापूर्वक कार्यक्षेत्र मे कुछ और, तथा सिद्धान्तो मे कुछ और रखते है, उस प्रकार की विलासिता करने का साहस हम नही करते और न इस प्रकार हमे किसी ढोग की जरूरत है।

५७—सर्वहारा दल को प्रमाणित करना पड़ेगा कि वह सर्वहारा का दल है—स्वाभाविक रूप से यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि फिर तो साहव, जो भी गुट

अपने को शोषित या सर्वहारा का दल कहेगा, उसे मनमाना करने का पासपोर्ट मिल जायगा। इसलिए यह बता देना आवश्यक है कि पहले तो ऐसे दल को यह साबित करना पडेगा कि वह सचमुच शोषितो का और सर्वहारा का दल है, तभी उसे ऐसी दुहाई देने का हक होगा। यह नही कि जिनका किसी प्रकार से सर्वहारावर्ग से कोई सम्बन्ध नही है, और है तो वह सम्बन्ध आवयविक नही है, और बहुत कम है, उन्हे सर्वहारा के नाम पर कुछ कहने का अधिकार न होगा। फिर यह देखना पडेगा कि कहाँ तक उनकी नीति सर्वहारावर्ग के कल्याण मे समर्थ हुई है। यदि कोई दल जो सर्वहारा दल होने का दावा करता है, ऐसी नीति अख्तियार करे जिसके कारण सब मिलाकर सर्वहावरावर्ग को क्षति पहुँचे तो अवश्य ही यह कहना पडेगा कि वह नीति गलत थी। इस विषय मे हम इससे अधिक ब्यौरे मे नही जायँगे। जो बात सर्वहारा दल के सम्बन्ध मे कही गई, वही बाते सर्वहारा राष्ट्र के सम्बन्ध मे भी लागू समझी जायँ।

५८—कोई भी वैयक्तिक प्रश्न वैयक्तिक नही—उदाहरण दो में प्रेम— अब तक जो कुछ कहा गया उससे सर्वहारा सदाचार का सामूहिक रूप स्पप्ट हो गया, किन्तु इसके साथ यह प्रश्न उठता है कि बहुत से ऐसे प्रश्न तथा समस्याएँ आ जाती हें जैसे किसी युवती के साथ हम प्रेम करे या न करे, इसको सही या गलत कैसे समझा जाय ? एक पुरुप किसी स्त्री से प्रेम करे या न करे, इसमे किसी वर्ग को क्या दिलचस्पी है, तथा उस प्रेम को कैसे हम सदाचार के इस या उस प्रकोप्ठ मे डाल दे ? मामूली तौर पर तो यह बात वैयक्तिक ज्ञात होती है, किन्तु जरा भी विचार करने पर मालूम होगा कि ऐसा प्रत्येक वैयक्तिक प्रश्न सामूहिक रहा है, और है। ड्यूक आफ विडसर श्रीमती सिम्पसन से शादी करते या न करते, इसमे राष्ट्र का कौन-सा हर्जा हुआ जाता था, किन्तु यह कार्य सामूहिक था, और इसे सामूहिक रूप मिला, यह तो हम इतिहास मे देख चुके। इँगलैड का सुसभ्य शासकवर्ग स्त्री-स्वाधीनता (जिसमे पुर्नविवाह का हक भी शामिल है) की डीग मारते रहने पर भी तथा आम तौर पर विधवा विवाह को निषिद्ध न मानने पर भी इस बात के लिए तैयार नही था कि कोई क्षतयोनि स्त्री इँगलैड की राज्ञी के आसन पर बैठे, और भविष्य मे राजा की माता हो। इसलिए राजा को ड्यूक आफ विडसर बनना पड़ा।

कहा जायगा कि यह ऐसा उदाहरण है जो स्वय असाधारण है। इसलिए एक साधारण उदाहरण लिया जाय। एक ब्राह्मण का लडका किसी चमार की लडकी के साथ प्रेम करता है। सनातन हिन्दू-समाज फौरन लाठी लेकर इन दोनो के पीछे पड जाता है। शरत बाबू की 'छवि' नामक कहानी मे खूबी के साथ चित्रित किया गया है कि इस प्रकार के प्रेम के साथ समाज का क्या सम्बन्ध है। प्रेमचन्द ने अपनी श्रेष्ठतम कृति 'गोदान' मे दिखलाया है कि मातादीन ब्राह्मण सिलिया चमाइन को रख लेता है। इस पर समाज की जो प्रतिक्रिया होती है, उसका वर्णन गोदान मे किया जाता है।

इसलिए मामूली तौर पर एक पुरुष और एक स्त्री का प्रेम जितना वैयक्तिक ज्ञात होता है, वास्तव मे उतना नही है। भारतीय हिन्दुओ मे तो जात-पॉत के कारण इस प्रकार के वैयक्तिक प्रेमो पर बहुत असर पडता है, बल्कि वे इसी पद्धति के द्वारा नियन्त्रित होते हैं। दूसरे देशो तथा समुदायो मे भी (रूस इसमे अपवाद है) कोई पुरुष अपने सामाजिक स्तर से बाहर विवाह नही करता, यानी ऐसे विवाहो की सख्या बहुत कम होती है। फिर इस वैयक्तिक प्रेम मे कितनी ही और बाते आ जाती हैं जैसे उस समाज मे बहुपतित्व, बहुपत्नीत्व या एक पति-पत्नीत्व प्रचलित है, तलाक है या नही, स्त्री को कुछ सम्पत्ति का अधिकार है या नही, उस समाज मे वेश्यावृत्ति है या नही, सन्तान-पालन का क्या मानदण्ड है, इत्यादि। एक उदाहरण लिया जाय। यदि कोई पुरुष ऐसी स्त्री के प्रेम मे पडता है जो विवाहिता है, तो फौरन इस प्रेम की स्थिति उस प्रेम के बनिस्बत और हो जाती है जिसमे प्रेमपात्री कुमारी या विधवा होती। बहुपत्नीत्व के अधिकारयुक्त समाज मे एक पुरुष कई स्त्रियो से विवाह कर सकता है, किन्तु स्त्री एक साथ कई विवाह नही कर सकती। इस प्रकार जितने भी उदाहरण हमे सूझ सकते हैं, उन सबमे समाज को दिलचस्पी है, और रही है। बुर्जुआ समाजो मे भी विवाह सोलहो आने कभी वैयक्तिक नही रहा। आर्थिक स्तर की सीमा के अतिरिक्त विवाह-कार्यों पर सैकडो तरीके के बन्धन हमेशा रहे हैं। चिकित्सा-विज्ञान की उन्नति तथा सार्वजनिक रूप से उसके प्रयोग मे सुविधा की वृद्धि के साथ साथ समाज को दो स्त्री-पुरुषो के मिलन मे और भी अधिक दिलचस्पी हो गई है। मनोरोग चिकित्सा-विज्ञान (psychopathology) तथा

अपराध-विज्ञान की उन्नति के साथ साथ इस क्षेत्र मे समाज का नियत्रण अधिकाधिक आवश्यक होता जा रहा है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को अब किसी हालत मे केवल वैयक्तिक समझना गलत होगा।

५९--मौलिक इलाज के साथ साथ स्थानीय इलाज भी--सुधार और क्रान्ति--स्त्री-पुरुष के मिलान के क्षेत्र मे रुपये का दबाव, आर्थिक स्तरगत सीमा आदि जितनी भी बाते पहले के पुरुषप्रधान वर्ग समाजो से हमे प्राप्त हुई है, वे हमे मान्य नही हो सकती। अवश्य ही हम उनको धता कर देगे। उनके मिटाने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि हम उस पद्धति को ही खत्म कर दे जिसकी नीव पर यह विषमतापूर्ण ढाँचा खडा है। यही सबसे उत्तम उपाय है, किन्तु इस विषय मे हम यदि केवल समाजवादी समाज के आगमन तक हाथ पर हाथ रक्खे बैठे रहे और पुरुषों तथा स्त्रियो मे जिस प्रकार के सम्बन्ध चल रहे है उनको ज्यों का त्यो चलने दे तो अनुचित होगा। हमारा सदाचार हमे किसी हालत मे अकर्मण्य बने रहने का उपदेश नही देता। वह हमे निरन्तर सग्राम करते रहने के लिए उद्बुद्ध करता है। इस सम्बन्ध मे हम चिकित्सा-विज्ञान से कुछ जरूरी सबक ले सकते है। असली इलाज तो वही है जिससे रोग की जड को ही खत्म कर दिया जाय, किन्तु जब कोई रोग किसी दूरगत कारण से हो जाता है तो उसके मूलगत इलाज के साथ साथ उसका स्थानीय इलाज भी करना पडता है। इस दृष्टि से देखने पर यदि बुर्जुआ पद्धति के रहते हुए भी बहुविवाह की जगह एक विवाह के कानून बनवाये जायँ, या कानून न बनने पर भी एक विवाह तक लोगों को सीमित रहने के लिए कहा जाय, तो वह शक्ति का अपव्यय न होगा। मौलिक क्रान्ति के साथ साथ हमारे कार्यक्रम मे छिटफुट सुधारो का भी स्थान है, इसको अस्वीकार करना मार्क्सवाद और लेनिनवाद के मूल-सिद्धान्त को अस्वीकार करना है। अवश्य ही यदि कोई व्यक्ति इन छिटपुट सुधारो तक ही अपने को सीमित रक्खे तो वह निन्दनीय है। इसी को सुधारवादी मनोवृत्ति कहते है, किन्तु यदि इन सुधारो के जरिये और इन सुधारो के दौरान मे मौलिक क्रान्ति की तैयारी की जाय तो वही असली क्रान्तिकारी सदाचार है। इसी लिए इस परवर्तनकाल मे भी हमारे कुछ कर्त्तव्य है। वह कर्त्तव्य यह है कि जहाँ तक इस अवस्था मे सम्भव है, स्त्री और पुरुष की समता की चेष्टा की जाय।

केवल सदिच्छा से या कानून बनवा देने से ही इस समाज मे, जिसमे उत्पादन के कार्यों मे स्त्रियो का स्थान निकृष्ट है, स्त्रियो को पूर्ण स्वतन्त्रता मिलना सम्भव न होगा। फिर भी स्त्रियो को पर्दे के बाहर लाकर, शिक्षा का मौका देकर, समाज के उत्पादक कार्यों मे उनका उत्तरोत्तर हिस्सा बढाने की चेष्टा कर हम बहुत कुछ हासिल कर सकते है। जब तक समाज की नीव बदल नही जाती, तब तक हमे एक हद तक ही सफलता मिलेगी, किन्तु फिर भी कुछ न कुछ फायदा होगा ही। इस सम्बन्ध मे हमारा सबसे बडा कर्त्तव्य यह होगा कि हम स्त्रियो को यह समझा दे कि अब तक जितने वर्ग शक्ति आरूढ हुए है, वे सब के सब इस बात की दिलचस्पी रखते थे कि स्त्रियो की मुक्ति न हो। सर्वहारावर्ग की लडाई ही एक ऐसी लडाई है जिसमे स्त्रियो की सम्पूर्ण मुक्ति अनिवार्य है। स्त्रियो को मुक्त किये बगैर सर्वहारावर्ग स्वय मुक्त नही हो सकता।

६०—बुर्जुआ राष्ट्रो के स्त्री से सम्बद्ध सदाचार की पोल—आखिर स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के क्षेत्र मे सर्वहारा सदाचार क्या है? कुछ लोग नासमझी से यह समझते है कि चूँकि हम बुर्जुआ सदाचार के विरुद्ध नारा देते है इसलिए हम जो चाहे सो कर सकते है। यह कहाँ तक सही है, यह देखने के पहले हम यह देख ले कि वास्तव मे, बुर्जुआ समाजो मे स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी सदाचारो की क्या हालत है। सबसे पहली बात यह है कि सभ्यातिसभ्य बुर्जुआ समाज मे वेश्यावृत्ति एक सर्वजन-स्वीकृत राष्ट्र की ठप्पायुक्त पद्धति या सस्था के रूप मे मौजूद है। अत्यन्त सभ्य और उन्नत राष्ट्रो मे तो राष्ट्र वेश्यागामियो के फायदे के लिए वेश्याओ की समय समय पर जाँच करते रहते है कि वे किसी सक्रामक रोग से पीडित तो नही है, और है, तो राष्ट्र के खजाने से उनका जबरदस्ती इलाज होता है, और इस इलाज के बाद यह नही है कि इन वेश्याओ को साधारण नागरिका बनाने की चेष्टा की जाय, बल्कि उन्हे फिर वेश्यावृत्ति करने के लिए वापस भेजा जाता है। राष्ट्र अपने दुश्मनो, कथित अराजकवादियो और आतकवादियो की तलाश मे जितना धन और शक्ति का व्यय करते है, उसका सौवाँ अश भी इस बात मे लगाते कि नई लडकियाँ चकलो मे खरीदकर या भगाकर न लाई जा सके, तो इसमे सन्देह नही कि वेश्याओ की सख्या पर कुछ रोक-थाम होती। अवश्य हम यह नही कहते कि इससे वेश्यावृत्ति खत्म

हो जाती, जब तक वर्तमान शोषणात्मक समाज-व्यवस्था कायम है, और जब तक उसमे स्त्रियो की आर्थिक हैसियत निम्नकोटि की है या कुछ भी नही है, तब तक वेश्यावृत्ति नष्ट नही हो सकती, किन्तु यहाँ तो हम यह दिखा रहे थे कि राष्ट्रो का इस सम्बन्ध मे क्या रुख है, तथा वे किस प्रकार अपनी शक्ति का उपयोग इस प्रथा के उन्मूलन के लिए नही करते।

वेश्यावृत्ति को जारी रखने के अतिरिक्त इन बुर्जुआ राष्ट्रों मे स्त्रियो पर कुछ न कुछ कानूनी या व्यावहारिक अक्षमताएँ है जिनके कारण उनके लिए स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने लिए पति ढूँढना या प्राप्त करना असम्भव है। वर्तमान क्षेत्र मे, जैसा कि वर्नार्डशा और रसल आदि ने भी कहा है, विवाह करना स्त्रियो का पेशा है, अर्थात् पति प्राप्त करना मानो रोटी देनेवाला प्राप्त करना है। अवश्य ही ऐसे वातावरण मे प्रेम का सुकुमार पौधा पनप नही सकता। आर्थिक दबावरूपी महान् वृक्ष की छाँह मे उसका गला घुट जाता है, और या तो उसकी अकाल मृत्यु हो जाती है या वह चोरी से जीता है, जिससे फिर अपनी बारी मे बहुत-सी अन्य जटिलताएँ उत्पन्न हो जाती है। इन बातो के होते हुए स्त्रियो को बुर्जुआ समाज मे भी एक हद तक जो अधिकाधिक स्वतन्त्रता मिलती गई है, उसका कारण आर्थिक शक्तियो की प्रबलता है।

जव लडाई के कार्यो मे पुरुपो की अधिक आवश्यकता हुई तो वही हिटलर स्त्रियो को फिर घर से वाहर Kuche, Kirche, Kinder अर्थात् रसोईघर, गिरजा और सौरिगृह से वाहर वुलाने के लिए वाध्य हुआ। इसलिए आर्थिक शक्तियाँ वडे से वडे फुहरेर से शक्तिशाली होती है। यह वात तो है ही और उन्होने वुर्जुआ वर्ग से भी स्त्रियो को वहुत कुछ दिलवा दिया, किन्तु हमारा कहना यह है कि चिरन्तन सदाचार का नारा देने-वाले वुर्जुआ राष्ट्रो ने वेश्यावृत्ति या उसकी आनुनगिक वातो को हटाने के लिए अपनी तरफ से कुछ भी नही किया और जहाँ तक हो सका, चीजो को टाला। इसलिए उनकी सारी डीगे थोथी है।

६१—रूस में स्त्री स्वतत्रता एक वास्तविकता—इसके विपरीत सोवियट रूस को अपने पूर्वतन शोपक राष्ट्र से उत्तराधिकार सूत्र मे जो वेश्याएँ तथा काम-चोर स्त्रियाँ मिली, उनको उसने धीरे धीरे सुधार कर नागरिक जीवन मे प्रतिष्ठित कर दिया। अवश्य इसमे दसियो वर्प लग गये, और अभी तक अवशेप के रूप मे इस प्रकार की कुछ स्त्रियाँ सोवियट रूस मे हो तो कोई आश्चर्य नही। सव देशो मे समाजवाद की स्थापना के साथ-साथ तथा पूर्वतन युगो की स्मृति के मिट जाने के साथ साथ समाज-शरीर का यह कोढ विलकुल दूर हो जायगा। फिर कभी इसका प्रकोप न होगा।

६२—साम्यवादी यौन सदाचार पर लेनिन—हम फिर सामूहिक वातो की ओर चले गये। प्रश्न तो यह है कि क्या स्त्री-पुरुष सम्वन्धी वैयक्तिक जीवन मे हमे मनमाना करने का अधिकार है? सोवियट रूस के निन्दको ने सोवियट सदाचार के नमूने के रूप में एक किस्सा गढा है जो वहुत दिलचस्प है। कहा गया है कि रूस मे चूँकि सब काम सामूहिक है इसलिए एक पर्यटक वहाँ पहुँचा तो उसे एक फर्लांग लम्बी एक रजाई के नीचे सैकडो स्त्री पुरुषो के साथ सोने को मिला, और यह तजर्वा हुआ कि जो व्यक्ति इस किनारे सोता है वह रात भर मे लुढकते पुढकते रजाई के उस किनारे जा पहुँचता है। यह तो स्पष्ट ही गप्प है, किन्तु हम आज एक स्त्री के साथ सोये और कल दूसरी के—ऐसा कर सकते है? इस प्रश्न का वल्कि लाछन का उत्तर देते हुए लेनिन ने प्रसिद्ध क्रान्तिकारिणी क्लारा जेटकीन से जो कुछ कहा था वह यो है—

'हमारे यहाँ भी युवको का बहुत बडा हिस्सा और मुझे कहना पडता है कि हमारे होनहार और श्रेष्ठ युवको का भी काफी बडा हिस्सा यौन समस्याओ से सम्बन्धित पूँजीवादी धारणाओ और नैतिकता मे सुधार करने के लिए उत्सुक है युद्ध और क्रान्ति जनित परिस्थितियो के कारण पुरानी मान्यताएँ या तो गायब हो गई है (स्मरण रहे कि क्लारा के साथ यह बात चीत क्रान्ति के बाद १९२० मे हुई थी—ले०), या अपनी शक्ति खो बैठी है। नई मान्यताएँ धीरे धीरे सघर्ष के द्वारा अस्तित्व मे आ रही है। पुरुष पुरुष के बीच और स्त्री पुरुष के बीच के सम्बन्धो, भावनाओ और विचारो मे क्रान्ति हो रही है। व्यक्ति के अधिकारो और समाज के अधिकारो के बीच तथा व्यक्तियो के कर्त्तव्यो के सम्बन्ध मे नई सीमाये निर्धारित की जा रही है। अभी सारा मामला एक अव्यवस्थित उथलपुथल में है। अनेको परस्पर विरोधी प्रवृत्तियो के बीच उन्नति की खास दिशा या शक्तियाँ अभी साफ तौर पर निश्चित नही हो पाई है। क्षय होने या बढने का यह क्रम धीमा और प्राय बहुत दुखदायी होता है। विवाह परिवार और यौन सम्बन्धों के क्षेत्र मे पूँजीवादी विवाह के अन्दर मनुष्य की तो पूर्ण स्वतन्त्रता, किन्तु स्त्री की गुलामी, यौन सम्बन्धो और नैतिकता से कुत्सित पाखड, तलाक की कठिनाइयाँ आदि की जर्जरता, सडाध और गन्दगी सबसे विचारशील और अच्छे लोगो के मन को एक गहरी ग्लानि से भर देती है। पूँजीवादी विवाह की विवशता और पूँजीवादी शासन के परिवार सम्बन्धी नियम इन बुराइयों और टण्टे बखेडो को और बढावा देते है। जिस समय शक्तिशाली साम्राज्य लडखडा रहे हो, पुराने तरीके की शासन प्रणालियाँ नष्ट हो रही हो, और जब कि एक सारा सामाजिक सगठन ही खतम हो रहा हो, उस समय गुलछर्रे उडाने की इच्छाएँ आसानी से निरकुश हो सकती है। पूँजीवादी स्त्री पुरुष के सम्बन्ध और विवाह के रूप, असन्तोषप्रद है। मजदूर क्रान्ति की ही तरह स्त्री पुरुष के सम्बन्ध और विवाह मे एक क्रान्ति हो रही है।...
युवक और स्त्रियाँ वर्तमान कालीन यौन आपत्तियो के कारण दुखी है। वे अपनी जवानी के पूरे जोश के साथ विद्रोह कर रहे है। हम इसे समझ सकते है। युवको को मठाधीशो के वैराग्य और गन्दी पूँजीवादी नैतिकता की पवित्रता के उपदेश देने से अधिक झूठ और कुछ नही हो सकता। खासकर इस उम्र

मे जब कि यौन भावना शारीरिक अयवय मे प्रत्यक्ष हो, उसका चिन्ता का मुख्य विषय बन जाना बहुत ही गम्भीर है। यौन जीवन के प्रश्नों के प्रति युवको के परिर्वातित रूप अवश्य ही एक सिद्धान्त पर आधारित है। बहुत से लोग अपने इस रूप को क्रान्तिकारी और साम्यवादी कहते है। और वे ईमानदारी से विश्वास करते है कि यह ऐसा ही है। यह बात हम बूढो को प्रभावित नही करती। यद्यपि मै एक नीरस बूढा हूँ, फिर भी मुझे युवको और कभी कभी तो बूढो की यह नई यौन जिन्दगी सर्वथा पूँजीवादी और पूँजीवादी वेश्या-लयों का प्रसार ही मालूम पडती है।

६३—पानी के गिलास वाले सिद्धान्त की जाँच—'साम्यवादियो का जिस प्रेम स्वातन्त्र्य से मतलब होता है, उसके साथ इसकी तिलमात्र भी समानता नही है। तुमने वह प्रसिद्ध सिद्धान्त तो सुना ही होगा कि साम्यवादी समाज मे काम वासनाओ और प्रेम की तृप्ति गिलास से पानी पीने की तरह सरल और महत्त्वहीन होगी। इस पानी के गिलासवाले सिद्धान्त ने हमारे युवको को बौरा कर दिया है। बहुतेरे जवान छोकडे छोकडियो के लिए यह सिद्धान्त घातक साबित हुआ। उसके भक्त कहते है कि वे मार्क्सवादी है। धन्य है वह मार्क्स-वादी जो विचारधारा सम्बन्धी तमाम घटनाओ और परिवर्तनो को अविलम्ब और सीधे सीधे समाज के आर्थिक आधार से सम्बन्धित कर देता है। किन्तु बात इतनी आसान नही है। एक पुरुष फ्रेडिक एगेल्स था, जिसने बहुत समय पहले ऐतिहासिक भौतिकवाद के सम्बन्ध मे यह बतलाया था कि सम्बन्ध इतने सीधे सीधे नही होते।

'इस पानी के गिलास वाले सिद्धान्त को मै बिलकुल मार्क्स-विरोधी समझता हूँ। वह असामाजिक भी है। यौन जीवन मे साधारण स्वभाव ही नही, सास्कृतिक विशेषताएँ भी, चाहे वे उच्च प्रकार की हो या निम्न प्रकार की, विचारणीय है। एगेल्स ने अपनी पुस्तक 'परिवार की उत्पत्ति' मे दिखलाया है कि व्यापक यौन प्रेरणा का वैयक्तिक प्रेम के रूप मे विकसित और परिष्कृत होना कितना महत्त्वपूर्ण है। स्त्री पुरुष के आपसी यौन सम्बन्ध विचारणा से परे सिर्फ सामा-जिक अर्थ, नीति और दैहिक आवश्यकता के बीच शक्तियो का प्रदर्शन भर नही प्यास जरूर बुझानी चाहिए, लेकिन क्या एक स्वस्थ आदमी स्वाभाविक

परिस्थितियो मे नाली मे पडकर गँदले पानी से या वहुत से लोगों के ओठो से जूठे और गदे गिलास से प्यास बुझायेगा ? इसका सवसे महत्त्वपूर्ण पहलू सामाजिक है। पानी पीने का मामला तो वैयक्तिक है, किन्तु प्रेम मे दो जीवो का और नये पैदा होने वाले एक तीसरे जीव का सम्वन्ध है। इसलिए इसका एक विशेष सामाजिक महत्त्व है, और उसमे समाज के प्रति उत्तरदायित्व है।

'एक साम्यवादी के नाते पानी के गिलासवाले सिद्धान्त से मेरी जरा भी सहानुभूति नही है, यद्यपि उसे 'प्रेम की परितुष्टि' का बहुत ही लोभनीय नाम दिया गया है। किसी भी दशा मे यह प्रेम स्वातन्त्र्य न तो नया ही है, और न साम्यवाद के अनुरुप ही। तुम्हे याद होगा कि पिछली शताब्दी के मध्य मे इस सिद्धान्त का 'हृदय की मुक्ति' नाम से रोमान्टिक साहित्य के अन्दर काफी प्रचार किया गया था। अपनी पूँजीवादी दुनिया मे हृदय की जगह वह शरीर की मुक्ति बन गया। उन दिनो यह उपदेश आज से अधिक विद्वत्तापूर्ण था। व्यवहार के बारे मे मै नही कह सकता। अपनी आलोचना के द्वारा मेरा मन्शा वैराग्य का उपदेश देना नही है। साम्यवाद वैराग्य नही लावेगा, वह लायेगा जीवन का आनन्द और जीवन की स्फूर्ति। सन्तुष्ट काम जीवन उसमे भी सहायक होगा। इसके विपरीत यौन मामलो मे आज की यह विस्तृत धींगाधींगी मेरे ख्याल से जीवन को कोई आनन्द और स्फूर्ति प्रदान नही करती, वल्कि उसे क्षीण करती है। क्रान्ति के युग मे यह वहुत ही बुरा है। न वैरागियो की, न छैलो की और न जर्मनी के पठित मूर्खो के मार्ग की जरूरत है।"[१]

६४—साम्यवादी समाज में भ्रमर वृत्ति के लिए स्थान नही—स्त्री पुरुप के सम्वन्धों पर बुर्जुआ समाज पद्धति मे जो रोके है, उनके दूरीकरण का अर्थ यह कदापि नही है कि यौन जीवन मे भ्रमरवृत्ति का अवलम्वन किया जाय। यह सच है कि वैयक्तिक प्रेम आदिम साम्यवादी समाज मे नही था, वाद को ही चलकर इसकी उत्पत्ति हुई, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि अब जो उच्चतर समाजवादी समाज होगा, उसमे फिर से हम पुंमिश्रण के युग मे चले जायँगे, और वैयक्तिक प्रेम विलकुल लुप्त हो जावेगा,। इसके विपरीत ऐसा समझने

---

१ ले० सं० पृ० ५५-५७

का कारण है कि अब सबसे पहले समाजवादी समाज मे ही सही मानो मे प्रेम का उदय होगा, क्योकि इसी समाज मे प्रेम आर्थिक दबावो से मुक्त होकर अपनी महिमामय छटा मे प्रकट होगा। पानी के गिलासवाला सिद्धान्त या भ्रमर-वृत्ति के साथ साम्यवाद का कोई सम्बन्ध नही है। इस प्रकार का सिद्धान्त और आचरण ह्रासशील सामन्तवादी पर ह्रासशील पूँजीवादीवर्ग को ही शोभा देता है। सच तो यह है कि मुताह के रूप मे भ्रमरवृत्ति को धार्मिक स्वीकृति भी प्राप्त रही। यह केवल शियो की विशेषता नही, सभी धर्मो मे किसी न किसी रूप मे, किसी न किसी सम्प्रदाय मे, जैसे हिन्दुओ मे वैष्णव सम्प्रदायो मे कठी बदल के रूप मे भ्रमरवृत्ति को प्रोत्साहन प्राप्त था। अवश्य इस प्रकार के विवाहो मे प्रचलित समाज पद्धति के विरुद्ध विद्रोह का उपादान भी था, इसकी हम यहाँ पर आलोचना नही करेगे।

यदि स्त्री पुरुष के सम्बन्ध मे केवल प्यास बुझाने की बात होती तो और बात थी, किन्तु उसके साथ भविष्य की सन्तानो का भाग्य विजडित है, इसे हमे सर्वदा स्मरण रखना पडेगा। जनसख्या से राष्ट्र का बहुत भारी सम्बन्ध है, इसे भी स्मरण रखना पडेगा। इसके अतिरिक्त समाजवादी राष्ट्र या उसके अभाव मे सग्रामशील सर्वहारा का दल यह चाहेगा कि उसका प्रत्येक व्यक्ति अधिक मे अधिक जिम्मेदार हो और भ्रमरवृत्ति तो मानो जिम्मेदारी के बिलकुल विपरीत है। ऐसी हालत मे भ्रमरवृत्ति किसी भी प्रकार वाञ्छनीय नही हो सकती। स्त्री पुरुष के सम्बन्ध हो जाने के बाद यह समस्या भी आती है कि नागरिक वृद्धि की जाय या नही। इस प्रश्न का निर्णय सर्वहारा राष्ट्र की आगामी जरूरत को देखते हुए करेगा, और करना चाहिए। तदनुसार कब जन्म नियत्रण किया जाय, और कब उस पर रोक लगाई जाय, यह राष्ट्र का कार्य है। साम्यवादी सदाचार का स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के विषय मे एक ही मौलिक तकाजा है। वह है स्त्री-पुरुष मे आर्थिक समता। किन्तु ऐसा कर देने के बाद अर्थात् प्रेम सम्बन्ध को पूर्णरूप से आर्थिक दबाव से मुक्त कर देने के बाद राष्ट्र का दायरा आ जाता है कि वह सब नागरिको की दृष्टि से तलाक अधिक होने दे या कम, नियत्रण होने दे या नही, इत्यादि। समाज कोई बहुत सरल सस्था नही लए स्वाभाविक रूप से इस सम्बन्ध मे क्या उचित होगा और क्या अनु-

चित, यह भी बहुत जटिल हो जाता है। हम यहाँ पर केवल आधारभूत बातो पर ही विचार कर सकते है।

६५—वर्गहीन समाज में वर्ग सदाचार—अब प्रश्न यह उठता है कि अन्तिम रूप मे (यो तो अन्तिम कोई रूप ही नही है) अर्थात् साम्यवादी समाज के उच्च-तर सोपान मे या यो कहिए कि वर्गहीन समाज मे स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध मे वैयक्तिक प्रेम का कोई स्थान होगा या नही। इसका उत्तर हाँ या नही मे देना कठिन है, क्योंकि जिस मानी मे अब भी विवाह के लिए—वह चाहे रजिस्ट्री से ही हो—सामाजिक ठप्पे की जरूरत है, उसकी आगे चलकर कोई आवश्यकता रहेगी, ऐसा नही मालूम होता। उस समय लोगो का मनोविज्ञान जैसा होगा, उसमे यह ठप्पा कदाचित् अनावश्यक हो जाय। यहाँ पर फिर एक बार हम सावधान कर दे कि इस बहाने इस समय विचार विभ्रम पैदा करना गलत होगा। फिर यह स्मरण रहे कि वर्गहीन समाज मे ही जो सामाजिक ठप्पाहीन प्रेम (ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि वह दीर्घकालीन और बहुत सम्भव है, आजीवन प्रेम हो) होगा, वह भ्रमर वृत्ति से कही दूर होगा, बल्कि उसके बिलकुल विपरीत है। जैसा कि लेनिन ने स्पष्ट कर दिया, इस बात की कोई जरूरत नही है कि वैराग्य का नारा दिया जाय, किन्तु साथ ही छैलेपन से भी बचना होगा। आगे जब किसी तरह के सग्राम की आवश्यकता नही रहेगी, उस समय क्या धारणा होगी कहा नही जा सकता, किन्तु रूस के समाजवादी नेता गण प्रयोगात्मक रूप से इस नतीजे पर पहुँचे कि उन्हे अभी ऐसे नागरिक उत्पन्न करना है, जो सग्राम के लिए उपयुक्त हो। इसलिए उन्होने प्रयोग के लिए किशोर किशोरियो की सहशिक्षा बन्द कर दी, बच्चे-बच्चियाँ साथ पढ सकती है। उधर युवक युवती भी साथ पढ सकते है, किन्तु बीच मे किशोर-किशोरियाँ मे सहशिक्षा बन्द कर दी गई। यह एक प्रयोगमात्र है, सम्भव है, इसका परिणाम इच्छा के अनुरूप हो। सम्भव है न हो। सम्भव है, इसे बदल देना पडे। सम्भव है, यह स्थायी हो जाय। जो हो, जब तक स्त्री और पुरुष की आर्थिक समानता को कायम रखते हुए समाजवादी राष्ट्र चलता है, तब तक वह एक सीमा से लेकर दूसरी सीमा तक सब प्रयोग करने मे स्वतन्त्र है। प्रयोग गलत साबित होने पर उसे दूसरा प्रयोग करना चाहिए।

६६——साम्यवादी सदाचार उच्छृंखलता का परवाना नहीं देता——सक्षेप मे यही वह आधार है जिस पर हम अपने वैयक्तिक जीवन को सगठित कर सकते है। बहुत सी बाते बुर्जुआ पद्धति मे नही हो सकती है, किन्तु कुछ हो भी सकती है। जिस कारण चोरी करना एक समाजवादी के लिए बुरा है, उसी कारण उसके लिए भ्रमरवृत्ति से लेकर विना टिकट रेल मे सफर करना अनुचित है। हाँ, यदि सर्वहारा वर्ग के सग्राम को सफल करने के लिए, और उसकी वर्ग-एकता को बढाने के लिए किसी समय इसके विरुद्ध आचरण करना पडे तो वह गुण गतरूप से दूसरी वात हो जायगी। एक समाजवादी को निरन्तर इस बात की जाँच करनी पडेगी कि कब एक विशेष काम को करना या न करना उसके वार्गिक ठोसपन के लिए——उसके सग्राम को विजयप्रद करने के लिए जरूरी है, और कब नही। यदि किसी ने सम्पूर्णरूप से अपनी वैयक्तिक सकीर्ण स्वार्थसिद्धि के लिए कोई सदिग्ध आचरण किया, तो वह उस चोर के तुल्य होगा जो अपने को धोखा देता है कि वह पूँजीपति को लूट रहा है। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर सत्यासत्य का निर्णय करना पडेगा।

६७——सत्य और सदाचार अगले कदमो को उद्भासित करते है——सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक एच-लेवी ने सत्य क्या है, इसका उत्तर देते हुए बहुत ही सुन्दर शब्दो मे कहा है——

'सत्य क्या है? हम तो यह कहेगे कि किसी खास मुहूर्त मे सत्य मनुष्य के तजुर्बो का योगफल है। सत्य एक ऐसा दीपक है जो मनुष्य के आगे के चन्द कदमो को उद्भासित करता है। ज्योही एक बृहत्तर सत्य आ जाता है, त्योही पहले का सत्य पुराना हो जाता है। सत्य एक हथियार है जो मानवीय उद्देश्य के निर्माण तथा कार्यशील करने के लिए काम मे आता है। ज्यो ज्यो यह उद्देश्य स्पष्टतर होता जाता है, और प्राकृतिक प्रक्रिया को मनुष्य अधिकाधिक सहीरूप मे पढने मे समर्थ होता है, त्यो त्यो सत्य का हथियार और भी तेज साथ ही अधिक परिणामदायक होता जाता है।'[१] सदाचार भी इसी प्रकार मनुष्य के विकास के मार्ग को उद्भासित करनेवाला एक हथियार मात्र है। जब तक समाज है, तब तक वह वर्गो के दायरे के अन्दर प्रगतिशीलता के नियम के

१. P M M p 281

वह वैज्ञानिक तथ्य मालूम होने पर भी उसका आधार निरीक्षित तथ्यो पर नही है "क्योकि वे ऐसी घटनाओ पर आलोचना करते है जो ऐसे समय मे घटित हुई कि उनका निरीक्षण नही हो सकता था। वे अपने दिमाग तथा अपनी बौद्धिक आवश्यकताओ को एक स्थितिशील चित्र के रूप मे लेते है यानी जैसे वे जीव-वैज्ञानिक तथा सामाजिक तरीके से उद्भूत हुए है वैसे लेते है। फिर वे यह कहते है कि ऐसा 'अवश्य होगा'। इस प्रकार वे बिलकुल मानसिक उडान भरने के दोषी है, और सो भी ऐसे विषय पर जो बिलकुल सम्भव पादार्थिक समर्थन प्राप्त करने के बाहर है। यह पूर्णरूप से एक अवैज्ञानिक भविष्यवाणी है जिसकी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी प्रकार से परीक्षा नही हो सकती।"[१]

७०—एन्ट्रापी पर डाक्टर वेविक—इस सम्बन्ध मे डोक्टर बर्नहार्ड वेविक ने जो कुछ लिखा है, वह भी बहुत प्रासगिक है इसलिए उसे यहाँ उद्धृत करना आवश्यक है। उनका सबसे बडा कहना यह है कि यह Entropy या तापक्षणवाला नियम केवल सान्त, पृथक् पद्धतियो (finite isolated systems) पर लागू है। "इसलिए इसे विश्व पर लागू न करना ही अच्छा होगा, क्योकि इस धारणा के अधीन विश्व को नही लाया जा सकता। इसके अतिरिक्त दूसरी आपत्ति इस नियम को इस रूप मे मान लेने मे है, क्योकि यदि यह माना भी जाय कि सापेक्षवाद के सिद्धान्त के अर्थ मे हमारा विश्व देश मे सान्त (finite in space) भी है तो भी इस नियम से इस उपसहार पर पहुँचने की कोई तार्किक आवश्यकता नही है कि यह विश्व प्रक्रिया समय मे सान्त (finite in time) है, ऐसा मानने के लिए इसके अतिरिक्त और भी बाते मान लेनी पडेगी। एन्ट्रापी के नियम की अन्तर्गत वस्तु इतने ही कथन से समाप्त हो जाती है कि एक सान्त पद्धति की मुक्त शक्ति (the energy of a fintie system) धारावाहिक रूप से घटती जाती है। किन्तु इसमे इस विषय पर कुछ भी नही कहा जाता कि किस अनुपात से यह क्षय होता है। यह उपसहार कि एक परिणाम जो बराबर घट रहा है, निश्चित (चाहे बहुत दीर्घ ही) समय के बाद शून्य के अक पर पहुँच जायगा, उन लोगो की आम

---

१ The Universe of Science—H Levy p 27

गलतियो मे से एक है जिनको उच्चगणित की शिक्षा नही मिली है। फिर भी यह गलती बहुत बडी गलती है।"[१] आगे चलकर लेवी की तरह डाक्टर वेविक इस सिलसिले मे यह भी कहते है कि एन्ट्रापी के नियम के विरुद्ध सबसे महत्त्व-पूर्ण आपत्ति यह है कि अब तक हम यह जानते रहे है कि यह नियम आम तरीके से लागू है और प्रकृति की सब प्रक्रियाओ और पद्धतियो तक इसकी दौड है। किन्तु क्या यह बात सही है ? डाक्टर वेविक बडी छानबीन तथा वैज्ञानिक तर्क-वितर्क के बाद कहते है कि ऐसा नही माना जा सकता कि हर क्षेत्र के लिए यह सही होगा ही, क्योकि कुछ सीमित क्षेत्रो मे ही इसको लागू होते देखा गया है।[२] एन्ट्रापी के विरुद्ध आयुरवाख ने (Auerbach) एकट्रायी (Ektropy) का सिद्धान्त पेश किया है, किन्तु डाक्टर वेविक का कहना है कि यह सिद्धान्त कुछ नही मालूम होता। फिर भी वे कहते है कि एन्ट्रापी के नियम का निराकरण करने की जो आशा है वही बहुत कुछ है। विज्ञान की वर्तमान उन्नति ने निराकरण की इस आशा के मार्ग को बिलकुल बन्द नही किया है। इसलिए यह उचित न होगा कि सर जेम्स जिन्स की तरह एन्ट्रापी के नियम को एक विश्वव्यापी नियम मानकर उस पर कोई दार्शनिक निष्कर्ष निकाले जायँ।[३]

७१—जगत् के विनष्ट होने की धारणा निर्मूल—अभी हाल मे तास ने एक खबर प्रकाशित की है जिससे 'यह अनुमान करने की गुंजाइश हो रही है कि जैसे जगत् एक तरफ विनाश की ओर जा रहा है, वैसे दूसरी तरफ उसमे पुन -सृजन भी हो रहा है। तारे यदि बुझते जा रहे है तो दूसरी तरफ पुराने बुझते हुए तारे पुन प्रज्वलित हो रहे है। अध्यापक पी० पैरोनेगो का कहना है "१९४५ की २८ अगस्त को स्वीडिश वैज्ञानिक टाम ने aquila नामक नक्षत्रमडल मे एक नये तारे का आविष्कार किया।" अन्य तरीके से इस नये नक्षत्र के अस्तित्व का वैज्ञानिक अनुमोदन हुआ, यहाँ तक कि उसका फोटो ले लिया गया। "यह नया नक्षत्र Novae या नवीन नक्षत्रो मे से है, जिनकी सख्या १५० तक पहुँच चुकी है। इस सम्बन्ध मे यह बता दिया जाय कि नवीन नक्षत्र शब्द गुमराह

---

१. Anatomy of Science p. 260-61

२. Ibid p 263-64

३. Ibid p. 265-67

करता हूँ। कभी, लोग यह अवश्य समझते थे कि नवीन नक्षत्र नहीं बल्कि पहले से मौजूद कमज़ोर नक्षत्र अपनी क्षीयमान अवस्था से एकाएक प्रज्वलित हो उठते है। साल मे कोई तीस नक्षत्रो के इस प्रकार एकाएक प्रज्वलित हो उठने का अनुमान किया गया है, किन्तु इनमे से कुछ ही वैज्ञानिको की नज़र मे आते है। Spectial निरीक्षणो से ज्ञात हुआ है कि इन नक्षत्रो के प्रज्वलित होने की प्रक्रिया यह है कि वह नक्षत्र सैकडो गुना परिवर्धित हो जाता है, तथा उसकी उज्ज्वलता हज़ारो गुनी बढ जाती है। जिस समय इस प्रक्रिया के कारण वह नक्षत्र अपना सर्वश्रेष्ठ आकार तथा उज्ज्वलता प्राप्त कर लेता है, उस समय उसके धरातल से एक पतला गैसमय नेबुला अलग हो जाता है। यह बाहर की तरफ फैलता है, फिर धीरे-धीरे आकाश मे बिखर जाता है, और स्वय वह नक्षत्र भी फिर आकार और उज्ज्वलता मे घटता जाता है। फिर वह कथित White dwarf श्रेणी का हो जाता है। यह प्रक्रिया कई सालो मे पूरी होती है।"

कुछ ज्योतिषी-वैज्ञानिक यह समझते थे कि शायद हमारे सूर्य का भी यही हाल हो। पन्द्रह साल पहले तक लोग यही समझते रहे। पर इस महायुद्ध के ऐन पहले कुकार्किन तथा पैरोनेगो ने दिखाया कि सूर्य को इस प्रकार का कोई भय नही है। इन लोगो ने यह दिखलाया कि यह जो 'श्वेतवामन' किस्म के नक्षत्र है, ये औसतन तीन हज़ार साल मे प्रज्ज्वलति होकर नये नक्षत्रो के रूप मे दृष्टिगोचर होते हैं। इससे यह अनुमान किया गया है कि घटने, बिखरने की एक सीमा के बाद प्रतिक्रिया की प्रक्रिया, जिसे nuclear chain of reaction कहते है, शुरु होती है। पैरोनेगो का कहना है कि इसमे कोई रहस्यवादी आश्चर्य की आवश्यकता नही है। "इस प्रकार की प्रक्रिया का एक उदाहरण हम ऐटम के बिखरने (atomic disintegration) मे पाते है। इसमे एक हद के बाद ऐटम की आभ्यन्तरिक शक्ति का प्रकाश liberation of intra-atomic euergy) होता है। इसी प्रक्रिया से नवीन नक्षत्र प्रज्वलित होकर सामने आता होगा।"

इससे अनुमान करने का साहस होता है कि विश्व के भविष्य के लिए किसी काल्पनिक ईश्वर की आवश्यकता नही है। ऐटम की शक्ति ही विश्व के सृजन-मारण मे समर्थ है, और ऐटम की शक्ति भौतिक है। कुछ लोग ऐटम के बम से

इतने घबडाये ज्ञात होते हैं कि अब तो विज्ञान के विरुद्ध बड़ा शोर किया जा रहा है। यह एक नये ढग की विद्या शत्रुता (obscuranticism)- मात्र है। ऐटम का प्रयोग न मालूम किस-किस प्रकार हो सकेगा, ये लोग इसे भुला देते हैं। जिस काम के करने मे अब तक एक दिन लगता था, अब शायद एक मिनट मे हो सके। फसल को इच्छानुसार उत्पन्न करना, पकाना सब ऐटम की शक्ति से सम्भव होगा।

इसको यदि जाने दिया जाय तो भी इसी ऐटम बम के साथ जो अन्य आविष्कार इस युग मे हुए, उन्हे हम कैसे भूल सकते हैं। जे० डी० बर्नाल ने अभी 'मन की सीमाभूमि' नामक एक लेख मे लिखा है "ऐटम बम की तरह सनसनी खेज न होने पर भी उतने ही महत्त्वपूर्ण ऐसे कई भी आविष्कार इस बीच हुए हैं जिन्हे मनुष्य के कल्याण के लिए इस्तेमाल करना सम्भव होगा। वह है पेनिसिलिन। ऐटम बम मे जितने लोग मरे है या मर सकते है, उनसे कही अधिक मनुष्यो को पेनसिलिन जीवनदान कर चुका है। इसी प्रकार की एक दूसरी योजना प्रोटीन के गठन के सम्बन्ध मे है। इस महान् योजना का सम्बन्ध कृषि, खाद्य तथा व्याधिनिवारण मे है। इसके साथ नई और प्रयोजनीय जीवसृष्टि के लिए जनन-विज्ञान का भी समाधान हो जाता है। इसके अतिरिक्त इसी से देहतत्त्व और मनस्तत्त्वों की विराट् समस्याओं के समाधान सम्बद्ध हैं।' फिर यह निराशा क्यो ? जो दोष समाज-पद्धति का है, उसे विज्ञान तथा वैज्ञानिकों के मत्थे मढने की कुचेष्टा क्यो ?

विचित्रताओं तथा दिलचस्पियों का प्रतिफलन करते हैं। ये प्रतीक किसी भी विन्दु-पर हमारे साथ वास्तविकता का सम्वन्ध स्थापित नही करते, क्योंकि वे वास्तविकता के कोई हिस्से है ही नही। इस कारण अध्यापक का कहना है कि पदार्थ-विज्ञान की दुनिया प्रतीको की दुनिया मात्र है।[१] सर जेम्स जिन्स भी वडे जोरो के साथ कहते है कि पदार्थ विज्ञान हमे भौतिक वस्तुओं की यथार्थ प्रकृति के सम्वन्ध मे नही वलिक उनके सूक्ष्मीकरणो (abstraction) के सम्वन्ध मे खबर देते है। ईथर एक सूक्ष्मीकरण है। ईथर की तरगे सूक्ष्मीकरण है और वे तरगे जो एलेक्ट्रन को वनाते है, इसी सूक्ष्मीकरण के गुण को और भी जोरदार वनाया करती है।[२]

७३—अनिश्चयता का सिद्धान्त अध्यात्मवाद के लिए सहायक नहीं— आजकल के वडे पूँजीवादी वैज्ञानिको के कथन को हम सक्षेप मे दे चुके। दी गई वातो से स्पष्ट है कि किस प्रकार वैज्ञानिक वातो से धर्म को तथा अध्यात्मवाद को जोर पहुँचाने की कोशिश की गई है। इनमे से जो प्रमुख वात अनिश्चयता का सिद्धान्त है उसकी हम आइनस्टाइन के शब्दो मे आलोचना कर चुके। वात यह है कि धर्मवादियो को तो कही से घुसने का एक छोटा सा छिद्र भर चाहिए। वस, वे जानते है कि कैसे उँगली से पहुँचा पकडा जाता है, आइनस्टाइन ने जो कुछ कहा है वह तो पेश किया ही जा चुका है। किन्तु इसके अतिरिक्त यह पूछा जा सकता है कि यदि प्रकृति मे नियम का राज्य नही है तो उससे अध्यात्मवाद को सहायता कैसे मिलती है। जहाँ तक हमने समझा है, ईश्वरवाद को अराजकवाद के रूप मे पेश करने की इच्छा किसी ईश्वरवादी की नही। सच तो यह है कि अनिश्चयवाद से भौतिकवाद को ठेस पहुँचती है किन्तु साथ ही उसकी जगह पर अध्यात्मवाद का झण्डा गडने का भी कोई अवकाश नही रहता। अनिश्चयवाद का अर्थ सन्देहवाद है और सन्देहवाद चाहे भौतिकवाद के लिए घातक हो, किन्तु अध्यात्मवाद का भी पोषक नही है। यदि कार्य-कारण अन्तिमरूप मे नही है तो उससे तो सभी तरह के ज्ञान को तथा निश्चय को जक पहुँचता है न कि केवल भौतिकवाद को। इस सम्बन्ध मे सुप्रसिद्ध लेवी ने जिस दृष्टिकोण को पेश किया है वह जितना ही मौलिक है उतना ही ध्यान

---

1. Ibid p. 76 2 Ibid p 76

योग्य है। लेवी का कहना है कि एलेक्ट्रन एक Statistical entity यानी ऐसा अस्तित्व है जो एक समूह के आँकडेगत नियम के रूप मे अपने को अभिव्यक्त करता है। ऐसी हालत मे यदि एक सतह से दूसरी सतह पर जाने (मार्क्सवादी भाषा मे उसमे गुणगत परिवर्तन होने) पर यदि उसमे व्यवहार का प्रार्थक्य आ गया तो उसमे आश्चर्य क्या है। एक सतह पर एलेक्ट्रन परमाणु (Particles) की चारित्रिक विशेषता का प्रदर्शन करता है तो इससे कार्यकारण या सारी प्रकृति मे नियमानुवर्तिता भग नही होती। "केवल वे ही जो यह समझ बैठे है कि दोनो हालतो मे एलेक्ट्रन एक ही है तथा उनके गुण अपरिवर्तित है, अपने को कठिनाई मे पायेगे, किन्तु ऐसा कर वे अपने दृष्टिकोण मे आन्तरिक असगति का ही परिचय देगे" [१]

७४—भूत की बदली हुई धारणा और भौतिकवाद—अब हम यह देखेगे कि कहाँ तक भूत की बदली हुई धारणा से भौतिकवाद को नुकसान पहुँचा है। सबसे पहले हम जिन्स के Entropy या क्षयवाले सिद्धान्त को लेगे। चूँकि विश्वक्रम एक ठडक की लौ की तरफ जा रहा है इसलिए उसे एक स्रष्टा की जरूरत पडेगी जो घडी मे चाभी खतम होने पर फिर उसमे चाभी भर देगा। सर जिन्स तो बढते बढते यहाँ तक बढ गये कि विश्व को एक गणितिक विचारकारी के दिमाग का विचार मानते है। विश्व के स्रष्टा को एक महान् गणितज्ञ के रूप मे कल्पित करने का श्रेय जेम्स जिन्स के कोई तीन सौ वर्ष पहले उत्पन्न केपलर को दिया जाना चाहिए।[२] यह बात समझने की जरूरत नही कि चूँकि जिन्स बहुत बडे वैज्ञानिक है इसलिए उनकी दार्शनिक उडाने बहुत वैज्ञानिक होंगी। सच तो यह है कि वे कहाँ से क्या तर्क निकालते है, सब सीढी दर सीढी समझ मे नही आता। सी० एम० जोड की तरह अभौतिकवादी ने भी लिखा है कि जिन्स और एडिंगटन की दार्शनिक उडाने सचमुच उनके वैज्ञानिक ग्रन्थों के मुकाबिले मे निम्नकोटि की है और अच्छे दार्शनिको ने उनकी बातो की धज्जियाँ उडा दी है इसलिए हमे भयभीत होने की जरूरत नही। फिर क्षय के विषय मे जिन्स का जो मत है उसका अध्यापक मिलकन जैसे विश्वविख्यात वैज्ञानिक ने, विज्ञान के आधार पर, विरोध किया है। अध्यापक मिलकन ने कास्मिक किरणो

१. Universe of Science p. 186 2. Universe of Science P 121.

(cosmic) का कारण बताते हुए कहा है कि एक तरफ निर्माण की प्रक्रिया भी जारी है जैसे दूसरी तरफ ध्वस की प्रक्रिया चल रही है। सर जेम्स जिन्स इसको नही मानते। यह हमारे बताने का नही है कि इनमे से कौन सही है और कौन गलत किन्तु इससे यह गुजाइश अवश्य हो जाती है कि हम जिन्स को निर्भ्रान्ति न समझे। विश्व की दूसरी प्रक्रियाओ को देखकर यह उचित जान पडता है कि अध्यापक मिलकन का बताया हुआ सिद्धान्त सम्भवत सही हो। फिर आगे और आविष्कार से सम्भव है इस विषय पर और प्रकाश पडे।

७५—भूत की नई धारणा पर बर्टेन्ड रसेल—एफ० लागे ने भौतिकवाद को गलत साबित करने का स्पष्ट उद्देश्य लेकर भौतिकवाद का एक प्रकाण्ड इतिहास ही लिख डाला। मूल पुस्तक जर्मन भाषा मे है। उसके अँगरेजी अनुवाद की भूमिका लिखते हुए बर्टेन्ड रसेल ने लिखा है "सापेक्षवाद के सिद्धान्त ने देश को देशकाल मे निमज्जित कर दार्शनिको के तमाम तर्को से कही अधिक नुकसान भूत की परमपरागत धारणा को पहुँचाया है। साधारण बुद्धि मे भूत कोई ऐसी वस्तु है जो काल मे जारी रहता है (persists) और देश मे गतिशील होता है, किन्तु सापेक्षवादी पदार्थ-विज्ञान के लिए यह दृष्टिकोण अब ग्रहणीय नही है। अब भूत का एक टुकडा परिवर्तित परिस्थितियो मे एक जारी रहनेवाली चीज नही रह गई, बल्कि केवल पारस्परिक सम्बन्ध युक्त घटनाओं का सिलसिला मात्र रहा। पुराना ठोसपन जाता रहा। इसके साथ वे विशेषताएँ भी जाती रही जिनके कारण भूत भौतिकवादी के नजदीक क्षणस्थायी विचारो से अधिक वास्तविक मालूम पडता था। कोई भी चीज स्थायी नही है, कोई भी चीज रहती नही है। वास्तव जारी रहता है, इस कुसस्कार को छोड देना पडेगा।"

७६—इस पर अध्यापक लेवी का मत—बर्टेन्ड रसेल बहुत बडे गणितज्ञ है। उनके लिए भूत को प्रतीको की अवस्था मे देखने की इच्छा बहुत स्वाभाविक है, किन्तु कोई अवस्था ऐसी है जैसा रसेल साहब कहते है। हम इस पर एक बहुत बडे वैज्ञानिक एच० लेवी का मत उद्धृत करेगे, और अवश्य ही रसेल ऐसे विद्वान् यह नही कह सकते कि लेवी ने सापेक्षवाद के सिद्धान्त की सम्भावनाओ को नही समझा है। लेवी लिखते है "प्राय यह कहा जाता है कि भूत

का जमाना जाता रहा, और यह विज्ञान पूर्वयुग वाली वस्तु है। कहा जाता है कि आधुनिक आविष्कारों से जो हमे इतना ठोस तथा भारयुक्त मालूम होता है, वह भूत वास्तव मे अत्यन्त वेग से चलने वाले विद्युत् के बहुत छोटे चार्जो (Charges) के समूह है। ये चार्ज इतने छोटे हैं कि उनके बीच मे तुलना-नात्मक रूप वे बहुत प्रकाण्ड खुले देश है, इसलिए अब ठोस भूत की पुरानी कहानी को कायम रखना बेकार है। अधिकाश रूप मे देश देश ही है यानी वह निरवच्छिन्न देश है। लोग ऐसे ही तर्क देते है।'

यहाँ पर भूत शब्द इस मानी मे इस्तेमाल किया गया है कि हम जो इधर उधर टुकडो या चीजो को उठा लेते है, वही भूत है। सरल वैज्ञानिक आविष्कारों की मिथ्या व्याख्या से साधारण बुद्धि विपथचालित (violated) होने से इनकार करती है। जैसे जैसे विज्ञान की उन्नति होती है, वैसे वैसे वह हमे भूत के इन टुकडो की बनावट तथा गठन के विषय मे अधिक वतलाता है। सम्भव है, वह इसको तोडकर और भी प्राथमिक हिस्सो मे बाँट दे। यहाँ तक कि ले जाते ले जाते उनको अन्त तक रोशनी, उत्ताप और वैद्युतिक शक्ति मे ले जाया गया है। किन्तु यदि इसे घटाते घटाते ले जाने का अर्थ यह लगाया जाय कि उसे विलकुल अस्तित्व के पृष्ठ से ही निकाल दिया जाता है तो वह बहुत बडी भूल होगी। एक टुकडा कागज जब जलाया जाता है तो वह जिस प्रकार क्षीण हो जाता है, भूत उससे अधिक क्षय प्राप्त नही हुआ है। यह रूपभर बदल देता है, यह चला नही जाता। यह एक परिवर्तनशील रूप से दूसरे परिवर्तन-शील रूप मे चला जाता है। भागो के सम्बन्ध बदल जाते है। वे आगे उस रूप से अपने को नही दिखलाते जिस रूप मे वे पहले थे। इस कारण यह कहना कि भूत अब विज्ञान के पूर्व युग की एक बेकार धारणा है, साधारण बुद्धि से इनकार करना है, क्योकि इसका अर्थ यह होगा कि हम एक विषय मे जितना ही जानते जा रहे है उतना ही हम उसको कम समझते है। सच तो यह है कि हम भूत तथा उसके आचरण के विषय मे पहले से कही अधिक जानते है।'

'एक अर्थ मे शायद ऐसा कहना सही है कि एक ठोस चीज के कणो के बीच का देश स्वय उन कणो से कही ज्यादा है, किन्तु इसका अर्थ यह नही होता कि उस चीज का ठोसपन विलकुल अस्वीकृति कर दिया जाय। इसकी

परीक्षा कीजिए। ये जो देश, जिनके विषय मे बताया जाता है एक समूह के कणों के बीच है और सबके सब आन्दोलन की प्रचण्ड अवस्था मे है, क्या है? क्या यह तथ्य नही है कि ये कण हर समय कुछ देश से होकर चलते है और कुछ समय सारे देश से होकर चलते है जो भूत के ठोसपन को दृश्यमान कर देता है? यह गतिशील समूह की चारित्रिक विशेपता है। गति कणो का अनिवार्य गुण है, और समूह के रूप मे ये क्या ठोसपन दिखलाते है।"[१]

७७—सापेक्षवाद और साधारण बुद्धि—अध्यापक लेवी ने विज्ञान के दृष्टिकोण को अत्यन्त स्पष्टता के साथ साथ व्यक्त कर दिया है। ऐसा कहने के लिए कोई भी कारण नही है कि भूत कुछ रह ही नही गया है, और वह शून्य मे विलीन हो गया है। वास्तविक बात यह है कि भूत का रूप पहले से सूक्ष्म हो गया है, और इसमे भौतिकवादियो को न तो कोई आश्चर्य ही है, और न हो सकता है। हम यहाँ पर इस तर्क मे पूरी हद तक जाना नही चाहते क्योकि यह विपय कुछ हद तक दर्शन का है। फिर भी यह दिखलाना जरूरी था कि विज्ञान ने भी अपनी नि स्पृहता के बावजूद किस प्रकार वर्गस्वार्थ तथा वर्गदृष्टिकोण की सहायता की है, और कर रहा है। सापेक्षवाद का सिद्धान्त एक अर्थ मे प्रचलित साधारण बुद्धि के विपरीत जरूर चला गया, किन्तु यह साधारण बुद्धि कौन सी बला है, यह भी तो हमारे द्वारा अनुसरण किये हुए तरीके से पता लगाता है। कई पुश्तो से जब आम तर्जुबे से एक बात सही होती जाती है, और उसके विरुद्ध कोई प्रमाण प्राप्त नही होता तब वह साधारण बुद्धि के रूप मे स्पष्ट हो जाती है। आइनस्टाइन ने एक ऐसे सत्य का आविष्कार किया जिससे साधारण बुद्धि को धक्का लगा, किन्तु यह धक्का हमेशा कायम रहेगा, यह बात नही है। कुछ दिनो से साधारण बुद्धि अपने को इसके अनुकूल कर लेगी और इस पर हमे यहाँ परेशान होने की जरूरत नही है। जो हो, सापेक्षवादी ने तथा अति आधुनिक विज्ञान ने भूत को शून्य मे नही पहुँचा दिया है। आखिर इन ऐटमो के अन्दर जो शून्य स्थान रहने का पता मिलता है, उसका मतलब तो यही है कि शून्यो के बीच मे नखलिस्तान के रूप मे कुछ है जो शून्य नही है। यदि शून्य के अन्दर शून्य होता तो न तो उसका कोई मतलब होता और न उसको

१ *Philosophy for modern man* —H Levy p 32

कहने की आवश्यकता पडती। कोई भी चीज स्थायी नही है, कोई भी चीज जैसी की तैसी वनी नही रहती, यह तो भौतिकवाद का कहना ही है। जैसा एक समसामयिक लेखक ने लिखा है, अध्यापक रसेल द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विचारो से परिचित नही है, तभी उनकी समझ मे यह वात आई है कि भूत की वदली हुई धारणा से भौतिकवाद का उच्छेद हो गया। भौतिकवाद का तव तक कोई नुकसान नही हो सकता, जब तक दृश्यगत रूप से हमारे मन के वाहर कोई चीज मौजूद है।

७८—ह्रासशील पूँजीवाद में विज्ञान का समर्थन आवश्यक—आधुनिक विज्ञान मे यह जो अध्यात्मवाद तथा रहस्यवाद की लहर दौड गई है, उसका सामाजिक आर्थिक आधार स्पष्ट है। पूँजीवाद की उन्नति पराकाष्ठा मे पहुँचने के वाद उसमे ह्रास के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे है, ऐसी हालत मे उसे वचा रखने के लिए तथा भीतर से उभडती हुई विद्रोहधारा को रोकने के लिए ऐसे दर्शनशास्त्रो की जरूरत है जैसा सर जेम्स जिन्स, एडिगटन, आलिवर लाज आदि ने दिया है। सच तो यह है कि आज पूँजीवाद को धर्म से कही अधिक विज्ञान से समर्थन की जरूरत थी। धर्म समर्थन करे या न करे, और वह तो करेगा ही यह हम पहले ही लिख चुके है, विज्ञान के समर्थन की वहुत जरूरत थी। हम सक्षेप में दिखला चुके है कि ऐसा समझने के लिए कोई कारण नही है कि विज्ञान अध्यात्मवाद का समर्थन कर रहा है। सी० एम० जोड की तरह अध्यात्मवाद के सस्कारयुक्त व्यक्ति को भी कई वार यह मानना पडा कि विज्ञान धर्म का प्रतिपादन नही करता। उन्होने लिखा है "कहना यह नही है कि विज्ञान धर्म का समर्थन करता है, उसको प्रमाणित करने की वात तो दूर रही यद्यपि वहुत से, जिनमे से कुछ का विचार हम यहाँ कसौटी पर रखेगे, सोचते है कि वह ऐसा करता है। एक मात्र उपसहार जिसमे हम सही तौर पर पहुँच सकते है, ऋणात्मक है। वह यह है कि यह जो कहा जाता था कि विज्ञान धर्म को अनिवार्य रूप से मिथ्या कहता है वह वात अव जाती रही। इसलिए अव विश्व की धार्मिक व्यवस्था पर हम पुर्नविचार उसके प्रमाण की योग्यता को देखकर कर सकते है।[1] प्रमाण की योग्यता देखकर और स्वय वैज्ञानिको की

१. Guide to Modern thought p 18

बातों को उद्धृत कर हम इस नतीजे पर पहुँचने को विवश है कि विज्ञान में कोई बात धर्म के पक्ष मे नही है। जो भी बात धर्म के पक्ष की मालूम हो रही है, वह आइनस्टाइन के उद्धरण के अनुसार अल्पज्ञान के कारण है, और चूँकि हम प्रतिदिन अधिक ज्ञान सम्पन्न होते जा रहे है, इसलिए यह स्पष्ट है कि अज्ञान का यह शरणगृह जल्दी टूटता नजर आवेगा।

अन्त मे एक बात और। यदि यह किसी तरह साबित भी हो जाय कि भूत कुछ नही है, शून्य है, माया है, भ्रम है तो इससे भौतिकवाद को चाहे जितना नुकसान पहुँचे, किन्तु उससे धर्मवाद को कैसे फायदा पहुँचेगा। फिर तो चीजे जाकर अज्ञयवाद मे रह जायँगी यानी हम विश्व को जान ही नही सकते' यह एक तरह का अज्ञानवाद है। जब जान ही नही सकते तो जानने की चेष्टा क्यो करे और किसे जाने, इस मतवाद मे पहुँच कर रह जायँगे। अवश्य इस मतवाद से भी पूँजीवाद को फायदा पहुँचेगा, क्योकि ऐसा मतवाद लोगो मे अकर्मण्यता फूँक देगा। और सृष्टि के अन्त तक पूँजीवाद का ही राज्य होगा।

७९—पूँजीवाद अब विज्ञान की उन्नति में दिलचस्पी नही रखता—एक जमाना था जब पूँजीवाद की उन्नति के साथ साथ विज्ञान की भी उन्नति होती जाती थी। पूँजीवाद के प्रारम्भिक युग मे उसके प्रगतिशील पहलुओ मे से एक यह भी था कि पूँजीवाद की अग्रगति की एक अनिवार्य शर्त विज्ञान की उत्तरोत्तर प्राप्ति थी। यान्त्रिक क्षेत्र मे उन्नति के बगैर पूँजीवाद जीवित ही नही रह सकता था। प्रत्येक कारखाने का मालिक यह चाहता था कि उसके कारखाने मे यत्र सबसे अधिक उन्नत हो, रद्दी कम से कम हो, लागत का व्यय जितना भी घटाया जा सके घटाया जाय, गौण उपजे (Secondary product) इतनी हो कि कोई भी हिस्सा बेकार न जाय, इत्यादि और यह सब कारखाने का मालिक समाज के कल्याण के लिए नही, बल्कि अधिक से अधिक मुनाफा करने के लिए और प्रतियोगी को नीचा दिखाने के लिए चाहता था। इसलिए उसको हर कदम पर विज्ञान की सहायता लेनी पडती थी। अमेरिका और योरप के बडे बडे कारखानो के साथ या तो उच्च प्रयोगशालाएँ सयुक्त होती थी, जिनमे वैज्ञानिकगण उस कारखाने से सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक पहलू पर निरन्तर खोज करते रहते थे, या इन कारखाने के मालिको की ओर से विश्व-

विद्यालयो को मोटी रकमे दी जाती थी जिसमे वे विज्ञान—विशेषकर वह विज्ञान जिसमे दाता को दिलचस्पी है—का अनुशीलन तथा उस पर गवेषणा करे। किन्तु ये बाते पूँजीवाद की मुक्त प्रतियोगिता वाले युग की थीं। एकाधिकार (Monopoly) का युग आते ही विज्ञान के सम्बन्ध मे पूँजीवादी उत्पादकों की यह दिलचस्पी घटती ही गई, और अब तो यह दशा पहुच गई है कि कुछ क्षेत्रो को छोडकर पूँजीवादियो को इसी बात मे दिलचस्पी है कि आगे विज्ञान की कोई उन्नति ही न हो। पूँजीवादी विचारधारा के विभिन्न प्रतिनिधियों ने इस बात को बार बार प्रतिध्वनित किया है कि विज्ञान की उन्नति रुक जाय तो अच्छी बात है। किताबे जल जायँ तो अच्छी बात है।[१] इन बातो को कई तरह से घुमा-फिरा कर कहा जाता है। स्पष्ट है कि पूँजीवाद के हिमायती लेखको ने इस बात को एक बुद्धिसगत रूप देने के लिए कुछ उठा नही रक्खा है। यह कहा जाता है कि विज्ञान अब मानवता के बहुत आगे निकल गया है, मानवता और अधिकाश मनुष्य उनके बहुत पीछे रह गये है, इसलिए इस बात की आवश्यकता है कि विज्ञान की उन्नति को रोककर जो कुछ विज्ञान है उसको जनता तक पहुँचा दिया जाय, और जनता को उससे फायदा उठाने दिया जाय। ऐसे लोगो का कहना है कि इस प्रकार विज्ञान के स्थगित होने से विश्व का कल्याण न होगा।

बात यह है कि मुक्त प्रतियोगता के युग के मुकाविले मे यान्त्रिक साधनो की उन्नति द्वारा कारखाने वालो की पारस्परिक लडाई एक अर्थ मे कम हो जाने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकारी ट्रस्टो, सिन्डीकेटो, कार्टेलो की प्रतियोगिता अभी तक कायम है, वल्कि और तीव्र हो गई है। तभी इस प्रकार के उद्गार होते है। अमेरिका के इजिनियरो के एक सम्मेलन मे इमी प्रकार यह तय हुआ था कि इजिनियर लोग विश्व का जो सवसे वडा कल्याण कर सकते है, वह यह है कि सौ वर्षों तक कोई नया पेटेन्ट न ले अर्थात् कोई नया आविष्कार न करे। सच तो यह है कि इस समय वहुत से आविष्कारको का काम यह रह गया है कि वे एक आविष्कार करने के वाद कम्पनियो के पास जाते है और वे कहते है कि हमारे आविष्कार के सार्वजनिक हो जाने से तुम इस प्रकार से वर्वाद हो जाओगे, अतएव हमे इतना रुपया दो, तभी हम इसके सम्वन्ध मे चुप्पी साधे रहेगे। इस सम्वन्ध मे पूँजीवादियो का भय इतना प्रवल है कि अक्सर झूठे आविष्कारक भी इस पैतरे से काम लेकर अपना उल्लू सीधा करते रहते है। इसके विपरीत भी उदाहरण है। स्टैंडर्ड आयल ट्रस्ट तथा अन्य शक्तिशाली एकाधिकारी कम्पनियो के सम्वन्ध मे यह मालूम हुआ है कि ये लोग नये आविष्कारकों के आविष्कारो को ठगकर ले लेते है। वात यह है कि इनका इतना भारी प्रभाव है जिससे ये समझते है कि यदि हमारे विरुद्ध, कोई मामूली कार्रवाई भी हो तो हमारा कुछ विगड नही सकता।[१]

फ्रेन्च रासायनिक वर्थल्ा (Barthalot) ने यहाँ तक प्रस्ताव किया था कि नये आविष्कारो पर टैक्स लगाये जायँ, न कि उनको पुरस्कृत किया जाय। इमी प्रकार एक अँगरेज विशप ने यह प्रस्ताव किया था कि वस्तुओ के आविष्कार के लिए अवकाश हो जाना चाहिए।[१]

अमेरिका मे रूजवेल्ट के नेतृत्व मे जो न्यू डील (New deal) हुआ है उसमे उत्पादन को सीमित करना, उत्पादित द्रव्यों को नष्ट करने के काम को सरकारी सहायता देना भी शामिल है। १९३४ के मार्च मे नील के कपडे के कारखानो के मालिको ने चालीस हजार करघे इसलिए खरीदे कि उनको नष्ट किया जाय। इस पर मजदूरो ने वडा तहलका भी मचाया था, किन्तु उनकी

१. Evolution of Capitalism—Hobson p 218

एक भी न सुनी गई। इससे भी मजेदार बात यह है कि इँगलैंड के राष्ट्रीय बैंक के सरक्षकत्व मे ब्रिटेन ने नेशनल शिपिग सिक्योरिटी एण्ड कम्पनी बनाई गई जिसका उद्देश्य फालतू जहाज बाननेवाले कारखानो को खरीद लेना तथा उनको चालीस साल तक बेकार कर देना था। इस पर मजदूरो की जो सभा हुई थी, उसमे एक मजदूर ने यह कहा था कि अब हमे कारखाने की जमीन पर घास छीलने का काम मिल सकता है।

इ० वर्गा ने इस सम्बन्ध मे और तथ्य दिये है। उनके अनुसार अमेरिका की सरकार ने पचास लाख सुअर खरीदकर १९३३ के पतझड मे मरवा डाले अर्थात् उनका गोश्त खाने नही दिया। इसी प्रकार डेनमार्क मे प्रतिसप्ताह पन्द्रह हजार गायो को मारकर खाद बना दिया जाता था। अर्जेनटाइना मे नई भेडो के लिए जगह करने को लाखों पुरानी भेडे मार डाली जाती थी, और यह सब उस समय हो रहा था जब चारो तरफ की दुनिया भूखो मर रही थी। १९३२ का एक तथ्य इस प्रकार है कि अमेरिका मे एक करोड एकड जमीन पर उत्पन्न कपास को नष्ट कर दिया गया, और ऐसा करने के लिए जमीन के मालिको को प्रति एकड साढे नौ डालर मिले। इस प्रकार साढे नौ करोड डालर की रकम जो खर्च हुई वह बाकी कपास पर प्रति पौण्ड ४ २ सेन्ट टैक्स लगाकर तथा कपास के साथ जिन द्रव्यो की प्रतियोगिता है अर्थात् शयन और कदाचित् रेशम तथा ऊन पर टैक्स लगाकर वसूल की गई। रुजवेल्ट की बहुप्रसंशित New deal की यह पोल है।

फिर भी कई क्षेत्रों मे—उन क्षेत्रो मे जिनका सम्बन्ध युद्ध तथा युद्धोपकरण से है—बराबर खोज जारी है, और सरकार इसके लिए बहुत बडी रकमे खर्च करती है। इसके अतिरिक्त जिन क्षेत्रो मे—जैसे पदार्थ विज्ञान मे—गत वर्षो मे जो उन्नति हुई है इसका कारण स्ट्रेची के अनुसार वैद्युतिक धन्धे मे उन्नति का तकाजा है। जीव विज्ञान मे इसी प्रकार जो उन्नति हुई है, इसका कारण यह है कि साम्राज्यवादी ट्रस्टगण यह चाहते है कि उष्ण कटिबन्धो मे अधिक से अधिक उन्नति हो और उनके बसने की परिस्थितियाँ पैदा हो। जो हो इतना तो स्पष्ट है कि पूँजीवाद अब विज्ञान की उन्नति मे वैसी दिलचस्पी नहीं रखता जैसी वह कभी रखता था।

---

१. Capitalism, communism and tansition p 56

BIBILIOGRAPHY

1. Rosa Luxembourg—Paul Frolich—R L
2 Eighteenth Brumaire—Karl Marx—E B
3. Outline of Modern Knowledge—O M K
4 Russian Revolution—Leon Trotesky—R R
5 The Groundwork of British History—Warner and Marten—G B H
6 Communist Manifesto—Marx-Engels—C M
7 Luduig Feuerbach—Engels—L.F
8 Historical Materialism—Bukharin—H M.
9. Marx-Engels Correspondence—M E C
10 Ralph Fox Memorial Volume—R F M V
11 Class Struggle in France—K Marx—C S F
12 Autobiography—Jawaharlal Nehru—A J N
13. Inside Europe—John Gunther—I E
14 French Revolution—Bertha Mariton Gerdiner—F R
15 Theory and Practice of Socialism—John Strachey—T.P S
16 Moscow Dialogue—Julius F. Hacker—M D J
17 Introduction to Capital—Lindsay—I C L
18. Man Makes Himself—V Gordon Childe—M M H.
19 Origin of Family, etc ,—F Engels—O F
20 Critique of Political Economy—K Marx—C P E
21. German Ideology—K Marx—G I
22 Dialectical Materialism—Shirkoff—D M S.
23. Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal—J R A S B
24 The Fortunes of Primitive Tribes—D N Majumder—F P.T.
25 Marxism and Modern Thought—Bukharin and others—M M.T.
26. Wage, Labour and Capital—K Marx—W L C.

27 Poverty of Philosophy—K Marx—P P K
28 Anti-Duhring—F Engels—A D E
29 Fundamental Problems of Marxism—Plekhnov—F P M
30 Socialism, National or International—Berkaume—S N I
31 Revolution and Counter-Revolution—F Engels—R C R
32 State and Revolution—Lenin—S R L
33 The Proleterian Revolution and Kautsky, the Renegade—Lenin P R K R
34 A Philosophy for Modern Man—H Levy—P M M
35 Pierre Laval—Henry Torres—P L H.
36 World Politics—Palme Dutt—W.P P
37 War and Immorality—Sudhindra Roy—W I S.
38 French Revolution—Louis Madelim—F R L M.
39 Basic Principle of Scientific Socialism—Sachs—B P S S
40 Inside Europe—Gunther—I E G
41 Essays in the History of Materialism—Plekhnor—E H M
42 Dialectical Materialism—Adoratsky—D M A
43 Biographical History of Philosophy—J G. H Lewis—B H P.
44 Outlook for Homo-Sapiens—H G. Wells—O H S
45 Adventure of Ideas—A N Whitehead—A I A
46 Guide to Modern Thought—C E M Joad—G M T
47 Mysterious Universe—James Jeans—M U J
48 Teachings of Karl Marx—Lenin—T K M
49 Essence of Christianity—Feuerbach—E C F
50 Thesis on Feuerbach—K Marx—T F K
51 Dialectic—T A Jackson—D T
52 Religion—Lenin—R L
53 Dialectical Materialism—Stalin—D M S
54 Capital—K Marx—C K M
55 Fundamental Problems of Marxism—Plekhnov—F P M
56 Uniqueness of Man—Julian Huxulay—U M J
57 History of Political Thought—R G Gettel—H P H.

58 Critique of Gotha Programme—K Marx—C G P.
59 Elements of Economics—S Eveliya Thomas—E E S
60 India before and Since the War—Prof Rajnarain—I S W
61 Living Space and Population Problems—Dr R R Kuczunski —L S P P
62 Landmarks in English Industrial History—G T Warner—L E I H
63 History of Indian Literature—Winternity—H I L.
64 An Outline of Political Economy—Lepidus, etc —A O P E.
65 Progress and Poverty—Henry George—P P H
66 Criminology—Horace Wyndhan—C H W
67 What is Diplomacy—C W Hayward—W D C
68. Indian Philosophy—Radhakrishnan—I P
69 A Short History of Ethics—R A P Rogers—S H E
70 An Idealist View of Life—Radhakrishnan—I V.L.
71 On Youth—Lenin and Stalin—O Y
72 Beginnings of Indian Historiography and Other Essays—U N. Ghosal—B.I H
73 Great Philosophies of the World—C E M Joad—G P W
74 Decline of the West—Oswald Spengler—D O W
75 Leninism—Stalin—L S
76 Leftwing Communism—an infantile disorder—Lenin—L C
77 Materialism and Empirio—Criticism—Lenin—M E L
78 Imperialism and World Economic Order—Bukherin—I W E
79 The Evolution of the Idea of God—Grant Allen—E I G
80 Belief and Action—Viscount Samuel—B A
81 Four Stages of Greek Religion—Gilburt Murray—F S G.
82 Religion and Sciences of Life—William Macdougal—R S L
83. Spanish Testament—A. Koestler—S T.A
84 The Social Contract and the Islamic State—Ilias Ahmad—S.C I S.
85 History of the Saracen—Ameer Ali—H O S
86 Social Evolution—Benjamin Kidd—S E B

87 The Making of Society—edited by V F. Calverton—M O S
88 Religion—Lenin—R L
89 Outline of World History—H G Wells —O W H
90 Man and Nature—James Frazer, etc —M N J
91 Future of An Illusion—Freud—F A I
92 Totem and Taboo—Freud—T A T
93 Anatomy of Science—Beinhard Bevink—A S.
94 The Universe of Science—H Levy—U S H
95 Atom—E N da C Andrade—A E N
96 Communist Manifesto—Marx—Engels—C M
97 Critique of the Political Economy—Marx-Engels—C P E
98. German Ideology—Marx—Engels—G I
99 Anti Duhring—Engels—A D E
100 Historical Materialism—Bukharin—H M
101 गीतारहस्य—लोकमान्य तिलक गी० र०
102 Marx-Engels Correspondence—M E C
103 Criminalogy—Horace Wyudham—C H W.
104 Essays in the History of Materialism—Plekhnor—E H M
105 What is Diplomacy—C W Hayward—W D C
106 Outline of Modern Knowledge—O M K
107 Indian Philosophy—Radhakrishnan—I P
108 A Short History of Ethics—R A P Rogers—S H E
109 An Idealist View of Life—Radhakrishnan—I V L
110 Moscow Dialogues—I F Hecker—M D J
111 On Youth—Lenin and Stalin—O Y
112 The Beginning of Indian Historiography and other Essays—U N Ghosal—B I H
113 लेनिन के संस्मरण—क्लारा जेटकीन—ले० स०
114 A Philosophy for a Modern Man—H Levy P M M.